स्वामी भगवदाचार्य

(प्रथम भाग)

लेखक

सामवेद-उपनिषद्-गीता-भाष्यकार परमहंस-परिव्राजक

पण्डितराज स्वामी श्रीभगवदाचार्यजी महाराज

जनवरी १९५८ ई०

प्रकाशक—
महान्त श्रीकृष्णदास
श्रीरामानन्द-साहित्य-मन्दिर
अलवर (राजस्थान)

प्रथमावृत्ति १००० (सर्वाधिकार लेखकाधीन) मूल्य सात रुपये

मुद्रक—ना० ग० शास्त्री ललित
ललित प्रेस, पत्थरगली, वाराणसी–१

सलज्ज प्रार्थना

इस ग्रन्थ के पाठक महानुभावों से प्रार्थना है कि यह ग्रन्थ कल्पनातीत मुद्रण-अशुद्धियों से भरा पड़ा है। मैं किसे दोष दूँ? अच्छा है कि मैं स्वयं ही अपने को दोषी मान लूँ। हो सका है, उतना संशोधन कर दिया है। अन्य भी अशुद्धियाँ रह गयी हैं या रह गयी होंगी उनको सुधारने का भार अपने कृपालु पाठकों के ऊपर ही रखकर मैं कुशली बन सकता हूँ।

निम्नलिखित शुद्धाशुद्धपत्र के अनुसार पहले इस ग्रंथ को सुधार लें, फिर पढ़ें तो पाठकों को अवश्य अनुकूलता होगी।

भगवदाचार्य

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	द्वितीय श्लोक	···नमस्काय	···नमस्कार्यें
४	१४	किए	किये
"	२१,२२	त्रिहारी	विहारी
८	१२	आभिरुचि	अभि···
९	२	थी	थीं
१०	४	भाईजीने	भाईजी
"	२३	चले ही	आ ही
१२	१९	रामायण	रामायण था
१५	१६	विद्या...को	विद्या...के
१६	२५	आथिक	आर्थिक
"	"	वे दोनों भाई	......
१८	१५	वणका	वर्णका
१९	२४	पुरुषार्थदर्शन	परमार्थदर्शन
२३	९	भी राम...	श्री राम...
"	१५	भाइ	भाई
२६	१८	बन्धुक	बन्धुके
३७	४	उन्होंन	उन्होंने
"	९	चाहिये	चाहिये।
४३.	९	वंशा	वंशी
४४	२	गय	गये
५१	१६	कि	की

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५८	१	परिस्थित	परिस्थिति
,,	१८	स्वीकार ल...	स्वीकारल...
५९	२२	सेने	मैंने
६६	६	पाषण्डेति	पाषण्डीति
६८	१	दूधाधारीके मठमें	दूधाधारीमठमें
,,	३	श्री...जीने	श्रीबजरङ्गदासजीने
६९	१२	वैष्णवधर्मवि...	श्रीवैष्णवधर्मवि...
७१	१६	ऊन्हें	उन्हें
७२	२५	श्लोकोंकों	श्लोकोंको
७३	१४	...का मैं	का
७५	१२	भी महाराज...	श्रीमहाराज...
७६	५	पाढशाला	पाठशाला
,,	९	अपनी	अपने
८०	३	बलरामदासजी	बलरामाचार्यजी
८२	५	लोग	लोगोंने
,,	१२	निभय	निर्भय
८५	१०	श्रीतुलसदास	श्रीतुलसीदास
८९	५	श्रीरामनन्दीय...	श्रीरामानन्दीय...
९२	२३	रामनुजके	रामानुजके
९६	१४	कानोंमैं	कानोंमें
,,	१६	श्रीरामनारातण	श्रीरामनारायण
९७	१४	भोजनके लिये	भोजन के लिये मुझे
९९	६	समाप	समीप
१०२	१५	और...कैं	और मोरछलीके
११०	८	अभ्थासी	अभ्यासी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११०	२३	निश्चत	निश्चित
१११	९	थड	थई
”	११	माषण	भाषण
११५	२६	समयका	सभाको
११६	१०	पतल	पतला
११९	२०	आद्यान्त	आद्यन्त
१२०	१४	कहा	कहा,
१२४	३	गत मत्सराः	गतमत्सराः
१२५	२१	महान्त जी	महान्तनारायणदासजी
१२७	९	पतीक्षा	प्रतीक्षा
”	१८	पसे	पैसे
१३०	१३	प्ररक	प्रेरक
”	२०	रीतिस	रीतिसे
१३२	१२	सनय	समय
”	२४	समय	समझ
१३३	१	मञ्जषा	मञ्जूषा
”	१६	वंशीदासजी	वंशीदासजीने
”	१७	पढ़े	पढ़ी
”	१८	थे	थी
१३४	२६	...	चित्तरञ्जनदासजी
१३५	१२	गाडन	गार्डन
”	२३	भा	भी
”	२५	हुआ	हुआभी
१३७	२	संस्कृतकावर्ग	संस्कृतका वर्ग
”	२१	...ज़नक	...जनक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१३७	२१	मैंने	मैं
"	२५	बहिने	बहिनें
१३८	४	सोनेके लिये	सोनेके समय
"	६	वीक्ष्येद्य	वीक्षेद्य
१३९	१६	कृताथता	कृतार्थता
१४२	८	पाडण्ड	पाउण्ड
"	१४	बीमारका खेराक	बीमारकी खुराक
"	२०	छात्रालयमसे	छात्रालयमेंसे
१४३	२६	श्रीमगनलाल	श्रीमगनलाल
१४४	११	भय बहुत भय	बहुत भय
"	२६	फ़ारसी आती	फ़ारसी भी
१४५	२	पढ़ाया था	पढ़ायी थी
"	२१	मैं	मैंने
१५०	२५	सुगन्धि	सुगन्ध
१५१	९	स्रात	स्रोत
"	१६	प्रवेश द्वारपर	प्रवेशद्वारपर
१५३	२१	आत्म साक्षात्कार	आत्मसाक्षात्कार
१५५	२०	तपस्याकर	तपस्या कर
१५६	३	आवश्यकताको	आवश्यकताका
"	"	जर्मनीमें	जर्मनीने
१५७	६	निदर्शन मात्र	निदर्शनमात्र
१६१	१३	ना ता	ना तो
"	२६	च्चातुर्मास्यके	च्चातुर्मास्यमें
१६४	३	बालकाको	बालकोंको
"	१६	राजकाट	राजकोट

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६५	१३	···गढ़ीम	···गढ़ीमें
”	”	मेर	मेरे
१६८	१४	सुरभि	सुरभिं
१६९	१९	मेर	मेरे
”	”	माटरमें	मोटरमें
”	२०	पैरामें	पैरोंमें
१७०	५	ठड	ठंड
१७१	१४	क्रद्ध	क्रुद्ध
”	१९	मैंन	मैंने
”	२४	मर्ज़ी । कहकर	मर्ज़ी, कहकर
१७२	२४	पवतीय	पर्वतीय
१७३	६	भरक	भरकर
”	१०	बाताक	बातोंके
१७३	२०	विद्युत्सन्चार	विद्युत्संचार
”	२२	दा बार	दो बार
१७४	१३	होनेक	होनेके
”	१७	बस्तु...	वस्तु...
१७५	८	मैंन	मैंने
”	१०	ब्राह्ममुहूत मे	ब्राह्ममुहूर्त में
”	१४	किसा से	किसी से
१७६	४	रहत हैं	रहते हैं
”	८	गमियों में	गर्मियों में
”	१५	आपन	आपने
”	२४	वहा	वहीं
”	”	मेर	मेरे

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१७६	२५	जीवनमसे	जीवनमेंसे
१७७	१३	खादाकी	खादी की
,,	२०	हाता	होता
१८२	१०	दशन	दर्शन
,,	२०	रूपये की	रुपये का
१८३	२	जानता ही हूँ	जानता नहीं हूँ
१८४	८	पूति का	पूर्ति का
१८८	१	पडती रही	पड़ती ही रही
१८८	१९	परमहसजी	परमहंसजी
१८९	,,	पर्बत	पर्वत
,,	२१	जगल	जङ्गल
,,	२५	हिसक	हिंसक
१९२	१२	बहिन	बहिनें
१९३	६	मन् में	मनमें
१९४	२	मूति थे	मूर्ति थे
१९७	७	रामगलीला	रामगलोला
१९८	३	मेरा	मेरे
,,	१०	सहस्त्रों	सहस्रों
२००	३	लोगों का नाम	लोगों का नाम
,,	१६	भगद्दास	भगवद्दास
२०१	१२	रामनन्दीय	रामानन्दीय
,,	१९	सम्द्रदाय	सम्प्रदाय
२०७	१	रामशोभादास	रामदास
२०८	१६	जिस	जिसकी
२१५	२०	कीतिकार्य	कीर्तिकाय

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२१८	३	बुलाया था	मुझे बुलाया था
२१९	५	उसम	समय
,,	२१	वीरसद्	वोरसद्
२२०	५	तत्त्वदर्शा	तत्त्वदर्शी
२२१	८	साजी	साजो
२२९	७	जिनका	जिसका
,,	२०	स्पृश्यता	अस्पृश्यता
२३१	५	निविघ्न	निर्विघ्न
२३५	१	पवत	पर्वत
,,	१३	अतः मैं	अतः
२३८	८	कितनोन	कितनोंने
२४१	९	निबास	निवास
,,	२४	लगाता	लगता
२४५	१७	जीवनक	जीवनकी
२४९	१७	प्रतीत होगा	प्रतीत होता होगा
२५०	१	मणिकलाल	माणिकलाल
,,	१६	हीटल	होटल
२५१	५	ने	मैंने
२५४	१०	कमसे	कर्मसे
२६४	७	फामपर	फ़ार्मपर
२६५	१७	रामपुर	रायपुर
,,	२०	नरघाघी	नरघोघी
२६८	७	वहीं	वहाँ
२७०	१७	हिँसा	हिंसा
२७१	५	ता	तो

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२७१	९	आशिर्वाद	आशीर्वाद
२७२	१८	ण	ण्
२७३	११	वृणमाला	वर्णमाला
२७५	१३	...घमियों	...धर्मियों
२७६	१४	आपको	×
२७७	९	अयोध्या	(अयोध्या)
२८१	१३	मैंने	मैं
२८३	१९	ब्राह्मण	ब्राह्मण
२८५	१३	ब्राह्माणादि	ब्राह्मणादि
”	२४	मध्यस्त	मध्यस्थ
२८६	१२	दोनों	दोनोंने
२८७	३	निणय	निर्णय
”	२०	...दायक	...दाय
”	”	ता	तो
”	२१	लिख	लिखे
२८८	१९	आचायों...	आचार्यों...
”	२३	अम्यत्र	अन्यत्र
२८९	१४	सम्प्रदायके	सम्प्रदायों के
२९०	९	परिवतित	परिवर्तित
२९७	५	डॉक्टर	डाक्टर
”	११	हैं	थे
२९८	१४	उतना	इतना
३०१	१७	धार्मियों...	धर्मियों...
३०७	६	विचारन	विचारने
३०८	७	ददामिते	ददामि ते

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३०८	९	वाध्य	बाध्य
३१२	१८	मूछित	मूर्छित
”	१९	शब्दोंको	शब्दोंके
३१५	५	भाजन	भोजन
”	७	तजनी	तर्जनी
३१६	१	अरने	करने
”	६	पुस्तकमें	पुस्तकमें
”	१२	पूजाकर	पूजा कर
३१७	२	हवेहुँ	हवे हुँ
३२०	१०	सम्वत् में	संवत् में
३२६	१४	महाराजभी	महाराज भी
३३१	१६	लगा	लगा तो
३३२	२	रघुराचार्य	रघुवराचार्य
३३७	१७	नहीं।	नहीं,
३४३	१६	घर की	घर को
३४६	१८	लोगोंकी	लोगों की
३५०	१	चाहे थे	चाहते थे
”	१०	समझाती	समझातीं
”	१६	है	थे
३५३	१२	लिख	लिखे
३५७	२६	नहीं की	नहीं
३५८	३	सजनता	सुजनता
३६०	१	पूणताक	पूर्णता के
३६२	७	अन्त्यजाद्धार...	अन्त्यजोद्धार...
”	१६	नाैभ	नाम

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३६२	२३	अशुद्ध सूची	अशुद्धि सूची
३६४	१४	अशुद्धिवों	अशुद्धियों
,,	२२	अनुष्टुप	अनुष्टुप्
३६५	५	नोंक	नोंध
,,	१०	वहाँ	×
३६७	६	मोम्वासा	मोम्वासा
,,	२२	इम्हीं	इन्हीं
३७२	१७	भगवानेके	भगवान् के
३७३	१६	वडे	बड़े
,,	१६—१८	लड्डू	लड्डू
३७४	१६	यहाँ	वहाँ
३७८	१८	किथा	किया
३७९	७	मधुरामदासजी	मथुरादासजी
३८२	१	दिनकी	दिनोंकी
३८५	१	रमणिय	रमणीय
३८८	२१	आदनन्ददायिनी	आनन्ददायिनी
३९९	१२	रसोई थी	रसोई दी
,,	२५	हो	ही
४११	१५	चहुँचा	पहुँचा
४२०	२०	बैङ्गलोर	मैङ्गलोर
४२८	७	अपने	अपनी
,,	,,	ऐसे	ऐसी
४३१	२०	रहे है	रहे थे
४३६	१७	जरूरतक	जरूरतके
४४०	७	मध्य	मध्य

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४४०	१०	···मूति	···मूर्ति
४४४	३	शास्त्रर्थ	शास्त्रार्थ
”	६	था	थी
”	९	अपकाश	अवकाश
४४५	२४	···भट्ट	···भट्टः
४५०	५	श्रीरामदासजी	श्रीरामरत्नदासजी
४५४	११	क्षत्रिधर्म	क्षत्रियधर्म
४६०	२२	और	×
४६३	११	श्रीआश्रमके	भी आश्रमके
४६४	१	सौ	पचास
”	७	रामदासकीकी	रामदासजीकी
४६८	१६	पिंड···खामें	पिंड···खांमें
४७७	११	अपूर्ण	अपूर्व
४९१	२२	विद्वानोंको	विद्वानोंके
४९२	६	श्रीरामौलि···	श्रीराममौलि···
५०३	११	बजे	बज
५१०	२	रबि···	रवि···
”	१२	आये	गये
५१४	१४	सम्वत् के	संवत् के
५१६	८	ता० को	ता० को
५१८	२४	दै	है
५२१	१	थोडेसे	थोड़े से
”	१६	नक-	नको-
५२६	१९	था	है
”	२४	उसका	उनका

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५२८	१	यब्द	शब्द
५३०	२३	आश्चय	आश्चर्य
५३६	७	नाम करण	नामकरण
५३७	१	प्रम	प्रेम
५४५	१९	जानेका	जानेके
,,	२४	पड़ेगा	पड़ेगी
५५२	३	वातिक	वार्तिक
५५५	३	मसझकर	समझकर
५६२	६	यदी	यदि
५६९	२	रामनन्द	रामानन्द
५७३	८	टीलेजी	टीलाजी
५७४	१९	कि	कि वह
५७६	२	मेरा	मेरे
५८३	१३	सत्सङ्ग प्रसूत	सत्सङ्गप्रसूत
५८६	१	मध्यम, उत्तम	मध्यम, अधम
,,	३	अद्वैतवादी	अद्वैतवाद
,,	१३	दायकी	दायको
,,	२५	अभिमानियों	अभिमानियों
५८८	१२	रामानन्द य	रामानन्दीय
,,	२४	रामानन्दिय	रामानन्दीय
५९३	१	अर्थ	×
५९७	७	शङ्कराचाय	शङ्कराचार्य
६०९	५	पै से	पैरसे
६११	८	द्वेषि	द्वेष्टि
६१२	३	प्रश्रयेनै...	प्रश्रयेणै...

स्वामी भगवदाचार्य

बालकाण्ड

सर्वाचार्य्यकमूर्धन्यः सर्वविद्यामहेश्वरः ।
समताक्षमतानाथो रामानन्दयतिर्गतिः ॥१॥
विद्यासद्रत्नसज्ज्योतिःपटलान्तःप्रकाशिके ।
विद्वद्गणनमस्काय नमामि गुरुपादुके ॥२॥
मातरं पितरं विद्यागुरुमाद्याक्षरप्रदम् ।
शिरसा मनसा भूयो भूयोभूयो नमाम्यहम् ॥३॥
भ्रातृदिव्यगुणैराढ्यं सदाचारपरायणम् ।
तं भजे भ्रातरं ज्येष्ठं भजे यस्याधमर्णताम् ॥४॥
एतैर्नोपकृतं किं किं किं न मह्यं समर्पितम् ।
महतामुपकाराणां भारमेषां बिभर्म्यहम् ॥५॥
कृते तु प्रतिकर्तव्यमेष धर्मः सनातनः ।
न मया पालितो धर्म एष तद्दूयते मनः ॥६॥
उपदिष्टा मदाचार्य्यैर्मामकी कुलदेवता ।
रामाख्या सर्वसामर्थ्या सा हि रक्षति मन्मनः ॥७॥
सततं सञ्चितैः सद्भिः स्वीयैः पुण्यैः सुरक्षितैः ।
सर्वांस्तानर्चयाम्यद्य तेषामात्मा प्रसीदतु ॥८॥

प्रथम परिच्छेद

मुझे कभी स्वप्नमें भी विचार, कुछ वर्षोंसे पूर्व, नहीं आया था कि मुझे मेरा जीवन चरित लिखनेका कोई अवसर प्राप्त होगा। कोई भी मनुष्य न जान सकता है और न कह सकता है कि किस मनुष्यके लिये कब क्या और कैसा अवसर उपस्थित होगा। यही विधिकी विचित्रता है। पाठक महानुभाव मेरे इस चरितको पढ़ेंगे तब उन्हें भी आपाततः यही प्रतीत होगा कि इस मनुष्यको कोई भी ऐसा सु-अवसर नहीं ही प्राप्त हो सकता जिसमें इसे अपने जीवन-चरितको लिखनेकी आवश्यकता हो सके। बाल्यावस्थामें ही माता-पिताका वियोग, चाचा चाचीके साथ काशीनिवास, पूर्वपरम्परा प्राप्त धर्मका परित्याग, आर्यसमाजके सिद्धान्तोंमें अटल विश्वास, जीवनकी कुटिलताओंसे बचनेके लिये अपने ब्राह्मण माता-पिताकी जाति छिपाकर अपनेको भिन्न-भिन्न जातिके लोगोंमें परिगणित करानेका हास्यास्पद प्रयास, इस असत्प्रयासमें असफलता, पुनः अपनी स्वजाति ब्राह्मणजातिका प्रकाशन, लोगोंमें अविश्वासका उत्पादन, बाल्यकालमें प्राप्त अनेक विघ्न और विपत्तियोंसे जन्य सन्ताप, इत्यादि अनेक दुर्घटनाओंसे परिपूर्ण जीवनको प्रकाशमें लानेका कोई मनुष्य साहस ही कैसे कर सकता है? उपर्युक्त घटनाओंने मेरे श्वासको रूंध दिया था। मैंने कभी भी नहीं सोचा था कि मुझे अपना जीवनचरित स्वयं ही लिखना पड़ेगा।

यद्यपि शास्त्रोंमें लिखा है और न लिखा होता तो भी मेरा अनुभव है कि त्यागीको, नैष्ठिक ब्रह्मचारीको, संन्यासीको, जगद्विरक्तको अपनी जन्मभूमि, माता, पिता, कुटुम्ब, जाति, गोत्र,

आदिका कभी भी स्मरण नहीं करना चाहिए। इसीलिये उपनिषदोंमें विस्मृति-सिद्धिके लिये संन्यासीको आदेश दिया है। मैं इस अनुभवको बहुत ही प्रामाणिक और यथार्थ समझकर कभी उपर्युक्त विषयोंका स्मरण नहीं करता था। इनके स्मरणकी आवश्यकता भी नहीं थी, अवकाश भी इस कार्यके लिये नहीं था। इनके स्मरणसे मुझे स्मरण है कि दिनके दिन नष्ट हुए थे। किसी कार्यमें तल्लीनता नहीं होती थी। मन चञ्चल और क्षुब्ध रहा करता था। स्वजनोंके स्मरणसे मानसिक वृत्तियाँ उपप्लुत हो जाती हैं। संन्यासका गर्व खर्व हो जाता है। अपनेमें साधारणताका दर्शन होने लग जाता है। ये सब संन्यासीके विनिपातके चिह्न हैं। मैंने अपने सुदीर्घ त्यागिजीवन और नैष्ठिकब्रह्मचारि-जीवनमें इन चिन्ताओंको कभी कभी अवश्य ही अवसर दिया है। मानवसुलभ दोषोंका मैंने तब दर्शन भी किया है। परन्तु मैं थोड़े ही समयमें स्वस्थ हो जाता था। मैं विचार करता था कि जो वस्तु अब मेरे लिये नहीं है, उसे मान लेना चाहिये कि वह है ही नहीं। जिस मार्गको मैं छोड़ आया हूँ, और जिसमें पुनर्गमनकी कभी इच्छा भी नहीं होती है उसके स्मरणसे लाभ ही क्या है? ऐसे ऐसे अनेक विचारोंसे मैं अपने मनको दृढ़संकल्प बनाता रहा हूँ। लोगोंने मेरे विचारों और मेरे सिद्धान्तोंका विरोध करनेके लिये मेरे साथ बड़े-बड़े अन्याय किये हैं। मुझे किसीने शूद्र लिखा, किसीने मुसलमान् बताया, किसीने ईसाई (ख्रिस्ती) बताया और आजसे ४ वर्ष पूर्व प्रयागके कुम्भमें जैनी अथवा जैनाश्रित भी बताया, परन्तु तब भी मैं विचलित नहीं हुआ। मेरा देहाभिमान प्रायः विगलित हो चुका है। इस देहको कोई शूद्र कहे, या ब्राह्मण कहे, हिन्दू कहे या मुसलमान कहे, ख्रिस्ती कहे या जैन कहे मेरी कोई क्षति नहीं है। आजतक मेरी कोई क्षति हुई भी नहीं। मैं जिस

रामानन्दसम्प्रदायमें आज जीवित हूँ, उसके अनुयायियोंमेंसे बहुत ही थोड़े लोगोंने मुझे कभी अपमानकी दृष्टिसे देखा होगा। सभी प्रतिष्ठितोंने मेरे विपक्षियोंके विरुद्ध और अशुद्ध प्रचारको न कभी सत्य माना और न कभी उस प्रचारके प्रभावमें वे लोग पड़े। सर्वत्र मेरा प्रभाव था। सर्वत्र मेरे लिये श्रद्धा थी। सर्वत्र मेरे लिये प्रेम और आदर था। कोई कारण नहीं था कि मैं अपने पूर्व वर्णका स्मरण करूँ। कोई हेतु नहीं था कि मैं अपने पूर्व सम्बन्धियोंका स्मरण करूँ। उनकी ओर जाने या दौड़ने की कभी भी मेरे अन्तःकरणमें इच्छा नहीं ही हुई।

परन्तु सन् १६... में लहेरियासराय (दरभङ्गा) की कोर्टमें जब मैं मिर्जापुर (दरभङ्गा) के महन्त श्री आनन्ददासजीके विरुद्ध खड़ा हुआ था तब रामानन्द सम्प्रदायकी गुरुपरम्परा परिशोधनके समय कुछ क्षुद्र लोगोंके द्वारा प्रकाशित एक दो पुस्तक कोर्टमें उपस्थित किए गये थे और उसमें मुझे अब्राह्मण बताया गया था, तब मुझे विवश होकर अपना वर्ण बताना पड़ा था, अपने माँ-बाप की ब्राह्मणताका मुझे उल्लेख करना पड़ा था। तबसे मेरे हृदयमें एक छोटी सी विचारधारा निकल पड़ी थी और उसके अनुसार मैंने निश्चय किया था कि मुझे कभी न कभी अपना जीवन-चरित लिखना पड़ेगा। उस समय विपक्षने कोर्टमें मुझसे पूछा था कि आप मुंगेर जिलेके अमुक ग्राममें पैदा हुए थे? मैंने स्पष्ट और बलपूर्वक इसका निषेध किया था। मैंने कहा था कि मैं बिहारी नहीं हूँ। मेरा चैलेञ्ज है कि कोई मुझे बिहारी सिद्ध करे। उस समय मैंने अपनी जन्म-भूमि नहीं बतायी थी। विपक्षी वकीलका आग्रह भी था कि मैं बताऊँ परन्तु उपनिषद्के एक वचनके आधारपर मैं यह कह कर बच गया था कि संन्यासीको अपनी जन्म-भूमिका स्मरण नहीं करना चाहिये। तबसे मेरी इच्छा हो गयी थी कि मैं

अपना जीवन-चरित अपने ही हाथोंसे लिखूँ। मेरी इस इच्छाकी पूर्ति आज होने लगी है; परन्तु परमहंस श्री रामगोपालदासजी शास्त्रीजीने सन् १९४२ में ही प्रयागसे निकलनेवाली जागृति मासिक पत्रिकाके मार्चके अङ्कमें अतिसंक्षिप्त, जितना वह स्वयं पता लगा सके, अनुसन्धान कर सके थे, उतना ही मेरे जीवन-चरितके रूपमें प्रकाशित कर दिया था।

मैं ऊपर कह आया हूँ कि मैं संन्यासधर्मके अनुसार अपनी पूर्वकी सभी बातोंकी ओरसे उदासीनता-सेवनके कारण उनका विस्मरण कर चुका हूँ अतः इस पुस्तकमें घटनाओंके सन् संवत्का ठीक-ठीक निर्देश और घटनाओंके पौर्वापर्यमें अन्तरका होना स्वाभाविक है। सन् १९५२ में मैं एक प्रकारके लकवारोगसे आक्रान्त हुआ था और मस्तिष्क, जीभ, दक्षिण हाथ पर उसका आक्रमण हुआ था। तबसे मेरी स्मरणशक्ति अत्यन्त ह्रसित हो चुकी है। चलचित्रके समान कोई स्मरण आगे आता है और एक ही क्षणमें वह ऐसा विलुप्त हो जाता है कि याद करनेपर भी याद नहीं आता। अतः यदि इस पुस्तकमें सन् संवत् कहीं अशुद्ध छप गया हो, या घटनाएँ अपना ठीक समय न दे सकती हों तो इसके लिये पाठक क्षमा करेंगे।

द्वितीय परिच्छेद

सन् १८८० ई० में पंजाबके स्यालकोट शहरमें कान्यकुब्ज, ब्राह्मणकुलमें इस शरीरका जन्म हुआ था। पितृदत्त नाम सर्वजित् था और आज संन्यासाश्रममें मैं भगवदाचार्य हूँ।

मेरा अभिजन उत्तर प्रदेशके इटावा जिलेका देवकली ग्राम था जो औरय्यासे १॥ कोस पश्चिम यमुनातटपर विद्यमान था और आज वह ग्राम ध्वंसावशेष है। अयोध्यासे प्रकाशित होनेवाले संस्कृतभाषाके संस्कृतम् साप्ताहिकपत्रके सम्पादक और मेरे चिर-परिचित तथा मित्र महामहोपाध्याय पण्डित श्री कालीप्रसादशास्त्री-जीके कनिष्ठ भ्राता साहित्यरत्न पण्डित श्री कालीशरण त्रिपाठीजीने एक बार मुझे लिखा था कि 'देवकली ग्राममें आपके पूर्वजोंका बनाया हुआ शिवालय अभी भी विद्यमान है। आप उसका जीर्णोद्धार करें।'

श्री रामानन्द सम्प्रदायमें कभी-कभी ऐसे सन्त भी आये हैं जिन्होंने अपने जीवनको चिरस्थायी बनाया है। उन्हींमें से परमहंस श्री रामगोपालदासजी तार्किक-शिरोमणि एक थे। आगे चलकर मैं मीरपुर (जम्मू) के शास्त्रार्थका वर्णन करूँगा। मैं जब मीरपुर गया, वहां ही इन परमहंसजीका सर्वप्रथम मुझे परिचय हुआ। वह बहुत ही विनम्र, सदाचारी और परमवैष्णव थे। उनका ई० सन्   में परलोकवास हो गया। मीरपुरसे चलकर मैं पेशावर गया था और वहाँ पर लालद्वारेके आचार्य श्री महान्त-शत्रुघ्नदासजी महाराजका अतिथि बना था। उपर्युक्त श्रीपरमहंसजी भी मेरे साथ ही थे। वहाँसे मैं लाहोर आमन्त्रित होकर गया था,

वहाँ भी श्री परमहंसजी मेरे साथ ही थे। पंजाब इस शरीरका जन्मस्थान है। मैं उन दिनों पंजाबमें ही था। मुझे स्यालकोटका स्मरण हुआ करता था। कभी-कभी मैं उन्मना भी हो जाया करता था। एक दिन परमहंसजीने अमृतसर और स्यालकोट मेरे चलनेका कार्यक्रम बनाया। मैंने कहा, अमृतसर भी चलनेमें मुझे सकोच है परन्तु स्यालकोटके लिये तो बहुत ही संकोच है। मैं वहाँ नहीं जाऊँगा। उन्होंने इसका कारण पूछा। मैंने कहा, रात्रिमें कहूँगा।

मैंने उन्हें, उनके ही पुनः पुनः आग्रहसे कहा कि मेरा जन्म स्यालकोटका ही है, यद्यपि मेरे पिताजी, जहाँतक मैं जानता हूँ, रावलपिंडीके पास किसी ग्राममें रहते थे। परमहंसजीसे मैं जब अलग हुआ, तब मैं गुजरात आया और वह पञ्जाब में ही रहे। उन्होंने स्यालकोट और रावलपिंडीमें जाकर, बहुत श्रम करके, यू० पी० से आये हुए ब्राह्मणोंसे पूछपाछ कर मेरे एक सम्बन्धीका पता लगाया और उनसे उन्होंने सुना कि "मेरे पूर्वज सन् १८५७ ई० के ग़दरमें देवकलीसे पञ्जाब चले गये थे।" मेरे पिता दो भाई थे। ज्येष्ठ भ्राताका नाम था श्री राममौलि त्रिवेदी या त्रिपाठी। कनिष्ठ भ्राताका नाम था श्री गङ्गादत्त त्रिपाठी। श्री गङ्गादत्त त्रिपाठीजी पौरोहित्य किया करते थे। अतः पञ्जाबकी प्रथाके अनुसार लोग उन्हें गङ्गादत्त 'पाधा' कहते थे। पाधाका अर्थ है पुरोहित। पण्डित श्री राममौलि त्रिवेदीजीको कोई सन्तति नहीं थी अतः बाल्यावस्थामें ही वह मुझे काशी ले आये थे। वह काशीमें ही रहते थे। उनकी पत्नीका नाम था श्री प्रभादेवी। ये दोनों दम्पती पुत्रके लालन-पालनका अनुपम आनन्द मेरे शरीरसे ही प्राप्त करते थे। वे लोग सुखी थे। मैं भी सुखी था। मेरी अपनी माताजीका नाम श्री माराक्षीदेवी था। वह स्यालकोट रहती थीं या रावलपिंडी, मुझे पता नहीं। श्री परमहंसजीने मेरे पिताका नाम

पण्डित श्री राममौलि त्रिवेदी और माताका नाम श्री प्रभादेवी लिखा है।* परन्तु यह भ्रम है।

मेरे एक बड़े भाई थे उनका नाम था श्रीदेवेन्द्रत्रिपाठी। वह मुझे बहुत ही प्यार किया करते थे। मैं जब काशी गया तो उन्हें बहुत दुःख हुआ। एक बार मैं अपनी चाचीके साथ जब रावलपिण्डी गया तब मेरे पिता और बड़े भाई रावलपिण्डी के उस ग्रामसे—जिसका कि मैं आज नाम भूल गया हूँ—आकर रावलपिण्डी शहरमें ही रहते थे। मेरे बड़े भाईने मुझे उस समय चाचीजीके साथ काशी नहीं लौटने दिया। मैं वहाँ ही रहा। वहाँ पर मैंने थोड़ी-सी उर्दू और थोड़ी-सी फारसीका अध्ययन किया। अंग्रेजी स्कूलमें भी दो वर्षों तक रहा परन्तु न जाने क्यों मुझे अंग्रेजीमें उस समय अभिरुचि नहीं हुई।

मेरे बड़े भाईजी कुछ संस्कृत भी अवश्य जानते होंगे। कितना जानते होंगे, मैं आज नहीं कह सकता। परन्तु उनके पास एक पुस्तक था—सुप्रबोधगुटका या सुप्रबोधगुटिका। वह संस्कृत और हिन्दीके बहुतसे पद्योंका एक सुन्दर, उपयोगी संग्रह था। उन्होंने अपनी गोदीमें बैठाकर मुझे पचीसों श्लोक और कितने ही हिन्दी पद्य कण्ठस्थ करा दिये थे। मेरी अभिरुचि अंग्रेजीमें नहीं हुई, सम्भव है कि यह भी उसमें एक कारण हो। जिनसे मैंने उर्दू और फारसी पढ़ी थी वह भी ब्राह्मण ही थे। वह ज्यौतिषी भी थे। अतः उन्हींसे मुझे शीघ्रबोध और मुहूर्तचिन्तामणि ये दो ज्यौतिष-ग्रन्थ पढ़ाये गये थे। अंग्रेजीमें अरुचिका यह भी एक कारण होगा ही। मेरे बड़े भाईजीने मुझे बाल्यावस्थामें जिस रीतिसे रखा, श्लोकादि

---

* प्रयागसे निकलनेवाली जागृति मासिक पत्रिकाका विशेषाङ्क जागृति महात्मा। मार्च सन् १९४२।

सिखाया, ज्योतिषका भी थोड़ा-सा अध्ययन कराया, ये सब घटनाएँ मेरे भविष्यके लिए कल्पलता थी।

अब मेरी इच्छा संस्कृत-भाषाको सीखनेकी पूर्णरूपसे हो गयी। मेरी अवस्था उस समय १२ या १३ वर्षकी होगी। पिताजीकी अनुमतिसे मुझे काशी भेजनेका निर्णय हुआ। मेरे चाचाजी तो वहीं ही रहते थे। उनको मुझपर प्रेम भी अत्यधिक था। मैं बड़े भाईजीके साथ ही काशी आया। बड़े भाई भी पुरोहितका ही कार्य किया करते थे। उन्हें अंग्रेजी भी मैं समझता हूँ कि आती थी। मुझे थोड़ा-थोड़ा स्मरण है कि वह लोगोंसे अंग्रेजी भी बोला करते थे। मैं जब रावलपिण्डीमें अंग्रेजी पढ़ता था, जहाँ तक मुझे याद है, उन्होंने मुझे अंग्रेजीका पाठ कभी भी नहीं पढ़ाया था। यह भी सम्भव है कि उनकी अंग्रेजीमें रुचि और श्रद्धा न रही हो। अंग्रेजोंके उपद्रवके कारण ही पूर्वजोंको अपनी जन्मभूमि छोड़कर पंजाब चला आना पड़ा, सम्भव है कि उन्हें अंग्रेज जातिसे भी और उनकी मातृ-भाषासे भी ग्लानि रही हो। मैं बहुत बालक था अतः कुछ भी निश्चित कारण मैं नहीं कह सकता।

मेरे बड़े भाईजीने काशीमें रहकर मुझे तुलसीकृत रामायण भी पढ़ाया। **नमामीशमीशान निर्वाणरूपम्** यह सम्पूर्ण स्तोत्र भाईजीने मुझे सिखा दिया था। **नमामि भक्तवत्सलम्** भी सम्पूर्ण कण्ठस्थ कराया गया था। रामचरितमानसका मैंने पचासों बार आद्यन्त पाठ उन दिनोंमें किया था। **हनुमान् चालीसा** और **संकटमोचन** ये दो मेरे नित्य पाठके ग्रन्थ थे। आज भी ये दोनों स्तोत्र मुझे अस्खलितरूपसे कण्ठस्थ हैं। संस्कृतके अध्ययन-कालमें ये सब पाठ बन्द होने लग गये थे। जब हनुमान्चालीसाका मैं अनवरत पाठ किया करता था, मुझे स्पष्ट स्मरण है कि एक

रात्रिमें शायद् स्वप्नमें ही मैंने श्री हनुमान्‌जीके बहुत विशाल स्वरूपका दर्शन किया था, तबसे मेरी रुचि हनुमान्‌चालीसामें बढ़ गयी थी।

मेरे भाईजीने काशीमें मेरे साथ कितने समय तक रहे, मैं स्पष्ट नहीं कह सकता। एक दिन उन्हें मेरे पिताजीका एक पत्र मिला। उसमें माताजीकी बीमारीका समाचार था। वह मुझे काशीमें ही छोड़कर रोते-रोते रावलपिण्डी चले गये।

मैं बहुत छोटा था अतः एक पण्डितजीके यहाँ, उनके घरपर ही मुझे भेजकर, मेरे भाईजी लघुकौमुदी पढ़ाया करते थे। जब वह पंजाब गये, तब मैं लघुकौमुदी ही पढ़ता था।

मेरी माताजी बहुत बीमार थीं। उनके शरीरका अवसान हो गया। मृत्युशय्यापरसे माताजीने मेरे बड़े भाईजीको कहा था कि "तुम सर्वजित्‌की खबर लेते रहना। उसे दुःख न होने पावे।" माताजीकी इस आज्ञाका पालन करनेके लिये ही, वह मेरी रक्षाके लिये सपरिवार काशी आ गये थे। पिताजी रावलपिण्डीमें रहे थे या स्यालकोटमें, मुझे पता नहीं।

संस्कृत-भाषाका बीज मेरे हृदयमें मेरे भाईजीने ही डाला था। संस्कृत-भाषाके प्रति गाढ अभिरुचि उन्हींके संसर्गसे मुझे प्राप्त हुई थी। उनके सिखाये हुए श्लोक मेरे जीवनके मूलमन्त्र थे। मुझे अब ज्ञात होता है कि उन्होंने हितोपदेशके भी बहुतसे श्लोक मुझे याद कराये थे। मैं संस्कृतका अच्छा विद्यार्थी बनने लग गया था।

मैं जब काशीमें रहता था, १३ या १४ वर्षका रहा हूंगा। भाईजी तो चले ही गये थे। मेरे चाचाजी और चाचीजी थीं। मैं संस्कृत पढ़ रहा था। एक अष्टमी या प्रतिपद्, कोई भी अवकाशकी तिथि थी। कितनी ही तिथियाँ हैं जिनमें संस्कृतका व्याकरण पाणिनीय

व्याकरण नहीं पढ़ाया जाता। कुछ तिथियाँ हैं जिनमें वेदान्त या पुराण नहीं पढ़ाये जाते।

अष्टमी गुरुहन्त्री च शिष्यहन्त्री त्रयोदशी।
चतुर्दशी उभौ हन्ति प्रतिपद् पाठनाशिनी॥

अनध्यायके लिये यह श्लोक प्रमाण है।

वाल्मीकि रामायणमें भी एक प्रसंग है। जब श्री हनुमान् लङ्कामें श्री जनकनन्दनाका समाचार लेकर श्री रामके पास गये तब भगवान् रामके पूछनेपर उन्होंने श्री सीताजीके सम्बन्धमें कहा कि—

प्रतिपत्पाठशीलस्य विद्येव तनुतां गता॥

मुझे स्पष्ट स्मरण नहीं है कि वह अवकाश अनध्यायकी तिथि अष्टमी थी या पतिपद्। परन्तु था अनध्याय। हम कई समवयस्क और सतीर्थ्य छात्र घूमते घूमते राजघाट पहुँचे। राजघाट काशीके प्रारम्भिक एक विभागका नाम है जहाँपर पुल बँधा हुआ है। हम जब वहां गङ्गा तटपर पहुँचे तो एक महात्माका दर्शन हुआ। वर्षा हो रही थी। एक सामान्य छाता लगाये हुए वह एक छोटेसे आसन-पर बैठे थे। उनके पास सामग्री बहुत ही थोड़ी थी। एक पुस्तक-का गुटका कपड़ेमें लपेटा हुआ वहाँ पड़ा था, सम्भवतः वह राम-चरितमानस ही रहा हो। उसे वह बहुत यत्नसे बचा रहे थे। बैठने-की भूमि थोड़ी सी ऊँची बना ली गयी थी। वर्षाका जल चारों ओर बह रहा था, वह उस वेदिकापर सुरक्षित थे परन्तु शरीर तो भीजा हुआ ही था। हम लोग उनके पास तो नहीं गये। दूरसे ही उन्हें देखा। सम्भव है कि उस समय हमें उनका भय भी लगा हो क्योंकि हम सब बच्चे ही थे। इधर उधर घूमकर हम अपने घर आये। अन्य बालकोंकी तो मैं नहीं कह सकता परन्तु मेरी दशा

विचित्र हो गयी थी। मेरे मनमें हुआ कि यदि मैं भी ऐसा ही रहता तो कैसा अच्छा होता। मैंने उन महात्माकी स्थितिसे, उस समयकी मेरी दृष्टिमें, उसमें न तो कोई दुःख देखा और न कोई चिन्ता। मेरे माता-पिता दूर ही थे। सबसे बड़ा आकर्षण मेरे लिये मेरे बड़े भाईजी थे। चाची-चाचीका स्नेह मुझपर पुष्कल था तो भी मेरे हृदयमें यह वैराग्यकी भावना उस समय जागरित हो ही गयी। ज्यों ज्यों दिन बीतते गये त्यों त्यों मेरे हृदयमें उस त्यागकी मूर्ति स्पष्ट होती गयी।

"आलर्कं विषमिव सर्वतः प्रसृप्तम्"

पागल कुत्तेके विषके समान वह वैराग्य मेरे प्रत्येक रक्तबिन्दुमें व्याप्त हो गया। अवस्था छोटी थी। कहीं जानेका साहस नहीं था। घरमें ही रहकर वैराग्यका अनुभव करने लगा। और तो कुछ नहीं। लघुकौमुदीका अध्ययन बन्द कर दिया। कहीं आना-जाना भी बन्द हो गया। बोलना भी अत्यल्प हो गया। भोजन भी नहीं जैसा ही। मैं उस समय करता क्या था, मैं आज नहीं समझ सकता, नहीं कुछ कह सकता। हनुमान्चालीसाका पाठ कभी भी बन्द नहीं हुआ था, इतना ही मुझे स्मरण है। मेरी आँखोंके सामने वही विरक्तवेषवाले महात्मा, वही उनका पुराना छाता, उनका वही रामायण, जिधरसे बौछार आवे, उधर ही छाताका आड़ कर देनेकी वही रीति, मेरे सामने थी। सोते जागते उस दृश्यके अतिरिक्त कुछ भी दृष्टिगोचर, मनोगोचर नहीं होता था। चाचा-चाची मेरी इस स्थितिसे परेशान थे। मैंने किसीको भी कुछ भी कहा नहीं था। उन महात्माजीकी चर्चा भी मैंने किसीसे नहीं की थी। मेरे सहाध्यायी जो मेरे साथ राजघाट गये थे उन्हें भी यह पता नहीं था कि मेरी इस अकल्प्य परिस्थितिका कारण वही महात्मा हैं। मेरे बड़े

भाईजी चुपचाप कई दिनों तक मेरी स्थितिका अध्ययन करते रहे। चाचाजीकी तरह वह व्याकुल नहीं हुए थे। जब मेरी स्थितिमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ और वैराग्यदशा आगे आगे बढ़ती गयी तब एक दिन भाईजी मुझे दुर्गाकुण्डपर ले गये। दुर्गाजीका दर्शन कराया। फिर कुण्डके एक घाटपर जा बैठे। थोड़ेसे बड़े बड़े छात्रों का एक समूह आया। वहाँ बैठ गया। शास्त्रार्थ छिड़ा। दो घण्टोंके पश्चात् वह शास्त्रार्थी वहाँसे बिखर गये। भाईजीने मुझे वहाँ ही बैठाकर कहा—"सर्वजित् तूने पढ़ना लिखना क्यों छोड़ दिया? तू पढ़ेगा तो जैसे यह विद्यार्थी शास्त्रार्थ करते थे, तू भी शास्त्रार्थ करेगा। अगर तेरा मन व्याकरण पढ़नेमें न लगता हो तो पुरोहिती सीख। कुछ तो करना ही चाहिये।" मैं रो पड़ा। भाईजी मेरा रोना देख न सके। उन्होंने अपनी गोदमें मुझे बैठा लिया। चुप कराया। रात्रि पड़ने लग गयी थी। कुण्डके घाट खाली हो चुके थे। एकान्त था। भाईजीने बहुत लाड़-प्यार करके मेरे मनकी बात जान ही ली। मैंने उन महात्माकी बात की। मेरे मनपर उसका क्या प्रभाव पड़ा, इसे भी मैंने उनसे कहा। उन्हें भय हो गया कि मैं कहीं साधु न हो जाऊँ। वह चुप रहे। घर आये। चाचा-चाचीसे भी उन्होंने मेरे सम्बन्धमें कुछ बातें की होंगी। घरमें निश्चय हुआ कि सर्वजित् जैसे रहे, वैसे ही उसे रहनेकी सुविधा कर दी जाय। मुझे स्मरण नहीं है, परन्तु कई वर्ष मेरे बीत ही गये। पढ़ना-लिखना सब बन्द हो गया। कुछ दिनोंके पश्चात् मेरी रुचि पुनः संस्कृत अध्ययनके लिये जागरित हुई। मैं पढ़ने लगा। वह एक भावना थी, आयी थी और चली गयी थी परन्तु अपना चरणचिह्न मेरे मनःपटलपर छोड़ती गयी थी। सम्भव है कि वह उस समयका बालतरङ्ग हो परन्तु कैसे कहा जा सकता है कि वह अमिट भावना और विधिकी रेखा नहीं थी?

तृतीय परिच्छेद

मैं जब पुनः संस्कृत पढ़ने लग गया था तब कीन्स कॉलेजमें एक छात्रका लघुकौमुदीका पाठ सुना करता था। उस समय गढ़वाल जिलेके एक छात्र श्री अम्बादत्त भी कीन्स कालेजमें ही पढ़ते थे। वह सिद्धान्तकौमुदीके विद्यार्थी थे और मैं लघुकौमुदीका। वह आर्यसमाजी थे और मैं कट्टर पुराणपन्थी। वस्तुतः उस समय मुझे कोई ज्ञान ही नहीं था कि मेरे धर्मका क्या नाम है। अम्बादत्त मेरे ऊपर आर्यसमाजकी छाया फैलानेका प्रयत्न करने लगे। वह बहुत पवित्र, हँसमुख और शायद त्यागी, शायद दरिद्र विद्यार्थी थे। वह और मैं दोनों ही कालेजसे साथ ही निकलते और बातें करते करते कम्पनीबाग अर्थात् टाउनहालके नाके तक आते। वह कहीं भैरवनाथके मन्दिरके पास रहते और मैं अपने बड़े भाई और चाचाके साथ बाँसफाटकके पास। अम्बादत्तने मेरे विचारोंको हिलाया तो अवश्य, परंतु मुझे आर्यसमाजी बनानेमें वह सफल नहीं हुए। मेरी पाठपूजा सब विधिवत् चलती रही। एक वर्षके पश्चात् एक आर्यसमाजी अन्ध छात्र लाहोरसे आये। उनका नाम मैं भूल गया हूँ, शायद गुरुदत्त नाम था। वह अम्बादत्तके साथ रहने लगे। उनकी अवस्था उस समय, मेरे आजके विचारसे ३० वर्षसे अधिक थी। अम्बादत्त मेरे अनन्य मित्र बने। वह मुझे अपना अनन्य सहधर्मी बनानेके प्रयासमें थे। गुरुदत्तसे उन्होंने मेरे सम्बन्धमें बातें की। वह भी कॉलेजमें ही कोई पाठ सुनने जाया करते थे। अब हम लौटते समय तीन हो गये थे। गुरुदत्तजीने मेरे विचारोंमें क्रान्ति करनेमें सफलता प्राप्त की और मैं धीरे धीरे छोटा सा आर्यसमाजी

विद्यार्थी बना। मैं बालक तो था ही; मुझे हनुमान्‌जीका पाठ और रामायणका पाठ छोड़ना पड़ेगा, इस विचारसे मैं व्यथित हो जाता। धीरे धीरे व्यथा चली गयी। हनुमान् चालीसका पाठ, संकट-मोचनका पाठ, रामायणका पाठ शनैः शनैः सब चले गये और मैं निराकार परमात्माका स्वप्नद्रष्टा बना। मेरे भाई मेरी इस स्थितिको भी जानने लग गये थे। वह समझ गये थे कि सर्वजित्‌पर अब नया रङ्ग चढ़ने लग गया है। परन्तु जहाँतक मुझे आज स्मरण है, उन्होंने इस सम्बन्धमें मुझे कुछ कहा नहीं था। मैं विश्वनाथजीका प्रतिदिन दर्शन करता था परन्तु अब उसमें विक्षेप आ गया था।

गुरुदत्त लाहौर चले गये। अम्बादत्तजी गढवाल चले गये। ये ही मेरे दो साथी थे। अब मैं क्या करूँ, इस विचारमें पड़ गया। इतनेमें ही मुझे दो शाकद्वीपीय ब्राह्मण विद्यार्थी मिले और वह भी आर्यसमाजी ही थे। विचारोंके साम्यने हम तीनोंको एक साथ रहनेका अवसर दिया। नीची बागमें एक मकान रखकर हम तीनों रहने लग गये। मैंने अपने बड़े भाई और त्रिवेदीजीसे यह कह दिया था कि मुझे वहाँ सहपाठी मिलते है। विद्यार्थियोंको साथ रहनेमें मुझे पढ़ने-समझनेमें सहायता मिलेगी। भाईजीने इसे मान लिया। चाचाजीने भी हा की। परन्तु चाचाजी कट्टर सनातनधर्मी थे। उन्हें जब पता लगा कि मैं आर्यसमाजके सिद्धान्तोंके प्रवाहमें बह रहा हूँ तो उन्हें मुझसे ग्लानि होने लग गयी थी। इसका मुझे अनुभव होने लगा। मैं नीचीबागमें ही रहने लगा।

पिताजी पंजाबमें—(वह अधिकतर रावलपिण्डीमें रहते थे।) बीमार पड़े। बड़े भाईजीको वहाँ जाना पड़ा। श्रीत्रिवेदीजीको मुझसे अरुचि होने लग ही गयी थी। मैं कभी-कभी उनसे मिलता रहता था परन्तु भाईजीके चले जाने पर मैंने उनसे मिलना बन्द

कर दिया। उन्हें मेरी चिन्ता नहीं थी। मुझे खाने-पीनेके लिये उनसे पैसे मिलते थे। अब वह बन्द हो गये। मैं निराश्रित विद्यार्थियों की श्रेणीमें आ गया।

मेरे साथी जो दो शाकद्वीपीय ब्राह्मण विद्यार्थी थे वह बिहारके थे। वह लोग कट्टर आर्यसमाजी थे। मैं नया पथिक था। अवस्था छोटी थी। मेरे जीवननिर्वाहका प्रश्न अब मेरे ही ऊपर था। वह दोनों छात्र एक प्रतिष्ठित घरके थे। उनके घरमें छोटे बड़े सभी आर्यसमाजी ही थे। उनके बड़े भाईका नाम पं० शिवदत्त मिश्र था ऐसा मुझे कुछ स्मरण है। शिवदत्त मिश्रजीसे छोटे पण्डित रामावतार मिश्र थे। उन दोनोंसे जो छोटे थे वे ही काशीमें मेरे साथी थे। इन दोनों भाइयोंमें से बड़ेका नाम था पं० जगन्नारायण मिश्र और छोटेका पण्डित हरिनारायण मिश्र। जगन्नारायण मिश्र आर्यसमाजी ढङ्गके पण्डित थे। उन्हें सिद्धान्तकौमुदी ठीकसे नहीं लगती थी। हरिनारायण मिश्र बहुत पढ़ नहीं सके थे। जगन्नारायण मिश्रजीने पण्डित सत्यव्रत सामश्रमीजीसे निरुक्तका अध्ययन किया था अतः वह निरुक्तरत्न थे। वेदोंका उनपर संस्कार था और मूर्तिपूजा तथा मृतकश्राद्धके विचारके लिये वह वेदोंको उलटाते रहते थे, इतना मुझे स्मरण है। हम नीचीबागमें तीनही छात्र रहते थे, पीछेसे दो आर्यसमाजी छात्र और भी वहाँ आ गये। वह कहाँके थे, मुझे पता नहीं है। वे दोनों ब्राह्मण ही थे परन्तु निर्धन थे। काशीमें छात्रोंके लिये भोजनप्रबन्ध अन्नक्षेत्रोंमें होता था, अब भी होता है। वह दोनों छात्र भोजनके लिये अन्नक्षेत्रमें जाते थे। परन्तु पढ़नेके लिये जलानेके तेल और हजामत की चिन्ता उनको रहा करती थी। पण्डित जगन्नारायण शर्मा दोनों भाई भी थोड़ी आर्थिक सहायता चाहते ही थे। वे दोनों भाई काशीमें छोटी लाइनका बनारस नामका एक स्टेशन है। उसके पास ही एक

आर्यसमाजी सम्पन्न शूद्र कुटुम्ब रहता था। दोनों मिश्रबन्धु उन्हींके यहाँसे पाँच रुपए मासिक ले आया करते थे। दूसरे जो छात्र हमारे साथ आकर पीछेसे रहे थे उन्हें भी मिश्रबन्धु उन्हीं महाशयके पास ले गये और उन्हें भी दो-दो रुपये मासिक वहाँसे मिलने लगे।

मेरे पास चाचाजीके दिये हुए रुपये जो संगृहीत थे, सब व्ययित हो गये थे। मुझे भी थोड़ी-सी आर्थिक सहायताकी आवश्यकता पड़ी। मैंने मिश्रबन्धुओंसे कहा कि मेरे लिये भी थोड़ेसे रुपयोंकी सहायता कहींसे दिला दें। उन्होंने कहा कि जहाँसे हमें रुपये मिलते हैं वहाँसे ही तुम्हें भी मिल सकते हैं, परन्तु तुमको भी कहना होगा कि "मैं ... हूँ"। वह लोग अपनेको ... कहते थे या नहीं, मुझे पता नहीं, परन्तु पीछेसे आनेवाले दोनों छात्र तो उनकी जातिका बनकर ही वहाँसे दो-दो रुपये मासिक प्राप्त करते थे। मुझे भी ... बनना पड़ा और दो रुपये मासिक मुझे भी वहाँसे ही मिलने लग गये।

थोड़े ही दिनोंके पश्चात् मिश्रबन्धु विहार चले गये। वे लोग दानापुरके पास मुस्तफापुर गाँवके रहने वाले थे। उनके चले जानेसे मेरा मन भी उद्विग्न हो गया। कोई अच्छा साथी नहीं रहा। वे आये हुए दोनों छात्र बहुत संस्कारी नहीं थे। मैंने पण्डित जगन्नारायणमिश्रजीको पत्र लिखकर उनके पास ही रहनेकी इच्छा प्रकट की। उन लोगोंने वहाँ ही कहीं, किसी आर्यसमाजीके यहाँसे मेरे लिये पाँच रुपये मासिक वृत्तिका प्रबन्ध करके मुझे वहाँ बुला लिया। मैं वहाँ गया। पण्डित जगन्नारायणमिश्रजीने मेरा जो प्रबन्ध किया था वह मुझे उचित प्रतीत नहीं हुआ। असत्य बोलकर, अपनी ब्राह्मणता छिपाकर, अन्यवर्ण बनकर मुझे वह वृत्ति प्राप्त करनी थी। मुझे बहुत ग्लानि हुई। सत्यार्थप्रकाशका आश्रय लेकर हम दोनोंने वर्णधर्मका खूब विचार किया। उनकी

बातसे मुझे सन्तोष नहीं हुआ। मेरी बातसे उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। वर्णधर्मके विषयमें वह कहते थे कि आर्यसमाजमें गुण-कर्मसे वर्णव्यवस्था है। जब तक मैं पूर्ण विद्वान् न बन लूँ तब तक आर्यसमाजकी दृष्टिसे मैं उस समयतक ब्राह्मण ही नहीं था। मैं कहता था कि मेरे माता-पिता ब्राह्मण थे अत एव आज तो मैं अवश्य ही ब्राह्मण हूँ। पढ़ने-लिखनेके पश्चात् यदि मुझमें ब्राह्मण धर्म—ब्राह्मणगुण न अवगत हों तो मैं अन्यवर्णका माना जा सकता हूँ। प्रथमसे ही अपने माता-पिताके वर्णका विलोप क्यों करना चाहिये? उस समय वहाँ एक पण्डित गौरीशंकरजी आर्योपदेशक भी उपस्थित थे। वह या तो छपराके थे या छपरा जिलेके थे। उन्होंने वेदरत्नजीसे एक प्रश्न किया कि ब्राह्मण बालकका यज्ञोपवीत संस्कार ब्राह्मणानुकूल ही होता है। यद्यपि उस समय उसे गुणकर्मानुसार ब्राह्मण नहीं ही कहा जा सकता। यदि वेदारम्भ-संस्कार-कालमें ब्राह्मण बालकको ब्राह्मण मान लिया जाता हो तो ब्रह्मचारीजी (मुझे) को भी उनके मा-बापके वर्णका माननेमें क्या आपत्ति है? मुझे स्मरण नहीं है कि श्रीवेदरत्नजीने पण्डित गौरीशंकरजीके इस प्रश्नका क्या उत्तर दिया। परन्तु मैंने तो उस स्थानको छोड़ देनेका ही निश्चय कर लिया और भविष्यमें होनेवाले अथवा आनेवाले कष्टोंका स्वागत करनेकी तैयारी भी कर ली। पण्डित गौरीशंकरजी बहुत सज्जन थे। वह कट्टर आर्य-समाजी थे परन्तु वह पढ़नेके लिये सहायता प्राप्त करनेके हेतु अपनी ब्राह्मणताको छिपाना अच्छा नहीं समझते थे। वह मेरे पक्षमें थे। श्रीवेदरत्नजीको मुझसे प्रेम तो अवश्य ही था। प्रेमके कारण ही उन्होंने वह प्रबन्ध किया था। उन्हें मेरी उस अस्वीकृतिसे स्वमानहानि प्रतीत हुई। वह कहते थे कि मैंने जिसके यहाँ तुम्हारे लिये प्रबन्ध किया है, उसके सामने झूठा पड़ूँगा। मेरे पास इसका

कोई उत्तर नहीं था। अतः मैं उन्हींकी इच्छासे बाँकीपुर चले जानेको उद्यत हुआ। मुस्तफापुर मुझे छोड़ना पड़ा परन्तु श्रीवेद-रत्नजीका प्रेम मेरे हृदयमें बद्धमूल था मैं बाँकीपुर गया। वहाँ ही कहींसे थोड़ासा सीधा (चावल-दाल) का प्रबन्ध पण्डित जगन्नारायणजीने तथा पण्डित श्रीगौरीशंकरजीनें मेरे लिये करा दिया था। पण्डित गौरीशंकरजीको जो वेतन मिलता था उसमेंसे तीन रुपये वह मुझे भेज दिया करते थे। मेरी व्यवस्था एक ब्राह्मण छात्रके अनुकूल हो गयी। वहाँ बी० एन० कॉलेजके पण्डित श्री रामनारायणजी थे। शायद मैं नामके सम्बन्धमें कुछ भूलता भी हूँगा। जहाँ तक मेरी स्मृति है, यही नाम था। उनसे मैं सिद्धान्त-कौमुदीका उत्तरार्ध पढ़ता था और जहाँ-जहाँ मुझे अनुकूलता होती वहाँ-वहाँ जाकर, सिद्धान्तकौमुदीका पाठ भी सुन लेता। इस तरहसे मेरी प्रवृत्ति वहाँ अच्छी तरहसे चलने लगी थी। उसी समय वहाँ पटना कॉलेजके प्रोफेसर पण्डित श्रीरामावतारशर्मा एम० ए० के साथ थोड़ासा परिचय हुआ। उनके पास मैं प्रायः जाया करता और वह मुझे कुछ समझाया करते थे। मैं ठोंठ विद्यार्थी कभी भी नहीं था, अतः विद्वानोंका मैं स्नेहभाजन था। साहित्यदर्पण और काव्यप्रकाश भी मैंने उनसे ही पढ़े थे। वह अनीश्वरवादी थे और मैं अर्ध आर्यसमाजी था। उस समय मुझे अनीश्वरवाद प्रिय नहीं था। परन्तु शर्माजी बहुत विनोदी स्वभावके थे। वह ईश्वरके खण्डनमें भी विनोदको प्रधान बनाये रखते थे। "क्यों, तुम्हारे ईश्वरका क्या समाचार है ? कुछ पत्रादि आता जाता है या नहीं ?" यह वाक्य मैं जहाँ तक समझता हूँ, उन्हें अभ्यस्त था। वे प्रायः इसे बोला करते थे। पुरुषार्थदर्शन उनका एक अच्छा दार्शनिक ग्रन्थ है।

बांकीपुरमें मुझे एक अतिशय सज्जन आर्यसमाजी बन्धुसे परिचय हुआ। हज़ारीबाग ज़िले में एक ग्राम है जोरी। जोरी वहाँ

दो हैं—बड़ी जोरी और छोटी जोरी। वह छोटी जोरीमें रहते थे। वहाँके जमीन्दार थे। बाबू श्रवणसिंहजी नाम था। बहुत आग्रहसे वह मुझे जोरी चलनेके लिए कहते थे। मैं वहाँ उनके साथ तो नहीं परन्तु कुछ महीनों बाद गया। मेरी परीक्षा पूरी करके वहाँ गया था। गयासे घोड़ागाड़ी या बैलगाड़ीसे वहाँ जाया जाता है। प्रथम बार ही मुझे जोरी जाते समय वनश्रीका दर्शन हुआ। मेरी घोड़ागाड़ी (एक्का) प्रातः ४ बजे गयासे चली थी। थोड़ी सी रात तो थी ही। मार्गमें एक बाघका भी दर्शन हुआ। बाघको देखकर घोड़ा बहुत जोरसे दौड़ा। इक्कावान और मैं दोनों ही भयभीत थे। पीछेसे बाघके आक्रमणका भय था और घोड़ा कहीं, खड्डेमें ले जाकर गिरा न दे, यह सामने भय था। हनुमान् चालीसाका तो अब समय रहा ही नहीं था। रामनाम भी भूल ही गया था। ॐ ॐ करता हुआ ऊर्ध्वश्वास ले रहा था। बच गया। फिर तो प्रकाश हो गया। मैं जोरी प्रातः सूर्योदयके समय पहुँच गया था।

ठाकुर श्रवणसिंहजी खूब सज्जन और सरल थे। उनके दो पुत्र थे—बड़ेका नाम वीरेश्वर सिंह और छोटेका नाम गणेशनारायण सिंह। ठाकुर श्रवणसिंहजीकी इच्छा थी कि उन दोनों भाइयोंको मैं आर्यसमाजका सिद्धान्त अच्छी तरहसे समझाऊँ। मैंने ऐसा ही किया। प्रतिदिन प्रश्न-उत्तर होते। मैं वहाँ एक मास तक रहा।

जोरी बहुत सुन्दर स्थान है। पर्वतीय प्रदेश है। ठाकुरसाहबके मकानके सामने ही एक छोटी सी पहाड़ी नदी है। सामने ही आदि-अन्त-रहित वनराजि है। छोटे-छोटे पर्वत हैं। पर्वतोंपर पालाश-टेसूके वृक्ष थे। वे खूब फूले हुए थे। ऐसा मालूम होता था, मानों टेसूके ही पहाड़ हैं। मैं प्रतिदिन सायं प्रातः उन्हीं जंगलोंमें शौचके लिये जाता। वहाँ ही हाथ धोकर, घण्टों एकान्तमें बैठा

रहता। कभी गायत्रीमन्त्र बोलता। कभी अन्य मन्त्र बोलता। कभी अपने पूर्वजीवनके दुःखोंकी बातका स्मरण करता। ईश्वरके ध्यानका तो कोई साधन ही नहीं था। अब तो मेरा ईश्वर निराकार था। रूपका ध्यान तो हो ही नहीं सकता था। पढ़ाये हुए शुककी भाँति 'हे परमपिता परमेश्वर' आदि बोलकर सन्तोष करता। मैं जोरी तीन बार गया। फिर कभी मुझे वहाँ जानेका अवसर ही नहीं मिला। मैं जब जोरी गया, एक समय वहाँसे ही हजारीबाग भी गया था। मुझे स्मरण ही नहीं है कि मैं बैलगाड़ीसे गया था अथवा बससे। मार्गकी सुषमाका तो अभी स्मरण है। वनयात्राका आनन्द तो मैंने उसी समय प्राप्त किया था। ठाकुरसाहेबके बड़े पुत्र वीरेश्वरसिंहजी हजारीबाग कालेजमें अध्ययन करते थे। होस्टलमें रहते थे। मैं भी होस्टलमें ही रहता था।

वहाँ बड़ीजोरीमें एक संस्कृत पाठशाला थी। वहाँ कोई एक बिहारी पण्डित अध्यापक थे। आर्यसमाजके नामसे उस समय उस प्रान्तमें बहुत विरोध था। छोटीजोरीके जमींदार आर्यसमाजी थे अतः उन पण्डितजीके द्वेषपात्र थे। मैं जबसे आर्यसमाजके सिद्धांतको मानने लगा था तबसे मैंने नैष्ठिक ब्रह्मचर्यकी दीक्षा ली थी। घरवालोंसे बचनेके लिये मैंने नामपरिवर्तन किया था। भवदेव ब्रह्मचारीके नामसे मुझे सब पहचानते थे। उन पण्डितजीको पता लगा कि कोई ब्रह्मचारी छोटीजोरीमें आया है तब वहाँ आनेका वह विचार करने लग गये थे। पहलेसे ही खबर छोटीजोरीमें पहुँच गयी थी कि पण्डितजी आने वाले हैं। ठाकुरसाहब तो बहुत प्रसन्न थे कि आवेंगे तो हमारे ब्रह्मचारीजी उन्हें अवश्य पराजित करेंगे। मेरी दशा इससे विचित्र थी। मुझे संस्कृत बोलनेका तो सुन्दर अभ्यास था परन्तु शास्त्रज्ञान बहुत अल्प था। व्याकरण भी पूरा पढ़ा नहीं था। न्याय तो तनिक भी नहीं। मेरे प्राण सूखते

थे। मुझे भय था कि यदि मैं व्याकरणादिके शास्त्रार्थमें हार जाऊँगा तो मेरी बहुत अप्रतिष्ठा होगी। परन्तु मेरा नाम वहाँ बहुत प्रख्यात हो चुका था। पण्डितजीको तो यही समाचार मिला था कि विद्वान् ब्रह्मचारी आया है। न जाने क्या कारण हुआ, वह छोटीजोरीमें आये ही नहीं। मेरे तो हर्षका पार नहीं रहा।

वहाँ ठाकुर साहबके यहाँ सैकड़ों गायें थीं। सायंकाल जब वह जङ्गलसे आतीं तो उनके गलेकी घण्टियोंका टुन-टुन आवाज़ आज भी मुझे आनन्दित करता हुआ प्रतीत होता है। उन्हीं गौओंका मुझे प्रातः, सायं दोनों समय दूध पीनेको मिलता था। बहुत दिनों के पश्चात् दूधके दर्शन वहां हुए थे। दूध पीनेके लिये मेरे पास कभी पैसे ही नहीं रहे। पीनेको दूध मिलता था, खानेको स्वादिष्ट भोजन मिलता था और चलते समय १५०-२०० रुपये मिलते थे। मुझे दूसरा क्या चाहिये था? लगभग प्रतिवर्ष वहाँ जानेका नियम जैसा बन गया। तीन बार मैं वहाँ गया और प्रत्येक बार एक मास या इससे भी कभी अधिक वहाँ रहता। चलते समय भाई गणेशनारायणका दुःख, उनका विलाप, मेरे पैरोंमें उनका लिपट जाना, यह सब मुझे आज भी विह्वल बनाते हैं। उस समय उनकी आयु १४ वर्षसे अधिक नहीं ही रही होगी।

यह लोग इटावा या आग्रा जिलेके कहींके थे। राजपूत थे। एक बार किसीकी शादीमें मुझे उस अपने मूल गाँवमें भी ले गये थे। परन्तु उस गांवका उस मार्गका, मुझे आज कोई स्मरण नहीं है।

चतुर्थ परिच्छेद

एक बार गुरुकुलकांगड़ीके आचार्य रामदेवजी पण्डित रामावतारशर्माजीसे मिलनेके लिये बांकीपुर आये थे। मैं भी उस समय वहाँ ही था। पण्डित रामावतारशर्माजीने ही आचार्य रामदेवजीसे कहकर उनके साथ मुझे हरद्वार भेजा। श्रीरामदेवजीने कहा था कि मैं गुरुकुलमें ही रखवा दूँगा और स्वतन्त्र यह पढ़ा करेगा। मैं उनके साथ हरद्वार गया। उस समय गुरुकुलकांगड़ीमें जानेवाले लोग पहले कनखलमें जाते और वहां गुरुकुलकांगड़ीका एक मकान था, उसीमें एक दो दिन ठहरते, पश्चात् गुरुकुल देखने जाते। मैं जब भी रामदेवजीके साथ कनखल गया तब वर्षा ऋतु था। गङ्गा बढ़ी हुई थी। तरापेमें बैठकर गुरुकुल पहुँचा जाता था। मैं डर गया। कांगड़ी नहीं गया। आचार्य रामदेवजी चले गये।

पहले तो मेरी इच्छा हुई कि मैं अपने बड़े भाईके पास रावलपिण्डी चला जाऊँ। परन्तु वर्ष बहुत बीत चुके थे। मैंने भाईजीको कभी पत्र भी लिखा नहीं था। ममता कम होने लग गयी थी। युवावस्था लहरा रही थी। भाईके पास जानेपर मैं विवाहित न बना दिया जाऊँ, इसका बड़ा भारी भय था। ब्रह्मचारी ही आजीवन रहूँ, ऐसी आन्तरिक इच्छा उत्पन्न हो चुकी थी। मैंने अमृतसर जानेका निश्चय कर लिया।

अमृतसरमें मैंने कई वर्ष व्यतीत किये। वहाँ एक स्वामी सीतारामदासजी वृद्ध थे। सम्भवतः वह श्रीरामानन्दसम्प्रदायके सन्त रहे हों। लोग कहा करते थे कि वह अपनी महन्थाई छोड़ कर चले आये हैं। वह भी आर्यसमाजके सिद्धान्तोंको माननेवाले

और प्रचारक थे। वह विचारसागर पढ़ाया करते थे और उसका खण्डन भी किया करते थे। इससे मालूम होता है कि वह अद्वैत-सम्प्रदायके महात्मा तो नहीं ही थे। विचारसागर अद्वैतवादका हिन्दी ग्रन्थ है और उत्तम ग्रन्थ है। यदि उसमेंसे ग्रन्थकारके हलके स्वभावके परिचायक हलके विचार और हलकी भाषाका निस्सारण कर दिया जाय तो वह अद्वैतवेदान्तके प्रमेयोंका बोधक अवश्य ही सुन्दर ग्रन्थ है। पंजाब-निवासके अन्तिम दिन मैंने वहाँ ही उन्हींके पास व्यतीत किये थे।

उससे पूर्व मैं वहाँ एक सद्गृहस्थके एक शून्यागारमें रहा करता था। एक मकान था। मकानमालिक कभी कभी उस घरमें रहनेको आते थे। अन्यथा मैं ही उसमें रहा करता था। पंजाबमें अभी भी प्रथा है कि ब्राह्मण विद्यार्थी और पुरोहित, गृहस्थोंके घरसे भिक्षा ले आते हैं और शान्तिसे भोजन करके अपने कार्यमें प्रवृत्त रहते हैं। मैं भी प्रातःकालका भोजन उन्हीं गृहस्वामीके घरसे भिक्षाके रूपमें ले आता था और सायंकाल एक दूसरे सज्जन वहाँ भिक्षा पहुँचा जाते थे। मैं अपने अध्ययनमें प्रवृत्त था।

अमृतसरमें पण्डित श्री हेमराजजी एक अच्छे नैयायिक विद्वान् थे। वहां एक सन्तराम पुस्तकालय है। संस्कृत ग्रन्थोंका अच्छा संग्रह है। अब भी वह होगा ही। इन्हीं नैयायिकजीके एक शिष्य पण्डित श्री हरिदत्तजी त्रिवेदी थे। मैं उन्हींके पास पढ़ा करता था। वह सर्वशास्त्रोंके परिनिष्ठित शाक्त सम्प्रदायके विद्वान् थे। साहित्यके कितने ग्रन्थ, पंजाबकी शास्त्री परीक्षा तकके सभी ग्रन्थ, न्यायदर्शन—वात्स्यायनभाष्य, न्यायकुसुमाञ्जलि, मुक्तावली सांख्य-योगदर्शनके ग्रन्थ मैंने उन्हीं श्री पण्डितजीसे पढ़े थे।

यह पण्डितजी शक्तिके उपासक थे। अपनी पत्नीका बनाया हुआ भोजन उन्होंने कभी नहीं किया। प्रातःसे ११ बजे तक वह

देवीकी आराधनामें व्यतीत करते, पश्चात् पाकनिर्माणमें लग जाते। हम सभी विद्यार्थी उनकी श्रमिक सेवा-सहायता करते थे। वह भोजन करके मदिरापान करके तब गद्दीपर आकर बैठते थे। हुक्केके पित्तलकी नली मुहमें ले लेते। आँखें बन्द कर लेते और बोलते—हाँ, किसका पाठ है? चलो, बोलो। जिस विद्यार्थीका क्रम होता, वह पाठ बोलता। एक ही बार बोलनेकी आवश्यकता होती थी। उन्हें सभी ग्रन्थ अभ्यस्त और कण्ठस्थ थे। वह स्वयं बोलते, पढ़ाते। अपनी इच्छाके अनुसार पढ़ाते। विद्यार्थी न तो ना कर सकता था और न अधिक पाठकी इच्छा प्रकट कर सकता था। क्योंकि ऐसा करनेपर उसे दण्ड सहन करना पड़ता था। किसीके समझमें कोई बात न आवे तो वह पूछ नहीं सकता था। क्योंकि उस समय मदिराका प्रभाव श्री पण्डितजीपर रहा करता था। सायंकालमें हम सब पुनः उनके पास जाते। वह उस समय शान्तिमें रहते थे। जिसको जो पूछना, समझना होता था, पूछता और समझता।

मैं जहाँ रहा करता था उस गृहके स्वामीका नाम था रामशोभा। जहाँ तक मुझे याद है वह 'कपूर' थे। उनकी दो पत्नियाँ थीं। वह पीछेसे एक पत्नीको लेकर उसी मकानमें रहने लगे। मुझे कुछ अव्यवस्था जैसी प्रतीत हुई और मैं वहाँ ही पासमें ही एक सज्जनकी कोठीमें रहने चला गया। ६-७ महीनों तक वहाँ रहा। उनकी एक बालिका थी। वह मेरे पास संस्कृत पढ़ा करती थी। उसके दो बड़े भाइयोंको भी संस्कृत पढ़ाता रहता था। मैं उनके घरमें रहता, वहाँ ही भोजन करता। इसके बदलेमें मुझे कुछ सेवा करनी चाहिये ही थी। मैं उन सब बालकोंको पढ़ाकर सेवाकी भावनाको सान्त्वना दे दिया करता था। वह बालिका निर्दोष थी। मैं समझता हूँ कि मैं उस समय बहुत निर्दोष नहीं था। परन्तु बाहरसे अपनेको निर्दोष बतानेमें मैं सफल हो सकता था। युवा-

वस्था थी। संस्कृतके काव्य, नाटक, अलङ्कारशास्त्र और छन्दःशास्त्र शृङ्गार रसके आकर हैं। मैं इन सबको पढ़ चुका था। अतः विकारका अङ्कुर हृदयमें—मनमें अवश्य ही उग चुका था, यद्यपि मैं इस दशामें भी संयमी-इन्द्रियसंयमी रह सका था। मन पवित्र नहीं था। वह बाला बहुत ही पवित्र थी अतः कितनी ही बार मेरे साथ खेलती कूदती और मेरी गोदीमें भी बैठ जाती। एक दिन वह मेरी गोदी में ही बैठी थी। किसीने देख लिया और उसके पिता, माता और बड़े भाईको सूचना दे दी। सूचनाका स्वरूप क्या था, यह तो मैं नहीं जान सका। परन्तु अवश्य ही उसका स्वरूप विकृत रहा होगा।

समूलगी क्रान्तिमे स्व० श्री किशोरलाल भाई मशरूवालेने लिखा है कि छोटी बालिकाके स्पर्शमें भी विकृत वृत्ति ही काम करती रहती है। इसे मैं बहुत अनुभवका कथन मानता हूं। उस बाला-के स्पर्शसे मैं कामवृत्तिकी जागृतिका अनुभव तो करता था परन्तु मेरे समक्ष जो आदर्श था, पूज्य बन्धुको मुझे जिस आदर्शके लिये छोड़ना पड़ा था, धनाभावके कारण मुझे नीची ऊँची पगडण्डियोंमें होकर चलना पड़ा था, जिस आदर्शको ध्यानमें रखकर अमृतसरसे बहुत समीप—रावलपिण्डीमें रहते हुए अपने परम प्रिय बन्धुके पास मैं नहीं जा सकता था, उसने मुझे अधःपतित होनेसे उस समय बचा लिया था। मानसिक पाप भी तो पाप ही है। उसका भी दण्ड अवश्य ही मिलता है। मुझे दण्ड मिला। रात्रिमें मुझे बहुत शान्ति, सौजन्य और मधुरतासे कहा गया कि "ब्रह्मचारीजी आप कल्ह यहाँसे कहीं अन्यत्र चले जायँ।" इतने शब्दोंने मेरे तत्कालीन जीवनकी व्याख्या कर दी। मेरे जीवन और मरणका प्रश्न मेरे समक्ष उपस्थित था। जिस भाईने मुझे यह शब्द कहे थे, उन्होंने मेरे हाथमें थोड़ेसे रुपये भी रख दिये थे। शायद वह पाँच थे।

मैं कहाँ जाऊँ ? क्या करूँ ? इस कलङ्कका मार्जन कैसे करूँ ? कैसे मैं अपनी निर्दोषताकी सिद्धि करूँ ? इसी चिन्तामें मेरी वह दुःखमयी रात्रि व्यतीत हो गयी। मैंने पिछली रात्रिमें मुलतान जानेका निश्चय किया। वहाँ पण्डित भी थे, पाठशाला भी थी और आर्यसमाजका हाईस्कूल भी था। मेरा वहाँ अध्ययन कुछ न कुछ चलता रहेगा, यह मुझे विश्वास था। मैं अपने गुरु पण्डित श्री हरिदत्तजीसे मिलूँ या न मिलूँ ? मिलूँ तो उनसे क्या कहूँ ? उनके हृदयमें, मेरे साथियोंके हृदयमें मेरे लिये मान भी था, प्रेम भी था, यदि मैं सत्य घटना कह दूँ तो किसीको विश्वास न होगा। एक लड़की मेरी गोदीमें बैठे और उसकी अवस्था १४ वर्षकी हो, इसे कोई भी मेरी पवित्रताका कृत्य नहीं ही मान सकता था, यद्यपि मैं पवित्र ही था। वह प्रेमसे कभी बैठ जाती परन्तु मैं कभी भी उसके किसी अङ्गपर हाथ नहीं लगाता था। कभी सिर पर या कभी पीठ पर हाथ अवश्य प्रेमवश फिर जाता। इतना भी तो कलङ्कके लिये पर्याप्त था। मेरी सत्य बातको भी पण्डितजी, तथा मेरे साथी सत्य नहीं मानेंगे और मुझे दुराचारी ही समझेंगे, इस विचारसे मैं किसीसे भी मिले बिना ही, उस घरमें भी किसीसे कहे बिना ही चुपचाप मेरे सामानके साथ मैं प्रातः अन्धेरेमें ही निकल गया और सीधा स्टेशन पर पहुँचा।

मेरे पास पुस्तकोंका भार था ओढ़ना-बिछौना था, लोटा था, डोरी थी, एक दण्ड था और थे अनन्त दुःख और अनन्त पश्चात्ताप। यह मेरे जीवनकी पहली कसौटी थी, पहला दुःख था और पहली ही जगत्के मार्गकी अनुभूति थी।

मैं पहले कह चुका हूँ कि मैं पटनेमें रहकर पण्डित श्री रामावतारशर्माके संसर्गसे ईश्वरके अस्तित्वमें संदिग्ध हो चुका था। जब अमृतसरमें आकर मैंने न्यायकुसमाञ्जलिका अध्ययन किया तो

उससे मेरा संदेह दृढ बन गया और ईश्वरमेंसे मेरा विश्वास उठ चुका था। अतः मैं अपने ऐसे दुःखके कालमें ईश्वरको भी अपना साथी नहीं मानता था। मैं व्याकुल था, विह्वल था, लज्जित था। मेरी मनोव्यथा अपार थी। मेरे पास द्रव्य नहीं थे। उस भाईके दिये हुए पाँच रुपये मुलतान जानेके लिये–गाड़ी भाड़ेके लिये पर्याप्त नहीं थे। मैंने स्टेशनपर छपी हुई, दीवालमें लगायी गयी हुई स्टेशनोंके नाम और भाड़ेकी सूची पढ़ी। अमुक स्टेशन तक ही मैं उतने रूपयोंसे पहुँच सकता था। वहांका ही मैंने टिकट लिया और रोते हुए दिलसे पुस्तकों और सामानके बण्डलोंको सिर और बगलमें लेकर गाड़ीमें जाकर बैठ गया। मेरे लिये चारों ओर अन्धकार था। प्रकाशका एक भी किरण मुझे दिखायी नहीं पड़ता था। उस समयकी मेरी स्थिति और परिस्थिति अवर्णनीय थी। यदि मैं उस समय ईश्वरको मानता होता तो शायद मुझे कुछ सान्त्वना मिल सकती। उस समय मेरे लिये दुःख ही दुःख था। भवभूतिका वचन याद आया **रामो दुःखाय केवलम्**। मुझे गाड़ीमें बैठनेके पश्चात् इतना आश्वासन मिला कि मैं निर्दोष था। मन विकारी था। परन्तु कोई भी शारीरिक कृत्य अवश्य ही विकारी नहीं था। भ्रमने उस बालाके गुरुजनोंको मेरा विरोधी बनाया और मैं इस दुःखकी ज्वालामें झोंक दिया गया।

मैं वहां उतर गया जहाँ तकके लिए वह टिकट था। गर्मीका मौसम था। मुलतान का प्रदेश था। महा उष्णप्रदेश। ब्रह्मचारी था अतः पैरोंमें न तो उपानह था और न सिरपर छाता। नंगे पैर और खुला सिर। ११ बजे दिनकी गर्मी। सिरपर पुस्तकोंका भार बगलमें दूसरे सामान। मैं पैदल ही चल पड़ा। बालूकी भूमि। पैर तो ऐसे जलें मानों भाड़भूजेकी भट्ठीमें चने। फफोले उठ आये। थोड़ी थोड़ी देरमें प्यास लगे। पानी सर्वत्र मिले नहीं।

कहीं कुआ मिल जाय तो लोटे-डोरीका उपयोग कर लूँ। पानी पी-कर लोटा भर लूँ। पैर खूब जलने लगें तो पानीके छींटे डालूँ। कुछ माइल दूर जानेपर दूसरा स्टेशन आया। दो बजे थे। मैंने स्टेशन मास्टरसे प्रार्थना की कि मुझे टिकट दिला दें। पैसे मैं मुल-तान पहुँचकर भेजवा दूँगा। उन्हें मुझपर विश्वास था या नहीं, यह तो मैं नहीं जानता; परन्तु उन्होंने मुझे मुलतानका टिकट दे दिया। दो या तीन घण्टोंके बाद मैं मुलतान पहुँच गया। सायङ्काल हो चुका था। मैं आर्यसमाजमें पहुँचा।

पञ्चम परिच्छेद

उन दिनों आर्यसमाजके प्रसिद्ध दार्शनिक स्वामी दर्शनानन्दजी वहाँ एक शास्त्रार्थके लिये बुलाये गये थे। उसी समय मैं पहुँचा। मैं शास्त्रार्थकी कलासे उस समय अनभिज्ञ था। पण्डित था परन्तु शास्त्रार्थमें भय लगता था। मैंने प्रथमबार ही वहाँ सनातनधर्म और आर्यसमाजका शास्त्रार्थ सुना। मैंने उसी रात्रिमें स्वामी दर्शनानन्दजीसे अपनी थोड़ी सी दुःखकथा सुनायी और प्रार्थना की कि मुझे उतने रुपये दिला दें जो उस स्टेशनके स्टेशन-मास्टरको भेजने थे। उन्होंने अपने पाससे मुझे रुपये दे दिये।

स्वामीदर्शनानन्दजीको न्यायदर्शनके निग्रहस्थान बहुत ही अभ्यस्त थे। वह विपक्षीको किसी न किसी निग्रहस्थानमें ले आकर पछाड़ देते थे। जब उन्होंने मुझसे सुना कि मैंने वात्सायनभाष्य-सहित न्यायदर्शन पढ़ा है तो वे झट मुझसे निग्रहस्थानोंपर ही प्रश्न कर बैठे। मेरे उत्तरसे उन्हें संतोष हुआ और वहाँ मेरे रहनेका प्रबन्ध उन्होंने करा दिया। मुलतानमें मेरे पढ़नेके लिये कुछ था नहीं। सर्वत्र शास्त्री-परीक्षा तक ही पढ़ायी होती थी। मुझे उसकी आवश्यकता नहीं थी। मैं उससे बहुत अधिक पढ़ चुका था। वहाँ ही कुछ कोस दूर आर्यसमाजका एक गुरुकुल था। मैं वहाँ चला गया। मैं समझता था कि मुझे वहाँ कुछ विशेष ज्ञान मिलेगा। परन्तु मेरी आशा सफल नहीं हुई। स्थान निर्जन था। अत एव रमणीय था। मुझे वहां रहनेकी इच्छा हुई। वहांके आचार्यने मेरा प्रबन्ध कर दिया और मैं ब्रह्मचारियोंको कुछ पढ़ा दिया करता था। बड़ी कक्षाके ब्रह्मचारी वहां

नहीं थे। शायद मैं वहां दो मास रहा। वृत्ति चञ्चल हो उठी। मैंने उन दो शाकद्वीपीय ब्राह्मणबन्धुओंको पत्र लिखकर अपनी दयनीय दशाका चित्र चित्रित किया। उन्होंने मुझे बिहारमें आ जानेका आग्रह किया। मैं पुनः बिहार पहुँचा। मुझे बांकीपुरमें डाक्टर श्री लक्ष्मीपतिजीके यहाँ रहनेके लिये आश्रय मिला। मैं वहाँ थोड़े दिन रहकर कलकत्ता चला गया और स्वर्गीय पण्डित श्री सत्यव्रत सामश्रमीजीसे निरुक्त पढ़ने लगा।

श्री० पण्डित सामश्रमीजी सामवेदके अद्वितीय विद्वान् थे परन्तु उतनी ही विद्वत्ता अन्य वेदोंमे भी वह रखते थे। उस समय उनके पास दूर-दूर प्रान्तोंके छात्र निरुक्त पढ़नेके लिये आया करते थे। वह अपने सभी विद्यार्थियोंको निरुक्तरत्न और निरुक्तभूषणकी उपाधि दिया करते थे। उसी लोभसे मैं भी वहाँ गया था। निरुक्तभूषण बन गया। मेरी इच्छा हुई कि मैं वेदाध्ययन भी उन्हींसे करूँ। शुक्लयजुर्वेद वहाँ ही पढ़कर, वेदरत्न बनकर मैं पुनः काशी या बिहार गया।

षष्ठ परिच्छेद

दर्भङ्गा (मिथिला) में रामेश्वरलता विद्यालय में बहुत उत्तम कोटि के पण्डित हैं, ऐसा मैंने पहले से ही सुन रखा था। मैं दरभङ्गा पहुँचा। मुझे लघुशब्देन्दुशेखर पढ़ना था। उसके अध्यापक मुझे अच्छे नहीं मिले। पण्डित श्री खुद्दी झाजी अच्छे वैयाकरण थे परन्तु मैं उस समयके वहाँके मुख्याध्यापकके पास पढ़ने लगा था। वहाँ मुझे सन्तोष नहीं हुआ। उस समय उसी पाठशालामें महामहोपाध्याय पण्डित श्री बालकृष्ण मिश्रजी न्यायके अध्यापक थे। प्राचीन न्याय तो मुझे आता ही था। नवीन न्यायका मैंने वहीं श्री मिश्रजीके पास आरम्भ किया। श्री मिश्रजी न्याय पढ़ानेमें अत्यन्त निपुण थे। वह वैयाकरण तो नहीं थे परन्तु साहित्यके महान् बिद्वान् थे। सहस्रों श्लोक उन्हें कण्ठस्थ थे और समय-समयपर पाठके बीचमें वह बोला करते थे। बिहारी सतसई तो उन्हें सम्पूर्ण कण्ठस्थ थी। मैंने उनसे मुक्तावलीकी दिनकरी और पञ्च लक्षणीका अध्ययन किया। एक पत्र पाकर मैं मुस्तफापुर चला गया।

जब मैं दरभङ्गामें पढ़ता था, मुझे छात्रवृत्ति मिलती थी परन्तु बहुत कम। यदि मुझे आज भ्रम नहीं होता है तो मुझे स्मरण है कि उस विद्यालयमे मैथिल छात्रोंकी सुविधाका बहुत ध्यान रखा जाता था। मैंने श्री नैयायिक गुरुजीको एक पत्र लिखकर प्रार्थना की कि मेरी छात्रवृत्ति थोड़ीसी बढ़ा दी जाय। गुरुजीको वह मेरा पत्र बहुत ही सुन्दर प्रतीत हुआ। मैं साहित्यका तो

पण्डित ही था। इतना सुन्दर संस्कृतपत्र लिखा गया था कि, गुरुजीने उस पत्रको तत्कालीन अपने सभी छात्रोंको दिखाया था। इतना ही नहीं, जब वह दरभङ्गासे मुजफ्फरपुर कालेजमें आ गये थे तब उस पत्रको मेरे मित्र पण्डित श्री रघुवराचार्यजीको भी दिखाकर मेरा स्मरण किया था। जब उन्होंने श्री रघुवराचार्यजीसे सुना कि मैं अब अयोध्यामें वैष्णव विरक्त बनकर रहता हूँ तब वह बहुत प्रसन्न हुए थे। पण्डित श्री रघुवराचार्यजीने मुझे लिखा कि श्री नैयायिक गुरुजी तुम्हें प्रेमसे स्मरण करते हैं। एक बार यहाँ आनेके लिये भी वह कह रहे हैं।

दरभङ्गामें उस समय प्रिन्सिपल थे महामहोपाध्याय पण्डित श्री चित्रधरमिश्र मीमांसक। वह मेरा पत्र उनके पास पहुँचाया गया। उस पत्रने मेरी छात्रवृत्तिमें वृद्धि की और साथ ही साथ मेरी प्रतिष्ठामें भी।

रामेश्वरलता विद्यालयमें एक मेरा सहाध्यायी छात्र था। नैयायिक गुरुजी जो कुछ बोलते थे, मैं शीघ्रतासे लिख लेता था। वह छात्र ऐसा नहीं कर पाता था। उसने स्पर्द्धासे अच्छा और शीघ्र लिखना सीख लिया। तब वह मेरी ओर ईर्ष्यादृष्टिसे देखने लगा। चर्चा होने लगी कि वह छात्र भी ब्रह्मचारीजीके समान ही शीघ्र और सुन्दर लिख लेता है। मैं भी तो छात्र ही था। मुझमें भी वह वृत्ति तो थी ही जो सभी छात्रोंमें होती है। मैंने एक दिन गुरुजीसे कहा कि आप इस छात्रको कह दें कि आजसे एक मास पूरा होनेवाले दिन मेरी प्रतियोगिताके लिये उद्यत रहे। मैं एक साथ ही दो विषयोंको दोनों हाथोंसे लिखूँगा। मैंने अभ्यास किया। दैवबल प्राप्त किया और ठीक एक मास पूरा होने-वाले दिन गुरुजीसे कहा कि आज उस छात्रको मेरे साथ लिखनेको बैठनेकी आज्ञा दें। वह इस प्रतियोगिताके लिये सर्वथा

तैयार नहीं था। यह एक अद्वितीय बात थी। दो विद्वान् दो विषय एक साथ बोलें और मैं एक साथ ही एक हाथसे एक विषय और दूसरे से दूसरा विषय लिखूँ। एक दिन मेरी परीक्षाके लिये नियत हुआ। श्री० म० म० प० चित्रधर मिश्रजी और म० म० पण्डित श्री परमेश्वरझाजी उपस्थित हुए। विद्यालयके सभी छात्र और अध्यापक उपस्थित थे। पण्डित चित्रधरमिश्रजी मीमांसाके कुछ वाक्य और पण्डित परमेश्वरझाजी व्याकरणके कुछ वाक्य बोले और मैं लिखने लगा। मैंने पहलेसे ही प्रार्थना कर ली थी कि यह परीक्षा तीन मिनटसे अधिक नहीं होनी चाहिये; क्योंकि मेरी शक्ति इतनी ही थी। मैं उत्तीर्ण हुआ। मेरे आनन्दका पार नहीं था परन्तु अभिमान भी उतना ही था। उस छात्रकी मेरे साथ स्पर्द्धावृत्ति गयी और मेरे लिये मैत्री उत्पन्न हुई।

यह घटना बाहरके बहुत थोड़े ही लोग जानते हैं। परन्तु आजसे लगभग २० वर्ष पूर्व अजमेरमें मुझे यह मेरा इतिहास सुननेको मिला। अजमेरमें एक प्रतिष्ठित डाक्टर साहब हैं उनका नाम है डा० अम्बालालजी शर्मा। वह बहुत ही योग्य डाक्टर तो हैं ही परन्तु सत्पुरुष भी हैं। लेखक भी हैं और वक्ता भी हैं। संस्कृतज्ञ भी हैं और आयुर्वेदनिष्णात भी हैं और हैं देवीके उपासक। मैं एक समय उनका ही अतिथि था। उनके यहाँसे उदयपुरसे या किसी अन्य स्थानसे एक सज्जन आये थे वह जादूके अच्छे-अच्छे खेल कर सकते थे। श्री डाक्टर साहबजीने मुझे बहुत धीरेसे कहा कि "स्वामीजी, यह सज्जन आपको दोनों हाथोंसे दो विषयोंको लिखते हुए देखना चाहते हैं।" मेरे आश्चर्यकी सीमा नहीं रही। मैंने पूछा कि डाक्टर साहब, आप इस बातको कैसे जानते हैं कि मैं ऐसा काम कर सकता हूँ? तब उन्होंने निरञ्जन सम्प्रदायके एक

पण्डित स्वामी मोहनदासजीका नाम लिया। मैंने मोहनदासजीसे या किसीसे भी यह बात नहीं की थी। मैंने उनसे पूछा कि आपने कहांसे यह बात जान ली तो उत्तर मिला कि मैंने अन्यत्र यह बात कई लोगोंसे सुनी थी और डाक्टर श्री अम्बालालजीसे भी मैंने ही इसे कहा था। अस्तु, मैंने श्री डाक्टर साहबसे बहुत नम्रता-पूर्वक कहा कि डाक्टर साहब, अब मुझमें वह और उतनी शक्ति नहीं है। अब मैं उतना अवहित नहीं रह सकता। मेरा सिर घूमने लगता है।

ऐसे ही, ईस्वी वर्ष १९५६ में जून या जुलाई मासमें अत्यन्त आश्चर्यके साथ श्री चन्दनदेवी बहिनसे सुना कि स्वामी—नारायण स्वामीजी हिमालयवासीने बहुतोंके सामने मेरा परिचय देते हुए कहा था कि स्वामी भगवदाचार्य दोनों हाथोंसे दो विषय* एक साथ ही लिख सकते हैं। उन्हें यह बात कहाँसे जाननेको मिली, मैं नहीं कह सकता। उनके ही भक्त एक सज्जन श्री हीरालाल भाई (अहमदाबाद) ने भी उसी दिन मुझे यही बात कही कि श्री नारायण स्वामी कहते थे कि आप दोनों हाथोंसे दो विषय लिख लेते हैं।

यहाँ पर मुझे एक बात कह देनी चाहिये। मिथिलाप्रदेश लगभग शाक्त प्रदेश है। वहांके प्रायः सभी विद्वान् शक्तिके उपासक होते हैं। कितने ही गांव ऐसे हैं जहां देवीकी मूर्ति मन्दिरमें विराजमान है और कहा जाता है कि इन्हींकी पूजासे अमुक महा-महोपाध्याय वाक्सिद्ध हो गये। अमुक विद्वान् इन्हींकी प्रसन्नतासे दिग्विजयी बने इत्यादि। मेरे वहांके सभी साथी देवीकी आराधना तो करते ही थे। एक दिन मेरे साथीने मुझे निम्नलिखित श्लोक सुनाया :—

यद्यनवद्ये गद्ये पद्ये शैथिल्यमावहसे।
तत्किं त्रिभुवनसारा तारा नाराधिता भवता ॥

मेरी भावना जागरित हो गयी और मैं देवीका उपासक बन गया। एक अद्भुत शक्तिस्तुति तो मैं सदा ही बोला करता था।

जिन दिनों मैं दोनों हाथोंसे साथ ही दो विषयोंको लिखनेकी तैयारी कर रहा था उन दिनों मैं देवीकी ही उपासना किया करता था। आर्यसमाजने जो भाव मुझमें भरे थे, वह सहसा निकल गये और मैं शुद्ध देवी-उपासक बन गया। बोर्डिंगके सामने ही एक आंवलेका वृक्ष था। वहां ही नीचें मैंने एक वेदी बना ली थी। समाहित चित्त होकर प्रातः ४ बजे सूर्योदय के पहले पहले तक वहां ही ध्यानस्थ बैठा रहता था। कहनेवाले कहते थे कि शक्तिके प्रतापसे ही मैं उस परीक्षामें उत्तीर्ण हो सका था। मैं भी, आज भी ऐसा ही कुछ अनुभव करता हूँ।

सप्तम परिच्छेद

मैं जब दरभङ्गासे मुस्तफापुर आया तब बहुत दुःखसे सुना कि पण्डित श्रीजगन्नारायण मिश्रजीका देहान्त हो गया था। मेरे ऊपर उनके कुछ उपकार भी थे, वह साथी भी थे। उन्होंने ही मुझे काशी-से बिहार बुलाया था। उन .... सज्जन से उन्होंने ही मेरे पढ़नेके लिये व्यवस्था करायी थी। यह दूसरी बात है कि मैं अपने प्रतिष्ठा-भङ्गके भयसे ... बननेसे इनकार कर दिया था और वह सहा-यता मुझे नहीं मिल सकी थी। उनके छोटे भाई प० हरिनारायण मिश्रजीने मुझसे कहा कि स्वर्गीय पण्डितजीकी स्मृतिमें कुछ अच्छा काम करना चाहिये तत्काल ही निर्णय कर लिया गया उनकी स्मृतिमें एक गुरुकुल चलानेका। वह भी पण्डित श्री सत्य-व्रत सामश्रमीजीके शिष्य थे। वह भी वेदरत्न थे। अतः वहाँ वेदरत्न विद्यालय चलाना निश्चित हुआ। थोड़े समयमें ही वहाँ विद्यालय-का अपना भवन भी तैयार हो गया। पण्डित हरिनारायण मिश्रजी धनसंग्रह करते थे। एक वैयाकरण अध्यापक वैतनिक रख लिये गये थे। पण्डित श्री रामचन्द्र द्विवेदीजी वहाँ हिन्दीके अध्यापक थे और मैं साहित्यका। इस प्रकारसे हम चारोंने उस विद्यालयकी उन्नतिके लिए प्रयत्न आरम्भ कर दिया। विद्यालयके उद्घाटनपर पण्डित श्री रामावतार शर्माजी भी आमन्त्रित थे। उनका संस्कृतमें बहुत सुन्दर भाषण प्रथम बार ही सुननेको मिला था। यों तो परि-चय बहुत पुराना हो चुका था। उस समय मेरा भी एक लिखित संस्कृत भाषण मैंने वहाँ पढ़ा था जिसका विषय था—

अर्वाचीन संस्कृत साहित्यका मूल वेद। उस विद्यालयमें शायद एक वर्ष तक मैं रहा और पश्चात् मुङ्गेर चला गया। पण्डित श्री रामचन्द्र द्विवेदीजी भी वहाँसे अलग हो गये।

मैं जब बांकीपुरमें डाक्टर लक्ष्मीपतिजीके पास रहता था, उस समय वह एकाएक क्षयरोगसे पीड़ित हुए। अत्यल्पकालमें उनका अवसान हो गया। उनके मृत्युके समय मैं उनके पास ही था। वह बहुत बड़े डाक्टर थे और विलायतसे L. R. C. P. & S. होकर आये थे। वह धार्मिकवृत्तिके सज्जन थे। परोपकार उनके जीवनका लक्ष्य था। उनको वैद्यनाथधाममें गुरुकुल बनाना था। उसीके लिए वह रात्रिन्दिव सचिन्त रहा करते थे। वह अधिक धन-संग्रह अपने परिवारके लिये नहीं कर सके थे। जहाँ तक मुझे याद है उनके जीवनकालमें गुरुकुल नहीं बन सका था। परन्तु पीछेसे बना अवश्य और वह आज भी है। आजसे ६ वर्ष पूर्व जब मैं वैद्यनाथ धामकी यात्रा करने गया था तो अपने साथियोंसे कहे बिना ही चुपचाप उस गुरुकुलका दर्शन करने चला गया था।

जब मैं वेदरत्न विद्यालयमें था तब मुझे विदित हुआ कि डाक्टर श्री लक्ष्मीपतिजीकी वृद्धा माता, उनकी पत्नी, उनके बच्चे आर्थिक संकटमें हैं। मुझे खूब दुःख हुआ। डाक्टर साहेबके मृत्युने मुझे खूब रुलाया था। मैं कई दिनोंतक रोता ही रहा था। हृदय व्यथित था। उनके कुटुम्बका दुःख सुनकर मुझे उनकी सहायताकी इच्छा—तीव्र इच्छा हो गयी। वेदरत्न विद्यालयसे भोजनके अतिरिक्त कुछ भी न लेनेकी मेरी प्रतिज्ञा थी। वहाँ शाकद्वीपीय पक्ष भी दृढ़ हो चला था जो न तो मुझे प्रिय था और न पण्डित रामचन्द्र द्विवेदीजी-को। हम दोनों ही वहाँसे हटना ही चाहते थे। दोनों हट गये।

मुंगेरमें एक अनाथालय आर्यसमाजका चल रहा था। उसके

लिये एक अध्यापककी आवश्यकता थी। मुझे धनकी आवश्यकता श्री डाक्टर साहेबके कुटुम्बके लिये आ पड़ी। मैं वहाँ अनाथालयके व्यवस्थापक महाशय शीतलप्रसादजीसे पत्र-व्यवहार करके ही वहाँ गया था। आर्यसमाजमें रहता था। अनाथालयके बालकोंको दो घण्टे पढ़ाता था। शायद २०) मासिक मुझे मिलते थे। मैं वहाँ ट्यूशन भी करने लग गया। ट्यूशनसे मुझे अधिक पैसे मिलने लग गये थे। वहाँ एक हिन्दू हाईस्कूल था या कोई दूसरा नाम था। उसके सर्वेसर्वा हेडमास्टर एक बङ्गाली वृद्ध सज्जन थे। मेरे सामने ही उनका मकान था। उन्होंने मुझे कहा कि यदि आप मेरे स्कूलमें सप्ताहमें दो दिन आकर दो घण्टे मैट्रिक क्लासमें संस्कृत पढ़ा जाया करें तो स्कूल आपको १५) मासिक देगा। मुझे तो अधिकसे अधिक धनकी आवश्यकता थी। ब्रह्मचारी था। नीरोग था। युवा था। उत्साही था। धुनी था। उसका स्वीकार कर लिया। अब् मुझे लगभग ७५) मासिककी आय होने लग गया था। कुछ अपने लिये व्यय करता था और अवशिष्ट डाक्टर साहेबके परिवारके लिए भेजता था। वहां ही मैंने मैट्रिक परीक्षाकी तैयारी भी की थी परन्तु परीक्षामें बैठ नहीं सका। रूपये तो मैं लगभग मासिक १००) कमाने लग गया था।

डाक्टर साहेबका परिवार दानापुरमें रहता था। उनकी पत्नी कभी दानापुरमें और कभी समस्तीपुरमें रहती थीं। मैं प्रतिमास रूपये भेजता था। इसकी चर्चा होने लगी। टीका-टिप्पणी भी होने लगी। मुझे डाक्टर साहेबकी पत्नीने लिखा कि मनीआर्डरसे रूपये भेजना बन्द करो। बदनामी होती है। मैं डर गया। अमृतसरकी सम्पूर्ण घटना—भूली हुई घटना ताजी हो गयी। मुझे बाल्यावस्थाका पाठ याद आया—**'बाबा कर तो भी डर, न कर तो भी डर'**। मैं तो जिनके लिये

मुंगेरमें रहता था जब उनकी मैं कोई सहायता नहीं कर सकता था तब वहांका रहना मुझे निरर्थक प्रतीत हुआ। मुझे विशिष्टाद्वैत-वेदान्त पढ़ना था। इसके लिये मैं अयोध्या चला गया।

एक दुःख। डाक्टर साहेबकी पत्नीके पास कुछ अनावश्यक सोना पड़ा था। उस समय उसका मूल्य बहुत थोड़ा था। मुङ्गेरसे चलते समय मैं अपने सब पुस्तक और वह सोना वहां एक भाई रामकिशोर शाहके यहां रख कर अयोध्या गया था। उस सोनेको मैंने बेच देनेको लिखा था। उन्होंने बेंच दिया था और पैसे मुझे दे दिये थे। सौ रूपयेके भीतरकी रक़म थी। मैं अयोध्यासे कई बार मुङ्गेर आता रहता था। बहुत दिनों तक वहां रहनेके कारण सम्बन्ध बन गया था। मुङ्गेरके निवासकालमें मैंने वहीं एक तर्क समिति और एक सेवासमिति बनायी थी। तर्क समितिमें सब धर्म और सब जातिके स्कूल और कालेजके लड़के प्रतिसप्ताह और किसी न किसी पूर्वसे ही नियत विषयपर प्रश्नोत्तर करते। मैं उस तर्क समितिका सभापति था और एक मुसलमान विद्यार्थी मन्त्री था। सेवासमिति प्लेग आदिके समय लोगोंकी सेवा करती थी। इन सब कारणोंसे सम्बन्ध बहुत मधुर बन चुका था। अतः कभी कभी मुङ्गेर आता जाता रहता था। श्री डाक्टर साहेबकी पत्नीके उस सुवर्णके रूपये तथा उनके लिए मैंने जो रुपये कमाये थे, वह भी मेरे पास ही रह गये। अब तक मैं उन्हें उन रूपयोंको दे नहीं सका हूँ। कई बार उनका पता जाननेका प्रयास किया, पता नहीं लगा। अभी प्रयास करना अवशिष्ट ही है। ये रूपये उनके किसी भी स्वजनको अवश्य पहुँचानेका प्रयत्न करूँगा।

अष्टम परिच्छेद

मैं जब अयोध्या गया तो मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वह साधुओंका ही गाँव था। मैं सबसे पहले राजगोपालमन्दिरमें गया। रहनेकेलिए स्थान मांगनेपर कहा गया था कि यहां ब्रह्मचारियोंके लिये स्थान नहीं है। मैं बहुत ही थोड़ सामानमें उस समय रहा करता था। लोटा, सोंटा, कम्बल, कुछ पुस्तक, इतनी ही मेरी दुनिया थी। इसको लिये दिये मैं स्थानके लिये भटकता फिरता था! छोटी कुटिया अयोध्यामें एक स्थानका नाम है। वह बहुत लम्बी जगह है। मैंने बाहरसे सड़कपरसे देखा तो एक पण्डितजी पढ़ा रहे थे, पढ़नेवाले ३-४ सन्त बैठे थे। मैं सन्तोंकी सरायमें नया आदमी था। डरता डरता वहां तक पहुँचा जहां वे लोग बैठे थे। पण्डित श्री गोविन्ददासजी जो पीछेसे श्री गोविन्दाचार्यजी बन गये थे वहां मनोरमा किसीको पढ़ा रहे थे। उनमेंसे दोके शुभनाम मुझे याद हैं। पण्डित वासुदेवाचार्यजी दार्शनिक सार्वभौमके गुरुदेव पण्डित मथुरादासजी, तथा पण्डित शुकदेवदासजी। इन दोमेंसे एक हैं और दूसरे परलोक पधार गये। कुछ और भी सन्त थे। जिनसे परिचित नहीं हो सका था।

पण्डित गोविन्दाचार्यजीने बहुत सज्जनतासे मेरा समाचार पूछा। मैंने कहा कि विशिष्टाद्वैतवेदान्त पढ़नेकी इच्छासे यहां आया हूँ। उन्होंने पूछा तुमको कैसे मालूम था कि यहां विशिष्टाद्वैतवेदान्त पढ़ाया जाता है? मैंने कहा—मुङ्गेरमें एक कृष्णचैतन्य सम्प्रदायके सद्‌गृहस्थने मुझे ऐसा कहा था। पण्डितगोविन्दाचार्यजीने प० मथुरादासजी और पण्डित शुकदेवदासजीको मुझे बड़ास्थानमें ले

जानेको कहा। दोनों ही महात्मा मुझे लेकर बड़ास्थानमें गये। वहांके श्री महान्तजी महाराजसे मेरा परिचय कराया और कहा कि यह ब्रह्मचारी हैं, विशिष्टाद्वैतवेदान्त पढ़नेके लिये आये हैं। श्री महान्तजी महाराजने कहा कि सन्ध्याको ५ बजे ले आना। हम तीनों चले गये। मुझे स्मरण नहीं है कि मैंने भोजन कहां किया।

सायङ्काल पण्डित श्री मथुरादासजी मुझे लेकर पुनः बड़ा स्थानमें गये। श्री महान्तजी महाराज बाहर ही बड़े द्वारमें कुर्सीपर बैठे थे। पण्डितजीने उन्हें साष्टाङ्ग किया, मैंने सिर झुका दिया। एक बेंच वहाँ पड़ा था, उसी पर हम दोनों बैठ गये। श्री महान्तजीने एक साधुसे कहा कि पण्डित रघुवरदासजीको बुला लावो। वह गया और पण्डित श्री रघुवरदासजी आये। वह भी उसी बेंच पर मेरे साथ ही बैठ गये। श्री महान्तजीने उनसे कहा कि "पण्डितजी देखो तो यह ब्रह्मचारी यहाँ क्या पढ़ने आये हैं ?" पण्डितजीने संस्कृतमें पूछा **कौतस्कुतो भवतामागमनम्।** मैंने उत्तर दिया—**मुंगेरतः। किमर्थमागमनम्** पुनः उन्होंने पूछा। **'विशिष्टद्वैतवेदान्ताधिजिगीषया समायातोस्मि'** मैंने उत्तर दिया। मेरे सन्नन्तप्रयोगसे वह बहुत प्रभावित हुए और हिन्दीमें श्री महान्तजीसे कहने लगे वहुत योग्य हैं, रख लिया जाय। स्वीकृति मिल गयी। पण्डितजीने पुनः मुझसे हिन्दीमे पूछा कि आप क्या क्या पढ़े हैं ? मैंने सब बता दिया। उन्हें हर्ष हुआ। पण्डित मथुरादासजी चले गये। मैं बड़ा स्थानमें रह गया और साधुनिवासमें मुझे रहनेकी आज्ञा श्री महान्तजीने दी। सायङ्काल हो रहा था। गर्मीके दिन थे। साधुनिवासमें हवा नहीं। साधु चिलम पीने वाले। मैं आर्यसमाजके विचारका आदमी। धुआँ धक्कड़से मुझे बहुत ग्लानि हुई। मैं सोचने लगा कि यदि मेरे

रहनेके लिये यही जगह है तो मैं कैसे चिरस्थायी बन सकूँगा? आसन तो वहाँ ही लगाना था, लगा लिया। थोड़ी देरमें एक साधु आया और मुझे पण्डित श्री रघुवरदासजीके पास ले गया। हम दोनों बैठे। इधर-उधरकी बातें होती रहीं। वह एक छोटी सी चौकी पर बैठे थे, मैं नीचे एक चटाई पर बैठा था। वह महात्मा थे, मैं ब्रह्मचारी था। रात पड़ गयी। वह स्लेट-पेन्सिल लेकर कुछ लिखने बैठ गये।

वहाँ श्री रामस्वरूपदासजी नामके सन्त थे। वह श्री महान्त-जीके योग्य शिष्योंमेंसे थें। उन्हें वंशी बजानेका शौक था। कवितामें पत्र लिखनेका भी शौक था। वह स्वयं बहुत पढ़े लिखे नहीं थे परन्तु बहुत विवेकी और अच्छे सन्त थे। उन्हे किसी अपने मित्रको पत्र लिखना था वह भी हिन्दी कवितामें। इस पत्रका मजमून पण्डित श्री रघुवरदासजीको दे दिया गया था। उसीके अनुसार उन्हें कविता लिखनी थी। वह लिख रहे थे, मैं देख रहा था। मुझे बराबर स्मरण नहीं है परन्तु शायद वह सवैया थी। एक जगह उनकी कलम रुक गयी। अनुप्रास नहीं बैठता था। वह बहुत विचार कर रहे थे। सफल नहीं हो रहे थे। वह लघुशङ्का करने गये और मैंने इस अनुप्रासको पूरा कर दिया। वह आये, उन्होंने उसे देखा और आश्चर्यसे पूछा कि यह आपने लिख दिया है? "मैंने हा किया। अनुराग बढ़ा। प्रीति अति बाढ़ी। मुझे नीचेसे उठाकर उस पाट=चौकी पर उन्होंने बैठा लिया। मैं अयोध्यावासी बनने लगा।

उस समय अयोध्यामें स्वामी राघवेन्द्राचार्यजी एक दाक्षिणात्य मद्राससे आये थे और स्वामी बलरामाचार्यजीकी अध्यक्षतामें एक छोटी सी पाठशाला चलती थी। मैं उसमें तो प्रथम दिन ही जा आया था। उन्होंने साहित्यदर्पण और काव्यप्रकाशसे कुछ

प्रश्न पूछे थे। मैंने उत्तर भी दिया था। उन्होंने मुझे पढ़ानेके लिये हाँ, कर लिया था। परन्तु थोड़े दिनोंमें ही वह वहाँसे चले गय। अयोध्यामें मैं व्यवसायशून्य होकर थोड़े दिन रहा, पश्चात् मुङ्गेर चला गया। अब पढ़नेकी जिज्ञासा बढ़ती ही गयी। व्याकरणाचार्यके सब ग्रन्थ मेरे पढ़े हुए नहीं थे। मैंने मनोरमा और लघुशब्देन्दुशेखर थोड़ा सा पढ़ा था। महाभाष्य नवाह्निक पढ़ा था परन्तु उसके बहुतसे स्थलमें मैं अपटु था। मुझे व्याकरण भी पढ़ना था। विशिष्टाद्वैतवेदान्त भी पढ़ना था। मुङ्गेरमें मुझे सिद्धान्तकौमुदीके छात्र मिलते थे। उन पर मेरा प्रभाव था। परन्तु मैं अपनी निर्बलताको समझता था। मुझे आगे पढ़ना ही चाहिये, इस निश्चय पर मैं आ चुका था।

पण्डित रघुवरदासजीसे मेरा खूब प्रेम हो चुका था। यद्यपि मेरे उनके सिद्धान्तोंमें महदन्तर था तथापि प्रेममें अन्तर नहीं ही था। गाढ सम्बन्ध था। मैं जब अयोध्यासे मुङ्गेर चला गया तब वह अयोध्यामें बहुत बीमार पड़ गये थे। मेरा स्वभाव खूब हँसने और हँसानेका था। मैं ग़ज़ल, कव्वाली अच्छा गा लेता था। उन्हें मुझसे आनन्द मिलता था। उन्होंने कई कार्ड मुङ्गेर, मुझे बुलानेके लिये भेजे परन्तु मैं तब आर्यसमाजमें न रहकर एक जमीनदारके घरमें रहता था। उन लोगोंकी इच्छा नहीं थी कि मैं बाहर जाऊँ। अतः दो तीन कार्ड मुझे नहीं ही दिये गये। चौथा कार्ड संस्कृतमें लिखा हुआ गया। वह लोग उसे समझ सके नहीं। वह कार्ड मुझे दिया गया। उसमें दुःखका दर्शन था, मनोवेदना थी और एक मित्रका आतुरतापूर्वक आह्वान था। मैंने कहा कि मैं अयोध्या जाऊँगा। तब लोगोंने पहलेके ३ कार्ड भी मुझे दे दिये। मुझे बहुत दुःख हुआ कि मैं अकारण मित्रके दुःखमें शीघ्र सम्मिलित न हो सका था। मैं अयोध्या पहुँचा। पण्डित सीतारामदासजी एक

गुजराती सन्त थे। वह पण्डितजीकी खूब सेवा कर रहे थे, मल-मूत्र भी वही उठाते थे। मेरे पहुँचते ही हर्षका वातावरण हो गया। वहां पण्डित श्री रामचरित्रजी प्रधानाध्यापक पाठशालामें पढ़ा रहे थे। मुझे देखते ही उन्होंने कहा कि अब आप आ गये हैं तो रघुवरदासजी अवश्य अच्छे हो जायंगे। बड़ा स्थानमें वैष्णवधर्मप्रधिनी नामकी एक पाठशाला थी, आज भी है। उसीमें पण्डित रघुवरदासजी व्याकरण पढ़ते थे। मैं अयोध्यामें रहकर प० सीतारामदासजी जो सेवा करते थे, अपने ऊपर उसे लेकर, पण्डित रघुवरदासजीको नीरोग बनानेके प्रयत्नमें लग गया। वह अच्छे हो गये। उन्हें वेदान्ततीर्थकी परीक्षा देनी थी। श्री भाष्य पढ़नेके लिये वह स्वामी श्री माधवाचार्यजीके यहां सुरसंड मन्दिरमें जाने लगे। मैं भी उनका सहाध्यायी बना। चतुःसूत्री हम दोनोंने उन्हीं स्वामीजीसे पढ़ी। मुझे वेदतीर्थकी परीक्षा देनी थी। अतः मैं मुङ्गेर चला गया और वह कलकत्ता गये। श्री पण्डित लक्ष्मणशास्त्री द्रविडसे वहां संस्कृत कालेजमें वेदान्ततीर्थके अवशिष्ट ग्रन्थ पढ़ने लगे। उन्होंने मुझे पत्र लिखा कि 'आप यहां यदि शीघ्र आ जायं तो बहुतसे ग्रन्थोंके पाठ सुननेको मिलेंगे। मुझे वेदतीर्थके लिये बहुत श्रम नहीं करना था अतः मैं कलकत्ता चला गया। वह सत्यनारायणघाटपर सत्यनारायणके मन्दिरमें रहते थे और मैं खिदिरपुरमें—बहुत दूर एक सेठके यहां रहता था। संस्कृत कालेजमें हम दोनों मिलते थे। पासके ही उद्यानमें हम दोनों, कालेजसे छूटकर बैठते, बातें करते और कभी कभी पठित विषयोंपर विचार भी करते। आनन्दमें समय बीतता। परीक्षा देकर हम दोनों अलग हो गये। वह अयोध्या गये। मैं मुङ्गेर गया।

नवम परिच्छेद

मैं जब प्रथम मुङ्गेर गया। उस समय महात्मागांधीजी दक्षिण अफ्रिकासे भारतमें आ चुके थे। अहमदाबादमें कोचरबमें रहते थे। उनके समाचार सभी हिन्दी पत्रोंमें छपा करते थे और मैं पढ़ा करता था। जब वह द० अफ्रिकामें थे तब भी उनके समाचार मैं सरस्वती आदि मासिक पत्रोंमें पढ़ा करता था। उनमें उसी समयसे मेरे हृदयमें श्रद्धा जग उठी थी। मैं उनका परम श्रद्धालु था। वह सत्याग्रहके लिये चम्पारन (बिहार) में ही उन दिनों थे। उनके दर्शनोंके लिये हृदय तरस रहा था। दर्शन दुर्लभ थे। मैं गुजरात गया।

बड़ोदेमें पहले श्रावणमासदक्षिणा परीक्षा हुआ करती थी। वह परीक्षा विद्यार्थियोंके लिये नहीं थी, पण्डितोंके लिये ही थी। मिथिला आदिसे कई विषयोंके विद्वान् वहां जाते अपने अभीष्ट विषयोंमें परीक्षा देते। उत्तीर्ण होनेपर रूपये शाल-दुशाले और पेड़ा भेटमें मिला करते थे। मैं भी उसी परीक्षाके लिये बड़ोदा गया। वेद और साहित्यमें बैठा था। परीक्षाका परिणाम जाननेके लिये, १५ दिनों तक मैंने डाकोरमें जाकर रहनेका विचार किया। जब मैं बड़ोदा परीक्षाके लिये गया था तो वहां डाकोरकी गूंदीवाली जगहका ही एक शाखास्थान था, उसीमें ठहरा था। वहांके जो व्यवस्थापक थे वह स्वर्गीय महान्त श्री देवदासजीके गुरुभ्राता थे। उनसे ही मैंने डाकोरका नाम, यश सुना था। डाकोरमें मैं रामटेकरीमें जाकर ठहरा। वहांके महान्त उस समय ईश्वरदासजी थे। उन्होंने मुझे बहुत सत्कारसे रखा। वहां मुझे निवास दिलानेवाले

श्री गिरिजाशङ्करजी थे। वह वहां एक स्कूलके हेडमास्टर थे। मैं पहले उनसे ही उसी स्कूलमें मिला था। वह मुझे रामटेकरीमें ले गये थे। उस समय वहां मेरे पास रुपये नहीं रह गये थे तब पत्र लिखनेपर अयोध्यासे पण्डित श्री रघुवरदासजीने शायद २०) भेजे थे। वह मित्रताकी भेट थी। बड़ोदेसे दक्षिणा लेकर मैं पुनः डाकोर ही आया था। वहांसे ही वहांके नागरिकों-साक्षरों-अध्यापकोंसे सम्मानित होकर मैं पुनः मुङ्गेर गया।

बड़ोदा जाते समय मैं अहमदाबाद उतर गया था। किसी धर्मशालामें रहकर महात्मा गांधीजीका आश्रम देखने चला था। मैं स्टेशनसे पैदल ही चला था। उनमें दो कारण थे, धनकी न्यूनता और नगरनिरीक्षणकी भावना। जहाँ पूछूँ, सभी मुझे प्रेमसे श्री महात्माजीके आश्रमका मार्ग बता देते थे। एलिसब्रिज-पर जब मैंने एक नवयुवकसे पूछा कि महात्माजीका आश्रम कहां है? तो वह भाई मेरे साथ चलकर आश्रमके द्वार तक मुझे पहुँचा गये। मेरे हृदयमें उनके द्वारा गुजरातके लिये मान उत्पन्न हुआ। मैं अकेला आश्रममें गया। श्री महात्माजी तो चम्पारन में थे। वहां व्यवस्थापक थे। शायद वह श्री मगनलाल भाई ही थे। उन्होंने बहुत ही प्रेमसे, नम्रतासे मुझे आश्रम दिखाया। श्री महात्माजीके मानपत्र, सम्मानपत्र आदि बहुतसे वस्तु वहां ही प्रथम कोष्ठकमें ही क्रमसे रखे गये थे। सबका मैंने आदर और सद्भावके साथ दर्शन किया। महात्माजी जब वहां रहते तो उनकी दिनचर्या क्या थी, इसे मैंने उन्हींसे सुना। श्री महात्माजी वहां जिस चक्कीमें आंटा पीसते थे, उसे भी मैंने देखा। इसका विवरण मैंने संक्षेपमें भारत-पारिजातके प्रथम संस्करणकी भूमिकामें आजसे १४ वर्ष पूर्व लिखा है। वहांसे ही उद्धरण यहां देता हूँ।

"मैं एक श्रद्धाप्रधान मनुष्य हूँ। श्री महात्मागान्धीजीके

जीवन-गङ्गा-प्रवाहमें निरन्तर स्नान करने और पवित्रता तथा शीतलता प्राप्त करनेकी उत्कण्ठा, मेरी छात्रावस्थामें ही मेरे हृदयमें जन्म पा चुकी थी। हिन्दी भाषाके मासिकपत्रोंमें मैं दक्षिण अफ्रिकाके सत्याग्रह-संग्रामको पढ़ा करता और महात्माजीके प्रति अनन्य श्रद्धाको अठखेलियां लेते अनुभव करता। दर्शनोंकी तीव्र इच्छा थी।

श्रीमहात्माजी भारतमें आये। वह जिन दिनों चम्पारनमें सत्याग्रहकी लड़ाई लड़ रहे थे, मैं अहमदाबाद आया था। उस समय **सत्याग्रह आश्रम** कोचरब (गाँव) में था। मैं वहां गया था। स्व० श्री० मगनलालभाईने मुझे वहां जो कुछ दिखाया था, सब आज भी मेरे हृदयपटलपर अङ्कित है। एक कमरेमें सजाकर रखे हुए, श्रीमहात्माजीको मिले हुए अभिनन्दन पत्र और उसी अहातेमें, पश्चिमके भागमें, कोठरियोंमें या कोठरीमें रखी हुई आंटा पीसनेकी चक्कियां मुझे आज बहुत स्पष्टरूपसे याद हैं। इन दोनों वस्तुओंका मेरे जीवनके साथ थोड़ासा सम्बन्ध था।

मुझे आश्रमके एक भाईने यह कहा था कि इन चक्कियोंमें हम लोग स्वयम् आटा पीसते हैं और महात्माजी होते हैं और वह चाहें तो वह भी पीसते हैं। मेरी श्रद्धा उभरा आयी। मैंने कहा यह कैसा महान् पुरुष!!

मैं यह चक्की चला सकूंगा या नहीं, इस आशङ्काने, मेरे हृदयमें अङ्कुरित सत्याग्रह-आश्रम-निवासकी भावनाको डगमग बना दिया। मैं उन दिनों वेद, साहित्य प्राचीन न्याय और व्याकरणसे निकलकर विशिष्टाद्वैत वेदान्तका विद्यार्थी था।

श्रीमहात्माजीके अभिनन्दन पत्रोंने मुझे अपनी ओर खींच लिया। "क्या मुझे भी इसी तरह अभिनन्दनपत्र मिल सकते हैं?"

यह एक प्रश्न था जो उसी समय उदय होकर-उत्पद्यन्ते विलीयन्ते दरिद्राणां मनोरथाः " के समान शान्त हो गया। मैं उस समय वहांसे लौटकर अयोध्या या अन्यत्र गया, मुझे पूरा स्मरण नहीं है।

वह चक्की और वह अभिनन्दनपत्र* दोनों ही मेरे जीवनमें आनेका प्रयास करने लगे। मेरी श्रद्धाने अहमदाबाद काँग्रेसके बाद ही सत्याग्रह आश्रममें रहनेके लिये विवश किया। मैंने अपनी श्रद्धाके सामने सिर झुका दिया। श्रीयुत काका साहेबकी उदारतासे मैं आश्रमका शिक्षक नियुक्त हुआ। हिन्दी, उर्दू और संस्कृत वहां पढ़ाता रहा। चक्की याद आती थी। मैं परिश्रमी बनने लगा। चक्कीको मैं ढूंढ़ता था परन्तु वह न मिली। चक्कीका ज़माना ढल गया था।

मैंने अपनी बाल्यावस्थामें बङ्गभङ्ग-आन्दोलनको देखा, युवावस्थामें लोकमान्यतिलकके स्वराज्य आन्दोलनको देखा और सन् १६२१ ई०से महात्मागांधीजीके स्वराज्य-आन्दोलनको देखा। बङ्गभङ्ग आन्दोलनमें मैंने कोई भाग नहीं लिया था क्योंकि तब मैं इस योग्य नहीं था। तिलकजीके आन्दोलनमें थोड़ा सा भाग लेना सीखा। आता है याद मुझको गुज़रा हुआ ज़माना। वह झाड़ियां चमनकी वह मेरा आशियाना॥ गाता फिरता था और भारतमाताका जय बुलाता था। श्रीमहात्माजीके आन्दोलनमें सक्रिय भाग ले सका। महात्माजीको मैं केवल महापुरुष नहीं प्रत्युत ईश्वर मानता था क्योंकि मेरे मतसे ईश्वर किसी विशिष्ट पुरुषका ही नाम था और है। उनमें मेरी श्रद्धा अतुल थी। उनके शब्द मेरे लिये ब्रह्मवाक्य थे या तो वेदवाक्य थे। रौलट ऐक्टका विरोध करनेके लिये महात्माजीने सन १६२० की ६ठी या ६वीं

अप्रैलको जो घोषणाकी थी उसे मैंने शिरसा वन्द्य बनाया था। उस दिन मैं मुङ्गेरमें था और मेरे साथी मुझे उस दिनकी रात्रिमें होने वाली सभामें जाने देना नहीं चाहते थे। मैं गया था और उपालम्भका पात्र बना था। मेरे पास तर्कसमिति थी, मेरे पास सेवासमिति थी। मेरे पास नवयुवक थे। मेरे पास भावना थी। मैं महात्माजीके आन्दोलनमें भाग लेता ही रहा। अनुकूल वातावरण समय समयपर करता ही रहा। मुङ्गेरकी पुलिस मेरे विरुद्ध थी। मेरे निवासस्थानसे थोड़ी ही दूरपर पुलिस-थाना था। मैं जहां रहता था, पुलिस रात्रिमें भी वहां चक्कर लगाती थी। मैं लड़कोंको पढ़ाया करता था। उन लड़कोंमें कभी कभी खुफिया पुलिसके लड़के भी पढ़ने आते और मैं लड़कोंको क्या कहता हूँ, लड़कोंमेंसे कौन क्या कहता है, इसकी सूचना वे लड़के पुलिसमें पहुँचाते। पुलिसने मुझे हैरान कर रखा था। मैं थक गया था। मेरे मनमें सहसा यह भाव आया कि मैं यदि संन्यासी बन जाऊँ तो पुलिसके हाथसे छूट सकता हूँ। उन्हीं दिनों दक्षिणके तोताद्रि-मठके स्वामीजी उत्तर भारतमें भ्रमण कर रहे थे। कभी कभी पत्रोंमें मैं उनका वृत्तान्त पढ़ा करता था। उस समय तक मुझे साम्प्रदायिक ज्ञान—भान अत्यल्प था। उनकी ख्याति मैंने सुनी थी। मेरी इच्छा हुई कि मैं उनके पास जाकर दीक्षित हो जाऊँ। परन्तु इस विषयमें अपने प्रिय मित्र पण्डित श्री रघुवरदासजीसे विचार करने और उनकी सम्मति प्राप्त करनेकी मुझे सूझ गयी। एक दिन मैं मुङ्गेरका त्याग करके अयोध्या चला गया।

अब तो मैं अयोध्याका परिचित हो चुका था। अयोध्यावासी मुझसे परिचित हो चुके थे। बड़ा स्थानके श्रीमहान्त राममनोहरप्रसादाचार्यजी भी अत्यन्त परिचित थे। इस परिचयके एक दो कारण और भी थे। सबसे बड़ा कारण था—फैज़ाबादमें मिस्टर

कैलेंडरके साथ मेरा शास्त्रार्थ। जब मैं पहली या दूसरी बार अयोध्या गया था तब फैज़ाबादके गिरिजाघरमें वहांके पादरी श्री कैलेण्डर साहेबने एक व्याख्यानमाला शुरू कर रखी थी। उसमें वेदोंका भी खण्डन हुआ करता था। वहांके आर्यसमाजी बन्धु वहां व्याख्यान-में जाते प्रश्नोत्तर करते परन्तु पादरी साहेबको चुप नहीं करा सकते थे।

महाशय केदारनाथजी आर्य अब भी जीवित हैं। वह बहुत ही कुशल कार्यकर्ता आर्यसमाजी हैं। राष्ट्रप्रेम भी उनमें कूट कूटकर भरा है। वह उस समय एक दिन श्री हनुमान् गढ़ीमें गये और इच्छा प्रकट की कि "कोई विद्वान् रविवारको फैज़ाबाद-गिरिजाघरमें चलकर कैलेण्डर साहेबका मुंह बन्द करे। वेद तो जैसे आर्यसमाज-को माननीय हैं वैसे ही सनातनधर्मको भी। अतः 'हम दोनों—आर्यसमाज और सनातनधर्म मिलकर कैलेण्डरको पराजित करें।" वहीं गढ़ीमें सभा बुलायी गयी। सभी विद्वान् तथा धर्मप्रेमी सन्त उपस्थित हुए। पण्डित श्री रघुवरदासजी भी थे और मैं भी था। जब कि यह बात है तब श्री रामानन्द सम्प्रदायमें बहुत विद्वान् नहीं थे। आचार्यके एक खण्ड, दो खण्डकी परीक्षा देनेवाले दो तीन ही थे। पण्डित श्री रघुवरदासजी भी व्याकरण आचार्यके दो ही खण्ड पास थे। उस समय शास्त्री और आचार्य ये दो परीक्षाएँ नहीं थीं। एक ही परीक्षा थी। ६ वर्षोंमें वह पूरी होती थी। अमुक परीक्षाङ्क प्राप्त करनेपर विद्यार्थी **आचार्य** बनता था और कम संख्या प्राप्त करनेपर **उपाध्याय** बनता था। आचार्यपरीक्षाके ६ खण्ड थे। ६ वर्षोंमें परीक्षा पूरी होती थी। उस परीक्षामें क्रमका कोई बन्धन नहीं था। अतः अनुकूलताकी दृष्टिसे कोई पहले प्रथम खण्डकी परीक्षा देता, कोई तृतीय खण्डकी कोई अन्य खण्डकी। ६हो खण्ड पूरे होने चाहिये, इतना ही

नियम था। पण्डित श्री रघुवरदासजी प्रथम और तृतीय खण्ड ही उत्तीर्ण थे। पण्डित श्रीगोविन्ददासजी भी उस समय पूरे खण्डोंकी परीक्षा नहीं दे सके थे। श्रीमान् पण्डित श्रीसरयूदासजी महाराज ही वहां एक वैष्णव विद्वान् थे। वह उस सभामें नहीं आये थे। कैलेण्डरसे शास्त्रार्थ करनेका प्रश्न उपस्थित हुआ। उस सभाने कहा कि ईसाईके साथ वेदोंपर शास्त्रार्थ कैसे किया जा सकता है ? उसके सामने वेदमन्त्र कैसे बोला जा सकता है ? सबका एक ही स्वर था। श्री केदारनाथजी आर्य चुप थे और निराश थे। मैं तो आर्यसमाजमें रह चुका था। मुझे यह भय था ही नहीं कि विधर्मीके सामने वेदमन्त्रोच्चारण करनेसे पाप लगता है या नरक मिलता है। मैंने कहा कि मैं चलूँगा और शास्त्रार्थ करूँगा। मेरी स्वीकृतिके पश्चात् तो उनमेंसे एक भी नहीं था जो फैज़ाबाद चलनेके लिये तैयार न हुआ हो। श्रीकेदारनाथजीने कितने ही इक्के लाकर गढ़ीके नीचे खड़े कर दिये और सभी उनमें बैठ गये। एक इक्केमें मैं और पण्डित श्री रघुवरदासजी बैठ गये। विजययात्राका आरम्भ हुआ। सभी गिरिजाघरमें पहुँच गये और बेंचोंपर बैठ गये। कैलेण्डर साहेबका व्याख्यान शुरू हुआ। वेदोंकी निस्सारता सिद्ध करनेका उन्होंने प्रयत्न किया। भाषणकी समाप्तिमें उन्होंने अन्य वक्ताओंको अवसर दिया। मैं उनके प्लेटफार्मपर जाकर खड़ा हो गया। १५-२० मिनट तक मैंने भाषण दिया—उनके आक्षेपोंका उत्तर दिया और पश्चात् प्रश्नोत्तरका आरम्भ हुआ। मैंने कैलेण्डर साहेबको चुप करा दिया। वह एक विजय था। मैं बड़ा स्थानकी कोठीमें रहता था। दूसरे दिन वहां ईसाइयोंकी = स्त्री-पुरुषोंकी भीड़ लगी। सभी मुझसे मिलने आये। गिरिजाघरमें स्वतन्त्र भाषण देनेका निमन्त्रण मिला। परन्तु मैंने स्वीकार नहीं किया। इसका एक कारण था।

भरतपुरके राजगुरु अधिकारी श्री जगन्नाथदासजी उन दिनों बीमार होकर भरतपुरसे अयोध्या आये थे और बड़ा स्थानमें ही उसी विशाल कोठीके एक भाग में ठहरे थे। शास्त्रार्थकी बात तो उन्हें लोगोंने सुना ही दी थी। वह थोड़ा सा मेरा परिचय पहलेसे ही प्राप्त कर सके थे। उन्हें मेरे विजयसे बहुत ही प्रसन्नता हुई। बड़ा स्थानके श्रीमहान्तजी तो मेरे परिचित थे ही परन्तु अधिकारी जीने मेरी प्रशंसा करके उनके हृदयमें मेरे लिये प्रेमाधिक्य उत्पन्न कर दिया। परन्तु उसी रात्रिमें चारो ओर न जाने कैसे यह बात फैल गयी कि मैं आर्यसमाजी हूं। मुझे उसी समय श्री अधिकारी-जीने सूचना कर दी थी कि तुम ईसाइयोंसे शास्त्रार्थ आदिका सम्बन्ध रखोगे तो अयोध्या छोड़ना पड़ेगा। इसीलिये दूसरे दिन ही आनेवाले ईसाई बन्धुओंके आमन्त्रणको मैंने अस्वीकृत कर दिया था।

उस समय अधिकारी श्री जगन्नाथदासजीके साथ पण्डित नत्थनलाल शर्माजी भी थे। उस समय वह छोटी अवस्थाके थे। श्री अधिकारीजीका उस समयका सम्बन्ध अन्त तक स्थिर रहा। जब मैं पीछेसे श्री वैष्णवविरक्तकी दीक्षा ली तो उनके आनन्दका पार नहीं रहा। पण्डित नत्थनलालजीका सम्बन्ध तो आज भी मेरे साथ स्थिर है।

जब मैं मुङ्गेरमें आर्यसमाजमें रहकर आर्यअनाथालयमें अध्यापनकार्य करता था उस समय भी मुझे एक शास्त्रार्थका अवसर मिला था। कलकत्तेके पास आसनसोल प्रसिद्ध स्थान है। वहां सनातनधर्मके कोई उपदेशक पण्डित माधवाचार्य पहुँचे थे। उन दिनों सनातनधर्म और आर्यसमाजके शास्त्रार्थ हुआ ही करते थे। शास्त्रार्थका विषय सदा ही या तो मूर्तिपूजा होता या मृतक-श्राद्ध होता। आसनसोलमें पण्डित माधवाचार्यजीने आर्यसमाज-

को शास्त्रार्थके लिये चैलेञ्ज दिया। विहारमें दानापुर आर्यसमाजका केन्द्र माना जाता है। आसनसोल-आर्यसमाजने दानापुर-आर्यसमाजसे पण्डित भेजनेकी प्रार्थना की थी। उस समय सारे विहारमें कोई शास्त्रार्थी आर्यसमाजी पण्डित नहीं था। भागलपुरमें एक श्यामजी शर्मा थे, जो स्कूलमें हिन्दी या संस्कृत पढ़ाते थे। परन्तु वह कट्टर आर्यसमाजी नहीं थे। पण्डित जगन्नारायणशर्माजीका बहुत पहले ही अवसान हो चुका था। दानापुरवालोंने सुन रखा था कि मुङ्गेरमें कोई पण्डित है। अतः वहांसे मुङ्गेर आर्यसमाजके पास पत्र आया। मुङ्गेरसे मैं आसनसोल गया। वहांके आर्यसमाजियोंको विश्वास नहीं था कि मैं शास्त्रार्थ कर सकूँगा। मुझे भी उस समय पूर्ण विश्वास नहीं था कि मैं आर्यसमाजके पक्षसे विजयी बन सकूँगा। अध्ययन और अनुभव दोनों ही कम थे। परन्तु मैं गया था व्याकरण और न्यायदर्शनके बलपर। मैंने दृढतापूर्वक वहांके आर्योंको कह दिया कि मैं शास्त्रार्थ करूँगा। शास्त्रार्थकी तिथि तत्काल ही निश्चित हो गयी। एक मध्यस्थ भी चुन लिये गये वह बङ्गाली थे परन्तु उनकी योग्यता क्या थी, यह मैं आज भूल गया हूँ। शास्त्रार्थ मूर्तिपूजापर हुआ। मैंने माधवाचार्यजीको उस दिन निरुत्तर कर दिया।

दूसरे दिन मेरे पास लोग कहने आये कि आज पण्डित भीमसेनशर्माजीको कलकत्तेसे शास्त्रार्थके लिये बुलाये जानेकी बात सुनी जा रही है। मुझसे पूछा गया था कि कोई दूसरा विद्वान् बुलाया जाय? मैंने ना कर दिया। मैंने कहा कि पण्डित भीमसेनशर्माजीको मैं अवश्य परास्त करूँगा। उसका कारण था। पण्डित भीमसेनजी स्वामी दयानन्दजीके प्रधान शिष्य थे और आर्यसमाजसे या तो निकाले गये थे और या तो स्वयं निकल गये थे। कलकत्ता विश्वविद्यालयमें वह किसी विषयके अध्यापक थे। मैं उनसे

स्वामी भगवदाचार्य

अयोध्याकाण्ड

भगवद्रामजननीं सर्वशोकनिवारिणीम् ।
वन्दे भगवतीं भव्यामयोध्यां शङ्करीं पराम् ॥१॥
रामप्रसादमाचार्यं चन्द्रबिम्बमिवोज्ज्वलम् ।
नमामि शिरसा वन्द्यं धृतबिन्दुं सपुण्ड्रकम् ॥२॥
भवसन्तापसन्तापिराममन्त्रषडक्षरम् ।
श्रावयित्वामरत्वाय यो मां प्रेम्णा समस्कृत ॥३॥
तमाचार्य्यं प्रसादान्तं श्रीमद्राममनोहरम् ।
विविधैर्विबुधैर्वन्द्यं वन्देहं वरदं वरम् ॥४॥
विद्यावाचस्पतिं शान्तं विद्वन्मूर्धन्यमादरात् ।
श्रीगुरुं सरयूदासमाश्रये श्रीशताश्रयम् ॥५॥
अन्यानपि गुरून्वन्दे न्यायादिधरणीधरान् ।
मान्यान्मानवतां चापि महासारस्वतान्मुदा ॥६॥
अन्येषामपि धन्यानामयोध्यास्थमहात्मनाम् ।
पादपद्मश्रितं रेणुकणं मूर्ध्ना वहाम्यहम् ॥७॥
श्रीमतीं सरयूं वन्दे सरितं सरिदग्रगाम् ।
यद्वारिषु विराजन्ते रामश्यामतनुश्रियः ॥८॥
आचार्यो राममन्त्रस्य श्रीवसिष्ठोपि यज्जलम् ।
स्पृष्ट्वात्मानं महात्मानं चक्रे तां सरयूं नुमः ॥९॥

प्रथम परिच्छेद

अयोध्यामें पण्डित श्री रघुवरदासजीसे मेरा इतना गाढ संबन्ध हो चुका था कि मुझे उनसे कुछ छिपाना ही नहीं था। उनसे मैंने कहा कि "पुलिसके त्राससे मुझे संन्यास लेना है। मैंने तोताद्रि-स्वामीसे दीक्षा लेनेका विचार किया है। आप उन्हें जानते हैं? वह कैसे हैं? उनकी योग्यता क्या है?"

पण्डितजीने कहा कि वह कोई उत्कट विद्वान् तो नहीं हैं परन्तु प्रतिष्ठित आचार्य हैं। श्री वैष्णव हैं। उनसे दीक्षित होनेमें अन्य हानि तो नहीं ही है केवल इतना होगा कि "मेरा और आपका सम्बन्ध टूट जायगा।" मैंने इसका कारण पूछा। उन्होंने कहा कि यद्यपि उनका सम्प्रदाय और मेरा सम्प्रदाय एक ही है परन्तु भोजन-व्यवहार नहीं है। आप उनसे दीक्षित होकर हमारे यहाँ भोजन-व्यवहार नहीं कर सकेंगे। पण्डितजी मेरे अनन्य मित्र थे। कहीं भी मैंने मित्रता नहीं बाँधी थी। अनायास ही हम दोनों मित्र बने थे और अनन्य मैत्रीकी ग्रन्थिसे बँधे हुए थे। उनको छोड़ना मुझे इष्ट नहीं था। वह मुझे नहीं छोड़ना चाहते थे। अत एव तो उन्होंने सम्बन्ध टूटनेका भय प्रदर्शित किया था। बड़ा स्थानमें ही श्री महान्तजीका शिष्य बनें, मैंने उनके इस प्रस्तावका अस्वीकार किया; क्योंकि उस समय मैं और श्री महान्तजी ऐसे उदार व्यवहारमें थे कि गुरु-शिष्यका व्यवहार अनुकूल नहीं पड़ता था। पण्डितजीने दो अन्य महात्माओंके भी नाम गिनाये जिनका यहाँ उल्लेख करना अनुचित है। मैंने उन दो नामोंको तो सर्वथा ही पसन्द नहीं किया। पण्डितजीने बड़ास्थानके श्री महान्तजी महा-

राजके सामने भी मेरी परिस्थितको रखा। मैं बना बनाया संस्कृतका पण्डित था। ब्राह्मणका बालक था, लिखने-पढ़ने, बोलने शास्त्रार्थ करने, भाषण देनेमें कुशल था, हिन्दी, उर्दू, बङ्गाली, फारसी और कुछ अंग्रेजी पढ़ा हुआ था, परिचित भी कई वर्षोंसे था, पण्डित रघुवरदासजीका तो आत्मा ही था, श्री महान्तजीकी इच्छा मेरी ओर हो ही गयी थी। एक रात्रिमें हम दोनों मित्र बैठे थे, पण्डितजीने कहा कि बड़ास्थानके महाराजजीकी इच्छा है कि आप यहाँ ही दीक्षित हो जावें। मैंने कहा विचार करूँगा। प्रातःकाल ही तो कोई मुहूर्त था, वार था, नक्षत्र था, मुझे पण्डित-जीने कहा कि 'अभी स्नान न करें, नापित आने वाला है, मैं भी क्षौर कर्म कराऊँगा, आप भी करा लें, तब स्नान किया जायगा।' नापित आया। उन्होंने अपना क्षौर कर्म कराया। पीछे मेरी बारी आयी। मैं सिरपर बाल रखता था, दाढी मूँछ मुंडा डालता था। यही मेरी अपनी प्रथा थी। बहुत वर्षोंकी यह प्रथा थी। उस दिन उन्होंने मेरे सिरके बाल निकाल देनेको कहा। मेरी इच्छा नहीं हुई। उन्होंने स्पष्ट कहा कि आज तुमसे एक आग्रह करूँगा, आग्रह करके यहाँ ही, इसी स्थानमें ही अपने सम्प्रदायका आपको विरक्त बनाऊँगा। मैं चुप रहा। **मौनं स्वीकार लक्षणम्।** शिखा तो मेरे पास थी ही। मुण्डित बना। धूमधामसे मेरा पञ्चसंस्कार किया गया। होमादिविधिको स्वर्गीय पण्डित श्री रामानारायण-दासजीने कराया। मैं शङ्खचक्राङ्कित बना। जिस समय तप्तमुद्रा-संस्कार होने जा रहा था, पण्डित श्री रघुवरदासजी मेरे पीछे बैठे हुए थे। उन्होंने श्री महान्तजी महाराजको संकेत किया और तप्त शङ्ख-चक्र थोड़ी दृढतासे मेरे बाहुमूल पर अङ्कित हुआ। पण्डित-जीका आशय यह था कि चिह्न स्पष्ट दीख पड़ने लगे। आज तो वह चिन्ह अस्पष्ट और अलक्ष्य बन गया है।

मेरे माता-पिताने मेरा नाम **सर्वजित्** रखा था। घरसे संबंध छोड़ने पर, मेरा किसीको पता न लगे, इस विचारसे मैं **भवदेव ब्रह्मचारी** बना था। आज भगवद्दास ब्रह्मचारी बना। मैं समझता हूँ श्री रामानन्द सम्प्रदायमें मेरे दीक्षित होनेसे अयोध्याके सभी सन्तोंको प्रसन्नता हुई थी क्योंकि सब लोग मुझसे बहुत पहलेसे ही परिचित हो चुके थे। उस दिन भगवान्‌का विशिष्ट भोग लगाया गया। प्रथम बार ही, उस दिन मैंने बड़ा स्थानके श्री महाराजजीको अपना आचार्य मानकर साष्टाङ्ग प्रणाम किया। प्रथम बार ही मैंने भगवान् श्रीरामको भी साष्टाङ्ग किया। जब मैं आर्य-समाजके सिद्धान्तोंसे सहमत था तब भी श्रीरामको प्रणाम करता था परन्तु खड़ा-खड़ा सिर झुका कर ही। आज प्रथा परिवर्तित हुई।

बड़ा स्थानमें बहुत पहलेसे दो भण्डार हुआ करते थे। एक तो सर्वसामान्य था दूसरा था छोटा भण्डार जिसमें श्री महाराजजी, पण्डित श्री माधवदासजी, श्री बूढे अधिकारीजी, पण्डित श्री रघुवरदासजी और मैं नियत भोजन करते थे। प्रसादसेवन (भोजन) का समय हुआ। हम सब भण्डारमें पहुँच गये। छोटे भण्डारके रसोइयाका नाम रामचरणदास था परन्तु हम सब लोग उन्हें योगिराज कहते थे और श्री महाराजजी **जोगिया** कहते थे। आज मेरे मस्तकमें ऊर्ध्वपुण्ड्रतिलक बेंदीयुक्त देखकर योगिराज बहुत ही प्रसन्न हुए। भोजनके लिये हम सब बैठ गये।

मुझे एक रोटी चाहिये थी। मैने योगिराजसे मांगी। श्रीमहा-राजजीने बिना विलम्बके ही अपनी थालीमेंसे प्रथम प्रसादके रूपमें एक रोटी मेरी थालीमें रख दी। योगिराजजीने भी एक रोटी दी। मुझे बहुत दुःख हुआ। किसीकी थालीमेंसे उच्छिष्ट रोटी आज ही

दृष्टिगत हुई थी। सचमुच, मुझे बहुत ग्लानि हुई। मैं पशोपेशमें पड़ गया। खाता हूँ तो वह गलेमें न उतरे। नहीं खाता हूँ तो श्री महाराजजीको शायद बुरा लगे। मैंने भोजनकी गति मन्द कर दी। श्री महाराजजीको पता न लगे इस रीतिसे मैंने योगिराजकी दी हुई रोटी धीरे धीरे तोड़ने और खाने लगा। श्री महाराजजी अपने नियमके अनुसार भोजन करके पहले ही उठ गये। हम लोग बैठे थे। एक रोटी थालीमें रह गयी। पण्डित श्री माधवदासजीको निश्चय हो गया कि प्रसादरूप रोटी थालीमें रह गयी है। वह कुछ बोले नहीं। पण्डित श्रीरघुवरदासजी तो सब कुछ समझ गये थे। हम लोग भी खाकर उठे। मैं अपने आसनपर–निवासगृहमें चला गया।

महाभाष्यकार पतञ्जलिमुनिका यह वचन याद आया—

**'गुरुवदस्मिन् गुरुपुत्रे वर्तितव्यमन्यत्रोच्छिष्ट-
भोजनात्पादोपसंग्रहणाच्च।'**

इस वचनमें भाष्यकारने गुरुके उच्छिष्टभोजनकी बात की है। यह लगभग शास्त्रीय प्रथा है। परन्तु मनुने तो—

'नोच्छिष्टं कस्यचिद्दद्यात्'

कहकर उच्छिष्टभोजनका निषेध किया है। जो हो, वैष्णव-साधुओंमें यह प्रथा अज्ञातकालसे प्रचलित है। मुझे बहुत दुःख हुआ। उसी दिन मैंने अयोध्या छोड़ देनेका निश्चय किया। जिस वस्तुके करनेका संस्कार नहीं होता है, उसके करनेमें कितनी मानसिक पीड़ा होती है, उसका मुझे क्षण क्षणमें विचार होने लगा। मैं चिन्तामें पड़ा। क्या मुझे रोज ऐसे ही जूठी रोटी खानी पड़ेगी? क्या यह सदाके लिये प्रथा ही है या आजके लिये ही है,

मुझे कुछ निश्चय न हो सका। मैं विचारमें पड़ा। मेरे एक बड़े गुरु भाई श्रीरामस्वरूपदासजी उन दिनों बरेलीमें थे। बरेलीमें भी बड़ास्थान सम्बन्धी ही एक मन्दिर है। महान्त श्रीगङ्गादासजी उस मन्दिरके विधाता और महान्त थे। वह अभी परलोकवासी हुए हैं। मैंने निश्चय किया कि मुझे श्री रामस्वरूपदासजीके पास जाना चाहिये। अयोध्यामें रहना अच्छा नहीं है। रामस्वरूपदासजी भी पहलेसे ही परिचित थे।

द्वितीय परिच्छेद

टिकटके पैसेका प्रश्न था। मेरे पास कुछ ही पैसे थे। मैं बरेली नहीं पहुँच सकता था, परन्तु अयोध्या छोड़ना अनिवार्य था। मैं पण्डित श्री रघुवरदासजीसे भी नहीं मिला। मिलनेको जी चाहा था। ऊपर मैं गया भी था। परन्तु पैरने आगे बढ़नेका साहस नहीं किया। मैं वापस आया। बहुत ही अल्प सामान लेकर अयोध्या-स्टेशनपर पहुँचा। मुझे आज स्मरण नहीं है—या तो सुलतानपुर-का टिकट लिया था और या प्रतापगढ़का। मैं अपने नियत स्थान पर उतर पड़ा। मेरे पास कुछ पैसे बच तो गये थे परन्तु वह मुझे बरेली नहीं पहुँचा सकते थे। मैं चिन्तित वहां ही बाहर-स्टेशनसे बाहर-निकलकर किंकर्तव्यविमूढ़ होकर खड़ा था।

अयोध्या-सरयूके पार किसी जगहपर उसी समय आर्यसमाज-का एक गुरुकुल खुला था। वहांके आचार्य या व्यवस्थापक कोई भी एक सज्जन थे। वह भी वहां ही उतरे थे। वह शहरमें ही रहते होंगे। उनका नियत स्थान था। उनका नाम या तो बाबू महेश-प्रसादजी या महेश्वरप्रसादजी था। उन्होंने मेरा स्वरूप देखा। नया त्यागी था। नया तिलक था। नयी कण्ठी थी। नयी धोती थी। नयी हजामत थी। उन्होंने कुतूहलसे अथवा हास्यसे पूछा—"बाबाजी आप कहां जायंगे ?" मैंने स्वस्थ होकर कहा, मुझे जाना तो है बरेली, परन्तु पैसे कम हैं, इसलिये यहां तकका टिकट था और यहां ही उतर पड़ा हूँ।" अब यहां आप क्या करेंगे ? उन्होंने दूसरा प्रश्न किया। "देखता हूँ, कोई उपाय करूँगा" मैंने उत्तर दिया। "आपको रसोई बनाने आती है ?" उन्होंने फिर पूछा। 'हां' मैंने कहा। "तब यदि आपकी इच्छा होतो मेरे साथ मेरे घरपर चलें। मेरे लिये एक रसोइयाकी आवश्यकता है। मैं पैसा दूँगा।

बरेली जाना हो तो पैसे होनेपर चले जायंगे, उन्होंने कहा। मैंने अविलम्ब उसे स्वीकृत कर लिया। इक्केपर उनके साथ ही उनके घरपर पहुँचा। रसोई तो मुझे आती ही थी, अनेक अवसर सतत आ चुके थे जब मैं महीनों और वर्षों तक अपना भोजन अपने आप बनाता था। दरभङ्गामें ऐसा ही था। काशीमें हम सब मिल-कर भोजन बनाते थे। परन्तु वह भोजन मेरा था—एक विद्यार्थीका था–एक बड़े आदमीका नहीं था। मैंने उसी रातको भोजन तैयार किया। चौका-बेलनासे बेलकर रोटी बनाना मैं नहीं जानता था। आज भी ऐसा करना मुझे नहीं आता है। मोटी मोटी परन्तु छोटी छोटी रोटियां मैंने बनायीं। दाल-शाक भी बनाये। मैंने उन्हें भोजनके लिये बैठाया। मैंने देखा कि मेरे बनाये भोजनमें उन्हें रुचि नहीं हुई। वह बहुत गम्भीर थे। उन्होंने मुझे कुछ भी नहीं कहा। अपनी रसोई सभीको प्रिय लगती है। मैंने भोजन कर लिया। रातको हम दोनों बैठे। उन्होंने मुझसे मेरा समाचार पूछा। मैंने अपनी समस्त कथा अशेषरूपसे सुना दी। मैं पढ़ा-लिखा था, कई भाषाएँ जानता था। संस्कृतका पण्डित था। यह जानकर मैंने देखा कि उनके मुखपर लज्जाकी एक छाया सी छा गयी। उन्हें पश्चात्ताप हुआ कि एक विद्वान्से मैंने रसोई बनानेका काम लेकर अच्छा नहीं किया। उन्होंने मुझे कहा—'ब्रह्मचारीजी, आप मुझे क्षमा करेंगे। मैंने आपको कष्ट दिया।' मेरी आंखें भींग गयीं। मैं उस समय अपनेको निराधार समझता था। मैंने कहा आखिर, मुझे आगे जानेके लिये पैसा तो चाहिये ही थे। मैं आप-की टूटी-फूटी सेवा करके भी आपसे पैसे लेनेके लिये ही तो यहां आया हूँ। उन्होंने कहा, नहीं, आपके लिये मैं दो बातें कर सकता हूँ। यदि मेरे गुरुकुलमें पढ़ाना चाहें तो मैं आपको वहां अध्यापक नियुक्त कर सकता हूँ। यदि बरेली जाना चाहें तो मैं टिकट दिला

सकता हूँ। मैंने कहा, अब इस दशामें मैं अयोध्याके पास ही आर्यसंस्थामें किसी भी उद्देश्यसे नहीं रह सकता हूँ। मैं बरेली जाकर अपनी दिशा निश्चित करूँगा। वह प्रसन्न हुए। दूसरे दिन स्टेशनपर आकर टिकट खरीदकर मुझे बरेलीकी गाड़ीमें बैठा गये। उपकृत हृदयसे धन्यवादपूर्वक मैंने उनसे विदा ली। दूसरे दिन बरेली पहुँचा।

श्री रामस्वरूपदासजीको तो पता था ही नहीं कि मैं बड़ा स्थानमें श्री महाराजजीसे दीक्षित हुआ हूँ। मेरे मस्तकपर तिलक देखकर, गलेमें कण्ठी देखकर, मुण्डित शिर देखकर उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ। आइये ब्रह्मचारीजी, कहकर उन्होंने मेरा स्वागत किया। स्नानादि क्रियासे निवृत्त होकर मैं और वह दोनों ही एकान्तमें बैठ गये। मैंने सब कथा उनसे कह दी। जिस दिन दीक्षित हुआ उसी दिन अयोध्या छोड़ी, इसका भी कारण मैंने उनसे स्पष्टतः कह दिया। उन्होंने कहा, कोई बात नहीं। यह तो हमारे यहाँ की प्रथा है। गुरुदेव जिस पर प्रसन्न होते हैं—या रहते हैं उसे ही अपना प्रसाद देते हैं। आप इस प्रथासे अपरिचित हैं अतएव आपको दुःख हुआ है। उन्होंने मुझे आश्वासन दिया और हम प्रसादसेवनके लिये चले गये। मैं वहाँ प्रातः लगभग ६ बजे पहुँचा हूँगा।

मैंने पण्डित श्री रघुवरदासजीको बरेलीसे पत्र लिखा। मुख्य घटनाका उल्लेख किया। उन्होंने उस पत्रको मेरे श्री गुरुदेवको पढ़ा दिया। उन्होंने पण्डितजीको आज्ञा दी कि मुझे अयोध्या बुला लें। भविष्यमें कभी ऐसा व्यवहार नहीं होगा। मेरे पास पत्र गया। और मैं पुनः अयोध्या पहुँच गया। मेरे पत्रसे सबको —अपेक्षितजनोंको शान्ति हुई और मेरे आकस्मिक गमनका रहस्य भी अवगत हुआ।

तृतीय परिच्छेद

उन दिनों बड़ास्थानमें ही चतुःसम्प्रदाय-वेदान्त-विद्यालय चल रहा था। स्वामी रामानुजाचार्यजी दाक्षिणात्य वहाँ अध्यापक थे। वह विशिष्टाद्वैतवेदान्त और मीमांसाके कुशल पण्डित थे। पण्डित श्री रघुवरदासजी उनसे शास्त्रदीपिका पढ़ते थे। मैं भी उसी पाठमें सम्मिलित हो गया। अर्थसंग्रह और आपोदेवी तो मैं बहुत पहले ही दरभङ्गामें पढ़ चुका था।

श्री तोताद्रिस्वामी अयोध्यामें भी आ गये थे। अयोध्यासे ही शायद वह बिहार गये थे। या बिहारसे अयोध्या आये थे। मुझे पूरा ज्ञान नहीं है। जब वह अवध आये थे, उनका निवास कनकभवनमें था। लोग कहते थे कि कनकभवनके भगवान्‌के समक्ष उनका श्री वैष्णवोचित व्यवहार नहीं था। भगवान्‌के सामने ही वह अपने रौप्य सिंहासनपर बैठते थे। कभी उन्होंने भगवान्‌को साष्टाङ्ग प्रणिपात नहीं किया। कभी भगवच्चरणोदकका भी पान नहीं किया। बड़ा स्थानमें आते थे तब भी साष्टाङ्ग दण्डवत् नहीं करते थे। उनकी दृष्टिमें औदीच्य श्रीवैष्णव स्मार्त जैसे थे। इनके समस्त व्यवहार स्मार्तों जैसे ही थे। भगवत्प्रतिष्ठामें भी स्मार्त ब्राह्मणोंका उपयोग होता था। अतः औदीच्य भगवान् भी प्रणम्य नहीं थे।

उनकी दृष्टिमें वृद्धहारीतके ये वचन चक्कर काट रहे थे :—

अचक्रधारी विप्रस्तु सर्वकर्मसु गर्हितः।
अवैष्णवः समापन्नो नरकं चाधिगच्छति ॥

चक्रादिचिह्नरहितं प्राकृतं कलुषान्वितम् ।
अवैष्णवं तु तं दूराच्छ्वपाकमिव संत्यजेत् ॥
अवैष्णवस्तु यो विप्रः श्वपाकादधमः स्मृतः ।
अश्राद्धेयो ह्यपाङ्क्तेयो रौरवं नरकं व्रजेत् ॥
अवैष्णवस्तु यो विप्रः सर्वधर्मयुतोपि वा ।
स पाषण्डेति विज्ञेयः सर्वकर्मसु नार्हति ॥
अवैष्णवः स्याद्यो विप्रो बहुशास्त्रश्रुतोपि वा ।
स जीवन्नेव चण्डालो मृतः श्वानोभिजायते ॥

उनके इस व्यवहारने श्री रामानन्दसम्प्रदायके श्री वैष्णवोंमें थोड़ी सी हलचल पैदा कर रखी थी। दो-चार श्री वैष्णवोंने उनके उपदेशसे उस समय कण्ठी उतार दी थी, यह भी मनोमालिन्यमें एक हेतु था।

चतुःसम्प्रदायवेदान्तविद्यालयके अध्यापक श्री रामानुजाचार्यजी शङ्खचक्राङ्कितोंको ही पढ़ाते थे अन्योंको नहीं। ब्राह्मणकुलोत्पन्न साधुओंको ही पढ़ाते थे अन्य वर्णकुलोत्पन्नको नहीं। इससे भी वहां श्रीरामानन्दसम्प्रदायके लिये क्षुब्ध वातावरण उत्पन्न हो चुका था। जो दो वर्षोंके बाद ज्वालामुखी बन गया। उसे आप आगे पढ़ेंगे।

चतुःसम्प्रदायवेदान्त-विद्यालयके सभापति थे रीवानरेश श्री वेङ्कटरमण। विद्यालयको धनकी अपेक्षा थी। रीवानरेशके पास विद्यालयकी ओरसे कुछ लोगोंको भेजनेका प्रबन्ध मेरे गुरुदेवने किया। वह विद्यालय बड़ा स्थानमें ही चल रहा था और उसके अध्यापक बड़ा स्थानके ही एक मन्दिरमें रहते थे। श्री गुरुदेव उस विद्यालयके मन्त्री थे या संरक्षक थे। अतः सब भार उनपर ही रहा

करता था। उन्होंने स्वामी रामानुजाचार्यजीको और मुझे रीवा भेजनेका निश्चय किया। मेरे साथ मेरी सहायताके लिये एक रामरत्नदासजी सन्तको भेजा। श्री रामरत्नदासजी अच्छे साधु थे और शायद वह पीछे श्री रामानुजीय हो गये। हम तीनों रीवा गये। राजातिथि बने। विजयादशमीका समय था। वहां राज्यकी ओरसे दशहरेकी सवारी बहुत ही धूमधामसे निकली। हम दोनों को भी एक हाथी मिला था। उसपर बैठकर सवारी देखने हम गये थे। श्री रामरत्नदासजी पैदल अलग गये थे। रीवानरेशने विद्यालयको कुछ सहायता तो दी, परन्तु वह पर्याप्त नहीं थी। हम लोग लगभग निराश ही होकर चले आये।

वहां एक छोटासा चिड़ियाघर भी था। हम लोग राजाके अतिथि थे अतः हमें सब कुछ दिखाया गया। वहांपर मैंने बाघके एक बच्चेको गोदमें लेकर खिलाया था, यह मेरे लिये एक नयी और कुतूहलकी बात थी। हम लोग अवध आये।

चतुर्थ परिच्छेद

इसी समय रायपुर (सी० पी०) में दूधाधारीके मठमें भगवान्की प्राचीन जीर्ण मूर्तियोंके स्थानमें नयी मूर्तियोंकी प्रतिष्ठा करनी थीं। वहांके तत्कालीन महान्त श्री..........................जीने मेरे श्री गुरुदेवके पास पत्र भेजकर व्यवस्था मांगी थी कि भगवान्की पुनः प्रतिष्ठा हो सकती है या नहीं। मेरे श्री गुरुदेव अयोध्यामें सर्वमान्य महान्त और विन्दुगादीके महान् आचार्य थे। बाहर भी उनकी ख्याति और प्रतिष्ठा थी। उनका प्रताप अद्वितीय था। मेरे उनसे दीक्षित होनेसे पूर्व एक समय वहां मुसलमानोंने गोवध किया था। वहां गोवध कानूनन् निषिद्ध था। साधु क्रुद्ध हो गये। उनका क्रोधानल भभक उठा। सारे शहरमें मार-काट मच गयी। मुसलमानोंके प्राण संकटमें पड़ गये। उनको उस दिन तो अवश्य ही मालूम हुआ होगा कि किसीके प्राण लेनेमें कितना अन्याय है। गाय, बकरी, मछली, मनुष्य सभीको प्राण तो प्रिय ही होते हैं। बड़ा स्थानके श्री महाराजजी ही वहां सबसे अधिक प्रतिष्ठित थे। उनकी आज्ञाका उल्लङ्घन अयोध्यामें होता ही नहीं था। उनकी सम्मति शिरसा वन्द्य सबके लिये होती थी। अतः सर्कारी अफ़सरोंने उन्हें पकड़ना चाहा। वह अपनेको पकड़ा देना नहीं चाहते थे। पहले पहल तो वहां गवर्नर भी आया था। दूसरे हाकिम भी आये थे। उनके साथ श्री महाराजजीकी बातें भी हुई थीं। पीछेसे उन्हें पकड़नेकी बात सारी अयोध्यामें और अयोध्याके आस-पासके गांवोंमें, शहरोंमें फैल गयी। महाराजके मुखसे ही

जो कुछ मैंने इस सम्बन्धमें सुना था, वह यह कि महाराजजी अपने धरपकड़ होनेकी बातसे घबड़ाये नहीं थे। वह भगवान्‌की अधिकाधिक सेवा करने लगे। प्रसादसेवनके बाद भी वह भगवान्‌के ही मन्दिरमें, भगवान्‌के चरणोंके समीप ही, बैठकर श्री राममन्त्र जप किया करते थे। वह कहते थे कि 'सबसे डरकर ही तो भगवान्‌के शरणमें आया था। अब प्राणभयसे किसके शरणमें जाऊँ'? कई सप्ताहों तक श्री महाराजजी भगवान्‌की ही संनिधिमें रहे। अन्तमें उनका बाल भी बांका नहीं हो सका। उनके हृदयमें सम्प्रदायके लिये बहुत ही प्रेम था। उस समय तक वह यही मानते थे कि उनका सम्प्रदाय श्री रामानुजसम्प्रदाय है। अपने सम्प्रदायके उत्थानके लिये वह सतत प्रयत्नशील थे। उन्होंने अपनी पाठशालाका नाम वैष्णवधर्मविवर्धिनी पाठशाला रखा था। अधिकसे अधिक साधुओंको वह अपनी पाठशालामें पढ़ाते थे। अयोध्या और अयोध्याकी १४ कोसकी परिक्रमामें कितने ही तीर्थ हैं। सब विलुप्त तथा अज्ञात हो गये थे। उन्होंने ही अपने धनसे सर्वत्र पत्थर लगवाये थे। पत्थरोंपर तीर्थका नाम और क्रमिक संख्या खुदी हुई है। गोरक्षाके कार्यमें उनकी तल्लीनताने उनके यशोमन्दिरपर सुवर्णकलशका काम किया था। उन्होंने रायपुर व्यवस्था भेज दी कि भगवान्‌का विग्रह जीर्ण हो चुका है अतः पुनः प्रतिष्ठा की जा सकती है। रायपुरके श्री महान्तजीने जयपुरसे विशाल मूर्तियां मंगा लीं। साधन-सामग्री संचित हुई। सर्वत्र निमन्त्रण भेज दिये गये। रायपुरका वह स्थान श्री कूबाजीकी गादीके नीचेका स्थान है। वहां आचार्य गादीपर उस समय स्वामी नरसिंहदासजी महाराज विद्यमान थे। उनको भी आमन्त्रित कर दिया। तिथि-मुहूर्त सब निश्चित हो गये। तब **श्रेयांसि बहुविघ्नानि** के अनुसार एक विघ्नकारी छोटा सा दल रायपुरमें तैयार हो गया।

उसने प्रचार करना शुरू कर दिया कि भगवान्का विग्रह जीर्ण नहीं हुआ है परन्तु तीनों मूर्तियां श्याम हैं। उनके स्थानपर सौन्दर्यकी दृष्टिसे नयी मूर्तियां लायी जा रही हैं—स्थापित की जा रही हैं। यह बड़ा अधर्मका कार्य है। यह कार्य कभी नहीं होना चाहिये। विज्ञप्तियां छपीं, अयोध्यामें भी आयीं।

श्री महाराजजी भी रायपुर जाने वाले ही थे। उन्होंने मुझे कहा कि तुम इस विषयमें शास्त्रार्थके लिये रायपुर जावो। मैंने प्रार्थना की कि महाराजजी, इस विषयमें मेरा कुछ भी प्रवेश नहीं है। कैसी मूर्तिकी किस दशामें पुनः प्रतिष्ठा हो सकती है, किस दशामें नहीं हो सकती है, मैं तो कुछ जानता नहीं हूँ। मैं वहाँ क्या शास्त्रार्थ करूँगा? श्री महाराजजीने कहा :—पण्डित श्री रामनारायणदासजी तुम्हारी सहायताके लिये जायँगे। तुम उनसे पूछ लेना, समझ लेना, तब शास्त्रार्थ करना। मुझे अपनी बुद्धिपर तो विश्वास था ही, मैंने वहाँ जाना स्वीकार कर लिया। ठीक स्मरण नहीं है, परन्तु कई दिन पूर्व हम दोनों रायपुर गये। वहाँ की स्थिति और परिस्थितिका मैंने अध्ययन किया। भगवान्के दर्शन किये।

श्री दूधाधारी मठ बहुत बड़ा मठ है, सम्पन्न मठ है। उस समयके वृद्ध श्री महान्तजी बहुत उदार और अच्छे सन्त थे। अखाड़ेके साधु महात्मा वहाँ अधिक संख्यामें रहा करते थे। मन्दिरमें भगवान् राम, सीता और लक्ष्मण की विशाल मूर्ति थी। मूर्तिका पाषाण काला था। भगवान्के समीप जाकर मैंने देखा था —तीनों विग्रहोंमेंसे छोटे-छोटे टुकड़े खर रहे थे—गिर रहे थे। शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार पुनः प्रतिष्ठा हो सकती थी। मैंने अपना निश्चय प्रकट कर दिया।

धीरे-धीरे प्रतिष्ठाका दिन संनिकट आ गया। प्रतिष्ठादिनसे

एक दिन पूर्व मेरे श्री महाराजजी भी पधार गये। उन्हींके साथ पण्डित श्री रघुवरदासजी और पण्डित श्री माधवदासजी भी आये। पण्डित श्री रघुवरदासजी ही उस प्रतिष्ठाको कराने वाले थे। वही आचार्य निर्णीत हो चुके थे। एक दिन पश्चात् चतुःसम्प्रदायवेदान्तविद्यालय अयोध्याके अध्यापक श्री रामानुजाचार्य भी आ पहुँचे। उसी दिन झीथड़ा-गादीके स्वामी श्री नरसिंहदासजी महाराज भी पधार गये। सभी आमन्त्रित सन्त, महान्त, गृहस्थ पण्डित आदि पहुँच गये। उसी दिन वहाँ सार्वजनिक सभा रखी गयी थी। मैं ही वहाँ वक्ता था। पण्डित श्री रघुवरदासजी बोल नहीं सकते थे क्योंकि वह आचार्य नियुक्त हो चुके थे। वह पक्षपाती गिने जाते। मेरा एक लम्बा भाषण हुआ। सभी पण्डित और नागरिक उपस्थित थे। मैंने सभामें आह्वान किया—चैलेंज दिया कि यदि कोई यह मानता हो कि भगवान्का विग्रह खण्डित नहीं हो रहा है तो मैं उसे विग्रह दिखानेको उद्यत हूँ। विग्रह खण्डित होनेपर भी प्रतिष्ठा नहीं की जा सकती, ऐसा जिनका मत हो उन्हें मैं शास्त्रार्थके लिये चैलेंज देता हूँ। विपक्षी मन्द पड़ गये। विपक्षके दो प्रतिष्ठित सज्जनोंको मैंने आग्रहपूर्वक ले जाकर भगवान्का दर्शन कराया। सभा बैठी ही थी। उन लोगोंने सभामें आकर कहा कि भगवान्का विग्रह अवश्य खण्डित है। विजय हो गया। विपक्षी शान्त हो गये। प्रातःकालसे प्रतिष्ठाका आरम्भ हुआ।

एक विचित्र घटना। उस दिन सभामें मेरे भाषणका इतना अच्छा प्रभाव पड़ा था कि लगभग ८० छात्र और कुछ अन्य सद्-गृहस्थ मेरे पास शिष्य होनेको आये। मैंने पण्डित श्री रघुवरदास-जीसे इस सम्बन्धमें सम्मति माँगी तो उन्हें कुछ अनिष्ट सा प्रतीत हुआ। उन्होंने उदासीन भावसे कहा, यह अच्छा नहीं है। मैं सीधा अपने गुरुदेवके पास गया और उनसे आज्ञा माँगी तो

उन्होंने उत्तर दिया कि—'दूसरेके स्थानमें दूसरा कोई अपना शिष्य प्रशिष्य बनावे, यह हमारे यहाँ प्रथा नहीं है।' मैंने उन सभी छात्र बन्धुओं तथा अन्योंको अपने गुरुदेवकी सम्मतिकी सूचना दी। उनमेंसे एक भाई वहाँसे उठकर सीधा स्थानीय महान्तजीके पास गये और उन्होंने अपनी इच्छा स्पष्ट रूपसे विदित करायी। श्री महान्तजीने कहा—मुझे कोई आपत्ति नहीं है। तुम लोग उनके शिष्य बन सकते हो, यदि वह बनानेको उद्यत हों। पश्चात् मैं स्वयं उनके पास गया और निवेदन किया कि आपके स्थानमें मैं शिष्य बनाऊँ, यह अनुचित है, ऐसा मेरे श्री गुरुदेव कहते हैं। उन्होंने उत्तर दिया "वह महान् पुरुष हैं। सबकी मर्यादाका ध्यान रखते हैं। यह स्थान भी उन्हींका है। तुम शिष्य सबको बना लो।" मैंने उस समय ८० से भी अधिक लोगोंको श्रीराममन्त्रका उपदेश देकर शिष्य बना लिया था। जब तक मैं अयोध्यामें था सबके साथ पत्रव्यवहार भी था परन्तु अयोध्या छोड़नेके पश्चात् मैं नहीं जान सका कि मेरे उपदिष्ट शिष्योंमेंसे कौन कहां और कैसे हैं?

भगवान्की प्रतिष्ठा निर्विघ्न समाप्त हुई। जिस समय मन्दिरमेंसे उन विशाल मूर्तियोंको उठाकर पृथक् सुलाया गया उस समयका दृश्य बहुत ही करुण था। सैकड़ों नर-नारी रो रहे थे। उन मूर्तियोंको एक काष्ठके सन्दूकमें बन्द करके समुद्रमें प्रवाहित करनेकी योजना हुई थी। नये भगवान्के विग्रह उनके स्थानमें पधरा दिये गये। आनन्दकी लहर उठ गयी। जय-जयकार हुआ। उसके पश्चात् तो एक ही बार सन् में मैं वहाँ गया था और उन भगवान्का दर्शन किया।

उस समय प्रतिष्ठाके पश्चात् चलते समय मैं कुछ श्लोकोंको बनाकर वहाँ देकर चला आया था। परन्तु दूसरी बार मैंने देखा कि

वे श्लोक एक श्वेत पाषाणमें खुदे हुए वहाँ लगे थे। मुझे प्रसन्नता हुई। वह श्लोक आप इस ग्रन्थके किसी भागमें पढ़ेंगे।

हम लोग अवध आये। अवधमें साम्प्रदायिक आग जल ही रही थी। तोताद्रिस्वामी अवधका अपमान कर गये, भगवान्का अपमान कर गये, कितनी ही तुलसी कण्ठियोंको कितने ही कण्ठोंसे पृथक् कराया, शङ्खचक्राङ्कित किये बिना श्रीभाष्यका न पढ़ाना, अद्विज सन्तोंको भी श्रीभाष्य न पढ़ाना इत्यादि कारण थे, जिनसे आग सुलग ही रही थी। बड़ास्थानके महाराज अवधमें परम-प्रतिष्ठित आचार्य थे। उनके पास बहुतसे विचारशील सन्त इस सम्बन्धमें आने लगे। विचार होने लगा। तब तक मैं झगड़ेसे पृथक् था। मेरी परीक्षा अवशिष्ट थी। श्री महराजजीने मुझे सब झगड़ोंसे पृथक् रहनेकी आज्ञा दी। मैं किसी भी सभा और विचारमें सम्मिलित नहीं होता था क्योंकि वहाँ श्री महाराजजी रहते ही थे। **आज्ञाभङ्गो नरेन्द्राणाम्**······का मैं स्मरण कर गुर्वाज्ञाका भङ्ग करना मुझे तनिक भी उचित प्रतीत नहीं होता था। परन्तु सभासमाप्तिके पश्चात् कितने ही सन्त मुझे सब समाचार सुना जाते थे। मैं परिस्थितियोंसे अवगत रहा करता था। थोड़े समयके लिये यह प्रकरण शान्त रहा।

पञ्चम परिच्छेद

एक दुर्घटना। अयोध्या और फैजाबादकी म्युनिसिपालिटी उभयसाधारण है। दोनों नगरोंकी एक ही म्युनिसिपालिटी है। एक समय म्युनिसिपालिटीकी सदस्यताके लिये मेरे श्री गुरुदेव खड़े हो गये। उनके प्रतिपक्ष फैजाबादके एक रईस खड़े थे। अयोध्याके सन्त कभी भी एक पक्षमें रहना उचित नहीं समझते। सभी सन्त विचारस्वातन्त्र्य, कर्मस्वातन्त्र्य, व्यवहारस्वातन्त्र्यका आदर करते हैं। राजगोपालके श्री महान्त रामदासजी रईस पक्षको मतदान करना चाहते थे। उन्हींके पक्षमें सबको लानेका वह प्रयत्न किया करते थे। दोनों ओरसे प्रयत्न चालू थे। निर्वाचन हुआ। श्री महाराजजी विजयी हुए। रईस साहब पराजित हुए। राजगोपाल मन्दिरमें एक प्राचीन संस्कृतपाठशाला है। विजयके दूसरे दिन श्री महाराजजीने सरयूस्नानके लिये विजययात्रा की। बहुतसे सन्त उनके साथ थे। उनके लट्ठधर सिपाही भी साथमें थे। सरयूतटपर जानेका एक मार्ग राजगोपालमन्दिरके सामनेसे जाता था—नया घाटका वही मार्ग था। जब श्रीराजगोपाल-मन्दिरके सामने श्री महाराजजी पहुँचे तो राजगोपाल पाठ-शालाके छात्रोंने **श्री राममनोहरप्रसादजी महाराजका जय** इस रीतिसे जयघोष किया। यह जयघोष राजगोपालके श्री महान्त-जीको रुचिकर नहीं हुआ। उन्होंने कुछ विशिष्ट छात्रोंका इस कृत्यके लिये अपमान किया। ३ या ४ छात्रोंके नाम विद्यालय-रजिष्टरसे पृथक् किये गये। छात्रोंमें कोलाहल मच गया। सबको

विदित था कि मैं राष्ट्रिय विचारका हूँ। अयोध्यामें कितने ही राष्ट्रिय प्रसङ्गोंपर मैंने सभाएँ की थीं; भाषण दिये थे। अतः सब छात्र मिलकर मेरे पास बड़ास्थानमें आये। सब कथा लोगोंने सुनायी।

मैं अमुक छात्रोंके साथ श्री महाराजजीके पास गया। मैंने कहा कि आपके कारण ही यह छात्र विपद्ग्रस्त बने हैं। आपको इनके लिये कुछ करनेकी कृपा करनी चाहिये। उन्होंने आश्वासन दिया और कहा कि एक मास तक प्रतीक्षा करो। यदि राजगोपालके महान्तजी बिना किसी शर्तके तुम लोगोंको बुला लें तो अत्युत्तम है। अन्यथा मैं इसी कोठीमें तुम लोगोंके लिये दूसरी पाठशाला स्थापित कर दूँगा। इस उदार उत्तरसे मुझे तो परम प्रसन्नता हुई, छात्र बन्धु भी प्रसन्न हुए। मेरे लिये भी महाराजजीके ऐसे शब्द श्रवण करनेका प्रथम अवसर था। मेरे श्री गुरुदेव ऐसा आश्वासन दें, यह मेरे लिये गर्वकी बात थी। मैं भी तो नवयुवक ही था, छात्र ही था। सबको लेकर श्री हनुमान्गढीमें श्री हनुमान्जीके दर्शनके लिये गया। वहाँ श्री हनुमान्जीके समक्ष उन सभी छात्रोंने प्रतिज्ञा की कि "जब तक श्री राजगोपालके महान्तजी हम लोगोंको स्वयं बुलाकर, बिना किसी शर्तके, हम लोगोंको विद्यालयमें स्थान नहीं देंगे तब तक हम लोग उस विद्यालयमें पैर नहीं रखेंगे।" यह सब पूरा हुआ। छात्र अपने-अपने स्थानपर गये। मैं बड़ास्थानमें आया। छात्र लोग मुझे थोड़े-थोड़े दिनोंके अन्तरमें मिला ही करते थे। मैं उनको श्री महाराजजीके वचनके बलपर आश्वासन दिया करता था।

एक मास पूरा हुआ। महान्त श्रीरामदासजीने छात्रोंकी उपेक्षा कर दी। किसीको भी नहीं बुलाया। उस समय राजगोपालपाठशालामें प्रथमा कक्षाके अध्यापक थे पण्डित श्री रामप्रसन्न-

दासजी। वह भी छात्रोंके पक्षमें थे और उस पाठशालासे वह भी पृथक् हो गये थे। विकट समस्या थी। मैंने श्री गुरुदेवसे निवेदन किया कि अब आप अपने बचनका पालन करें। कुछ ध्यान उन्होंने नहीं दिया। छात्र मेरे पास आ आकर अपना दुःख सुना जाते। दीन ब्राह्मण छात्र। पाठशालासे मिलनेवाली छात्रवृत्ति ही उनके जीवनका सहारा था। वह बन्द हो चुकी थी। श्री महाराजजी कुछ करते दीख पड़ते नहीं थे। मुझे खेद भी था, क्रोध भी था। सम्पूर्ण अयोध्यामें इस बातकी चर्चा थी।

एक दिन श्री महाराजजी शौचालयसे आकर अपनी गद्दीघरके बाहर हाथ धोते थे। मैं वहां गद्दीघरमें गया क्योंकि वहां पण्डित श्री रामनारायणदासजी बैठे थे और श्री महाराजजी नहीं थे। छात्रोंकी बात श्री पण्डितजीने ही शुरू की। मैंने कहा कि पण्डित-जी, श्री महाराजजीने प्रतिज्ञाभङ्ग करके मुझे यह पाठ दिया है कि यदि कोई साधु सरयूमें नासिकापर्यन्तजलमें खड़ा होकर, मस्तकपर रामायण रखकर, मुखमें तुलसीदल रखकर, हाथमें शालग्राम लेकर तथा शपथ करके कुछ प्रतिज्ञा करे तो मैं उसे सर्वथा ही मिथ्या समझूं। मुझे पता नहीं था कि श्री महाराजजी शौचालयसे आकर हाथ धो रहे हैं। परन्तु मेरी बात पूरी होते ही वह अन्दर पधारे तो मैं समझ ही गया कि मेरी बातको श्री महाराजजीने साकल्येन श्रवण किया था। उस समय वह गम्भीर थे परन्तु, कुछ बोले नहीं। पण्डितजी तो चुप ही रहे।

एक दिन श्रीमहाराजजीको मिथिलामें—जोंकीग्राम जाना था। वहां मन्दिरकी जमीनदारी थी—शायद अभी भी वह कायम है। वह रात्रिमें प्रस्थान करके कोठीमें आकर ठहरे। मैं भी तो कोठीमें एक रूममें रहता था। भोजनादिके पश्चात् उन्होंने नौकरको कहा कि ब्रह्मचारीको बुला लावो। मैं गया। बहुत

दिनोंके पश्चात् हम गुरु-शिष्य बात कर सके थे। भोजनके समय भण्डारमें रोज एकत्र होते थे परन्तु हम बात बहुत दिनोंसे नहीं करते थे। आज रात्रिमें हम मिले। श्री महाराजजीने कहा—"देखो, तुमको बुरा लगा है। छात्रोंको मैंने जो वचन दिया था, वह तो केवल आश्वासन था। यदि मैं दूसरी पाठशाला उनके लिये खोल देता तो राजगोपालके श्री महान्तजीके साथ शाश्वतिक वैर हो जाता। ऐसा करना अच्छा नहीं था। अतः मैं उदासीन रहा। जब तुम्हारे सिरपर इस स्थानका भार आवेगा तब तुम भी जान सकोगे कि सभी वचन पालनेके लिये ही नहीं बोले जाते।" श्री महाराजजीका यह कथन सत्यतासे अवश्य पूर्ण था परन्तु जब मैंने यह सुना कि 'सभी वचन पालनेके लिये ही नहीं बोले जाते' तो मुझे बहुत आश्चर्य और दुःख हुआ था। मैं महात्मागांधीजीके जीवनका अनुगामी था। मैंने सत्यार्थप्रकाश भी अच्छी तरहसे पढ़ा था। मैंने उपनिषदोंको भी पढ़ा था। मुझे अभी तक यही संस्कार प्राप्त था कि 'बोले हुए वचनका अवश्य पालन करना चाहिये'। मैं निःशब्द था। बहुत देर तक वह मुझे कुछ न कुछ कहकर सान्त्वना देते रहे परन्तु मैंने एक शब्द भी नहीं उच्चरित किया। मैंने थोड़ी सी उनकी चरणसेवा की और सोने चला गया। यह दुःख मेरा ज्यों का त्यों बना ही रहा क्योंकि मैं छात्रोंको या किसीको भी यह नहीं कह सकता था कि 'सभी वचन पालनेके लिये ही नहीं बोले जाते।'

छात्र अपनी प्रतिज्ञापर दृढ़ रहे। फैज़ाबादके एक सम्पन्न गृहस्थने पण्डित रामप्रसन्नदासजीको कुछ सहायता दी और उन्हीं-के यहां कुछ छात्र रहने-पढ़ने लग गये। कुछ अन्य पाठशालाओंमें गये। शायद कुछ राजगोपाल पाठशालामें भी बहुत पीछेसे चले गये।

षष्ठ परिच्छेद

मेरा व्याकरण ज्ञान पूर्ण नहीं था। मुझे अच्छी तरहसे लघुशब्देन्दुशेखर आदि पढ़ना था। परीक्षाके लिये पढ़े ग्रन्थ अन्तमें उपादेय नहीं होते या बहुत थोड़े लोगोंके लिये ही उपादेय होते हैं। अयोध्यामें श्रीमान् पण्डित सरयूदासजी महाराज बहुत बड़े सन्त और व्याकरणके तो अद्वितीय विद्वान् थे। न्याय-वेदान्त भी पढ़ाया करते थे। श्री पवहारीजीके वंशपरम्परामेंसे थे। श्रीपवहारीजी बड़ास्थानकी परम्परामेंसे थे। मैंने उपर्युक्त श्रीपण्डितजी महाराजसे शेखर पढ़नेका आरम्भ किया। शास्त्रार्थकी पद्धतिसे पढ़ने लगा। व्याकरणका परिनिष्ठित विद्वान् बननेकी मेरी प्रबल इच्छा हो चुकी थी। मैंने दोनों शेखरोंका वहां बहुत अच्छी तरहसे अध्ययन किया। भूषण और मञ्जूषाकी भी पुनरावृत्ति की।

श्री पण्डित सरयूदासजी महाराज बहुत दयालु थे। बहुत ही स्पष्टवादी थे। उन्हें सब ग्रन्थ हस्तामलकवत् थे। इदमित्थम् करके सब विषयोंको पढ़ाया करते थे। पचासों छात्रोंको उन्होंने उपाध्याय और आचार्य परीक्षामें उत्तीर्ण कराया था। वह बहुत दिनों तक राजगोपाल पाठशालामें भी व्याकरणके वैतनिक अध्यापक थे। चित्रकूट-कर्वीके स्व० महान्त श्रीजयदेवदासजी महाराजने एक विद्यालय स्थापित करनेकी इच्छा की। एक अच्छे अध्यापककी उन्हें आवश्यकता पड़ी। मैंने श्री गुरुजीसे प्रार्थना की कि आप कर्वी पधारें। मुख्याध्यापकका वहां पद प्राप्त होगा। छात्र भी अधिक मिल सकेंगे क्योंकि वहां छात्रवृत्तिका बहुत उत्तम प्रबन्ध था। साधुछात्रोंके लिये भगवान्के भण्डारमें प्रसाद सेवन करनेका

प्रबन्ध था, साथमें थोड़ीसी छात्रवृत्ति उनके लिये भी थी। कुछ बड़े छात्रोंने मेरी प्रार्थनाका अनुमोदन किया और श्री गुरुजी कर्वी जानेके लिये तैयार हो गये। मैंने भी श्रीमहाराजजीसे आज्ञा लेकर श्रीगुरुजीके साथ ही जानेका निश्चय कर लिया। अन्य साधु और गृहस्थ छात्र भी सङ्ग चलनेको बद्धकटि थे। हम सब कर्वी पहुँच गये।

विद्यालयका उद्घाटन हुआ। श्री जयदेव विद्यालय उसका नाम रखा गया। अन्य भी अध्यापक नियुक्त हुए। श्री गुरुजी प्रधानाध्यापक थे। यशस्विताके साथ विद्यालय चलने लगा।

मैंने पीछे लिखा है कि मैं और श्री रामानुजाचार्यजी विद्यालयके धनसंग्रहके लिये रीवा गये थे, जहां तक मुझे स्मरण है कि मैं कर्वी-में ही था और श्रीमहाराजजीने पत्र लिखकर अयोध्या बुलाया था। जब मैं अयोध्या गया तब रीवा जानेका आदेश मिला और मैं और पण्डित श्री रामानुजाचार्यजी दोनों ही गये। साथमें एक रामरत्नदासजी तो थे ही। रीवासे आनेके पश्चात् मैं पुनः कर्वी नहीं गया।

पहले लिखा जा चुका है कि अयोध्यामें श्री रामानुजसम्प्रदाय-के प्रति ग्लानि उत्पन्न हो चुकी थी। उनसे सम्बन्धविच्छेद करनेके प्रयत्न भी होने लगे थे। उन्हीं प्रयत्नोंमेंसे एक प्रयत्न यह भी था कि मुझे उनमें सम्मिलित करना। वैष्णव लोग मुझे खींचते थे, परन्तु मैं पीछे होता जाता था। उनमें दो कारण थे: एक तो यह कि मेरे श्रीगुरुदेव यह नहीं चाहते थे कि मैं उस कलहमें पड़ूं। दूसरा यह कि मैं राष्ट्रियसेवाको ही सदासे मुख्य कार्य मानता आया था। यह कलह साम्प्रदायिक था। इससे राष्ट्रको कोई भी लाभ मिल नहीं सकता था। मैं इससे बचनेके लिये ही थोड़े दिनोंके लिये प्रयाग चला गया था। प्रयाग जाते समय मैं यह देखता गया था

कि श्री महाराजजी स्वयम् इस कलहसे उदासीन नहीं थे। वह इस सम्बन्धमें इधर उधरसे जो कुछ सुनते थे, मुझे सुनाते और समझाते थे। कितनी ही बातें वह स्वामी बलरामदासजीसे भी पूछ लेते और उन्हें मेरे कानोंमें डाल देते। मैं शिष्य था, वह गुरु थे। उनका धर्म ही मेरे जैसे नये शिष्यको साम्प्रदायिक रहस्योंका ज्ञान कराना था।

———

सप्तम परिच्छेद

मैं प्रयागमें था, उसी समय श्रीमहात्मा गांधीजीने खादी पहननेकी घोषणा की थी। मेरे पास पैसे नहीं थे। श्री महाराजजी-ने भेज दिये। श्री महात्मागांधीजीका आदेश मेरे लिये तथा मेरे जैसे करोड़ोंके लिये वेदवाक्य था। मैं तत्काल ही खादीमय बन गया। अच्छे अच्छे सभी वस्त्र मैंने किसीको दे दिये और खादी धारण कर लिया। उस समय शुद्ध खादी और अशुद्ध खादीका ज्ञान ही नहीं था। प्रयागके एक स्वदेशी भण्डारमेंसे मिलकी बनी हुई खादी ही मुझे मिली थी। सारे प्रयागको भी वही मिली थी। मैं खादीकी दुनियांमें आ गया। आज भी मैं खादीमय ही हूँ। अयोध्यामें मेरा एक राष्ट्रिय दल था। पण्डित श्री रामनाथ ज्यौतिषी, पण्डित छेदीराम द्विवेदी तथा अन्य लोग भी थे जिनके नाम आज मुझे विस्मृत हो गये हैं। पण्डित छेदीरामजीने मुझे किसीके द्वारा पत्र लिखाकर अयोध्याकी याद दिलायी और वहाँ आकर कुछ कार्य करनेकी प्रेरणा भी दी। थोड़े दिनोंमें मैं वहाँ ही चला गया।

अयोध्यामें बाबू रामनिवाज सिंह थानेदार थे। वह सज्जन थे, विचारशील थे। मैं उनसे जाकर एकान्तमें मिला। उनसे कहा कि आप सरकारी नौकर हैं, यह सत्य है, परन्तु आप भारतवासी हैं, यह सबसे अधिक सत्य है। मैं यहां श्रीमहात्माजीके आदेशके अनुसार कुछ राष्ट्रिय कार्य करना चाहता हूँ। मैं आपसे इतना ही चाहता हूँ कि आप मुझपर शङ्कित दृष्टिसे न देखें और मुझे हैरान न करें। मैं विरक्त वैष्णवी दीक्षा लेनेसे पूर्व मुङ्गेरमें पुलिसकी कठो-

रतासे परिचित हो चुका था। उसीसे मुक्त होनेके लिये मैंने त्याग लिया था। आज पुनः उसी भट्ठीमें जलनेकी तैयारी हो चुकी थी। राष्ट्रिय झण्डा हाथमें ले लिया। समय समयपर सभाएँ होतीं, प्रचार होता, खादी प्रेमका बीज बोया जाता, मेलोंके समय कांग्रेसका प्रचार किया जाता। एक रामनवमीके मेलेमें तो हम लोग ५० हजार यात्रियोंको बीड़ी, हुक्का, चिलम नहीं पीने दिया। हमारे स्वयं सेवक नयाघाटके पुलपर ही खड़े रहते और उधरसे आनेवाले यात्रियोंसे धूम्रपान न करनेकी प्रतिज्ञा कराते। स्टेशनोंपर भी यही प्रबन्ध था। फ़ैजाबादकी ओरसे आनेवालोंके लिये भी यही प्रबन्ध था। हम उस मेलेमें शत प्रतिशत सफल थे। ठाकुर श्रीरामनिवाज सिंहजी भी कभी घोड़ेपर मुझे मिल जाते और "ब्रह्मचारीजी आप निर्भय रहें" कहकर आगे चल देते। पण्डित श्रीरामनाथ ज्यौतिषीजी बहुत ही उत्तम कोटिके कवि थे। ददुआ पुस्तकालयमें भी वह थोड़ासा अपना समय देते थे। अपनी कविताओंसे उस समय लोगोंके हृदयपर श्री महात्माजीके प्रति, राष्ट्रके प्रति एक अद्भुत ज्योति जगा देते। पण्डित छेदीरामजी वृद्ध थे। हम उनसे केवल आदेश लेते। मेरे श्री गुरुदेव इस कार्यसे मुझपर असन्तुष्ट और क्रुद्ध न हों, यह देखना पण्डित छेदीरामजीका कर्तव्य हो गया था। वह श्रीमहाराजजीके निकटवर्तियोंमेंसे एक थे। श्रीहनुमान्गढ़ीमें एक महान्त सरयूदासजी थे। वह महात्माजीसे न जाने क्यों बहुत चिढ़ते थे। वह श्रीमहाराजजीसे मेरे विरुद्ध कुछ न कुछ कहा करते थे। परन्तु पण्डित छेदीरामजी उसका मार्जन कर दिया करते थे।

पण्डित श्री रघुवरदासजी तटस्थ थे। यद्यपि उन्हें कोई भी महापुरुष प्रिय नहीं था। उन्हें वह स्वयं प्रिय थे या नहीं, यह भी मैं अन्त तक नहीं जान सका। हम दोनों मित्र थे। मैत्रीका निर्वाह

करना ही था। वह मेरे स्वभावसे कितने ही वर्षोंसे परिचित थे। मैं राष्ट्रिय आन्दोलनमें सक्रिय भाग लेता रहा था, यह उन्हें सर्वथा विदित था। अतः हम दोनों कभी भी महात्मागांधी, खादी, देशके सम्बन्धमें परस्पर वार्तालाप नहीं करते थे। अन्ततक इसी नीति- का हम दोनोंने पालन किया और अनन्य मित्र बने रहे।

पण्डितजीको न्याय पढ़नेके लिये श्रीगुरुदेवने प्रेरित किया और एक दिन वह मुजफ्फरपुर कालेजमें मेरे न्यायगुरु महामहोपा- ध्याय पण्डित श्री बालकृष्ण मिश्रजीके पास न्याय पढ़नेके लिये चले गये। अलग होते समय हम दोनों खूब रोये। मेरे दुःखका तो पार नहीं था। उनके चले जानेसे मेरे लिये अयोध्या शून्य सी लगती थी। मित्रका विरह मुझे सदा दुःखद रहा है।

पीछे भरतपुरके अधिकारी श्री जगन्नाथदासजीके सम्बन्धमें लिख आया हूँ। जब मैं उनसे अयोध्यामें परिचित हुआ था तब मैं आर्यसमाजके विचारोंसे ओत-प्रोत एक ब्राह्मण ब्रह्मचारी ही था। जब वह अयोध्यासे जाने लगे तो उन्हें हरद्वार जाना था। एक बाग़ वहाँ उन्हें एक श्रीरामानुजीयका मिल रहा था क्योंकि उस समय वह और सम्पूर्ण रामानन्दीय श्रीरामानुजीय ही थे। वह किसी एक श्रीवैष्णव सभाका भी संचालन करते थे और उस सभाकी ओरसे एक मासिक पत्रके वह सम्पादक भी थे। मुझे भी वह साथ चलनेके लिये आग्रह करने लगे। उनके विचार बहुत ही सुधरे हुए थे। वह उदार विचारके विद्वान् सन्त थे। मैं चलनेके लिये तैयार हो गया। पण्डित श्री नत्थनलालजी शर्मा तो उनके साथ रहते ही थे। बिहारके एक सद्गृहस्थ थे, उन्हें हम लोग बाबूजी कहा करते थे, वह भी साथमें ले लिये गये। हम चारों ही एक दिन हरिद्वार पहुँच गये। मैं तो हरिद्वारमें रह चुका था। वहाँ के आनन्दका अनुभव भी कर चुका था। परन्तु प्रत्येक व्यक्तिके

आनन्दका स्वरूप पृथक-पृथक् हुआ करता है। एक अननुभूत आनन्दके लिये हम लोग एक नावपर बैठकर इधर-उधर जल-बिहार करते हुए, एक पुलके नीचे और ऊपर होते हुए, सन्ध्या-समय, कुछ अन्धकार होने लगा था तब, एक ऐसे जलप्रवाहमें फँस गये कि सभी भयभीत हो गये। मेरा स्वभाव हर समय हँसनेका था। मैं हँसता, श्री नत्थनलालजी भी हँसते, वह बाबूजी कभी हँसते और कभी रीस करते। परन्तु श्री अधिकारीजी तो ऐसी बातें करते कि मुझे और भी अधिक हँसी आती। वह कहते अरे प्राण-संकटमें पड़ा है, तुम बेवकूफोंको हँसी सूझ रही है। अरे नालायको अब मैं डूबा, अब नाव डूबी, नालायक बगीचेके लोभने हमें इस संकटमें डाल दिया। ऐसी-ऐसी तो वह कितनी ही बातें करते थे। आज भी जब मैं और पण्डित नत्थनलालजी कभी उस जल-विहारका स्मरण करते हैं तो हँसे बिना नहीं रहते। हरद्वारसे लौटते समय जब वह भरतपुर चले गये और मुझे उनसे छूटकर अयोध्या आना पड़ा तो मुझे उस समय भी रोना पड़ा था।

अष्टम परिच्छेद

पण्डित श्री रघुवरदासजी मुजफ्फरपुर पढ़ने चले गये। इधर श्रीरामानन्द श्रीरामानुजका विवाद बढ़ने लगा। सम्प्रदायमें दो पक्ष हो गये। बहुत बड़ा पक्ष यह कहता था कि श्रीरामानुजसे श्रीरामानन्दस्वामीजीका या श्रीरामानन्दसम्प्रदायका कोई भी संबन्ध नहीं है। ३-४ श्रीरामानन्दीय कहते थे कि श्रीरामानन्दस्वामीजी श्री-रामानुजस्वामीकी ही शिष्यपरम्परामेंसे थे। इस अल्पपक्षके मानने-वाले थे प्रयागके श्री रामटहलदासजी, श्री रामशोभादासजी, परमहंस बलभद्रदासजी, पण्डित रामनारायणदासजी, एक थे शत्रुघ्नदासजी। यही पाँच नेता भी थे और नेतव्य भी थे। इनके पक्षमें प्रयागके श्रीतुलसदासजीके स्थानके अतिरिक्त पहले तो कोई भी नहीं था; परन्तु जब मैं इस झगड़ेमें सक्रिय भाग लेने लग गया तो श्री महा-राजजी कृपा करके मेरे विरोधी हो गये और रामटहलदासजीके पक्षमें मिल गये। मेरे लिये और मेरे पक्षके सभी लोगोंके लिये बहुत कठिनता उपस्थित हो गयी। श्री महाराजजीके प्रताप, प्रतिष्ठा, तेजके सामने मेरा तो कोई अस्तित्व ही नहीं माना जा सकता। एक तो मैं इस सम्प्रदायमें नया था, दूसरे श्री गुरुदेव मेरे विरुद्ध पक्षमें गये अतः मेरे लिये बहुत कठिन समस्या उपस्थित हो गयी। उस समय तक मैं उनका अनन्य भक्त था अतः उन्हींके चित्रपटकी पूजा करता और उन्हींसे शक्ति मिलनेकी प्रार्थना करता और मेरी शक्ति निस्सन्देह बढ़ने लगी।

पण्डित श्री रघुवरदासजी तो मुजफ्फरपुर थे अतः मेरे सिर-पर ही यह भार आ पड़ा। एक दिन पण्डित मथुरादासजी गुज-

राती मेरे पास आये और उन्होंने कहा कि सबकी और श्री पण्डित रामवल्लभाशरणमहाराजकी भी प्रबल इच्छा है कि आप इस आन्दोलनको अपने हाथमें लें। मैंने स्वीकार कर ही लिया। उस समय अयोध्यामें एक सन्त श्री बालकराम विनायकजी थे। वह अंग्रेजी, फारसी, हिन्दीके अच्छे विद्वान् थे। मैं उनसे मिला। वह पहलेसे ही इसमें दिलचस्पी ले रहे थे। हम दोनोंने एक शामको ददुआके बगीचेमें बैठकर इस कार्यके चलानेके लिये मार्गोंका निर्णय किया। एक तो यह निश्चय हुआ कि सबसे प्रथम एक संस्था हम लोगोंके हाथमें होनी चाहिये। तत्काल ही श्रीरामानन्दीयश्रीवैष्णव-महामण्डल नाम रखकर संस्था बना ली गयी। समय बहुत भयङ्कर था। गुरुपरम्परा बदल डालनी थी। साधु-सम्प्रदायमें यह कार्य कितना कठिन, कितना भयङ्कर और कितना श्रमसाध्य था, इसका अनुभव सर्वसामान्यको होना दुष्कर है। कोई सभापति नहीं मिल सकता था, कोई मन्त्री नहीं मिल सकता था। श्री विनायकजीने मुझे ही प्रधान मन्त्रीके पदका स्वीकार करनेके लिये कहा, और मैंने बिना किसी विचारके इस प्रस्तावका स्वीकार कर लिया। दूसरी एक समितिकी आवश्यकता थी कि जो गुरुपरम्पराओंकी शोध करे और उन परम्पराओंमेंसे यह ढूँढ़ निकाले कि रामानुज और रामानन्दका कोई सम्बन्ध नहीं है। वह समिति भी बन गयी। उसका नाम रखा गया—**पुरातत्त्वानुसन्धायिनी समिति**। उसका भी मैं ही प्रधान मन्त्री बना। मैं ही मण्डल था, मैं ही मन्त्री था। मैं ही समिति था, मैं ही उसका मन्त्री था। काम करना था। इस नाटकके बिना कोई मार्ग मिलता नहीं था।

श्री रामटहलदासजीने सबसे पहले हमारे पक्षपर हमला किया। विज्ञापन छपाकर बांटे और उसमें अभद्र शब्द लिखे गये। उन्होंने

किसीको कुर्मी बनाया, किसीको कहार बनाया, किसीको वर्णसंकर बनाया किसीको नचनियां बजानियां बनाया। अब हमारे पास भी शस्त्र-अस्त्र सभी तैयार थे = श्रीरामानन्दीयवैष्णवमहामण्डल बन चुका था। उत्तर देनेकी हमें सुविधा थी। उनके पास कोई दल नहीं था, कोई बल नहीं था। हमारे पास दल भी था और संस्थाका बल भी था। हमारा काम दृढताके साथ प्रामाणिक रूपमें चल रहा था। उस पक्षको चोरी करनी पड़ती थी। नोटिसें बीभत्स उनकी ओरसे निकलती थीं परन्तु प्रेस और प्रकाशकका नाम उन नोटिसोंमेंसे कतर लिया जाता था। बनावटी नामोंसे भी उन्हें विज्ञप्तियां निकालनी पड़ती थीं। हमारी ओरसे महामण्डलके प्रधान मन्त्रीके हस्ताक्षरसे विज्ञप्तियां उत्तरस्वरूप निकलती थीं। रामटहलदासजी संस्कृत तो पढ़े लिखे नहीं थे परन्तु श्रीरामानुजीयवैष्णवोंके सहवाससे वह कुछ साम्प्रदायिक तत्त्व अवश्य जानते थे। उन्होंने समझा कि ब्रह्मचारी नया है, साम्प्रदायिक सिद्धान्त समझता नहीं है। अतः एक विज्ञप्तिमें कुछ साम्प्रदायिक प्रश्न भी उन्होंने छापे और बांटे। मैं किनसे उत्तर पूछने जाता? मेरे पास साधन थे। श्रीभाष्य भी था और वेदार्थसंग्रह भी था। मैं वेदार्थसंग्रहका मनन किया करता था। बहुतसे प्रश्नोंका—प्रायः सभी प्रश्नोंका उत्तर मैं उसी ग्रन्थकी सहायतासे दे सकता था। इस रीतिसे वह झगड़ा आगे २ बढ़ता ही गया। मैं भूलता नहीं हूँ तो दोनों पक्षोंसे २०-२०, २५-२५ विज्ञप्तियां उस समय निकलीं थीं। अयोध्यामें उस समय अशान्ति थी। रामटहलदासजी और रामशोभादासजी तो कभी अयोध्यामें तब आते ही नहीं थे। उन्हें अपने सिरकी खैर नहीं मालूम होती थी। उस समय जो विज्ञप्तियां दोनों पक्षोंसे निकली थीं उनकी एक फाइल मेरे पास रहा करती थी। गुजरातमें आनेके पश्चात् जब मैं आबू आने जाने लगा तो उस फाइलको

वर्तमान महान्त श्रीरामशोभादासजीको सुरक्षित रखनेके लिये विश्वासपूर्वक दे दिया परन्तु वह फाइल दुर्भाग्यसे मुझे नहीं ही मिल सकी। ईश्वरेच्छा। मेरे पास उन विज्ञप्तियोंमेंसे दो विज्ञप्तियां पृथक रह गयी थीं उन्हें स्वर्गीय महान्त श्री रामदासजी (बड़ोदा)ने **श्री स्वामी भगवदाचार्य लेखरत्नमञ्जूषा**में संगृहीत कर दिया था। वह लेखरत्नमञ्जूषा सन १९४०ई० वि० संवत् १९९७ में प्रकाशित हुई थी। १६ वर्ष हो चुके हैं।

नवम परिच्छेद

यह उत्तर प्रत्युत्तररूपमें विज्ञप्तियां प्रकाशित हो ही रही थीं इसी बीचमें श्री रामटहलदासजीने एक सूचना प्रकाशित की कि गुरुपरम्पराकी सत्यताकी परीक्षाके लिये श्रीहनुमान्‌गढ़ीमें विचार होगा या शास्त्रार्थ होगा। उन दिनों मुझे थोड़ा ज्वर प्रतिदिन आता था। श्रीरामनन्दीयवैष्णवमहामण्डलकी ओरसे मैंने उस शास्त्रार्थ-को स्वीकृत कर लिया। सम्पूर्ण अयोध्यामें इसकी सूचना हो चुकी थी। तिथि और समय सब नियत हो चुके थे। समयसे पूर्व ही श्रीहनुमान्‌गढ़ीके ऊपरके भागका एक बृहद् भवन खचाखच भर गया। मेरे साथी भी पहुँच गये थे। नियत समयपर मैं भी पहुँच गया। श्रीहनुमान्‌गढ़ीके गद्दीनशीन महान्त श्री सीतारामदासजी महाराज सभापति थे। रामटहलदासजीकी प्रतीक्षा की जा रही थी। परन्तु वहाँ आनेका उनका साहस ही नहीं पड़ा। वह नहीं आये। थोड़ी देरमें मेरे श्री गुरुदेवजी पधारे और उनके साथमें जन्मस्थानके महान्त श्री रामकिशोरदासजी, हनुमान्-गढीके एक महान्त श्री नारायणदासजी आ पहुँचे। मैं अपने आसनसे उठकर श्री गुरुदेवके स्वागतमें खड़ा हो गया। वह बैठ गये तब मैं भी अलग बैठ गया। श्री गुरुदेवने बैठते ही प्रश्न किया—श्रीरामानन्दीयवैष्णवमहामण्डलका प्रधानमन्त्री कौन है? सभा निस्तब्ध हो गयी। मैं भी चुप बैठा था। बड़ास्थानके श्रीमहान्तजीका प्रश्न था। उत्तर कौन दे? किसका साहस जो उनके सामने विरोधी होकर प्रत्युत्तर करे? मैंने सोचा यदि यहाँ

गुरु-शिष्यका भाव निभाने बैठूँगा तो मेरा पक्ष ही पराजित होगा और सम्प्रदाय-सुधारका जो कार्य मेरे हाथोंमें सौंपा गया है वह नष्ट होगा। मैंने साहस किया। खड़ा हुआ। हाथ जोड़ा और मैंने पूछा कि श्री महाराजजी यदि आज्ञा हो तो मैं उत्तर दूँ ? इसपर श्री महाराजजी आग बबूले हो गये। मेरी ओर तीक्ष्ण दृष्टिसे देखकर बोले, यदि आज्ञा लेनी होती तो स्थानमें ही आज्ञा न ले ली गयी होती ? उनके इस उत्तरसे सभा क्षुब्ध हो गयी। गढीके ही बाबा कामतादासजी महाराज बहुत तेजस्वी सन्त हैं। अभी जीवित हैं—अतिवृद्ध हो चुके हैं। उन्होंने उठकर खड़े होकर कहा कि—महान्तजी, यह बड़ास्थान नहीं हैं, गढी है। ब्रह्मचारीजी इस समय आपके शिष्य नहीं हैं, सम्प्रदायके नेता हैं। अतः आप उनसे शान्तिसे बात करें। मैंने सबसे हाथ जोड़कर शान्तिकी प्रार्थना की। सभा शान्त हुई। महाराजजी अब क्या पूछेंगे, इसकी सबको शुश्रूषा थी।

मैंने उनके प्रथम प्रश्नका उत्तर दिया—"श्रीरामानन्दीयवैष्णव-महामण्डलका प्रधानमन्त्री कौन है, इसे जाननेकी आपको आज क्यों आवश्यकता पड़ी ? इतने दिनोंसे महामण्डल उत्तर—प्रत्युत्तर कर रहा है, किसी उत्तर देनेवालेने नहीं पूछा कि प्रधानमन्त्री कौन है, तब आज इसे पूछनेकी कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है। महामण्डलकी ओरसे उत्तर करनेके लिये मैं यहाँ बैठा हूँ। यह सम्पूर्ण सभा मुझे जानती है कि मैं महामण्डलकी ओरसे प्रतिनिधि होकर बैठा हूँ। अतः प्रधानमन्त्रीकी जिज्ञासा निरर्थक है।

आपने कहा कि आज्ञा लेनी होती तो स्थानसे ही आज्ञा लेकर मैं यहाँ आता। महाराजजी, मुझे स्वप्नमें भी विश्वास नहीं था कि आप रामटहलदास बनकर या उनके प्रतिनिधि बनकर आवेंगे। आप मेरे जैसे सहस्रों सन्तोंके परमाचार्य हैं। आप

एक सामान्य साधुके प्रतिनिधिके रूपमें पधारेंगे, यह तो कल्पनातीत कार्य हुआ है। मैं जानता कि आप स्वयं सभामें पधारेंगे तो अवश्य ही वहाँसे आज्ञा लेकर आता।

इन दोनों उत्तरोंका मुझे कोई भी प्रत्युत्तर नहीं दिया जा सका। प्रश्नोत्तरमाला आगे चली।

प्र०—पुरातत्त्वानुसन्धायिनी समिति क्या है?

उ०—यह एक समिति है और श्रीरामानन्दसम्प्रदायकी प्राचीनताका संशोधन करनेवाली एक संस्था है।

प्र०—श्रीरामानन्दीयवैष्णवमहामण्डल और पुरातत्त्वानुसन्धायिनीसमितिने जिस गुरुपरम्पराका प्रकाशन किया है, वह परम्परा कहाँसे प्राप्त हुई है?

उ०—श्री चेतनदास नामके एक सन्त अवधमें आये थे। गुरुपरम्पराका आन्दोलन यहाँ चल ही रहा था। उन्होंने पुरातत्त्वानुसन्धायिनी समितिको सूचना दी कि उनके पास हस्तलिखित एक गुरुपरम्परा है जो श्रीराममन्त्रकी गुरुपरम्पराके रूपमें प्रसिद्ध है। समितिने उस लिखित गुरुपरम्पराको उनसे लेकर खूब विचार किया। अन्तमें श्रीरामानन्दीयवैष्णवमहामण्डलने उसे स्वीकृत कर लिया। पुरातत्त्वानुसन्धायिनीसमितिने ही उसे छपाया है।

प्र०—यह गुरुपरम्परा आज तक किसीको क्यों नहीं मिली?

उ०—महाराजजी, यदि यह गुरुपरम्परा आज तक किसीको न मिली होती तो श्री चेतनदासजीको भी न मिली होती। उनको मिली है अतएव उनसे पूर्व भी किन्हींको मिली ही होगी। जिसने ढूँढ़ा उसने पाया, वाली बात है। समिति अब संशोधनके कार्यमें लगी है, अनेक गुप्त और अविदित तत्त्व हाथ लगेंगे। सब कुछ अपने पास है, किन्तु श्रम और श्रद्धा नहीं है, अतः पास होते हुए भी दूर है—अदृश्य है। नालन्दाके भवन भूमिमें ही थे, कहीं चले

नहीं गये थे, तो भी अदृश्य थे। ढूँढ़े गये, मिल गये। हम लोगोंने ढूँढ़ा, हमें यह गुरुपरम्परा मिल गयी। आपने भी ढूँढ़ा तो आपको वह गुरुपरम्परा मिली जिसे आपने प्रकाशित किया है। अन्योंने भी ढूँढ़ा, उन्हें अन्य परम्परा मिली है। सबके श्रमका अनुसन्धान करनेके लिये हमारी समितिने सभी परम्पराओंको एक साथमें छाप दिया है। मैं पूछ सकता हूँ कि आपको वह परम्परा मिली जिसे आपने प्रकाशित किया है परन्तु अखाड़ोंमें, अन्य स्थानोंमें और भाटोंके चोपड़ोंमें जो शून्य, महाशून्य वाली परम्परा है, वह आपको क्यों नहीं मिली? इसलिये नहीं मिली कि आपने अन्योंके लिये श्रम नहीं किया। सबकी उपेक्षा की। हमारी समिति श्रम कर रही है, ढूँढ़ रही है, संशोधन कर रही है, उसे कितनी ही परम्पराएँ मिल गयीं।

महाराजजीने, मेरा उत्तर करना बन्द कर दिया। महान्त श्री रामकिशोरदासजी और महान्त श्री नारायणदासजीकी ओर मुँह करके पूछा महान्तजी आप लोग क्या मानेंगे? यह कलके लड़के पेड़ेको छिल-छिलकर खानेवाले हैं। इनकी बात मानेंगे? या अपने पूर्वजोंकी? दोनोंने युगपत् एक ही उत्तर दिया, महाराजजी, इनकी बात कौन मानता है? आप जो कहेंगे, वही हम लोग मानेंगे।

श्री गुरुदेवने श्री गद्दीनशीनजीसे पूछा—महाराजजी आपकी क्या सम्मति है।?

श्री गद्दीनशीनजीने उत्तर दिया—'महाराज अब तो यह जन्म मैंने रामानन्दजीको समर्पित कर दिया है, अब उन्हें छोड़कर मैं कहाँ जाऊँ? रामनुजके घरमें हम कैसे जा सकते हैं।

तालियाँ बजीं। रामानन्दस्वामीके जयजयकारसे सभा गूँज उठी। श्रीगुरुदेव उठकर चले गये। रात्रि हो चुकी थी। सहस्रों सन्त एक साथ ही उठे और सीढ़ियाँ उतरने लगे। इतने ही में नीचे

बड़ा कोलाहल होने लगा। हाहाकार मच गया। मुझे भय लगा कि किसी नागाने महाराजजीपर प्रहार तो नहीं कर दिया। यद्यपि ऐसा हो नहीं सकता था, परन्तु सदा **स्नेहोनिष्टमाशङ्कते**—प्रेम अनिष्टके अतिरिक्त अन्य चिन्ता कम ही करता है। मैंने दो नागा नीचे भेजकर पता लगाया। मालूम हुआ•भ्रमसे किसीने बाबा मणिरामजीकी छावनीके अधिकारीजीको श्रीराममन्त्रका निन्दक समझकर, उन्हें रामानुजीयपक्षका समर्थक समझकर लाठी मार दी है। वातावरण क्षुब्ध हो गया था। मुझे बड़ास्थानमें जाना था और पण्डित सरयूदासजी वैष्णवधर्मप्ररोचकको गोलाघाट जाना था। रात्रि थी। भय हो गया था। कौन इस हो-हल्लामें सुरक्षित रह सकेगा, कौन नहीं, यह एक समस्या उपस्थित हो गयी थी। श्रीगद्दीनशीनजीने हम दोनोंको आधा घण्टा तक वहां ही रोक रखा। जब नीचे नितान्त शान्ति हो गयी तब दो नागा हमारे साथ कर दिये गये। वह लोग मुझे बड़ास्थानकी कोठीमें छोड़कर, पण्डित सरयूदासजीको गोलाघाट ले गये।

शिष्य, गुरुसे भी शास्त्रार्थ कर सकता है, उस समय लोगोंको आश्चर्यपूर्वक अवगति हुई। गुरुके साथ शिष्यका या शिष्यके साथ गुरुका शास्त्रार्थ हुआ। यह एक ऐतिहासिक नवीन घटना घटित हो गयी।

दशम परिच्छेद

यह शास्त्रार्थ हो गया। मेरा पक्ष विजयी भी बना। परन्तु मुझे बड़ा स्थान उस समय छोड़ देना पड़ा। श्री मणिरामजीकी छावनीके महान्त श्री रामशोभादासजी महाराज परम साधु हैं, यह सभी जानते हैं। वह सभा आदिमें बहुत कम जाते हैं। परम वैष्णव हैं। उनकी कृपादृष्टि मुझपर सदा ही रहा करती थी—रहा करती है। उन्होने स्थानमें लोगोके पहुँचनेपर जब श्री अधिकारीजीकी मारकी बात सुनी तो उन्हें परिस्थितिकी भयङ्करताका अवगम हुआ। वह मेरे पूज्य गुरुदेवके स्वभावसे परिचित थे ही। उन्हें भय था कि मेरा अपमान बड़ास्थानमें न हो जाय। उन्होंने उसी समय मेरे पास कोठीमें एक सन्तको भेजकर मुझे सूचना दी कि मैं छावनीमें ही रहनेके लिये चला जाऊँ। बड़ास्थानमें मेरे लिये भय है। मैंने इस अहैतुकी कृपाके सामने नतमस्तक होकर उन सन्तसे कहा कि अभी एक दो दिन मुझे यहाँ रहना ही चाहिये। यदि महाराज कह देंगे कि तुम इस स्थानसे निकल जावो, तो मैं उसी समय छावनीमें आ जाऊँगा। छावनीके श्री महान्तजी महाराजको शान्ति नहीं थी। दिनमें दो तीन बार मेरा समाचार जान लिया करते थे। मैं स्थानमें ही था परन्तु कुशलकी घड़ियां नहीं बीतती थीं। श्री गुरुदेवका कोप समृद्ध था। भोजनशालाके पाकशास्त्रीको आज्ञा दी गयी थी कि ब्रह्मचारीको भोजनके लिये अब बुलाना नहीं। स्वतः आवें तो खिला देना। नियम यह था कि प्रतिदिन पहले श्री महाराजजी भण्डारमें पहुँच जाते थे तब नौकर हम लोगोंको बुलाकर ले जाया करता था। पश्चात् सबके सामने थाली

आती थी। शास्त्रार्थवाली रातमें भी मैं नहीं बुलाया गया। दूसरे दिन भी मैं नहीं बुलाया गया, न प्रातर्भोजनमें न सायंभोजनमें। मुझे ज्वर आ ही रहा था। मैं भी तपश्चर्यामें लगा हुआ था। तीसरे दिन दोपहरको योगिराज (रसोइया) ने चुपचाप आकर मुझे कहा कि महाराजजीने भोजनके समय आपको नहीं बुलानेकी आज्ञा दी है। यदि आप कहें तो मैं चुपकेसे यहां भोजन पहुँचा जाया करूँ? मैंने दृढ़तासे मना किया। मैंने कहा यह तो चोरी कही जायगी। वह भी श्रीगुरुदेवसे चोरी होगी। उनकी वञ्चना समझी जायगी। ऐसा नहीं करना। कभी ऐसा विचार भी नहीं करना। खाये बिना मैं मर नहीं सकता। मैंने योगिराजको कहा कि तुम छावनीमें जाकर श्रीमहान्तजी महाराजसे कह दो कि आज सायङ्कालमें मैं वहाँ रहनेके लिये आऊँगा। छावनीमें सूचना पहुँच गयी। छावनीके महाराजजीको भी शान्ति हुई। मुझे भी शान्ति प्रतीत होने लगी। छावनीमें सब व्यवस्था हो गयी। आज तीसरा दिन था, मैंने भोजन नहीं किया था। शरीर भी स्वस्थ नहीं था। चिन्ता भी थी। श्री गुरुदेव दोपहरको शयन किया करते थे। ४ बजे उनके उठनेका समय होता था। मैं ५ बजे श्री गुरुदेवके पास गया। साष्टाङ्ग किया। उनकी कृपादृष्टि मुझपर नहीं पड़ी। 'महाराजजी, मैं जाता हूँ, मैंने कहा। कोई उत्तर नहीं था। कोई प्रश्न नहीं था। वह चुप थे। उत्तरकी मुझे कोई आशा भी नहीं थी। जिन्होंने मुझे रुग्णावस्थामें भी अन्नके बिना रखा, मेरी खबर न ली, न लेने दी, उनसे उत्तरकी आशा मैं कर ही नहीं सकता था। मैं अन्दर गया। भगवान्को साष्टाङ्ग किया। बाहर आकर श्रीगुरुदेवको साष्टाङ्ग प्रणाम किया। छावनीका मार्ग पकड़ा।

बाबा मणिरामजीकी छावनी अयोध्यामें बहुत प्रतिष्ठित और प्रसिद्ध स्थान है। वहां प्रतिदिन कथा-वार्ता हुआ करती है। सैकड़ों

सन्त उस कथामें आते हैं। मेरे छावनीमें पहुँच जानेपर कथामें सूचना हो गयी कि "ब्रह्मचारी बड़ा स्थानसे आज अभी छावनीमें आ गये हैं।" विद्युद्वेगसे यह समाचार अयोध्यामें फैल गया। गृहस्थ विरक्त सभी मेरा समाचार जाननेको मेरी सुधि लेनेको वहाँ आने जाने लगे। अयोध्यामें बात फैल गयी कि बड़ा स्थानके महाराजजीने अपने विद्वान् शिष्यको रामानुजके पीछे मन्दिरसे निकाल दिया। मैंने दुःख, लज्जा और धर्मसंकटके साथ सबके मुँहसे श्री गुरुदेवकी निन्दा सुनी। मुझे बहुत दुःख होता था परन्तु उत्तर नहीं था। मैं छावनीमें आ चुका था। अब कोई दूसरा अर्थ किया नहीं जा सकता था। मुझे ऐसा लगता था कि यदि मैं स्थानमें ही रहा होता तो श्री गुरुदेवकी निन्दा तो मुझे न सुननी पड़ती। परन्तु अब क्या हो सकता था। **समय चूकि पुनि का पछिताने।**

श्री गुरुदेवके कानोंमें भी उनकी निन्दा पहुँची। शायद उन्हें पश्चाताप हुआ होगा। उन्होंने मेरे छावनीमें जाकर रहनेके तीसरे दिन पण्डित श्रीरामनारायणदासजीको मेरे पास भेजा। मैं उस समय श्रीहनुमान्जीके दर्शनके लिये जा रहा था। सायङ्कालका समय था। मेरे साथ छावनीसे ही छात्रोंकी भीड़ चली थी। अयोध्यामें सायंकाल हनुमान्जीके दर्शनार्थियोंसे लगभग सभी मार्ग भरे रहते हैं। मुझे देखकर सबको दुःख होता था, आश्चर्य होता था। बड़ास्थानसे चले आनेका मुझे भी दुःख था। शृङ्गार-हाटमें श्री पण्डित रामनारायणदासजी मिले। दण्डवत्-प्रणाम हुआ। वह रामानुज पक्षमें थे। तब भी मेरे हृदयमें उनके लिये आदर था। उन्होंने मुझसे पहले रामानन्दसम्प्रदायकी सेवा की थी।

मैंने पूछा 'पण्डितजी कहाँ जारहे हैं'?

उत्तर—आपके ही पास तो जा रहा था। महाराजजीने भेजा है।

प्रश्न—क्यों श्रीमहाराजजीने आपको कष्ट दिया ?

उत्तर—सारी अयोध्यामें आपके कारण श्री महाराजजीकी निन्दा हो रही है। लोग कहते हैं कि महाराजजीने आपको स्थानसे निकाल दिया है। क्या यह सत्य है ?

मैंने कहा, पण्डितजी महाराज, आप जानते ही हैं कि किसी वस्तुको कहनेके लिये मुख ही—जिह्वा ही साधन नहीं है, व्यवहार भी साधन है। **अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः** श्रीमहाराजजीने मुझे मुँहसे स्थानसे निकल जानेके लिये नहीं कहा, यह सर्वथा सत्य है; परन्तु व्यवहारसे अवश्य ही उनकी यही इच्छा प्रतीत होती थी कि मैं स्थानसे चला जाऊँ।

'यह कैसे ?' उन्होंने पूछा।

मैंने सब कथा कह सुनायी। तीन दिनों तक भोजनके लिये नहीं बुलाया। मैं स्थानसे चलते समय साष्टाङ्ग करके, 'मैं जाता हूँ' कहकर चलने लगा, तब तक भी उन्होंने इतना भी नहीं पूछा कि तुम कहाँ जाते हो। तब क्या इसका स्पष्ट अर्थ यह नहीं है कि श्री-महाराजजीने मुझे स्थानसे निकाल दिया है ?

पण्डितजी चुप हो गये। थोड़ी देरमें पुनः बोले, आप बड़ा स्थानमें ही चलें तो आपकी और महाराजजीकी भी शोभा है।

मैंने कहा, मैंने कोई अपराध नहीं किया है। मुझे सत्य प्रतीत होता है कि रामानन्दका रामानुजसे कोई सम्बन्ध नहीं रहा है। इस सत्यका मैंने प्रतिपादन किया है। इतना ही मेरा अपराध है। इसके लिये यदि गुरुदेवको यही दण्ड उचित प्रतीत हुआ तो वह मेरे लिये शिरसा स्वीकार्य होना ही चाहिये। मैं बड़ास्थानमें

रहनेके लिये नहीं जाऊँगा। वहाँ सैकड़ों सन्त इकट्ठे थे। सबने मेरी यह बात सुनी। सबने इसका प्रचार किया।

मैं छावनीमें ही रहने लगा। श्री गुरुदेव नित्य सायंकाल योगिराजको मेरे पास मेरा स्वास्थ्यसमाचार जाननेको भेजा करते थे।

एकादश परिच्छेद

मैं जब छावनीमें था तब भी दो या तीन विज्ञापन रामानुजीय पक्षसे निकले थे और उनका उत्तर भी मैंने दिया था। यह सब समाचार मैं अपने प्रियमित्र पण्डित रघुवरदासजीको मुजफ्फरपुर भेजा करता था। वह अपने पढ़नेमें, अपनी परीक्षामें लगे हुए थे। मैंने उन्हे अयोध्या आनेके लिये लिखा क्योंकि उज्जैनमें कुम्भपर्व बहुत समीप था। उज्जैनमें ही गुरुपरम्पराका अन्तिम निर्णय होने वाला था। सभी भ्रमभङ्ग विक्रमादित्य और भोजकी भूमिमें होने वाला था। वही विजयभूमि बननेवाली थी और वही पराजय भूमि। ३०० वर्षोंसे भी अधिक समयसे चला आता हुआ भ्रम—रामानन्द रामानुजकी शिष्यपरम्परामेंसे थे—उज्जयिनी नगरीमें ही समाप्त होने वाला था। मुजफ्फरपुरसे एक पत्रमें उन्होंने लिखा—"मेरी परीक्षा अमुक तिथिको समाप्त होगी और मैं अमुक तिथिको अयोध्या अमुक ट्रेनसे पहुँच जाऊँगा। आता तो हूँ, परन्तु मैं रहूँगा उस पक्षमें जिसमें बड़ास्थानके महाराजजी रहेंगे।" पत्रसे मैं बेचैन हुआ। छावनीके श्रीमहान्तजी महाराजको पण्डित रघुवरदासजीकी अन्तिम बात सुना दी। उन्हें भी आश्चर्य हुआ, दुःख भी हुआ। उस समय इस सम्प्रदायमें केवल हम दो ही पण्डित-विद्वान्–विद्वच्चूडामणि जो कुछ भी कहा जा सके–माने जाते थे। मेरे विद्यागुरु श्री स्वामी सरयूदासजी महाराज व्याक-

रणाचार्य हम सबसे बहुत बड़े विद्वान् थे परन्तु आज भी और उस समय भी सभामें बोलनेवाला ही महापण्डित माना जाता था। हम दोनों ही सभामें बोल सकते थे। छावनीके श्री महान्तजीको दुःख इसलिये हुआ कि मैं नया ही था और उस समय तक सम्प्रदायके सिद्धान्तोंको भले प्रकार जानता न था। मेरा पाण्डित्य व्यापक था—साम्प्रदायिक नहीं था। मुझे भी इसीका दुःख था। परन्तु मुझे यह तो विश्वास था कि इतने दिनोंकी मैत्री ऐसी कायरताके साथ समाप्त नहीं हो सकती। परन्तु अभी तक ऐसा कोई झंझावात आया भी नहीं था जिससे उस प्रेम-कुसुमकी परीक्षा की जा सके। अस्तु छावनीके माननीय श्री महान्तजी महाराजीने मुझे एक सूचना दी और मुझे भी वह उपयुक्त प्रतीत हुई। उन्होंने कहा देखो, उनकी गाड़ी मनिकापुरमें आधे घण्टेसे भी अधिक देर तक खड़ी रहेगी। तुम थोड़ेसे पेड़े लेकर मनिकापुर जावो, उनसे वहाँ ही मिलो और उन्हें भूत, भविष्य, वर्तमानका चित्र दिखावो। बड़ास्थानमें तो मैं जाता ही नहीं था। वह छावनीमें आ सकते थे या नहीं, मुझे पता नहीं। स्थानोंमें न जानेकी उनकी भी पद्धति मेरे समान ही थी। अतः मनिकापुर जाकर उनसे मिलनेके अतिरिक्त मुझे भी कोई मार्ग नहीं सूझता था। मैं उस दिन मनिकापुर चला गया। प्रेमसे हम दोनों मित्र कई महीनोंके पश्चात् मिले। दोनोंका दिल भर आया। पेड़े खाये गये। वहाँ स्टेशनके प्लेटफार्मपर बिकनेवाले रामदानेके लड्डू भी खाये गये। अयोध्याकी बात शुरू हुई। सब कुछ उन्हें सुनाया। उनकी सब बातें सुनीं। उन्होंने एक ही बात कही जो विचारणीय थी। उन्होंने कहा कि बड़ा स्थानके श्री महाराजजीसे विरोध करके हम लोग फिर अवधमें नहीं रह सकते। कोई योग्य स्थान नहीं है। इसका मेरे पास कोई उत्तर नहीं था। मैंने कहा, अच्छा अयोध्यामें

चलकर विचार किया जायगा। मैंने अपने लिये कहा कि, मैं तो इस ज्वालामें पड़ ही चुका हूँ। श्री महाराजजीसे मेरा तो विरोध हो ही गया है। स्थान छोड़कर छावनीमें आकर रहा हूँ। अन्तमें मेरी क्या दशा होगी, इसे तो भगवान् ही जानें। मैं तो अब ऊखलमें सिर दे चुका हूँ, मुसलका अब मुझे भय नहीं है। अयोध्याघाट स्टेशनसे हम दोनों अलग-अलग इक्केपर बैठकर चले, वह बड़ास्थान गये, मैं छावनी आया।

द्वादश परिच्छेद

हमने मार्गमें यह भी निश्चय कर लिया था कि मैं कनकभवन-के सामने बड़ास्थानका जो फाटक है, उससे दोपहरको उनके पास आऊँ। हम दोनों बैठें, आनन्दकी बातें भी करें और झगड़ेकी भी। मैं तीसरे दिनसे वहां उसी मार्गसे कभी कभी चला जाता और उनके आसनपर बैठता, हँसता, इधर उधरकी बातें करता। स्थान-मेंसे दूसरे मेरे स्नेही भी मेरा आना सुनकर वहां आते और बैठते। बड़ास्थान वस्तुतः बहुत बड़ा है। उसमें बड़े बड़े ५ फाटक हैं। जिस समयकी मैं बात कर रहा हूँ उस समय उस स्थानका दबदबा और ही था। हनुमान्गढ़ीके सामनेवाले मुख्य फाटकपर श्रीवैष्णवधर्मसंवर्द्धिनीपाठशालाके मुख्याध्यापक पण्डित श्री रामचरित्र उपाध्याय रहते थे। फाटकके दोनों तरफ़ पाठशालाकी श्रेणियां बैठती थीं। दाहिनी ओर आचार्यश्रेणी बैठती और बाईं ओर मध्यम तथा प्रथम श्रेणी। स्वामी श्रीकृष्णसेवकजी उस श्रेणीके अध्यापक थे। फाटकके भीतर जानेपर बहुत बड़ा मैदान आता था। अशोक और के वृक्ष लगे हुए थे। चारों ओर किनारे किनारे कोठरियां बनी हुई थीं। उनमें स्थानके वैतनिक सिपाही रहा करते थे। एक कुआ अब भी विद्यमान है। श्री रामप्रसादजी महाराज पहले जिस शंकरकी पूजा करते थे, उनका मन्दिर उसी कक्षामें आज भी विद्यमान है। दूसरी कक्षामें

प्रवेश करनेके लिये दूसरा एक फाटक मिलता था। उस फाटक पर हमेशा कोतवाल पहरा देता रहता था। उसीके ऊपर पण्डित श्री माधवदासजी रहते थे। वह सारस्वत-चन्द्रिकाके योग्य पण्डित थे। अन्दर आनेपर पुनः ईंटोंसे जड़ा हुआ विशाल और भव्य मैदान था। उसी कक्षामें श्री महाराजजीकी बाईं ओर गादी थी, निवासस्थान था। वह समस्त लाइन उनके ही उपयोगमें आती थी। उनकी गादीके सामने एक बृहद्द्वार था। उसमें प्रवेश करनेपर एक मन्दिरमें गोपालजीके दर्शन होते थे। पीछेसे तो उसी खण्डमें छोटा भण्डार होने लग गया था। मैंने जब बड़ास्थान छोड़ा था तब वहीं छोटा भण्डार था। मैं अब तो बड़ास्थानमें जाता हूँ, परन्तु उस खण्डमें जान-बूझकर मैंने अभी तक प्रवेश नहीं किया है। श्री महाराजजीके इस खण्डमें उनका प्रताप तपता था। बड़े-बड़े राजा और जमीनदार वहां आते भय खाते और बहुत ही अदबके साथ उस खण्डमें प्रवेश करते। विद्वान् आते, सम्मानित होते और अन्य सभ्य समाज आता दर्शन करके कृतार्थ होता। कितने ही लोग मार्गदर्शन प्राप्त करने आते और कृतार्थ होकर चले जाते। श्री महाराजजीका वह वज्राङ्ग शरीर, वह भव्य आकृति, वह गौरवर्ण, वह तीव्र और तीक्ष्ण दृष्टि, वह निर्भयता वह ठाठ-बाट, वह सज्जनता और वह दण्डप्रदानसामर्थ्य, सब कुछ विरल था। वह जब अयोध्याकी सड़कोंपर सायङ्काल घूमनेके लिये निकलते तो आगे पीछे लट्ठधर कितने ही जवान, पीछे पीछे साधुओंका झुण्ड चला करता था। सामनेसे आनेवाले सन्त साष्टाङ्ग करते, चरण-धूलि सिरपर लगाते, कितने ही आभूमि नतमस्तक होकर प्रणाम करते कितने ही दूरसे दर्शनकर कृतार्थ होते। अस्तु।

श्री महाराजजीकी इस कक्षाको पूरी करके अन्दर जानेके लिये पुनः एक बृहद्द्वार मिलता। उसके ऊपर स्थानके बहुत पुराने अधि-

कारी श्री जी निवास करते थे। उस फाटकके पश्चात् श्री धनुर्धारी भगवान्की कक्षा आती थी। भगवान्के जगमोहनसे ही एक द्वार बाहर निकलता था, उसमें श्री भगवान् विराजमान थे। उसीके ऊपरके खण्डमें पण्डित श्री रघुवरदासजी रहा करते थे। वहां ही मैं जाया करता था। श्री महाराजजीके कुशल-दूत नित्य मेरे आनेका समाचार श्री महाराजजीको पहुँचा देते। अभी तक मैं श्री महाराजजीके पास नहीं गया था।

त्रयोदश परिच्छेद

उज्जैनमें सब सम्प्रदायोंका समाज–बृहत्समाज उपस्थित हो गया था। श्रीरामानन्दसम्प्रदाय भारतके सभी सम्प्रदायोंसे बृहत्सम्प्रदाय है—अर्थात् इतनी बड़ी संख्या किसी भी सम्प्रदायकी नहीं ही है। उस समय पुरी (उड़ीसा) के महान्त और १२ भाई डाडियाके प्रतापी श्री महान्त जगन्नाथदासजी महाराजका बोलबाला था। मैंने शुभ नाम सुना था, पवित्र दर्शन नहीं किये थे। उन्हींके खालसेमें महान्त श्री रामदासजी डाडिया (अयोध्यावाले) भी एक महान्त थे। वह हमारे आन्दोलनके प्राण थे। उन्हें श्री महान्त जगन्नाथदासजी महाराजसे लड़ना झगड़ना पड़ा था और बात यहां तक पहुँच गयी थी कि जब तक शास्त्रार्थ होकर गुरुपरम्पराका निर्णय नहीं होता, जब तक श्री महान्तजी पुरातत्त्वानुसन्धायिनी समितिके प्रकाशित गुरुपरम्परापर हस्ताक्षर नहीं करते तब तकके लिये खान-पान, भोजन-भण्डार सब महान्त श्री रामदासजी महाराजने अलग कर लिया था। उनका अलग होना, श्री महान्तजीके लिये दुःखद था। वह बहुत बुद्धिशाली महान्त थे। चारों ओर उनकी दृष्टि पहुँच सकती थी। तब भी वह अलग तो रहे ही। श्रीमान् महान्त रामशोभादासजी महाराजके पास छावनी–अयोध्यामें महान्त श्री रामदासजीके पत्र, तार आने लगे—"पण्डितोंको शीघ्र भेजिये, यहाँ विपक्षी पण्डित आ चुके हैं।" मेरे ज्वरने मेरा सङ्ग अभी तक नहीं छोड़ा था। श्रीहनुमान्गढ़ीके शास्त्रार्थके समय जो ज्वर था, वही अभी तक रह रहा था। श्रीगुरुदेवके पास समाचार पहुँच गये कि अब ब्रह्मचारीजी उज्जैन जा रहे हैं। उस

समय बड़ा स्थानकी कोठीमें फोर्थ क्लास तकका एक अंग्रेजी स्कूल चल रहा था। उसके हेडमास्टर शायद बाबू रामशरणदासजी थे। वह भक्त और सज्जन थे। श्री महाराजजीने उन्हें मेरे पास समझानेको भेजा कि उज्जैनमें गर्मी अधिक पड़ती है। ज्वर अभी गया नहीं है। अतः वहां न जाना ही अच्छा है। **आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया**। मैं थोड़ा सा स्वास्थ्यकी ओर ध्यान देने लगा और उज्जैन-गमनको लम्बा किया। परन्तु महान्त श्री रामदासजीके तारोंने हम सबको उद्विग्न कर दिया। अब पण्डित श्री रघुवरदासजी भी मेरे इस झगड़ेमें साथी हो गये थे। श्री महाराजजीका भय अब उन्हें हैरान नहीं करता था। उन्होंने निश्चय कर लिया था कि वह अब उज्जैनसे गुजरात चले जायंगे और गुजरातमें ही रहेंगे। पण्डितजी गुजरातसे ही अयोध्या पढ़ने आये थे। सिद्धान्त कौमुदीका कुछ भाग उन्होंने अहमदाबादके सबसे बड़े विद्वान् पण्डित रामकृष्ण शास्त्रीजीसे पढ़ा था। यहांसे वह अयोध्या गये थे। वह तीन भाई थे। अपनी विधवा माताके साथ दीनदशामें घूमते फिरते गुजरात आये थे। गुजरातसे सौराष्ट्रमें भी दीनता उन सब लोगोंको ले गयी थी। सौराष्ट्रमें **चीतल** नामका एक गांव है। उसीमें एक महान्त श्री हनुमान्दासजी रहते थे। उन्होंने प० रघुवरदासजीको अपना चेला बना लिया था। माता शायद कहीं मार्गमें ही मर चुकी थीं। जहाँ तक मैं जानता हूँ तीनों ही भाई एक ही गुरुके शिष्य हुए थे। चीतलमें शिष्य होनेके समय वह बालक ही थे। वहाँसे न जाने किस सम्बन्धसे वह गुजरातके **बालम** गाँवमें पहुँचे। वहां काठियापद्धतिके श्रीरामानन्दीय-वैष्णवका एक अच्छा प्रतिष्ठित मन्दिर है। वहाँ ही वह रहने लगे और गांवकी गुजराती पाठशालामें गुजराती पढ़ने लगे। बालमके

ही किसी सम्बन्धसे वह ऊंझा गये थे। ऊंझा गुजरातका एक अच्छा गाँव है। उस गाँवमें सुथारों-बढ़इयोंका एक राममन्दिर हैं। उसीमें वह पीछेसे रहते थे। अहमदाबादसे पढ़ना छोड़कर भी वह पहले ऊँझा ही आये थे और ऊँझासे ही अयोध्या गये थे। अत एव उन्होंने गुजरातमें ही रहनेका निर्णय कर लिया था। मेरी क्या दशा होगी, इसका विचार न तो मैं करता था और न वह। मैं रामभरोसे जी रहा था। मेरा भविष्य भी रामभरोसे ही था। मुझे मेरे भविष्यकी कभी चिन्ता उस समय हुई हो, मुझे स्मरण नहीं है। अस्तु, छावनीके श्री महान्तजी महाराजने उज्जैनमें, तारसे महान्त श्री रामदासजीको सूचना दी कि "अमुक तारीखको हम सब आ रहे हैं।" ६,७ दिन जानेके लिये रह गये थे। पण्डित-जीने मुझे कहा कि श्रीरामानुजीयोंके यहाँ श्री रामानुजस्वामीकी स्तुतिके लिये यतिराजविंशति नामका एक लघु ग्रन्थ है। आप भी श्री रामानन्द स्वामीजीके लिये एक स्तोत्र बना लें। मैंने **यतीन्द्र-विंशति** नामका एक स्तोत्र एक रात्रिमें लिख लिया। वह बहुत सुन्दर बन गया। यतीन्द्रविंशतिको मैंने बाबा मणिरामजीकी छावनीमें ही बैठकर लिखा था। वही उसकी जन्मभूमि है। आज वह स्तोत्र श्रीरामानन्दसम्प्रदायमें सर्वत्र प्रचलित है।

———

चतुर्दश परिच्छेद

उज्जैन कुम्भ पर जानेमें अब विलम्ब नहीं किया जा सकता था। वहाँसे तार आया कि तोताद्रिस्वामीजीने शास्त्रार्थ करनेके लिये तोताद्रिसे या कहींसे भी अपने एक विद्वान्‌को भेज दिया है। उन्होंने शास्त्रार्थके लिये चैलेञ्ज दे दिया है। हम लोग निकलनेके लिये तैयार हो गये। जिस रात्रिको हमें उज्जैन जाना था, उसी अपराह्नमें ६ बजे मैं श्रीगुरुदेवके दर्शनों और आशिर्वादके लिये बड़ास्थानमें गया। मैंने साष्टाङ्ग किया। आज श्रीमहाराजजीकी मुखमुद्रा वैसी नहीं थी जैसी मेरे छावनीमें जानेके दिन थी। प्रसन्नतासे श्री गुरुदेवने पूछा, शरीर अच्छा है? मैंने कहा—जी हाँ, आपकी कृपासे। ज्वर गया? श्री महाराजजीने पुनः पूछा। मैंने उत्तर दिया—जी हाँ चरणोंकी कृपासे। पुनः मैंने कहा, महाराजजी आज 'रात्रिकी गाड़ीसे उज्जैन जा रहा हूँ। आशिर्वादके लिये आया हूँ।' कुछ गम्भीरतासे, कुछ प्रसन्नतासे पूछा 'किस बातका आशिर्वाद?' मैंने हाथ जोड़कर सिर झुकाकर कहा उज्जैनमें शास्त्रार्थ होने वाला है वहाँ मेरा और मेरे पक्षका विजय हो, इसके लिये आशीर्वाद चाहिये। श्रीमहाराजजी केवल हँसे, कुछ बोले नहीं। थोड़ी देरमें पुनः पूछा, मार्गव्ययके लिये क्या किया है? मैंने कहा, प्रबन्ध हो गया है। अधिक कुछ चाहिये तो यहाँसे ले जावो, श्रीमहाराजजीने कहा। मैंने निवेदन किया, मुझे अधिककी आवश्यकता नहीं है। आपका आशीर्वाद ही मेरे पास नहीं है। उसे ही लेने आया हूँ। श्रीमहाराजजीने हजूरिया (सेवक) से कहा, चिन्तामणिदासको बुलावो। श्रीचिन्तामणिदासजी मेरे सबसे

बड़े गुरुभ्राता हैं। अभी भी वह जीवित हैं। उस समय वह वहाँ नहीं थे। अच्छा, रामशरणदासको बुलावो, श्रीमहाराजजीने पुनः हजूरियाको आज्ञा दी। श्री रामशरणदासजी भी मेरे बड़े ही गुरु भ्राता थे। वह मुझपर स्नेह भी रखते थे। वह खज़ानची थे। बुद्धि थोड़ी थी। महन्त बननेका उन्हें बहुत शौक था। पहले तो श्री रामस्वरूपदासजीको बड़ास्थानकी महन्ताई निश्चित थी। परन्तु उनका शरीरान्त हो गया। अब वहाँकी गादी मेरे लिये नियत हुई। रामशरणदासजी निराश हो रहे थे। मुझे जब कुछ पैसोंकी आवश्यकता होती तो मैं उनके पास जाता, प्रेमसे, बोलता बैठता और अन्तमें कहता, "आज महाराजजी एक आदमीसे कह रहे थे कि रामशरण बहुत श्रमशील है, मुझे उसेही महान्त बनाना है। मैंने भी कहा कि, हाँ, महाराजजी वह बहुत योग्य भी हैं, खज़ाना भी संभालते हैं, बाहरका भी काम करते हैं। उन्हें अवश्य महन्थाई मिलनी चाहिये।" श्री रामशरणदासजी तो फूल कर कुप्पा हो जाते थे। फिर क्या था, मैं कह लेता भाई साहेब, मुझे थोड़ेसे पैसे नहीं देंगे? कितना चाहिये? उनके पूछने पर मैं १०–५ रूपये माँग लेता और वह प्रसन्नतासे दे देते। उस समय भी यद्यपि मेरे हृदयपर श्री महात्मागाँधीजी और उनके उपदेश, आचार, व्यवहारकी छाप पड़ी हुई थी तथापि मेरी युवावस्थाने, अपरिपक्व बुद्धिने मुझे ऐसे प्रलोभनोंसे रोकनेका प्रयत्न नहीं किया। मेरी तो यह रफ्तार जारी ही रही। जब धनकी मुझे आवश्यकता होती तब सीधा उन्हींके पास पहुँचता, ऐसी ही, झूठी-सच्ची बातें करता, और पैसे लेकर चला आता। श्रीमहाराजजीके बुलानेपर वह वहाँ आ गये। मैं तो बैठा ही था। श्री महाराजजीने कहा एक रेशमकी चादर लावो। वह तो मुझपर प्रसन्न रहा ही करते थे। मेरे छावनी चले जानेका उन्हें भी दुःख था। वह मुझसे

हृदयसे प्रेम करते थे। इसमें एक कारण भी था। उन्हें शीतला= चेचक सारे शरीरमें बहुत जोरोंसे निकल आयी थी। शीतला चेपी और गन्दा रोग है। ऐसे रोगीकी कोई बिरला ही सेवा कर सकता है। कोई सन्त महात्मा उनके पास कभी ही आते। कोई तो दूरसे ही, 'गुरु भाई कैसा है' कहकर चले जाते। इतनेमें ही वह अपने कर्तव्यकी इति श्री समझते। मैं मुङ्गेरमें सेवासमिति चला चुका था। प्लेगके दिनोंमें भी स्वयम् प्लेगका इन्जेक्शन लेकर रोगियोंकी सेवा करनेका अभ्यासी था। अतः मैं उनके पास प्रति-दिन जाता तथा दिनमें कई बार जाता। इससे वह मुझपर प्रसन्न रहा करते थे। उनकी जीभ इस रोगमें निर्बल हो गयी थी। तोतला बोलने लग गये थे। अच्छे थे। एक अच्छी सी रेशमी चादर ले आकर श्रीमहाराजजीके आगे रख दी। श्रीमहाराजजीने उसे खोलकर मुझे ओढ़ानेकी इच्छा की। मैंने सिर झुका दिया। कन्धों-पर वह चादर श्रीगुरुदेवके वरदहस्तोंसे ओढ़ा दी गयी। मैंने इसे ही श्रीमहाराजजीका, श्रीगुरुदेवका पवित्र आशिर्वाद मान लिया। साष्टाङ्ग करके भगवान्को साष्टाङ्ग किया। मुझसे छोटे उस समय एक ही गुरुभाई थे जो आज उस गादीके आचार्य हैं, अवशिष्ट सभी गुरुभाई मुझसे बड़े थे। मैंने उन लोगोंसे भी विदा माँगी और छावनी चला आया। पण्डित श्री रघुवरदासजीने श्री-महाराजजीसे क्या कहा होगा, कैसे आज्ञा प्राप्त की होगी, उनकी तैयारी हो चुकी थी या तैयार हो रहे थे, इन बातोंका मुझे कुछ ज्ञान नहीं था। वह भी हमारे साथही उज्जैन चलेंगे, यह निश्चत था।

पञ्चदश परिच्छेद

जब हम स्टेशनपर पहुँचे तो देखा कि पण्डित श्री रघुवरदासजी वहाँ प्लेटफार्मपर उपस्थित थे। बाबा मणिरामजीकी छावनीके श्रद्धेय और माननीय महान्त श्री रामशोभादासजी महाराज, पण्डित श्री राघवदासजी प्रतिवादिभयंकर, पण्डित श्री सरयूदासजी वैष्णवधर्मप्ररोचक, पण्डित श्री जनकनन्दिनीशरणजी (जानकीघाटवाले), पण्डित श्री रघुवरदासजी और मैं, इतनोंकी यह विजययात्रा थी। पण्डित सरयूदासजी बहुत ही निर्मल और शौकीन सन्त थे। वह बहुत गुणी थे और बहुत हँसमुख तथा सरलस्वभावके सन्त थे। हम सब एक ही थर्ड क्लासके डब्बेमें बैठे। पण्डित सरयूदासजी, रामायणी थे, सुन्दर गायक थे, मृदङ्ग बजा लेते थे, भाषण बहुत सुन्दर देते थे। उस समय श्रीरामानन्द-सम्प्रदायमें वही सबसे अच्छे वक्ता थे। सभामें हँसा हँसाकर पेट फुला देते थे। उनके पास भाषणके समय जो कोई भी परिचित या अपरिचित बैठा हो, उसके सिरकी खैर नहीं। वह भाषण देते जायं, हँसते जायं, हँसाते जायँ और दोनों तरफ बैठे हुए लोगोंका सिर पकड़ पकड़कर जोरसे हिलाते जायँ। यह उनकी पद्धति थी। स्व० श्री सरोजिनीदेवी नायडूका मैंने राष्ट्रीय महासभाके बम्बईके अधिवेशनमें—जब श्रीराजेन्द्रबाबू राष्ट्रपति चुने गये थे—अंग्रेजी भाषण सुना था। उनका शब्दप्रवाह अनवरत बहता रहता था और गलेमें पड़ी हुई लम्बीसी सोनेकी जंजीर अंगुलियोंमें नाचती रहती थी। सारे भाषणमें उनकी अङ्गुली नाचती रही और स्वर्ण-लताको नचाती रही। भाषणके समय सभीकी अपनी अपनी

विलक्षणता होती है। पण्डित सरयूदासजीकी यही विलक्षणता थी। गाड़ीमें बैठनेपर वह शान्त नहीं बैठे। हँसने हँसानेकी ही बातें करते थे। जंघेमें अङ्गुलिसे दबाते जाते थे। सामनेके सीटपर बैठे हुये पण्डित श्री राघवदासजीका सिर भी हिला दिया करते थे। मैं खिड़कीके पास बैठा हुआ था। मेरे साथ पण्डित श्री रघुवरदासजी थे और उन्हींके साथ वैष्णवधर्मप्ररोचकजी थे। एक दो बार तो उन्होंने पण्डित रघुवरदासजीका माथा झकझोर दिया। वह पेशाबके बहाने वहाँसे उठकर पेशाबखानेमें चले गये और लौटकर उन्होंने बैठनेका स्थान बदल दिया। हँसते, बोलते, नींदके झोंके खाते रात बिताने लगे। प्रातः हम लोग भूपाल पहुँचे थे। भूपालका ताल देखा। **'ताल तो भूपाल ताल और सब तलैया'** इस कहावतका स्मरण किया। हम लोगोंने कैसे कहाँ क्या खाया पिया—यह तो मैं आज सर्वथा ही भूल गया हूँ। वहाँसे किसी गाड़ीसे निकलकर हम लोग उज्जैन पहुँचे।

हमारे साथी सभी लोग अङ्कपात चले गये। मैं और पण्डित श्रीरघुवरदासजी एक धर्मशालामें ठहरा दिये गये। आज मुझे स्मरण नहीं है कि एक रात वहाँ ठहरना पड़ा था अथवा कुछ घण्टे। हम दोनोंका स्वागत होना था। अतः रोके गये थे। मैं नया दीक्षित था; पण्डित रघुवरदासजी पुराने सन्त थे। हम दोनों पण्डित माने जाते थे। मैंने नया होकर गुरुपरम्पराका कार्यभार अपने हाथमें ले लिया था अतः मैं भी स्वागतका अधिकारी मान लिया गया। हम दोनोंके, हमारे साथियोंमेंसे किसीके भी, मनमें कभी यह विचार नहीं आया था कि उज्जैनमें हम दोनोंका स्वागत होगा। यह स्वागत पण्डितजीका भी प्रथम ही था, मेरा तो प्रथम था ही। सम्प्रदायमें दीक्षित हुए मुझे शायद ही २।। वर्ष हुए होंगे। स्वागतमें क्या क्या था,

आज मुझे कुछ भी याद नहीं है। एक हाथी था। उस पर गद्दी बिछी हुई थी। लम्बा सा झूल पड़ा हुआ था। इसके अतिरिक्त बाजे थे या नहीं, निशान थे या नहीं, मुझे स्मरण नहीं है। साधुओंका एक छोटा सा दल आगे पीछे अवश्य था। अखाड़ेके सन्त हथियारोंसे खेलते थे या नहीं, मुझे स्मरण नहीं। हम डाकिया खालसेमें उतारे गये। पण्डितजी जहाँ-जहाँ गये, मैं भी उनके साथ ही खालसेके भगवान्के दर्शनके लिये गया था। वहाँ हम सबके ठहरनेके लिये एक टिनसे छाया हुआ छोटा सा मकान था। उसके पास ही महान्त श्रीरामदासजी डाकियाका कैम्प था। वहाँ ही पासमें श्रीमहान्त श्रीजगन्नाथदासजी महाराजका कैम्प था जहाँ सैकड़ों स्त्री-पुरुष दर्शनार्थी प्रतिक्षण खड़े और बैठे रहते थे। उस टिनवाले मकानमें छावनीके श्रीमहान्तजी महाराज, पण्डित श्रीसरयूदासजी वैष्णवधर्मप्रोचक, पण्डितराघवदासजी और हम दोनों मित्रोंके अतिरिक्त कोई नहीं था। वैशाखका मास था। गर्मी खूब पड़ती थी। भीड़ खूब थी। टिनका मकान था। खिड़की एक थी। एक ही द्वार था। हमारी परेशानीका पार नहीं था। हम वहाँ रहे। दो दिनमें पुराने हो गये। अन्तिम स्नान ही अवशिष्ट रहा था। शास्त्रार्थ तो होना ही था। उसके लिये हम दोनों मित्रोंको कोई प्रयास नहीं करना पड़ा था। प्रतिपक्षसे तो चैलेञ्ज मिल ही चुका था। उसका स्वीकार करना हमारे हिस्से था। हमने महान्त श्रीरामदासजीसे कह दिया कि जो सबको अनुकूल हो वह स्थान और समय नियत करके शास्त्रार्थकी घोषणा कर दी जाय, चुनौतीका स्वीकार घोषित कर दिया जाय। अखाड़ों और खालसोंके श्रीमहान्त, महान्त महानुभावोंने तिथि निश्चित कर ली। स्थानका भी निश्चय कर लिया गया, समयका भी।

षोडश परिच्छेद

सम्वत् १९७८ वि०, ता० ९-५-२१ के दिन दिगम्बर अखाड़े-में शास्त्रार्थका आरम्भ हुआ। जब इस परम्परायुद्धका आरम्भ हुआ तब अयोध्यामें ही मैंने रहस्योद्घाटन नामका एक छोटा सा पुस्तक लिख लिया था। उसमें श्रीबालकराम विनायकजीकी भी सहायता थी। उस ग्रन्थमें यह दिखाया गया था कि श्रीरामानुजीय ग्रन्थोंमें राम और राममन्त्रकी अवहेलना—निन्दाकी गयी है। यदि ये दोनों सम्प्रदाय कभी भी तत्त्वतः एक होते तो-श्रीरामानन्द-स्वामी श्रीरामानुजस्वामीकी परम्परामेंसे होते तो, उनके प्रतिष्ठित ग्रन्थोंमें श्रीराम और श्रीराममन्त्रकी निन्दा कभी भी किसी भी उद्देश्यसे न लिखी जाती। उसी ग्रन्थके आधारपर ही शास्त्रार्थका होना था।

रामानुज पक्षसे पण्डित श्रीरामप्रपन्नरामानुजदासजी थे जिनके लिये प्रसिद्ध किया गया था कि श्रीतोताद्रिस्वामीजीकी ओरसे वह आये थे। रामानन्द पक्षसे हम दोनों—पण्डित श्रीरघुवरदासजी और मैं शास्त्रार्थके लिये बैठे थे। श्रीरामानुजीय पण्डितका पक्ष था कि "हम लोगोंके ग्रन्थोंमें रामकृष्णमन्त्रादिकी निन्दा नहीं है" श्री-रामानन्दीय श्रीवैष्णवमहामण्डल अयोध्याका पक्ष था कि "रामा-नुजीय ग्रन्थोंमें रामनिन्दा, कृष्णनिन्दा, राममन्त्रादिकी निन्दा श्रीराधिकाजीकी निन्दा उपस्थित है।" शास्त्रार्थमें पाँच पञ्च थे—(१) श्रीमहान्त श्रीरामदुलारेदासजी महाराज, दिगम्बर (२) श्री-महान्त श्रीसीतारामदासजी महाराज निर्वाणी (३) श्रीमहान्त श्रीजगन्नाथदासजी महाराज निर्मोही (४) श्रीकमलदासजी महा-

राज निर्मोही अनी (५) श्रीमहान्त श्रीजगन्नाथदासजी महाराज बारह भाई डाडिया। इन पञ्चोंने शास्त्रार्थके लिये मुझे और पं० रघुवरदासजीको नियुक्त किया था। शास्त्रार्थमें बोलनेके लिये पञ्चोंने मुझे ही नियुक्त किया था। पण्डित रघुवरदासजीकी इच्छासे ही ऐसा किया गया था। वह सम्पूर्ण वृत्त अक्षरशः आजसे ३३वर्ष पूर्वके छपे हुए एक पुस्तकमें मुद्रित हो चुका है। उस पुस्तकका नाम है—"१९७८ विक्रमीय संवत्सरमें उज्जैन कुम्भपर पञ्चों द्वारा स्वीकृत, सब श्रीरामानन्दीय सन्त महन्तोंसे सम्मानित श्रीअग्रदासजी महाराजकी लिखी हुई श्रीरामानन्दीय श्रीवैष्णवोंकी गुरु-परम्परा।" इस पुस्तकको श्रीरामानन्दीय श्रीवैष्णवमहामण्डल अयोध्याने शास्त्रार्थके पश्चात् छपाया था।

शास्त्रार्थके लिये नियम यह बनाया गया था कि शास्त्रार्थ संस्कृतमें लिखित हो। उस लेखकी दोनों पक्षोंसे तीन तीन प्रतियाँ लिखी जायँ। एक प्रति पण्डितके पास रहे, एक प्रति विपक्षको दी जाय और एक प्रति पञ्चको दी जाय। बालकाण्डमें आप पढ़ चुके हैं कि आसनसोलमें पं० माधवाचार्यजीसे मुझे एक लिखित शास्त्रार्थ करना पड़ा था। उस समय मैंने बहुतसे ब्राउन पेपर और बहुतसे सफेद पतले कागजोंका संग्रह किया था। वह कई वर्षोंके बाद उस समय भी मेरे पास थे। विपक्षी पंडितजीको पूर्व पक्ष करने–लिखनेमें बहुत कष्ट हुआ था। उनकी सहायतामें बम्बईके वेङ्कटेश्वर प्रेसके उस समयके अध्यक्ष श्रीनिवासदासजी बैठे थे। वही लिखते थे और पण्डित श्रीरामप्रपन्न रामानुजदासजी बोलते थे। विलम्ब होता था। समय १५ मिनट ही दोनों पक्षोंको मिला था। उनके पूर्वपक्ष-का उत्तर मैंने १० मिनटोंमें ही लिखकर दे दिया। नियमोंमेंसे दूसरा नियम यह भी था कि उस संस्कृत लेखको पढ़कर सुनाकर, उसका हिन्दी अनुवाद भी कर दिया जाय जिससे समस्त सभ्योंका

परिचय होता जाय। यह काम उधरसे कठिनताके साथ हो रहा था क्योंकि प० रामप्रपन्नजी हिन्दी अच्छी तरहसे नहीं जानते थे। सेठजी संस्कृत अच्छी तरहसे नहीं जानते थे। उनके पास लिखनेका सामान भी नहीं था। क्योंकि उनके ध्यानमें यह बात थी ही नहीं कि लिखित शास्त्रार्थ करना पड़ेगा। लिखित शास्त्रार्थमें बड़ा भारी लाभ तो यह होता है कि कोई पक्ष यह नहीं कह सकता कि 'मैंने यह कहा था और यह नहीं कहा था'। मेरे प्रत्युत्तरके पश्चात् जब पुनः उस पक्षकी लिखनेकी बारी आयी तो सेठ श्रीनिवासदासजीने हँसते हुए कहा कि ब्रह्मचारीजी, आपके पास साधन है, हमारे पास साधन नहीं है। मैंने उनको कारबन पेपर और पतले सफ़ेद पेपर भी पुष्कल दे दिया। मैंने यह भी कहा कि यदि पण्डित रामप्रपन्नजीकी इच्छा हो तो उनका लेख भी मैं ही लिख दूँ, वह बोलते जायँ। धन्यवादपूर्वक मेरे इस प्रस्तावको उन्होंने अस्वीकृत कर दिया। अब तो वह भी साधनसम्पन्न हो चुके थे अतः मेरे समान ही वह भी एक साथ ही तीन प्रति लिख सकते थे और थोड़े ही समयमें। दो बार ही उन्होंने पूर्वपक्ष किया और दो बार ही मैंने उत्तर दिया। पूर्वपक्षसे यह पुनः पुनः कहा जाता था कि "हमारे ग्रन्थोंसे जो निन्दा सिद्ध की गयी है वह निन्दा ही नहीं है। क्योंकि मीमांसाका सिद्धान्त है कि **नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते किंतु स्तुत्यं स्तोतुम्**। अर्थात् कोई भी निन्दावाक्य निन्दनीयकी निन्दा करनेके लिये नहीं उपस्थित होता है परन्तु वह केवल स्तुत्यकी स्तुतिके लिये होता है। मैं उन्हें यह कहता था कि राममन्त्रकी निन्दासे किस स्तुत्यकी स्तुति की जा रही है, यह बतलाइये। यदि राममन्त्र ही स्तुत्य है तो उसके लिये निन्दावाक्य तो प्रयुक्त हो ही नहीं सकता है। तब तो स्तुत्य कोई भिन्न है जिसकी स्तुतिके लिये राममन्त्रके सम्बन्धमें निन्दा-

वाक्य प्रवृत्त हुआ। देवदत्त अच्छा पण्डित नहीं है, इस निन्दा-वाक्यसे देवदत्तकी तो स्तुति हो ही नहीं सकती। स्तुत्य अवश्य ही यज्ञदत्त है। तब तो राममन्त्र निन्दनीय है, निन्दित है, नारायणमन्त्र, विष्णुमन्त्र आदि स्तुत्य हैं, यही भाव निकला। इसका वह कोई उत्तर नहीं कर पाते थे। एक प्रश्नमें अन्तिमबार उन्होंने यह कहा था कि राममन्त्रकी स्वतन्त्र गुरुपरम्परा है, इसमें क्या प्रमाण है? मैंने उन्हें तत्काल ही श्रीवाल्मीकिसंहिताके तीन श्लोक प्रमाणमें उपस्थित कर दिये थे :—

इमां सृष्टिं समुत्पाद्य जीवानां हितकाम्यया।
आद्यां शक्तिं महादेवीं श्रीसीतां जनकात्मजाम् ॥
तारकं मन्त्रराजं तु श्रावयामास ईश्वरः।
जानकी तु जगन्माता हनूमन्तं गुणाकरम् ॥
श्रावयामास नूनं स ब्रह्माणं सुधियां वरम्।
तस्माल्लेभे वसिष्ठर्षिः क्रमादस्मादवातरत् ॥

इनका भी उनसे कोई उत्तर नहीं हो सका। तीसरी बार उन्होंने इतना ही कहा कि मैं इन श्लोकोंका उत्तर कल्ह संध्याकाल भेज दूँगा। पञ्चने कहा कि आप लिख कर दें कि आप कल्ह उत्तर देंगे। उन्होंने कहा कल्ह नहीं, परसों उत्तर भेजूँगा। पञ्चने कहा आप यही लिख दें कि परसों उत्तर दूंगा। उन्होंने लिख दिया। पञ्चोंने फिर कहा, यदि आप परसों सायंकाल तक उत्तर नहीं देंगे तो श्रीरामानन्दसम्प्रदाय श्रीरामानुजसाम्प्रदायसे पृथक् हो जायगा। उनका उत्तर तो आज तक भी नहीं आया। श्रीरामानन्दसम्प्रदाय स्वतन्त्र श्रीसम्प्रदाय बना। आफ़त टली।

उसी समय थोड़े ही दिनोंमें अन्तिम स्नान था। अब तक

श्रीरामानुजीय लोग आगे आगे स्नानके लिये चलते थे। उनकी मसाल होती थी। पीछे पालकीमें कोई रामानुजीय महापुरुष होता था। रामानन्दीय सन्त ही उस पालकीको उठाते थे। पीछे पीछे श्रीरामानन्दीय वैष्णव रहा करते थे। श्री निम्बार्कसम्प्रदाय, श्री-विष्णुस्वामीसम्प्रदाय और श्रीमध्वसम्प्रदाय भी रामानन्दीय वैष्णवों-के साथ ही चल सकते थे। उस अन्तिम स्नानमें रामानुजीयोंको छोड़ दिया गया। अब वह किसी भी कुम्भमें किसी भी स्नानमें श्रीरामानन्दसम्प्रदायके साथ नहीं चल सकते। श्रीरामानन्दसम्प्र-दाय, श्रीनिम्बार्कसम्प्रदाय, श्रीविष्णुस्वामीसम्प्रदाय और मध्व-सम्प्रदाय यही चार सम्प्रदाय आज, उसी समयसे, एक साथ कुम्भ मेलेमें स्नान करते हैं। शाही जुलूसमें अब कोई भी रामानुजीय नहीं रह सकते। नहीं रह सकनेका अर्थ यह है कि उन्हें मान चाहिये, उन्हें आगे चलना ही चाहिये परन्तु आज और भविष्यमें भी ऐसा हो ही नहीं सकता। अतः वह शाही जुलूसमें नहीं ही रह सकते।

विजय हुआ। श्रीरामानन्दस्वामीका आशीर्वाद सम्प्रदायके ऊपर उतरा। मेरे श्रीगुरुदेवका आशीर्वाद मेरे लिये सफल हुआ। विजयका डंका बजा। प्रत्येक श्रीरामानन्दीय श्रीवैष्णवका वह विजयदिन था। रामानन्दसम्प्रदायके उद्धारका वह दिन था।

शास्त्रार्थ ता० ६-५-२१ ई०को हुआ था। विपक्षीकी ओरसे ता० ११-५-२१ ई०को उत्तर देनेकी प्रतिज्ञा थी। उत्तर न आने-पर श्रीरामानुजसम्प्रदायसे अलग हो जानेका पक्षोंका दृढ़ निश्चय था। अतः ता० ११-५-२१ ई०के सायङ्कालको सम्प्रदायोद्धारका दिन मानना चाहिये।

सप्तदश परिच्छेद

हमारे विपक्षी बहुत ही क्रूर और नीच प्रकृति थे। वह किसी प्रकार हमारे पक्षपर विजय प्राप्त कर ही नहीं सकते थे। अतः व्याधोंका मार्ग उन्होंने पकड़ रखा था। प्रतिवादिभयंकरमठ काञ्चीके आचार्य स्वामी अनन्ताचार्यजी अच्छे विद्वान् थे। विपक्षियोंने उनसे प्रार्थनाकी कि वह मेरे लिखे हुए रहस्यांद्घाटन ग्रन्थका खण्डन लिख दें। उन्होंने लिख दिया था। मुद्रित भी हो चुका था। उज्जैनमें उसकी सहस्रों प्रतियाँ आ चुकी थीं। जब लोगोंने देखा कि शास्त्रार्थमें तो पराजय हुआ और समस्त रामानन्दीय रामानुजके पिंजरेसे उड़ रहे हैं तो स्नानसे तीन दिन पहले सायङ्कालमें उस पुस्तकका सर्वत्र वितरण किया। उनका आशय यह था कि इस पुस्तकसे रहस्योद्घाटनका खण्डन हो जायगा और राममन्त्र तथा रामकी निन्दा सुनकर अलग जानेवाले श्रीरामानन्दीयोंको फिर बुलाया और मिलाया जा सकेगा। हम दोनों मित्र बाहर स्नानादिके लिये गये थे। जब लौटकर आसनपर आये तो हम दोनोंके आसन पर उस पुस्तककी एक-एक प्रति पड़ी हुई थी। उस कोठरीमें कोई थे ही नहीं। सभी लोग सायंकालकी शौचादि क्रियाके लिये बाहर चले गये थे। मैंने उस पुस्तकको लिया, पेन्सिल ली और बाहर छोटे-छोटे वृक्ष थे, उनके नीचे जाकर बैठ गया। पण्डित रघुवरदासजी अन्दर ही अपने आसनपर बैठ गये। हम दोनोंने उस पुस्तकको आद्यान्त पढ़ा। मैंने चिह्न किये। उस पुस्तकका नाम था—है—**तत्त्वोद्बोधन**।

वह पुस्तक श्रीअनन्ताचार्यजीके धर्मविभागसे प्रकाशित हुआ था।

हमारे अन्य साथियोंको भी वह पुस्तक मिल चुका था। लोगोंने उसे पढ़ भी लिया था।

रात्रिभोजनके समय तो सभी साथी इकट्ठे हो गये। छावनीके श्रीमहाराजजी भी आ गये। विचार होने लगा कि, क्या किया जाय। मैं चुप बैठा था। पण्डित रघुवरदासजी पुराने सन्त थे। मुझसे अधिक उनकी प्रसिद्धि भी थी क्योंकि वह बड़ास्थानके आस्थान पण्डित माने जाते थे। उन्होंने पण्डित राघवदासजीसे कहा कि यह पुस्तक बड़े विद्वान्‌का लिखा हुआ है। शीघ्रतामें उत्तर अच्छा नहीं हो सकेगा। अयोध्या चलकर उत्तर लिखा जायगा। सबने उदास मनसे इसे मान लिया।

मैं अपना आसन बाँधने लगा। छावनीके श्रीमहान्तजी महाराजजीने पूछा, ब्रह्मचारी तुम क्या करते हो? मैंने कहा, महाराजजी, मैं अपना आसन बाँधता हूँ। क्यों? उन्होंने पुनः पूछा। मैंने कहा विजयी बनकर एक पुस्तकके लिये पुनः पराजित होकर यहाँ रहनेकी अपेक्षा मैं अभी रातकी गाड़ीसे अयोध्या चला जाऊँ तो अच्छा है। अयोध्या जाकर कहाँ रहना, क्या करना, मैंने कुछ भी सोचा नहीं था। श्रीमहान्तजीने पुनः पूछा कि तुम क्या चाहते हो? मैंने कहा, महाराजजी इसका खण्डन मैं लिखूँ, आप सब उसे देखें। यदि उचित खण्डन प्रतीत हो तो उसे छपा कर बाँट दिया जाय।

परन्तु, अब समय कहाँ है? स्नानके लिये तो कलहसे दो ही दिन बीचमें रह जाते हैं, श्रीमहान्तजीने कहा।

मैंने कहा, दो दिन बहुत हैं। मैं आज ही रात्रिमें इसका खण्डन करूँगा। प्रातःकाल आप लोगोंकी सेवामें उपस्थित करूँगा।

आश्चर्यके साथ सबने अनुमति दी मुझे खण्डन लिखनेके लिये; अनुमति नहीं मिली केवल पण्डित रघुवरदासजीकी। उनका

मुँह उदास था। उन्हें लगा होगा कि यह खण्डन लिख डालेगा तो मेरी प्रतिष्ठा कम हो जायगी। परन्तु वह विवश थे। खण्डन लिखना उनका काम नहीं था। वह लिख ही नहीं सकते थे। रात भरमें तो नहीं ही लिख सकते थे। मैं तो गुरुपरम्पराका अद्वितीय पण्डित था। सभी उत्तर मेरी जिह्वापर और कलमकी नोकपर नाच रहे थे। भोजन हुआ। सब सो गये। मैं जागता था। सबके लम्बे श्वास चल रहे थे। मेरी कलम चलती थी। सब निद्रानन्द ले रहे थे। मैं खण्डनानन्द ले रहा था। मैं बैठा था, लिख रहा था। चार बजे, मेरे साथी सब उठे। स्नान, शौचके लिये चले गये। मैंने ६ बजे तक उस खण्डनको पूरा कर दिया। साथी स्नानादिसे लौटकर आये। मैं पण्डित राघवदासजीको वह खण्डन देकर स्नान करने चला गया। स्नानसे लौटकर आया तो दूरसे ही देखा कि मेरी पेटीपर मेरा लिखा हुआ खण्डन पड़ा है। उसके ऊपर पचीस-पचीस रूपयोंकी चार राशि चारो कोनों पर पड़े हैं। मैं समझ गया कि 'मेरा परिश्रम सफल हुआ। सबको खण्डन योग्य लगा। छपनेके लिये रूपये रखे हैं।'

आसन पर बैठनेके साथ ही पण्डित सरयूदासजीने जल्दीसे कहा, ब्रह्मचारीजी अब बैठनेका समय नहीं है। इसे छपाकर परसों प्रातःकाल तक तो बाँट देना है। मैं उसी समय उठकर उज्जैन शहरमें गया। एक राजकीय प्रेस अच्छा काम करता था। परन्तु अवकाश न होनेसे उसने छापनेसे इन्कार कर दिया।

मैं जो कुछ मिला, खाकर, पहली गाड़ीसे इन्दोर चला गया। एक प्रेसके मैनेजरसे मिला। मैंने कहा जितने रूपये लेने हों लेकर यह पुस्तक कल्ह छापकर हमें दोपहरको दे दें। निश्चय हो गया। कम्पोज होने लगा। मैं प्रूफ देखने लगा। एक विघ्न उपस्थित हुआ। पण्डित जनकनन्दिनीशरण उज्जैनसे इन्दोर सायंकालमें

आ पहुँचे। मैंने तार उज्जैन कर दिया था कि आप लोग चिन्ता न करें। अमुक प्रेसमें पुस्तक छप रहा है। उसी पतेसे वह मेरे पास पहुँच गये। कहा कि आपको प० रघुवरदासजीने बुलाया है। क्यों? इसका उत्तर दिया कि कोई रामानुजीय दूसरे विद्वान्ने शास्त्रार्थका चैलेञ्ज दिया है। मैंने कहा, हम दो हैं, एक यहां काम कर रहा है, वहां वही क्यों नहीं संभाल लेते? उन्होंने कहा कि, जल्दी बुलाया है। प्रेसका काम मैं उन्हींको सौंपकर प्रूफ देखनेका भार प्रेसमालिकपर सौंपकर रातकी ही गाड़ीसे निकला। उज्जैन आनेपर पण्डितजीने कहा "भाई एक नोटिस छपकर बंटी थी। मैंने समझा शास्त्रार्थ होगा, इसलिये आपको बुलाया था।" मैंने पता लगाया, कोई पण्डित नहीं था, कोई शास्त्रार्थ भी नहीं था। मैं पुनः इन्दोर पहुँचा। पुस्तक छप गया था। सिलाई बाकी थी। उसे शीघ्रतासे तैयार कराकर स्नानवाले दिन प्रातःकाल ही मैं उज्जैन पहुँच गया। साथी सब प्रसन्न हुए। महान्त श्रीरामदासजी डाड़ियाको सबसे प्रथम वह पुस्तक दिया गया। उनका अन्तरात्मा प्रसन्न हुआ। सभी प्रसन्न हुए। मैं भी प्रसन्न हुआ। पुस्तक प्रातः ही बाँट दिया गया। दिनमें स्नानका प्रोग्राम था। स्नान करने हम लोग भी गये थे। लौटते ही मेलेमें खलबली मची देखी—सुनी गयी। उज्जैनकी विक्रमादित्यकी योगिनियोंने हैजा फैला रखा था। ऐसी वहाँ प्रतिमुखसे आवाज आ रही थी। सबको अपने प्राणोंकी पड़ी थी। जो जैसे तैसइ उठि धाये। भगाभगी मची। हम भी आसन बाँधकर स्टेशन पहुँचे। कोई किसीको पूछता नहीं था, ढूँढ़ता नहीं था। स्पेशल ट्रेनें तैयार थीं। सब अपने अपने इष्ट स्थानका टिकट लेकर अपनी अपनी गाड़ीमें बैठ गये। हम दोनों मित्र तो साथ ही रहे। मैं कहां जाऊँ, कुछ निश्चय नहीं था। पण्डित श्रीरघुवरदासजीने

कहा—मेरे साथ गुजरात चलें। हम गुजरातके लिये गाड़ीमें बैठ गये। पण्डितजीके बड़े भाई और गुरुभाई महान्त प्रेमदासजी भी हमारे साथ ही डब्बेमें थे। गुजरातके सभी सन्त महान्त प्रायः उसी ट्रेनमें थे। ट्रेन चली। प्राण बचे। होश आया। दुःख हुआ कि अयोध्याके अपने साथियोंसे उस समय मैं पुनः न मिल सका।

इति अयोध्याकाण्ड

———

स्वामी भगवदाचार्य

गुर्जर काण्ड

(पूर्वार्द्ध)

श्रीमती गौर्जरी भूमिः सर्वेषां सर्वकामदः ।
जयतात् साधिता यत्र बहवः सिद्धयो मया ॥१॥
दयावन्तो द्रविणिनो विद्वांसो गत मत्सराः ।
पूजिताः सद् गुणा यत्र सा भूमिः शरणं सताम् ॥२॥
यत्र गांधिर्मया प्राप्तः सर्वसत्कुलशेखरः ।
सत्याहिंसाद्वयीभूपः शिरसा सा प्रणम्यते ॥३॥
सदाचारविचाराणां शिक्षाग्राहि मया यतः ।
वन्द्यतेद्यमया शीर्ष्णा सोयं सत्याग्रहाश्रमः ॥४॥
आश्रयो यदि मे श्रेयो न स्यात्सत्याग्रहाश्रमः ।
सत्यनिष्ठं सदाचारं कारयेत्खलु कोत्र माम् ॥५॥
जनन्यश्च स्वसारश्च गौर्जर्यो मां पुनन्तु ताः ।
यासां सौम्यदृशा नूनं रक्षितोहं च पावितः ॥६॥

उज्जैनसे हम ऊंझा आये। ऊंझा गुजरातका एक अच्छा सा ग्राम है। भगवती सरस्वती इसके पड़ोसमें सदा ससलिला विराजमान रहती है। सिद्धपुर ऊंझाका ही अगला स्टेशन था। अब कुछ वर्षोंसे एक छोटा सा स्टेशन ऊंझा और सिद्धपुरका मध्यवर्ती बन गया है। इसी ऊंझामें पण्डित रघुवरदासजी पहले भी रहा करते थे। यद्यपि गुजरात मेरे लिये सर्वथा नवीन नहीं था। मैं पहले भी श्रावणमास दक्षिणापरीक्षाके लिये बड़ोदा आ चुका था। पवित्र धाम डाकोरमें भी रह चुका था। तथापि ग्रामनिवास अभूतपूर्व था। मैं यहाँकी भाषा—बोलीसे अनभिज्ञ था। मेरे लिये यह उस समय परदेश ही प्रतीत होता था परन्तु वहाँके भाई-बहिनोंने अपने प्रेम और सद्भावसे गुजरातको स्वदेश माननेके लिये बाधित किया। थोड़े दिन वहाँ रहकर मैं बम्बई देखने निकला। यतीन्द्रविंशति जो अयोध्यामें लिखी गयी थी उसके प्रकाशनके लिये भी बम्बईका जाना आवश्यक था। मुझे स्मरण नहीं है कि पण्डित रघुवरदासजीने बम्बई आने जानेके लिये कितने पैसे दिये थे। मैं बम्बई गया और किसी धर्मशालामें कठिनतासे निवास पा सका था। उस समय बम्बईमें मेरा कोई भी परिचित नहीं था। जैसे-तैसे शहर देखा। दो चार छापाखानोंमें भी गया। छपाईका भाव सुनकर सिर फिरने लगा। आखिर तो वह बम्बई है।

वहाँसे मैं सूरत गया। लालदरवाजेमें एक रामजीका मन्दिर है। उसके तत्कालीन महान्त जी उज्जैनमें मेरे परिचित हो चुके थे। एक या दो दिन वहाँ रहकर बड़ोदा गया। श्रीमहान्त जगन्नाथदासजी निर्मोहीने मुझे बड़ोदेका एक पता दिया था। वह कहते थे कि वह बड़ोदा जाते हैं तो वहीं ही ठहरते हैं। वह स्थान बड़ोदा शहरसे बाहर गोवागेट स्टेशनके मार्गमें ... ... महादेवके मन्दिरके पीछे है। मेरी इच्छा थी कि मैं वहाँ ही

ठहरूँगा और यदि श्रीनिर्मोहीजी मिल गये तो सब सुविधाएँ प्राप्त हो जायँगी। मैं बड़ोदा पहुँचा उस समय मेरे पास पाँच रूपये भी पूरे अवशिष्ट नहीं रह गये थे। यह भी एक चिन्ताका विषय था। मैं स्टेशनसे उतरा और पता लगाकर कमेटीबाग़के सामने महान्त मथुरादासजीके मन्दिरमें पहुँचा। मैंने सोचा कि पहले यहाँ सामान रख दूँ, पश्चात् हलका होकर...मन्दिरको ढूँढूँगा। महान्त मथुरादासजीने बहुत उदासीन और अनमना होकर कहा दो घण्टेके लिये सामान नीचे रखलो। जल्दी आकर ले जाना। भोजनका समय हो चुका था। मैं किसी ढाबेकी खोजमें था। गुजरातमें ढाबेको वीशी कहते हैं। मैं एक वीशीमें पहुँचा। भोजन करने लगा तो देखा कि दाल में भी गुड़, सबमें तेलका उपयोग और लाल मिर्चेकी भरभार ऐसा भोजन आज प्रथम ही मिला था। कुछ खाया, कुछ छोड़ा पैसे दिये, चल पड़ा आगे। पैसे थोड़े थे अतः घोड़ा-गाड़ी मेरे भाग्यमें नहीं थी। चलनेकी आदत थी। पैदल ही चल पड़ा। ढूँढ़ते ढूँढ़ते उस मन्दिरमें पहुँचा। सामने शङ्करजीका मन्दिर है। उसी द्वारसे जानेपर पीछेके भागमें एक छोटासा राम-जीका मन्दिर है। वहाँ ही मुझे पहुँचना था। वहाँके महान्तजी बैठे थे। बोले, आवो महात्माजी, कहाँसे आते हो? मैंने कहा, महाराज, मैं बम्बई गया था। घूमता हुआ आ रहा हूँ। स्टेशनके पास महान्त मथुरादासजीके स्थानमें आसन दो घण्टेके लिये रखकर यहाँ आया हूँ। एकाध दिन यहाँ रहने दें तो अच्छा। विश्राम करके चाणोद जाऊँगा। बाबाजीने कहा, यहाँ रहनेकी जगह नहीं है। कहीं और जगह जावो। मैंने बहुत विनती की, मुझे एक रात रहने दिया जाय; परन्तु वह सुनी अनसुनी हो गयी। निराश होकर मैं शहरमें आया। किसीने मुझे कहा, स्वामी-नारायणके मन्दिरमें जावो। तब तक मैं स्वामीनारायणसम्प्रदायसे

सर्वथा अपरिचित था। मैं उस मन्दिरमें गया। सायङ्कालका समय हो चुका था। मन्दिर खुला था। पहले वहाँके अध्यक्षके पास गया। अपनी दीनता सुनायी। परन्तु वहाँ मुझे निवास-स्थान मिल ही कैसे सकता था? सम्प्रदाय तो भयङ्कर वस्तु है। सम्प्रदाय मानवताका तिरस्कार करनेके लिये ही पैदा हुए हैं। स्वजनता और सज्जनता सम्प्रदायकी दृष्टिमें कोई वस्तु ही नहीं है। स्वामीनारायणसम्प्रदायने मेरी बहुत बड़ी आजिजी और लाचारीके बाद भी मुझे वहाँ रहने नहीं दिया। दो घण्टे तो कभी ही बीत चुके थे। महान्त मथुरादासजी मेरी पतीक्षा ही कर रहे थे। मुझे भी शर्म आती थी कि दो घण्टोंके लिये प्रतिज्ञा करके मैंने कई घण्टे लगा दिये। अब मैं बहुत लाचार था, बहुत निराश था। क्या करना? उधर देखा कि मन्दिर है। मैं मन्दिरमें गया। भगवान्के समक्ष खड़े होते ही न जाने क्यों मैं सहसा रो पड़ा। परदेशमें, अज्ञात प्रान्तमें, अज्ञात भाषाभाषी गाँवमें, मैं कहाँ जाऊँ? मेरे आसनमें थोड़ासा भार तो था ही। उस भारको उठाये उठाये कहाँ फिरूँ? पैसोंका बल तो बिल्कुल ही नहीं था। यदि उन थोड़ेसे पैसोंको मैं मजदूरकी मजदूरीमें या घोड़ागाड़ीमें खर्च कर दूं तो भविष्यमें मेरी क्या दशा होगी? पसे कहाँसे मिलेंगे? मैं अज्ञात स्थानमें ही भटक जाऊँगा। उस बोझको कभी सिरपर कभी कन्धेपर और कभी जमीनपर रखता हुआ तीन माइलसे भी अधिक मार्ग तैकर मैं गोवागेट स्टेशन पहुँचनेका निश्चय करके चला। गोवागेटसे ही चाणोद जाया जाता है। गर्मीके ही दिन थे। मार्गमें प्यास लगी। गुजरातके शहरमें बारहों महीने प्याऊका कोई प्रबन्ध नहीं होता। गर्मीयोंमें जहां तहां प्याऊका प्रबन्ध अवश्य रहता है। परन्तु गुजरातमें छूतछातकी भावना ही प्रबल है, शुद्धताका विचार बहुत ही अल्प है। मैंने कमेटी बागमें उस

समय देखा था, जब श्रावणमास परीक्षा देने आया था—कि एक आदमी एक गिलासमें पानी पीकर चला गया, उस गिलासको कभी ज़रा सा पानीसे धोकर और कभी बिना धोये दूसरोंको पीनेके लिये वही गिलास दिया जाता था। इस अनुभवने मुझे किसी प्याऊमें पानी पीनेसे रोक दिया। मैं पुनः थका-थकाया, पसीनेसे भरा हुआ, मनसे दुःखित, चित्तसे चिन्तित उद्देश्यहीन मानवके समान, उसी मन्दिरमें गया पानी पीनेके लिये, जहाँसे बाबाजीने मुझे भगा दिया था। मुझे बहुत ही आश्चर्य हुआ यह देखकर कि बाबाजी इस बार मुझपर प्रसन्न थे। आइये, आइये, कहकर बैठाया। मैंने जल माँगा, उन्होंने पिलाया, पूछा कि, कोई जगह रहनेको मिली? मैंने ना कर दिया। लाचारी न प्रतीत हो, मनके दुःखको आँखें प्रकट न कर दें, इसलिये बड़ी दृढ़ताके साथ अश्रुप्रवाहको मैंने रोक रखा था। जल पीकर उठा, स्टेशन जाने लगा। उन्होंने बहुत ही आग्रहसे मुझे रोका, रातमें रहनेके लिये कहा, भोजनके लिये भी कहा। मेरा हृदय आहत था, दुःखी था, निराश था, वहाँसे अपमानित था, अतः वहाँ रहनेकी इच्छा नहीं हुई। उन्होंने पूछा भोजन कहाँ किया? मैंने भोजनकी बात सच सच कह दी। उनके हृदयको कौन हिला रहा था, मुझे पता नहीं। मैं जब उठकर चलने लगा तो उन्होंने शपथ देकर कहा, महात्माजी भोजन तो कर लो। मैं भूखा तो था ही, अपमानित था तो भी उनके शपथने मुझे विवश किया कुछ खा लेनेके लिये। मैंने कपड़े उतारे, हाथ पैर धोये। भोजनशालामें भोजन करने बैठा। बाजरेका टिक्कर और कोई शाक मेरे सामने आया। बाजरेका टिक्कर मैंने कभी अपने जीवनमें इस प्रकारका खाया नहीं था। एक बार जलन्धरमें एक शास्त्रीजीने मुझे मकईकी रोटी और सरसोंकी भाजी खिलायी थी।

मकईकी रोटी भी मैंने वहाँ ही पहले पहल देखी और खायी। परन्तु उसका स्वाद तो आज भी मैं भूल नहीं सका हूँ। वह रोटी और भाजी दोनों ही मक्खनसे तरबोर थीं। यह सूखा रोटला और तेलमें बना हुआ शाक मुझे आकर्षक तो नहीं प्रतीत हुआ परन्तु बाबाजीके आग्रह और मेरी भूखने मुझे विवश किया और वह रोटला थोड़े मिण्टोंमें वहाँसे अदृश्य हो गया। भूख शान्त हुई, थकावट गयी, शान्तिका श्वास लिया। उनके आग्रह करनेपर भी रात्रिमें वहाँ रुका नहीं, स्टेशनपर पहुँचा। उस समय स्टेशनपर कोई गाड़ी चाणोदके लिये आने वाली थी या नहीं, यह तो मुझे स्मरण नहीं है; परन्तु एक बालक खेलता हुआ मेरे पास आया, मुझे महात्माके रूपमें देखकर, चरण स्पर्श करके उसने आग्रह किया कि मैं उसके घरपर चलूँ। घर स्टेशनके बाहर समीपमें ही था। मैंने थोड़ी सी इच्छा बतायी और उस १०-१२ वर्षके बालकने मेरा सामान उठा लिया। बालक तो पहले ही पहुँच गया था। मैं सारे दिनका थका था। मेरे पैर काम नहीं करते थे। धीमे-धीमे मैं भी वहाँ पहुँच गया। उसका बुड्ढा बाप बाहर बैठा था। मुझे देखकर वह अपनी खाटसे उठ खड़ा हुआ था। उसने भी प्रेमसे मेरा चरण स्पर्श किया। मुझे उसी खाटपर बिठा दिया, आप नीचे बैठ गया। घरमेंसे अन्य लड़के लड़कियाँ और लड़कोंकी माता सभी बाहर निकल कर कोई खड़े-खड़े हाथ जोड़कर कोई भूमिमें मस्तक झुकाकर प्रणाम करके जहाँ-तहाँ बैठ गयीं। मुझे मालूम हुआ कि वह घर साधुसेवी था। आने-जानेवाले सन्तोंकी वह घर सेवा किया करता था, इसीलिये उस बालकपर संस्कार था और उसने अपने घर चलनेके लिये स्टेशनपर मुझे आमन्त्रित किया था। वह रात्रि तो मैंने वहाँ ही एक नीमके पेड़के नीचे बितायी। प्रातः स्नान-संध्यासे निवृत्त हुआ और कुछ बालभोग

इधर-उधर धर्मशालाकी खोजकी, परन्तु स्थानीय किसीके कहनेपर मैं श्रीरामरत्नदासजीके मन्दिरमें पहुँचा। मुझे ऊपरके भागमें जगह दी गयी। यह भी प्रेमसे कहा गया—'जब तक अच्छा लगे, यहाँ आप निवास करें।' मैं रहने लगा।

स्नानके लिये मैं नर्मदामें गया। स्नान करके एक सीढ़ीपर बैठकर मैं सन्ध्या कर रहा था। १० या १५ मिनट तक मेरी आँखें बन्द थीं। आँखें खुलीं तो सामने ही एक सज्जनको मेरी प्रतीक्षामें खड़ा देखा। उन्होंने प्रणाम किया। मेरा समाचार पूछा, अन्तमें कहा कि, सामने ही वह मेरा आश्रम है, आप वहाँ चलेंगे? मैंने हाँ किया। वह आगे और मैं पीछे। उस आश्रमके द्वारपर पहुँचा। मैंने साश्चर्य देखा कि एक युवती सर्वाङ्गसुन्दरी अन्दरसे आकर उनके पैरोंमें दरवाजेमें ही, पड़ी। वह अन्दर गये, साथ ही मैं भी। एक चौकीपर आसन बिछा हुआ था। उसपर मुझे बैठा दिया गया। थोड़ी देरमें वहाँ थोड़ेसे भाइयों और बहिनोंका समूह आया। बैठ गया। वह सज्जन उन्हींके सामने बैठ गये। गुजराती भजन थोड़ेसे गाये गये। मैं उस रसास्वादसे विमुख था। गुजराती भाषा मुझे नहीं आती थी। कुछ समझ सकता था क्योंकि श्रावणमासदक्षिणापरीक्षाके समय में लगभग १० दिन डाकोरमें रहा था, परन्तु ऐसे भजनोंको तो मैं नहीं ही समझता था।

भजनोंका क्रम पूरा हुआ। उन सज्जनने कहा कि महात्माजी, आप गीतापर थोड़ा-सा प्रवचन कर दें। मैंने कहा, मुझे गुजराती भाषा नहीं आती है। कहिये तो हिन्दीमें बोलूँ? उन्होंने हाँ किया और मैं बोल चला। आधे घण्टेके बाद यह भी कार्य-क्रम पूरा हुआ।

उस दिन एकादशी थी। एकादशी व्रत करनेकी मुझे भी टेव पड़ गयी थी। जब मैं अयोध्यामें छावनीमें रहने गया तब मुझे

विवश होकर यह व्रत करना पड़ता था; क्योंकि उस दिन वहाँ कोई भी सन्त अन्नाहार नहीं कर सकते थे। मैं भी सबका अनुकरण करने लग गया था। उन सज्जनने तैयार कुछ फलाहार मेरे सामने लाकर रख दिये। मैंने देखा था कि फलाहारको उन भाई बहिनों-मेंसे एक बहिन ले आयी थीं। मैंने पूछा कि यदि इसे मैं ले लूँ तो आप क्या करेंगे? उन्होंने कहा इसकी चिन्ता न करें, दूसरा आ जायगा। उस समाजमेंसे कई भाई बहिनोंने उनके स्वरमें स्वर मिलाया। मैंने फलाहार किया।

चलते समय मैंने उनका नाम और परिचय पूछा। उन्होंने इतना ही कहा कि लोग मुझे **पागल महाराज** कहते हैं। मैं चाणोदमें ३-४ दिनों तक रहा था परन्तु पुनः उनके आश्रममें नहीं गया। बहुत वर्षोंके बाद मैंने उन्हें एक समय अहमदाबाद स्टेशनसे एक गाड़ीसे उतरकर बाहर जाते देखा था। मैं भी उसी गाड़ीसे उतरा था। वह सेकेण्ड क्लासमें बैठे रहे होंगे, मैं थर्ड क्लासमें। वह सेकेण्ड क्लासके द्वारसे निकल गये, मैं थर्ड क्लासके द्वारसे बहुत पीछेसे निकला। वह चले गये थे। आज तक मैं उन्हें पुनः न मिल सका। वह हैं या नहीं, इसका भी मुझे पता नहीं।

चाणोदसे मैं पीछे लौटा और डभोई गया। डभोईमें श्री-रामानुजसम्प्रदायके शायद दो मन्दिर हैं। मैं एक मन्दिरमें गया। वहांके महान्त श्रीरामकृष्णाचार्यजी थे, ऐसा मुझे नाम स्मरण है। वह सज्जन थे। नवयुवक थे। अयोध्यामें रहकर संस्कृतका अध्ययन उन्होंने किया था। उन्होंने मञ्जूषा-अध्ययनका मोह प्रकट किया। मुझे वहाँ बहुत ठहरना नहीं था। उसमें मुख्य कारण तो यह था कि मुझे भय था, यदि वह समय जाते कि रामानुज-रामानन्द-सम्प्रदायोंको विभक्त करनेवालोंमेंसे मैं अग्रणी हूँ तो उनको बुरा तो लगता ही, परन्तु मुझे वहाँसे चले जानेको वह कहते। अतः स्वयं

चला जाना मैं अच्छा समझता था। तो भी मैंने मञ्जूषाके कुछ कठिन स्थल-शक्त्यादिविचारवाला स्थल समझाया था। चलते समय उन्होंने मुझे २० रूपये भेंटमें दिये थे। वह तब तक मुझे जान नहीं सके थे कि यही रहस्योद्घाटनका लेखक था। अब भी यदि वह होंगे तो सब कुछ जान ही गये होंगे और शायद मेरे ऊपर उनका उदासीन भाव भी होगा।

अयोध्यामें गुजरातसे एक सन्त बड़ास्थानमें आया करते थे। दो बार तो मैंने भी उन्हें अयोध्यामें देखा था। उन्होंने अपना स्थान **बीली** बताया था। बीली चाणोदवाली लाइनमें ही बड़ोदा और विश्वामित्रीसे आगेका स्टेशन है। मैं वहाँ भी गया। एक ही दिन वहाँ रहा। मुझे तो यों ही भ्रमण करना था। सन्ध्याकी गाड़ीसे वापस बड़ोदा आकर, सीधी बड़ी लाइनसे मैं अहमदाबाद पहुँचा। अहमदाबादमें राजाधिराजका एक मन्दिर है। उसके महान्त शास्त्रीवंशीदासजी थे। वह बाल्यावस्थासे ही प्रज्ञाचक्षु थे। वह और पण्डित रघुवरदासजी अहमदाबादमें साथ ही पण्डित रामकृष्णशास्त्रीजीसे पढ़ते थे। प० वंशीदासजी मनोरमा भी पढ़े थे। उज्जैन शास्त्रार्थके समय वह दिगम्बर अखाड़ेमें उपस्थित थे। वहाँ वह परिचित हुए थे। अहमदाबाद आनेका आमन्त्रण भी दिया था। मैं अहमदाबाद पहुँचा। अब मेरे पास २० या २५ रूपये थे। उन्हीं शास्त्रीजीके मन्दिरमें रहने लगा।

वहाँपर मैं बहुत समय तक रहा—शायद कई महीनों तक। वहाँ ही रहकर मैंने यतीन्द्रविंशतिको छपाकर प्रसिद्ध किया। वहाँसे ही आश्रमकण्टकोद्धार लिखकर छपाया। वहांसे ही वाल्मीकि-संहिताका अन्वेषण किया और अहमदाबादमें छपाया। पण्डितजी बहुत भक्त थे। ३, ४ घण्टों तक मालाजप किया करते थे। पुरुषसूक्तका पाठ करते थे। रामस्तवराज उन्हें कण्ठस्थ था।

मैंने भी उन्हें श्रीवाल्मीकिसंहितामेंसे मैथिलीमहोपनिषत् कण्ठस्थ करा दी। उसका भी वह पाठ करने लगगये थे। उन्होंने पुरुषसूक्तका सस्वर पाठ सीखा था परन्तु स्वर भूल गये थे। उन्हें मैंने पुनः स्वरपाठ सिखाया। इसी क्रमसे मैं वहाँ रहता था। मेरे पासके पैसे तो यतीन्द्रविंशतिके छपानेमें लग गये थे। अब एक पाई भी नहीं रही। क्षौरकर्म करानेके लिये मेरे पास पैसे नहीं थे। शास्त्रीजी-से माँगना उचित ही नहीं था। मैंने विरक्तोंकी मर्यादा छोड़कर सिरपर बाल रखा लिये। श्मश्रु आदिको एक कैंचीसे काट डाला करता था। बहुत दिनोंतक ऐसा ही चला। कोई मेरे सिरके बालोंपर आपत्ति करता तो मुझे थोड़ा सा झूठ बोलना पड़ता। कह देता कि डाक्टर मथुरादास फावाने सिरपर उस्तरा फिरानेसे मना कर दिया है। आँखोंको उससे कष्ट होता है। मैं कैसे किसीसे कहता कि मेरे पास पैसे हजामको देनेके लिये नहीं है? मैं उज्जैन-से शास्त्रार्थ करके आया था। विजय भी प्राप्त हुआ था। अतः सामने कोई कुछ भी मुझे नहीं कहता था।

सन् १९२२ में अहमदाबादमें राष्ट्रियमहासभा (काँग्रेस) का अधिवेशन होनेवाला था। उसमें सम्मिलित होनेके लिये नासिकसे श्रीमान् महान्त सीतारामदासशास्त्रीजीमहाराज अहमदाबाद आये और राजाधिराजमन्दिरमें ही ठहरे। कोई और भी आये थे, परन्तु मुझे स्मरण नहीं है। नासिकके श्रीशास्त्रीजीका प्रथम ही परिचय था। उनके राष्ट्रिय विचार और शरीरपर खद्दर देखकर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई थी। उनका स्वभाव सरल और विनोदी है। आनन्दसे उस अधिवेशनके दिन बीतने लगे। चारों ओर महात्मागांधीका जयजयकार होरहा था। वह शानदार अधि-वेशन शानके साथ समाप्त हुआ। उसके मनोनीत अध्यक्ष ....जीको अंग्रेजी सर्कारने पकड़ लिया था। वह जेलमें

थे। अतः उस अधिवेशनके सभापति शायद हकीम अजमल-खान थे।

काँग्रेसका अधिवेशन पूरा हुआ। देश-देशके आये हुए पक्षी उड़ गये। बहुत दिनोंकी मेरी एक सुषुप्त इच्छा जागरित हुई। मैं जब अयोध्यामें था, प्रयागमें था, और मुंगेरमें था तभीसे मेरे मनमें एक अभिलाष उदय हो होकर अस्त हो जाता था। मेरा मन करता था कि मैं यदि किसी भी रीतिसे श्रीमहात्मागांधीके आश्रममें रह सकूँ तो जीवनका एक बहुत बड़ा लाभ मैं समझूँगा। अब तो मैं अहमदाबादमें था और साबरमती आश्रमकी पवित्र हवा अहमदाबाद तक पहुँचती थी। मैं राजाधिराजमन्दिरसे प्रतिदिन विक्टोरिया गार्डनमें आता, बैठता और कुछ पढ़ा करता था, कुछ विचारता रहता था। एक दिन मैं उस गार्डनकी पश्चिमीय भित्तिके पास खड़ा था। साबरमतीका मन्द प्रवाह बहता चला जा रहा था। सहसा उसी दिन मुझे ग्रह हो आया कि यह जलप्रवाह साबरमती आश्रमकी ओरसे आ रहा है। इसमें पूज्य महात्माजी स्नान करते होंगे। उनके साथी आश्रमवासी भी उसीमें स्नान करते होंगे। उनका स्नानजल इस प्रवाहमें बह रहा है। मैं उन्मना हो गया। श्रद्धाके अतिरेकसे मैं चञ्चल हो उठा। साबरमतीके तटपर आया। जलस्पर्श किया, आचमन किया, सिरपर जलको चढ़ाया। मैं व्याकुल हो उठा। सत्याग्रह आश्रमका एक कल्पित चित्र मेरी आंखोंके सामने आकर उपस्थित हो गया।

दूसरे दिन ही मैं आश्रममें गया। आश्रमका प्राण तो वहाँसे यरोडा जेलमें निवास करता था। परन्तु प्राणके निकलनेपर भा तो वानरी अपने बच्चेको प्यार करती ही है। मानव भी तो मृत-शरीरको प्यार करता ही है। मुझे आश्रम निष्प्राण होता हुआ निष्प्राण प्रतीत नहीं हुआ। मेरी श्रद्धा उसमें प्राण भर रही थी।

पूछता-पूछता मैं काका कालेलकरके पास पहुँचा। मैंने कहा, मैं आश्रममें रहना चाहता हूँ। उन्होंने मेरी योग्यताकी जिज्ञासाकी, उत्तरसे सन्तुष्ट होकर सहर्ष उन्होंने अनुमति दे दी। मेरी छाती गजगज फूल गयी। मैं शहरमें पहुँचा। रात्रि हुई। पण्डित बंशी-दासजीसे मैंने कहा, महाराज, मेरी इच्छा है सत्याग्रह आश्रममें रहनेकी। उनको यह मेरा प्रस्ताव अच्छा नहीं लगा। मैं तो अपने विचारमें स्थिर और दृढ रहा। प्रातः स्नान-सन्ध्या करके कुछ आवश्यक सामान लेकर, अपना अन्नपूर्णा कुकर भी लेकर आश्रममें पहुँचा। पहले दिन मैं जब आश्रममें गया था, मेरी कमीजमें छाती पर चाँदीके बटन थे। काका साहेबने कहा था कि यह बटन यहाँ नहीं पहिना जा सकेगा। मैं उसे उतार कर राजाधिराजमें ही रखकर आश्रम पहुँचा।

वहाँ एक इमाम साहेब थे। वह दक्षिण अफ्रिकासे ही श्रीमहात्माजीके साथ आये थे। उनकी पुत्री अमीना बहिन १५,१६ वर्षकी थी। सबसे पहले मुझे उन्हें पढ़ानेका वहाँ अवसर मिला। वह अलीबाबा चालीसचोर उर्दूमें पढ़ती थीं। उर्दू उन्हें सीखनी थी। श्री प्यारेलाल भाई पहले उन्हें अपना कोई समय बचाकर पढ़ाते थे। अब तो मैं शिक्षक बनकर आया। मैं पढ़ाने लग गया। वह शायद मेरी परीक्षा थी। मैं समझता हूँ कि मैं उत्तीर्ण हुआ। काकासाहेबको सन्तोष हुआ होगा। श्रीनरहरि भाई भी उस समय आश्रमके उसी विद्यालयमें किसी विषयको सिखाते थे। महाविद्यालयोंके समान किसी विषय पर वहाँ काका साहेब या श्री नरहरि भाई लेक्चर दिया करते थे। हम कितने ही वहाँ सुनते थे।

दूसरे दिनसे मेरी दिनचर्या बन गयी। प्रातःसे दोपहर तक चर्खा कातना मेरे प्रोग्राममें, मेरे जीवनमें पहली ही बार आया। उसके बाद सब लोग भोजन करने जाते परन्तु मैं स्वयंपाकी बना

रहा। अपने हाथसे भोजन बनाता। दो बजेसे ४॥ बजे तक हिन्दी उर्दू, संस्कृतकावर्ग मुझे लेना पड़ता। वहाँ एक सुविधा यह थी कि शिक्षकको वर्गमें नहीं जाना पड़ता था। छात्र गुरुके आसनपर आकर पढ़ते थे। मुझे छात्रालयमें, एक कोनेमें बड़ा सा कमरा रहनेको मिला था। उसीमें भोजन बनाता, खाता, सोता और पढ़ाता भी। संस्कृत पढ़नेवाले तो एक या दो ही छात्र थे, उर्दू पढ़नेवाली केवल एक अमीना बहिन थीं। हिन्दी पढ़नेवाले तो बहुत थे। एक वर्ग चलता हो तो दूसरा नहीं आ सकता था, ऐसी ही व्यवस्था थी। मैं अपना दरवाजा हर समय बन्द रखता था क्योंकि पाससे ही ऊपर जानेकी सीढ़ी थी। आना-जाना लगा ही रहा करता था। अमीना बहिनके पढ़नेका समय था, वह दरवाजा खोलकर अन्दर आयी और दरवाजा बन्द कर दिया। श्रीलक्ष्मी-दासभाई आसरकी पुत्री लक्ष्मीबहिन अपने वर्गके समय अकेली आयी और दरवाजा बन्द करके पढ़ने बैठ गयी। मुझे सत्याग्रह आश्रमका माहात्म्य उसी दिन समझमें आया। मैं अयोध्यासे आया था। अयोध्याका मेरा जीवन न तो बहुत पवित्र था और न उच्च। कितनी ही बुराइयाँ मेरे साथ थीं। मैं उस दिन पवित्र हो गया। ओह, कितना विश्वास? एक अनजान, नवागत ब्रह्मचारीके पास इस निर्भीकतासे एक-एक बहिनका आना, द्वार स्वयं बन्द करना, पढ़ना, निश्छल रहना, शान्त रहना, पवित्रताकी गङ्गाका प्रवाह बहाते जाना, मेरे लिये यह सब आश्चर्यजनक था। मैंने पहली ही बार एकान्तमें युवती रूपवती, बहिनोंके साथ बैठ सका था। पंजाबकी प्राचीन घटना स्मृतिपथमें आयी और चली गयी। वह बहिन तो बालिका थी। यौवन दूर था, शैशव तो कल्ह हो गया था। तब भी मैं कलङ्कित बनाया गया था। यहाँ तो बहिने बड़ी थीं, बड़ी उम्र की थीं, युवती थीं। मैं शालग्राम बना। शाल-

ग्राम जितना ही पवित्र बना। पवित्र आश्रमने पहली रात्रिमें ही मुझे अभूतपूर्व बना दिया। मेरी माया निवृत्त हो गयी। अज्ञान नष्ट हो गया। मोह चला गया। दुर्वासनाएँ भस्मसात् हो गयीं। मैं बन गया शालग्राम। उसी रात्रिमें सोनेके लिये मेरे मुखसे पञ्चदशीके यह शब्द अनायास निकल पड़े—

धन्योहं धन्योहं दुःखं सांसारिकं न वीक्ष्येद्य।
धन्योहं धन्योहं स्वस्याज्ञानं पलायितं क्वापि॥
धन्योहं धन्योहं प्राप्तव्यं मे न विद्यते किञ्चित्।
धन्योहं धन्योहं प्राप्तव्यं सर्वमद्य सम्पन्नम्॥
धन्योहं धन्योहं तृप्तेर्मे कोपमा भवेल्लोके।
धन्योहं धन्योहं धन्यो धन्यः पुनः पुनर्धन्यः॥

आश्रममें जाकर मैंने प्रातःसे १२ बजे दिन तक कोई समझे या न समझे, संस्कृत बोलनेका ही नियम ले रखा था। इससे लोगोंमें कुतूहल तो था परन्तु थोड़े ही दिनोंमें वहाँके मेरे हरिजन साथी भी संस्कृत समझने लगे थे। सारा वातावरण ही संस्कृतमय बनता जा रहा था। मेरे छात्र भी टूटी फूटी संस्कृत बोल सकते थे।

संस्कृत पढ़नेवाले बालकोंमेंसे श्रीमहात्माजीके भतीजा श्रीनारायणदास गांधीजीके बड़े पुत्र श्रीपुरुषोत्तमभाई भी थे। वह उसी समय संगीतशास्त्रमें बहुत निपुण थे। श्रीखरेजीके वह प्रियछात्र थे। श्रीकाकासाहेबका वात्सल्य उन्हें प्राप्त था। एक दिन पुरुषोत्तम भाई मेरे पास अकेले ही बैठे थे। तब वह बच्चे ही थे। द्वार नियमानुसार बन्द ही था। आश्रममें एक पण्डित आये थे। लोगोंने उन्हें मेरे पास भेजा। उन्होंने द्वारको खटखटाया। स्वाभाविक ही पुरुषोत्तमभाईने पूछा, **कोस्ति ?** बाहरसे उत्तर

मिला **कश्चिद्वैदेशिकः।** श्रीपुरुषात्तम भाईने मेरी ओर देखा, हँसमुख स्वभाव था। हँसे और मेरे संकेतपर द्वार खोल दिया। उन्होंने बहुत आश्चर्यसे कहा कि इस आश्रमके बच्चे भी संस्कृत बोल लेते हैं। मैंने कहा, जगत्के अद्वितीय महापुरुषके अद्वितीय आश्रममें सभी कुछ अद्वितीय ही तो है! वह तो मुझसे मिलने आये थे। कुछ बातें हुईं। वह भी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। प्रसन्न होकर चले गये।

मेरी श्रद्धा श्रीमहात्माजीमें अपूर्व और अद्वितीय थी, यह पीछेके प्रकरणोंसे विदित हो ही गया होगा। मैं आश्रममें गया तब पू० महात्माजी तो नहीं ही थे। परन्तु **तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वम्** इस न्यायानुसार महात्माजीके सम्बन्धी भी मेरे लिये श्रद्धाके ही पात्र थे। पुरुषोत्तमभाईका एक छोटासा दूसरा भाइ कनु भाई था। वह तो एकदम बच्चा था। मैं अपने अवकाशके समय उस बच्चेको घरसे पकड़ लाता, रोता तो, कुछ खिलाता, चुप करता, बातें करता, खेलाता, प्रेमसे ऊपर उठाता, उसके पैरों-को अपने मस्तकपर रखता और कृतार्थताका अनुभव करता।

मैं तो श्रद्धाका पुतला। पुरुषोत्तमभाई मार्गमें जाते। उनका पैर जहाँ पड़ता वहांसे मैं धूर उठा लेता, सिरपर चढ़ाता, श्री-महात्माजीका साक्षात्कार करता।

उस समयकी वह मेरी परिस्थिति थी। मैं भक्त बन गया था, सच्चा भक्त बना था। वल्लभसम्प्रदाय मानता है कि जिस दिन किसीको ब्रह्मसम्बन्ध दिया जाय उसी दिन, उसी क्षणमें उसके शरीरके समस्त परमाणु परिवर्तित हो जाते हैं। मैंने अनुभव किया कि आश्रमनिवासने मेरे शरीरके परमाणुओंको बदल दिया। मेरे विचारोंको बदल दिया। मेरे भाव पवित्र बन गये। भूतकालके

कृत्योंका चित्र मेरे सामने आया। मैं व्यथित हो उठा। मैंने देखा कि उज्जैन शास्त्रार्थके पश्चात् एक सभामें मेरे शब्दोंने मेरे विपक्षी रामटहलदासजीके ऊपर उपानह=जूता फेंकवाये थे। एक वैष्णवका मैंने अपमान कराया था। मेरा हृदय हिल गया। हृदयमें कम्प हुआ। मैंने श्रीरामटहलदासजीसे लिखित क्षमा मांगी। यह सब मेरे जीवनके परिवर्तन थे। तब तक मैं राग-द्वेषमें जल रहा था। बदला लेनेकी भावना अनवरत जग रही थी। आश्रमने मुझे वीतराग बनाया। द्वेष निर्मूल हुआ। मैं पवित्र बना।

चर्खा तो मैंने पहले कभी देखा भी नहीं था। उसके चलानेकी तो बात ही अलग थी। उस समय सारे भारतमेंसे प्रत्येक प्रान्तसे ५-५ या १०-१० छात्र आश्रममें सम्पूर्ण बुनाई-कताईका काम सीखनेके लिये प्रान्तीयकाँग्रेससमितियोंसे भेजे हुए आये थे। लगभग सभी तो शिक्षित थे। कोई एम० ए० था, कोई बी० ए० था, कोई डाक्टर था, कोई बी० एस० सी० था। कोई बी० ए० में से कालेजसे आया था, कोई एम० ए० से, कोई डाक्टरीके तीसरे वर्षसे। इस प्रकारसे गुजरात, सौराष्ट्र, महाराष्ट्र, मद्रास, बङ्गाल, बिहार, उड़ीसा, पंजाब, यू० पी० से शिक्षित छात्रोंकी वहां भरमार थी। रेंटिया वर्गमें मेरे साथ भी कुछ ऐसे ही सज्जन छात्र थे। रेंटिया चलना तो किसीको भी अभ्यस्त नहीं था। सभी ही नवसिखुवा थे। कभी सूतका तार टूटा, कभी माल टूटी या उतर गयी, कभी तकली टेढ़ी हुई। तब वहाँ क्रोधके नमूने, हास्यके नमूने, भिन्न-भिन्न वृत्तियोंके नमूने हमारे जीके उकतानेसे बचा लेते थे। जिस दिन मैंने चर्खा पकड़ा, भूखा सोना पड़ा। मैंने प्रतिज्ञाकी थी कि आश्रमसे आर्थिक सहायता लिये बिना ही वहाँ सेवा करना। मेरे पास तो जब हजा-मत बनवानेके लिये भी पैसे नहीं थे तो खरीद कर खानेके पैसे कहाँसे हों। दूसरे दिन मुझे दो पैसे मिले और जब तक मैं चर्खा

वर्गमें रहा, कभी दो पैसे मिलते कभी तीन पैसे मिलते। इससे अधिक मैं कमा नहीं सकता था। तब, एक पैसाका आंटा और एक पैसेका कोयला लेता, आटामें पानी डालकर पका लेता, उसे ही चाट लेता। ऐसा तो कई सप्ताह तक चला। पीछेसे मुझे तीन पैसे मिलने लगे। तब मैंने नमक एक दिन एक पैसेका ले लिया। दूसरे दिन एक पैसेकी हल्दी ले ली। अब मेरा काम चलने लगा। आधा दिन चर्खा और आधा दिन अध्यापन व्यवसाय। यही मेरी दिनचर्या थी। सायङ्कालकी प्रार्थनामें तो अवश्य पहुँचता ही था। शायद दो मासके बाद मुझे पिञ्जन वर्गमें पहुँचाया गया। चर्खामें मैं पास हो गया। ६ नम्बरके भी सूत निकाल लेता और ८०–१०० नम्बरके भी। अब आयी धुनकी। बिनौलोंमेंसे रू निकालना, उसे धुनना और उससे पूणी बनाना, इस वर्गका कार्यक्रम था। यह बहुत ही कठिन कार्य था। हाथों और पीठ पर बहुत बल पड़ता था। मुँह और नाक बाँधकर ही इस वर्गमें पैर रखना पड़ता था। उस समय बहुत एकान्तवासका मैं अनुभवी नहीं था। जिस कमरेमें मैं धनुष्पाणि होकर बैठता था उसमें मेरे सिवा दूसरा कोई नहीं। हँसना, बोलना, सब बन्द। इसलिये भी वह कार्य मुझे गुंगला देता था। परन्तु तत्काल ही मेरे समक्ष श्रीमहात्माजी आ जाते और मैं शान्त होता। मैंने सोचा कि यह आश्रम श्रीमहात्माजीका है। इसके प्रत्येक परमाणुमें मुझे महात्माजीका दर्शन होता है। उनके दर्शन और सहवासके लिये ही तो मैं स्वेच्छासे यहाँ आया हूँ। यहाँके निवासमें जो कुछ भी कठिनता सामने आवे, उसके आगे सिर झुका ही देना चाहिये। उस महाधनुष्के सामने सिर तो झुका दिया परन्तु पीठ भी झुक गयी। उसमें पीड़ा भी होने लगी। परन्तु दुःखको मैं कहता तो किससे कहता? और क्यों कहता? क्या किसीने मुझे

वहाँ बुलाया था ? मैं स्वतः ही तो गया था। चुप रहा। पीठ-पीड़ा बढ़ती ही गयी। वह तो वहाँसे मेरी चिरसङ्गिनी होकर मेरे साथ आयी है। अब भी जब मैं निर्बल कभी बन जाता हूँ, ज्वरादिसे पीड़ित बनता हूँ, बैठकर अधिक कार्य करता हूं तो पीठके ऊपरके भागमें झनझनाहट होने लगती है। अस्तु इस वर्गकी परीक्षामें quantity = परिमाण और quality = गुण दो विषय थे। मैं दूसरेमें उत्तीर्ण हुआ, प्रथममें अनुत्तीर्ण। नियत पाउण्ड रूई धुनकर, उसकी पूणी बनाकर उत्तीर्ण हुआ जा सकता था। वह मुझसे नहीं हुआ। मेरी पूणी बहुत सुन्दर बनती थी। रूपवती और गुणवती होती थी। उसीमें मैं उत्तीर्ण हुआ। परीक्षासे पहलेसे ही मेरी मजूरी दिनकी चार पैसे हो गयी थी। अब तो मैं कभी-कभी दाल भी खा सकता था और रोटी भी। भर-पेट नहीं तो आधा पेट ही सही, परन्तु पेटमें रोटी-दाल या रोटी शाक या कभी कभी बीमारका खोराक खिचड़ी जाने लगी। इस वर्गसे निकला और पाटीके वर्गमें प्रविष्ट हुआ। पलंग बनानेके लिये सूतकी बनी हुई जो पट्टी (नेवार) बाजारमें मिलती है उसीको बनाने का काम अब मुझे सिखाया जाने लगा। अभी तक मेरे शिक्षक थे कोई कान्तिलाल भाई। वह थोड़ेसे नम्र थे। हम लोग चर्खा-क्लासमें बातें भी कर लेते थे, हँस भी लेते थे। कान्तिलाल भाई देखकर भी तरह दे जाते थे। परन्तु अब मेरा वर्ग छात्रालयमेंसे उठकर सड़कके उस पार आफिसके आँगनमें गया। वहाँ श्रीबालकोबाजी शिक्षक थे। वह बहुत ही नियमित शिक्षक थे। वहाँ कोई छात्र किसीकी ओर आँख नहीं उठा सकता था। अपने कामसे काम। यह कार्य अपेक्षाकृत सुगम था। इस वर्गके लोग भी मेरे मुखसे संस्कृतमें बातचीत सुनना ही चाहते थे परन्तु अवसर ही नहीं मिलता था या कम मिलता था। मुझे कुछ पूछना होता था

तो श्रीबालकोबाजीसे पूछता और तब सभीके कान खड़े हो जाते थे। कभी कभी मैं बराबर अपनी बात उनको समझा न सकूँ तो मैं हिन्दीमें बोलता और सब हँसने लगते। कभी कभी तो मुझे भैंसके आगे भी वीणा बजानी पड़ती थी। परन्तु आधे दिनतक संस्कृतका बोलना मैंने अन्ततक नहीं छोड़ा था। इस वर्गमें मुझे एक सप्ताहके पश्चात् ५ और पीछेसे ६ पैसे रोज मिलने लग गये थे। इससे अधिक मैं वहाँ कभी भी कमा नहीं सका था—भर पेट कभी खा भी नहीं सका था परन्तु इसके लिये मेरा कोई उलाहना भी नहीं था।

श्री महात्माजीके जेल जानेपर आश्रमकी सभी जिम्मेवारी—(उत्तरदायित्व) श्रीमगनलाल भाई गांधीके ऊपर आ गयी थी। वह बहुत ही सज्जन और परिश्रमी थे। जैसे जेलमें क़ैदीके परिश्रमका कोई मूल्य नहीं समझा जाता, वैसे वहां भी परिश्रमकी गणना नहीं होती थी। विद्याकी योग्यताका बहुत बड़ा मूल्य नहीं था। यदि कोई मूल्य था तो यह कि उससे अधिकसे अधिक लाभ उठाया जाय। श्रीमगनलाल भाईकी दो पुत्रियां और एक पुत्र थे—रुक्मिणी बहन, राधा बहन, केशव भाई। श्रीमगनलाल भाईने मेरा एक काम बढ़ाया—वह था इन दोनों बहिनों और भाईको उर्दू लिखना पढ़ना सिखाना। यह काम मुझे भोजनके पश्चात् अवकाशके समय करना पड़ता था और उनके घरपर जाकर। मुझे बुरा न लगा। वह तो महात्मा गांधीकी ही सेवा थी। वह तो उन्हींका कुटुम्ब था। मैं श्रद्धासे पढ़ाने लगा।

लोभीका लोभ मर्यादा नहीं रखता है। वह असीम होता है, ब्रह्मके समान अनादि भले न हो परन्तु अनन्त अवश्य होता है। वेदान्तकी माया अनादि होती हुई सान्त होती है। लोभ माया नहीं है अतः वह सान्त न होकर अनन्त ही रहता है। श्रीमगन-

लाल भाईने कहा, ब्रह्मचारीजी मुझे रात्रिमें ६ बजे आप उपनिषद् पढ़ा दिया करेंगे ? मैं नकारका उच्चारण तो कर ही नहीं सकता था। हां, कर दिया। आश्रमका नियम था कि रात्रिके ६ बजे घण्टा नाद होते ही सब निःशब्द बन जायं। मैं पीछेसे अपनी उस कोठरीसे हटकर ऊपरकी कोठरीमें रहने लग गया था। वहां बरामदेमें स्लीपर बिछायी गयी थी। ज़रा सा भी जोरसे पैर पड़े तो सोते हुए लोग जग जा सकते थे। ६ बजे तो घण्टा ही बजता था, उस समय तो नहीं, परन्तु जब मैं पढ़ाकर १० बजे वहां जाता था तो गिन गिनकर समाहित होकर असम्प्रज्ञात समाधिमें मग्न उन आत्माओंको ध्यानमें रखकर मुझे पैर रखना पड़ता था। कहीं कोई जग न जाय, इसका मुझे भय बहुत भय रहता था।

अब मेरा कार्यक्रम बदल गया—बढ़ गया। प्रातःसे ११॥ या १२ बजे तक पट्टीके वर्गमें जाना। आकर ६ पैसेवाली रसोई बनाकर खा लेना, या चाट लेना। तत्काल ही श्रीमगनलाल भाईके घरपर जाकर उन तीन भाई बहिनोंको पढ़ाना। २ बजेका घण्ट बजते ही अपने नियत वर्गको पढ़ानेके लिये अपने वर्गमें पहुँच जाना। समाप्तिका घण्ट बजते ही, कुछ चाटनेके लिये बना लेना और थोड़ी ही देरमें प्रार्थनाके घण्टपर प्रार्थनाभूमिमें पहुँच जाना। प्रार्थनाके पश्चात् थोड़ीसी शान्ति मिलती थी। उस समय थोड़ासा भ्रमण या किसीसे इधर उधरकी बातें कर लेता था। पहले तो प्रार्थना श्रीमहात्माजीके निवासके सामने ही नीचे मैदानमें होती थी परन्तु बहुत महीनोंके पश्चात् प्रार्थनाभूमि वह बनी जो आज भी स्मारकके रूपमें वहां देखी जाती है।

वहां उस समय एक भाई थे बिहारी या युक्तप्रान्तीय, आज मैं नहीं कह सकता। उन्हें उर्दू अच्छी आती थी। मुझे उर्दूके अतिरिक्त फ़ारसी आती थी। परन्तु मैं फ़ारसीके नियमबद्ध ज्ञानसे

विरहित था। मेरे बाल्यावस्थाके प्राथमिक शिक्षक पण्डितजी फ़ारसी जानते थे। उन्होंने ही मुझे फ़ारसी पढ़ाया था परन्तु उसी पुराने ढर्रेसे। व्याकरणका ज्ञान मुझे नहीं था। उन भाईने कहा कि—ब्रह्मचारीजी यदि आप मुझे फ़ारसी पढ़ा देते तो यहाँसे जानेके बाद उससे मुझे मेरी जीविकाके लिये बहुत बड़ा बल और लाभ मिल सकता है। मैंने न आगे सोचा न पीछे, हा कर दिया। एकान्तमें शान्त होकर जब बैठा तो मुझे बहुत बड़ा उद्वेग हुआ। मैंने सोचा जिस क्रमसे मैंने पढ़ा है, उसी क्रमसे इन्हें भी पढ़नेके लिये कहूँ तो यह मुझे बुद्धू ही कहेंगे। तब मुझे फारसी क्रमिक ज्ञान प्राप्त करनेकी आवश्यकता पड़ी। अब क्या करूँ? यह प्रश्न सामने आया। मैंने उन भाईसे कहा कि ८-१० दिनके पश्चात् मैं फारसी शुरू कराऊँगा। मैंने अपने कल्याणका मार्ग ढूँढ़ लिया। जब वर्गोंकी समाप्तिका घण्ट बजता था तबसे प्रार्थनाके घण्ट बजनेमें शायद २॥ घण्टोंका अन्तर पड़ता था। इस टाइममें मैं कुछ खाता-पीता था। मेरा समय इस बनाने-खानेमें जाता था। खाना ही क्या था—आटा पानीमें पकाकर शामको चाटता था। इस चाटको बन्द कर दिया। मैं साबरमती नदीमेंसे उतरकर पागलखानेके मार्गसे दिल्ली दरवाज़े होकर शहरमें एक दिन चला गया। वह समय तो महात्मागाँधीजीका था। भारतमें—आर्यावर्तमें इतनी शान्तिका समय, एकताका समय, बन्धुताका समय कभी भी नहीं आया होगा। मैं जमालपुरमें, पाँचपिपली मुहल्लेमें एक मौलवीको ढूँढ़ लिया। इसे ढूँढ़नेमें एक दूसरे मौलवीकी सहायता थी। मैं पहले उधर ही किसी मसजिदमें गया था। वहाँ ही एक मौलवी बैठे थे। उन्होंने बड़े विवेकसे मुझे इनका नाम और पता बताया था। मैं सीधा पाँचपिपली जाकर उनसे मिल सका था। उनसे फ़ारसी और ग्रामर भी पढ़नेके लिये मैंने वही समय निश्चित कर लिया।

फ़ारसी तो मुझे आती ही थी, परन्तु अण्ड-बण्ड। अब व्यवस्थित सीखने लगा। तमाम मसदरोंके सभी सीग़े कण्ठस्थ कर लिये। लाहौरकी एक इसलामिया संस्थाने फारसीकी किताबें मुसलमान् बच्चोंके लिये कई भागोंमें लिखी थीं। मैंने वे खरीद लीं। खरीदनेके लिये पैसे श्रीदेवादासजी (देव) से लिये थे। १० दिनोंमें तो मैं अपनेको फारसीका आलिम समझने लग गया था। उन भाईको अब मैंने फारसी पढ़ाना शुरू कर दिया। मसदारनामा याद कराने लग गया। फारसीके सभी धातुओंके सभी कालके रूप याद करनेमें उन्हें एक महीना लग गया। तब तक तो मैंने लाहोर सीरीज़के चार भाग पढ़ लिये थे। उसमें अरबी लिपिमें कुछ अरबी वाक्य भी आते थे, वह कुरानकी आयतें थीं। मैं उसे पानकोरके नाके पर पीरमशाहके रोज़ामें जो मसजिद है उसमें जाकर एक कुरान जानने वाले मौलवीसे पढ़ लिया करता था। यह सब करके दौड़ता हुआ मैं ठीक प्रार्थनाके समयपर आश्रममें पहुँच जाता था। यह रहस्य आज तक कोई नहीं जानता था। आज सब जान लें, इसीलिये मैंने यहाँ इसे लिखा है। मैं तो फारसीका अच्छा मौलवी बन गया।

द्वितीय परिच्छेद

जब मैं अयोध्यामें था उन दिनों डाकोरके श्रीदेवदासजी अयोध्यामें राममनोहर या मनोहरकी रामलीलामण्डलीमें रहा करते थे। पण्डित रघुवरदासजीसे उनका पुराना परिचय था। उन्हींके द्वारा देवादासजी मेरे भी परिचित हो गये थे। जब वह अयोध्या छोड़कर डाकोर आये तब वे अपनी अनुकूलताकी दृष्टिसे अहमदाबादके एक सिनेमा कम्पनीमें रहने लग गये थे। हरिलाल भाई कोई घड़ीसाज उनके बड़े मित्र थे। मैं जब आश्रममें रहता था तब कभी श्रीदेवादासजी, कभी श्रीहरिलाल भाई और कभी दोनों साथ ही मेरे पास आश्रममें आया करते थे। कभी कभी ये लोग शाक-भाजी या फल ले आया करते थे। ये मेरे पास आया करते थे और उनके पास पैसे होते थे, अतः मैंने पुस्तकोंके लिये पैसे माँगे और उन्होंने दे दिये। मेरे आश्रमवासकालमें नासिकसे महान्त सीतारामाचार्यजीशास्त्रीजी भी आश्रममें मेरे पास एक दो बार आये थे। एक बार मेरे अभिन्न मित्र पण्डितरघुवरदासजी भी आये थे। उन दिनों मैं अलग ही भोजन बनाता खाता था। यद्यपि विचार दृष्टिसे मुझे आश्रमके अर्थात् खादी विद्यालयके भोजनालयमें भोजन करनेमें कोई आपत्ति नहीं थी, जहाँ तक मुझे याद है उस समय वह रसोइया ब्राह्मण ही थे। ब्राह्मण रसोइया न होते तो भी मुझे वहाँ भोजन करनेमें कोई आपत्ति नहीं थी। परन्तु मैं वैष्णव सम्प्रदायको धोखा न दे सकूँ, इसलिये अलग बनाता खाता था। आश्रममें मैं सबके साथ खाता रहूँ और वैष्णवोंमें उसे छिपाकर रहूँ, यह जीवन तो मैं जी ही नहीं सकता था।

आश्रमसे कुछ सीखनेके लिये ही तो मैं वहाँ गया था। वहाँ जाकर यदि मैं ऐसी चोरी करता, तो आश्रमवास व्यर्थ जाता। मैं जो कुछ करता हूँ, छिपाना नहीं चाहता। मैंने आश्रममेंसे, श्रीमहात्माजीके उपदेशोंसे यही सीखा है कि निर्भय रहो और सत्यको मत छिपावो। उस समय लोग सत्याग्रह आश्रमको बुरा समझते थे। सनातनी लोग महात्माजीसे द्रोह करते थे। मैं वहाँ रहता था वह वैष्णवोंको रुचिकर नहीं था। तो भी मैं वहाँ रहा था। वहाँका निवास मैंने छिपाया नहीं। भक्तिभागीरथी पुस्तक लिखकर उसे स्पष्ट कर दिया। वहाँ रहनेके कारण किसीने मेरा तिरस्कार नहीं किया।

श्रीमहात्माजीको ६ वर्षकी जेलकी सजा प्रथम-प्रथम भारतमें मिली थी। वह यरोडा जेलमें थे। तथापि उनके पुण्यप्रतापसे देशमें स्वराज्यान्दोलन वेगसे चल रहा था। देशके बड़े-बड़े सभी आदमी एकके बाद दूसरे गिरिफ्तार होते जाते थे। आश्रममेंसे श्रीनरहरि भाई गिरफ्तार हो चुके थे। काकासाहेब भी गिरफ्तार हो गये। आश्रमकी विद्याशाला बन्द हो गयी। अब मेरे लिये आश्रम छोड़नेका प्रश्न आया। विद्याविलासके बिना मेरा जीवन दुर्लभ था। अब वहाँ विद्यावितरणका कोई अवसर नहीं रहा। सबकी वृत्ति युद्धोन्मुखी हो गयी थी। मुझे वहाँसे हटना ही था। मैं पहले से ही भक्तिभागीरथी पुस्तक आश्रमनिवासकालमें ही लिख रखा था। जिस दिन मुझे आश्रम छोड़ना था, उसी रात्रिमें मैंने उस पुस्तककी एक प्रस्तावना लिखी। भक्तिभागीरथी पुस्तकके साथ मेरी आश्रमभक्तिका उल्लेख होना ही चाहिये, ऐसी मेरी धारणा बन गयी। यद्यपि वह पुस्तक तो फिर भी छप सकता है परन्तु उसकी प्रस्तावना छप सके या न छप सके, इस दुविधाके कारण मैं उसे यहाँ उद्धृत कर देता हूँ। उस पुस्तकमें दो प्रस्तावनाएँ

हैं, एक तो आश्रममें ही अन्तिम रात्रिमें लिखी गयी थी उसका शीर्षक है—"हृदयदर्शन।" दूसरी प्रस्तावना तब लिखी गयी जब पुस्तक छपनेके लिये प्रेसमें जाने लगी। उस प्रस्तावनाका नाम है—"पुष्प पूजा।"

प्रथम प्रस्तावना यह है—

हृदयदर्शन

आज मैं अपने पुराने मित्रों और विद्यार्थियोंके साथ नहीं हूँ; किन्तु एक अत्यन्त नूतन और पवित्र स्थानमें हूँ। महत्त्वपूर्ण भूमिमें हूँ। यहां एक प्रकारकी मिथ्या (कल्पित) महत्त्वाकाङ्क्षाओंका पतन और दूसरे प्रकारकी महात्त्वाकाङ्क्षाओंका उत्थान होता है। यहां आकर मेरी दृष्टि पवित्र हो गयी। हृदय शुद्ध हो गया। अन्तःकरण निर्मल हो गया। विचार परिवर्तित हो गये। शत्रुता मित्रतामें बदल गयी। द्वेष प्रेममें विलीन हो गया। अहन्ता और त्वन्ताकी एकता हो गयी। निर्बल हृदय बलशाली हो गया। अभिमान नम्रताके कोमल चरणोंमें लेट गया। घृणा भ्रातृभावसे मिल गयी। श्रद्धा बढ़ी। भक्तिका उद्रेक हुआ। मानवीय जीवनका लक्ष्य चमकता हुआ दिखाई पड़ा। अपनी भूलों—अनन्त भूलोंका भान हुआ। पश्चात्ताप हुआ। सोना अग्निमें कूद पड़ा। शुद्ध होकर निकल आया। सब कुछ हुआ परन्तु एक बात न हुई। मैं उस भूमिका रेणु न बन गया। प्रयत्न किया। विफल हुआ। भाग्यने धोका दिया। संस्कारोंने सङ्ग छोड़ दिया। कल्ह प्रातःकाल होते ही इस पवित्र भूमिसे, सुनहली भूमिसे, रत्नगर्भा भूमिसे, तपोमयी भूमिसे, देवभूमिसे, जगद्वन्दनीय भूमिसे पृथक् हो जाऊँगा। यहाँके सुख पुनः मेरे लिये स्वप्न हो जायँगे। स्मृति ही रह जायगी।

'बिधिना ऐसी रैन कर भोर कभी ना होय।'

इस दिव्य भूमिके पूर्वीय प्रान्तको भगवती साभ्रमती अपने अनेक हावभावोंसे सुशोभित कर रही है। प्रतिक्षण इस भूमिके अमित सौंदर्यविकासमें प्रयत्नशीला है। प्रातःकाल होता है। बालप्रभाकर अनन्त किरणोंके साथ इस पुण्यतोया नदीमें स्नान-क्रीडा करते हैं। नर और देव दोनों ही साथ साथ स्नानका आनन्द लेते हैं। साथ ही जलविहार करते हैं। भगवान् भास्करको आगे जाना होता है। कितनी ही मंजिलें पार करनी होती हैं। अनन्त दर्शनाभिलाषी जनोंके अभिलाषोंकी पूर्ति करनी होती है। अतः विदा मांगते हैं। आबालवृद्ध अर्घ्य देकर विदा करते हैं। नाना प्रकारके जलचर पक्षी अपने कलरवसे इस पतितपावनी भूमिकी वन्दना करते हैं। उड़-उड़कर देशोंमें जाकर इस कीर्ति-कुसुमाकर दिव्य भूमिकी सुरभिसे दिगन्तको सुरभित करते हैं। शीतांशुमाली भगवान् सुधाकरका निशामुखमें आगमन होता है। उसी स्वच्छसलिला पुनीतहृदया भगवती साभ्रमतीके साथ अपनी असंख्येय तारका परिचारिकाओंको लिये हुए अठखेलियां लेते हैं। घण्टों विहार करके भगवान् सूर्य्यके दिये हुए उत्तप्त किरणोंको उसी शीतसलिलामें शान्त और शीत बनकर, हिमांशु होकर, मन-की इच्छा न होनेपर भी शनैः शनैः आगे बढ़ते हैं।

इस भूमिके पश्चिम भागमें वृक्षमालाओं, लताओं, गुल्मोंके अतिरिक्त और कुछ भी दृष्टिके सामने नहीं आता। उस भागकी नीरवता इस भूमिकी शोभा है। उसकी सघनता इसकी महिमा है। उसकी विशालता इसकी उदारता है। उसकी स्वच्छता इसकी निर्मलता है। उसका सुगन्ध इस भूमिकी कुसुमित कीर्तिलताका सुगन्धि है। उसकी शीतलता इसकी दयालुताकी कन्या है।

इस भूमिके उत्तर भागमें बृहत् परन्तु पुष्ट और उच्च प्राकारा-

न्वित एक गृह है। जो भगवान् श्रीकृष्णकी जन्मभूमि है। वसुदेव और देवकीके मोक्षका द्वार है। यहांसे ही कंसका उद्धार हुआ था। यहांसे ही गौओं और ब्राह्मणोंकी रक्षा हुई थी। इसी गृहका प्रसूत बालक नन्दबाबाके घरमें पलकर गोवर्द्धनको नखपर उठासका था। प्रजाकी रक्षा की थी। मातृभूमिकी सेवाका सुअवसर प्राप्त किया था। इसी गृहमें आज २५ सहस्रोंसे भी अधिक दुखिया भारतमाताके लाल तपश्चर्या कर रहे हैं। इसी गृहको लोकमान्य तिलकने विभूषित किया था। इसी गृहको संसारमात्रके सुधारक जगत्का हितैषी, सद्भावनाओंका स्रोत, दृढता और सत्यताकी मूर्ति, उदारताका प्राकृत देह, अलौकिक दैवी विभूतियोंका आकर, भारतकी आँखोंका तारा परम तपस्वी महात्मा गांधीजी (आश्रम-वासियोंके शब्दोंमें बापूजी) भी आज पवित्र कर रहे हैं। इसी गृहमें वह सूत्र तैयार हो रहा है जिसके बन्धनमें एशिया और यूरोप ऐसे बँधेंगे कि जिसका आदि होगा परन्तु अन्त न होगा और नैयायिकोंके लिये प्रध्वंसाभावका एक दूसरा उदाहरण तैयार होगा। इस गृहके प्रवेश द्वारपर पहुँचकर आन्तरिक आंखें एक शिलालेख पढ़ती हैं जिसमें लिखा है कि:—

"सुखकी इच्छा मत करो। सुख सुख नहीं है। परन्तु दुःखका घर है। सुख और उसकी सामग्री मनुष्यको अन्धा बना देती है। मदोन्मत्त कर देती है। सुख आँखोंको बदल देता है। पग पगपर ठोकर खिलाता है। क्षणिक है। न जाने कब तुम्हें कहां छोड़ कर चल देगा। अपने वियोगके दिनमें तुम्हारी आंखोंसे पश्चात्तापके आंसुओंको बहावेगा। क्षुब्ध और संकीर्ण कर देगा।

दुःख तुम्हारा सच्चा मित्र है। पथ्य सदा प्रथम अप्रिय होता है। दुःख भी तुम्हें अप्रिय लगेगा। परन्तु तुम्हारी आंखोंको शक्ति देगा। हृदयको निर्मल करेगा। नम्रता और विनयसे तुम्हारे

रोम रोमको सुसज्जित करेगा। संसारमें तुम्हारे लिये उत्तमसे उत्तम स्थान प्रदान करेगा। यह शान्त है। सरल है। सरस है। विनीत है। विनयी है। अपने वियोगके घड़ीमें तुम्हारे हृदयको आश्वासन देगा। आनन्दप्रदान करेगा। आंखोंमें प्रेमाश्रुकी लड़ी पिरो देगा। तुम प्रसन्न हो जावोगे। हृदय शान्त और उदार बन जायगा।

इस गृहको पाश्चात्य सभ्यों और पौरस्त्य श्रद्धालुओंकी आधुनिक भाषामें जेल कहते हैं।

इस मङ्गल भूमिकी दक्षिण दिशामें वही अनुपम वस्तु है जो दक्षिण दिशामें होनी चाहिये। जिसे श्मशान कहते हैं। यहां पर ही कपिल और कणाद, गौतम और व्यास जैमिनि और पतञ्जलिके तपस्तेज और एक अद्वितीय महातेजका सङ्गमस्थल है। यहां परही बालब्रह्मचारी भीष्मपितामहने मातृभूमिके चरणोंमें पश्चिम प्रणाम किया था। यहांपर ही हरिश्चन्द्र जैसे सत्यवादी और कर्ण जैसे महादानीका अन्तिम दर्शन हुआ था। यहांपर ही महाराणाप्रताप और महाराष्ट्रकेसरी शिवाजीकी वीर शय्या रची गई थी। सावधान, सुनो और देखो, परमाप्त भगवान् श्मशानदेव स्वगृहागत मानवसमुदायको उपदेश दे रहे हैं कि—

'हे क्षणिक संसारके भोले यात्रियो! हमारे यहां राजा और रङ्क, पण्डित और मूर्ख, बालक और वृद्ध, पुरुष और स्त्री, शक्तिहीन और शक्तिशाली, पापी और पुण्यात्मा सबकी ही समान गति है। हमारे सामने न कोई नीच है, न ऊँच। हम सबको एकही सूत्रमें बांधते हैं। हम सबको एकही मन्त्रसे दीक्षित करते हैं। हे मनुष्य! तू एकबार मुझे देख और खूब देख। फिर अपनेको देख। अच्छी तरहसे देख। ऐसा देख कि फिर पश्चात्ताप न करना पड़े। आँसू न बहाने पड़ें। मेरे पास आकर कोई जीता

नहीं बचता। तू ऐसा अपनेको देख कि मेरे पास आकर भी बच जा। अजर हो जा। अमर हो जा। मैं एक परम रम्य और पवित्र तीर्थ हूं। मैं सदा कहता रहता हूँ कि ऐ मनुष्य जीवन! 'कृतं स्मर-कृतं स्मर'। हृदयहीन मत हो। तू निर्भीक बन। फिर मेरे पास आ। मैं तुझे स्थिरता और अनन्त शान्ति प्रदान करूंगा। तू ज़ालिम मत बन। अत्याचार मत कर। निर्बलोंको मत सता।

न मानद सितमगारे बद रोज़गार।
बे मानद बरो लानते पायदार॥

तेरे ज़ुल्मका ज़माना सदा न रहेगा। एक दिन ढल जायगा। परन्तु तेरे ऊपर पड़ी हुई लानतें, गिरे हुए धिक्कार सदा रह जायँगे।'

बस, आज मैं जिस प्यारी भूमिकी गोदमें बैठकर मातृसुखका अनुभव कर रहा हूँ उसकी यही सीमा है। यही चौहद्दी है। यह वह पवित्र भूमि हैं जिसके दर्शनके लिये प्रत्येक भारतीय लालायित है। जिसके दर्शनकी उत्कण्ठा पाश्चात्योंके भी हृदयमें सदा बनी रहती है। यह वह भूमि है जिसके वायुसे सारा भारत ही नहीं प्रत्युत सम्पूर्ण जगत् पवित्र हो रहा है। जिसके प्रतापसे, संसारसे निर्बलता और भीरुताका साथही अन्त हुआ। संसारको आत्म-निरीक्षण करनेका सुन्दर संयोग उपलब्ध हुआ। दुनियाँसे कृत-घ्नता और अपकारवृत्तिका अवसान हो गया। सात्त्विक भावोंका संचार हुआ। आत्म साक्षात्कार हुआ। यह वह पवित्र भूमि है जहाँसे ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनों ही अनवच्छिन्नरूपसे संसार-में फैल गये। गीताका गूढार्थ सुलभार्थ हो गया। यह वह भूमि है जहाँसे संसारको यह सन्देश मिला है कि—'संसारमें सबसे-बड़ा आदमी वह है जो अपने महलोंको छोड़कर झोपड़ियोंमें रह-नेवाले अपने ग़रीब देशीय भाइयोंके साथ प्रेम और सहानुभूति प्रकट

करता है ।' यह वह भूमि है जहाँपर नर—रत्नोंका आकर है । तपस्वियोंका कोष है । श्रमजीवियोंका उदार उदाहरण है । बुद्धिकी अनियन्त्रित शाला है । यम और नियमके पालन करनेकी रीतिका ज्वलन्त उदाहरण है । यह वह भूमि है, जिसके अलङ्कारने दुःख और सुख दोनोंका पूर्ण अनुभव किया और संसारको सच्चे सुख और दुःखके रूपका भान करा दिया । यह वह भूमि है जहांसे अभूतपूर्व, अदृष्टपूर्व और अश्रुतपूर्व अहिंसावादका सन्देश सबसे पहले भारतको मिला । गुजरातके पाटनगर, गुर्जरसाक्षरोंकी तीर्थ भूमि, गुर्जरव्यापारियोंके मानक्षेत्र, आर्य्यावर्तके मानचेष्टर, सांसारिक और पारमार्थिक जीवनके मिश्रित केन्द्र, साभ्रमतीके वामतटपर बसे हुए अहमदाबादसे निकलकर एक पक्की सड़क जिस भूमिको दो भागोंमें विभक्त करती हुई जेल और रेल (साबरमती स्टेशन) तक जाकर समाप्त हो जाती है । इसी सड़कसे सैकड़ों यात्री प्रतिदिन मोटरोंसे, घोड़ागाड़ियोंसे, पयादे पाँवसे आ-आकर जिस भूमिका दर्शनकर कृतार्थ होते हैं । इसी सड़कके पूर्वीय भागोंमें विभक्त जिस भूमिके वासियोंके 'प्रासादीयति कुट्यां भिक्षुः' इस भावकी मधुरभाषिणी वीणाका नाद अहर्निश प्राचीन ऋषिमण्डलीका स्मरण अनायास करा देता है । सड़कके पश्चिम भागमें विभक्त जिस भूमिके 'राष्ट्रिय विद्यामन्दिर' के आचार्य्य, उपाचार्य्य अन्य शिक्षकवर्ग 'कुटीयति प्रासादे विरक्तः'का उत्तम अर्थ लोगोंको समझाते हुए विदेहराज महाराज जनकका प्रतिपदमें स्मरण कराते हैं । जिस भूमिके एक-एक रजःकणमें पवित्रता, निर्मत्सरता और निःस्पृहता समायी हुई है । जिस भूमिके एक-एक परमाणुमें स्वार्थत्याग और निर्भयता, संयम और दृढता, बल और क्षमता, शक्ति और निरभिमानता निश्चल स्थान बनाये बैठी हैं । जिस भूमिके हरे भरे वृक्ष, कुसुमाच्छादित लतासमूह वहाँके मुनिजीवनकी सरसता और

सहृदयताके प्रत्यक्ष साक्षी हैं। जिस भूमि की सैकड़ों गौएँ किसी अनिर्वचनीय गोपालकी याद दिलाती हैं। जिस भूमिके फलोंसे लदे हुये कपासके खेत किसी सच्चे, शुद्ध कृषिपालका स्मरण कराते हैं। जिस भूमिमें रात्रि-दिवस भगवान् मोहनका सुदर्शन-चक्र सशब्द भ्रमण करता हुआ अत्याचारियोंके हाथोंसे निर्बल प्रजाओंकी रक्षाके लिये सावधान रहता है। जिस भूमिमें भारतकी लाज ढँकनेके लिये बैठनेवाले दिव्यशक्तिसम्पन्न महापुरुषके लिये,

'भक्तनके काज ब्रजराज लाज राखनकों आप ह्वै बजाज बैठे द्रोपदीके देहमें।'

यह कहे बिना छुटकारा नहीं है। जिस भूमिकी प्यारी बहिनें और पूज्य माताएँ एकासनसे बैठकर

ओं या अकृतन्न वयं या अतन्वत याश्च देवीस्त-न्तूनभितस्ततन्थ। तास्त्वा देवीर्जरसे संव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः॥

इस मन्त्रके अर्थकी स्पष्ट व्याख्या कर रही हैं और अपनी बहिनोंके लिये खद्दरकी पवित्र साड़ियाँ तैयार करती हैं। जिस भूमिमें फलद वृक्षों और सतत कुसुमित लताओंके कुञ्जोंके मध्यमें संसारके एक सच्चे और आदर्श तपस्वीकी एक कुटी खाली पड़ी हुई है। तथा साथकी दूसरी कुटीमें आज भी भारतमाताकी प्रतिनिधि किंवा साक्षात् भारतमाताही तपस्याकर रही है। जिस भूमिमें प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्तमें ४। बजेकी भगवत्प्रार्थनाके साथ साथ नियमितरूपमें चलने वाले सात्त्विक कार्य्योंका आरम्भ होता है और सूर्य्यास्तमें-

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥

के द्वारा प्रत्येक व्यक्तिको विश्रामलेनेकेलिये-अन्त होता है। यह वह भूमि है जिसके शब्दको जर्मनीने भी सुना और एक भारतीय महात्माकी आवश्यकताको जर्मनीमें अनुभव किया। यह वह भूमि है जिसके नायकके विषयमें अमरीकाका एक भविष्यवक्ता आजसे ७७ वर्ष पूर्व अर्थात् सन् १८४६ ई० में कह गया है कि '—पूर्वमें एक ऐसा महापुरुष उत्पन्न होगा जो संसारका सबसे बड़ा मनुष्य कहलावेगा। वह संसारको एक नया मार्ग उसी तरह दिखावेगा जिस तरहसे कि बुद्धने भारतवर्षको, अफ़लातूनने यूनानको, हज़रत मूसाने यहूदियोंको, मुहम्मद साहबने अरबको और कोलम्बसने इस दुनियाको दिखाया था। मगर वह इन सबसे अधिक शक्तिशाली होगा। जिस समय संसारके सामने अवतीर्ण होगा, तो संसारके धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक, व्यावहारिक तथा दार्शनिक जीवनमें इतना भयानक परिवर्तन होगा कि जैसा पहले किसीने न देखा होगा और न सुना होगा। इसको धनकी कमी न होगी। यह प्रेमका प्रचार करेगा। करोड़ों इसके अनुयायी होंगे। इसके सिद्धान्त इतने पक्के होंगे कि कोई उनका मुक़ाबिला न कर सकेगा। वह अकेला ही कार्य आरम्भ करेगा। बादको करोड़ों उसके सहायक बन जायँगे।..................। वह मनुष्य शान्तिका अवतार होगा। संसारमें इसे कोई भी न कोसेगा। इसके जीवनमें खूनका एक भी धब्बा न लगेगा। विधवाओं, अनाथों और ग़रीबोंके वह सारे कष्ट दूर करेगा।" यह वह भूमि है जिसके अपनानेवालेके बारेमें जापानके एक भूतपूर्व मिनिस्टरने कहा है कि'—उन्होंने ही मानवजातिकी सबसे अधिक योग्यताके साथ सेवा की है। उन्होंने ही मुर्दा भारतवर्षको ज़िन्दा किया है। धार्मिक झगड़ोंको मिटाया है और एकताकी स्फूर्ति भरी है। यह वह भूमि है जिसके विधाताके साथ (एक आष्ट्रेलियन पत्रके शब्दों-

में) आज आधा संसार जेलकी कोठरीमें बन्द है। इस भूमिसे

सत्याग्रह आश्रम साबरमती–

के नामसे सारा संसार परिचित है।

इसी सात्त्विक और प्रतिभामयी पवित्र-भूमिकी गोदमें बैठकर इस 'भक्तिभागीरथी' को लिख रहा हूँ। इस पुस्तकमें केवल सात्त्विक भावोंका सरलरूपसे निदर्शन मात्र है। भक्तिका रहस्य वे भक्तजन जानें, जिन्होंने आजन्म इसका रसास्वाद लिया है। मैं तो कोई भक्त नहीं हूँ, हाँ; भक्तजनोंका किंकर हूं। केवल आत्म-रतिके लिये, स्व-मनः-प्रसक्तिकेलिये इसके लिखनेका उत्साह है।

फा. शु. ६, १९७९ वि०
गुरुवार १२ बजे रात

तृतीय परिच्छेद

मैं आश्रममें था, उसी समय श्रीमान् पण्डित हरिभाऊ उपाध्यायजी भी वहां ही रहते थे और हिन्दी नवजीवनके सम्पादक थे। उनके साथ मेरा बहुत मधुर सम्बन्ध था। वह सम्बन्ध आजतक सुरक्षित है। वह अजमेरराज्यके चीफ़ मिनिस्टर हैं। वह आज लौकिक दृष्टिसे बहुत बड़े हैं। परन्तु भावमें अन्तर नहीं है। उसी समय उनके सहायक श्रीमान् वैद्यनाथ महोदयजी थे। अब वह इन्दौर रहते हैं। वह लोकसभाके दिल्लीमें सदस्य हैं। श्रीउपाध्यायजीके छोटे भाई श्री मार्तण्ड उपाध्याय भी आश्रममें ही प्रायः रहा करते थे। उस समय वह बालक थे। आज युवा हैं। वृद्धताकी ओर जा रहे हैं। दिल्लीमें सस्ता साहित्यमण्डलके वह महामन्त्री हैं। यह सब सम्बन्धी उस प्राचीन सम्बन्धको आज भी जिला रहे हैं। श्री किशोरलाल भाई मशरूवाले भी उस समय आश्रममें ही थे। उनका सम्प्रदाय स्वामीनारायण था तथापि वह श्रीकेदारनाथजीको गुरु मानते थे। महीनेमें कई बार वह और श्रीरमणीकलाल भाई मोदी उनके पास जाया करते थे। स्वामीनारायणसम्प्रदाय वेदान्तके विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तको मानता है। मैं भी विशिष्टाद्वैतवादी हूँ। श्रीकिशोरलाल भाई कितनी ही बार मुझसे विशिष्टाद्वैतशब्दार्थं और उसके मोटे मोटे सिद्धान्त पूछा करते थे। वह बहुत शान्त और विचारशील महापुरुष थे। आश्रमसे पृथक् होनेपर वह सम्बन्ध स्थिर रहा था। अपने जीवनकी सन्ध्या तक उन्होंने मेरे साथका सम्बन्ध टिका रखा था। उन्होंने, जब मैं ईस्ट अफ्रिकामें था, मेरा कितना उपकार किया था, उसे आप आगे पढ़ेंगे।

मैं आश्रम छोड़कर पुनः अहमदाबाद और पश्चात् सिद्धपुर गया। अश्रमसे चलते समय श्रीमगनलाल भाईने मुझे कहा था "ब्रह्मचारीजी, आपके लिये आश्रमका द्वार सदाके लिये खुला है परन्तु जब आवें, मजदूर बनकर ही आवें।" मैं पुनः उस आश्रममें रहनेके लिये नहीं जा सका।

जब मैं आश्रममें था तभी पण्डित श्रीरघुवरदासजीने सिद्धपुरमें एक विद्यालय खोल रखा था। उसमें मेरी सम्मति थी। उन्होंने मुझे वहाँ ही रहनेके लिये बुलाया था। उद्घाटनके समय भी बुलाया था। जब वह आश्रममें मुझसे मिलने आये थे, विद्यालय खोलनेकी चर्चा चली थी। मैंने कहा था कि आप **रामानन्द विद्यालय** खोलें। मैं अवश्य सहायता करूँगा परन्तु, जब तक मैं आश्रममें रह सकूँगा, यहाँसे हटनेका विचार नहीं करूँगा। उन्होंने भी मुझसे कभी आश्रम छोड़नेके लिये न हठ किया और न दबाव डाला।

अहमदाबादमें पहुँचकर मैंने उनको लिखा कि मैं आश्रमसे चला आया हूं। उनका शीघ्र ही पत्र आया कि तुम सिद्धपुर चले आवो। मैं वहां गया। विद्यालयकी स्थिति देखी। उसमें कोई तत्त्व नहां था। ४-५ साधु विद्यार्थी पढ़ते थे। पण्डित श्रीरघुवरदास-जी बहुत सुकुमार प्रकृतिके थे तो भी वह गाँव गाँव फिरकर अन्न माँग लाते थे। व्यवस्थापक वहाँ कोई नहीं था। अध्यापक भी कोई नियत नहीं था। वही बाहरसे आते तो छात्रोंको पढ़ाते। मैं वहाँ पहुँचा अतः उन्हें बल मिला। कार्यभार कम हो गया। व्यवस्था और पढ़ानेका काम मैंने ले लिया और धन-अन्न संग्रह करना उनका कार्य था। विद्यालय चलने तो लगा परन्तु विद्यार्थियोंके उपद्रवने हम दोनोंके दिल तोड़ दिये। हम लोगोंने विचार करके विद्यालय-

को ही तोड़ दिया। जब विद्यालय चल रहा था तब मैंने अपना भार हलका करनेके लिये अहमदाबादसे पण्डित श्रीवृन्दावन कृष्ण-चन्द्र शास्त्रीजीको वहाँ बुला लिया था। वह प्रथम कक्षाके छात्रों-को पढ़ाते थे। सिद्धान्तकौमुदी आदिको मैं पढ़ाता था।

पण्डित श्री वृन्दावनव्यासजी अहमदाबाद गये और हम दोनों उंझा। उंझामें श्रीनगीनदास वैद्य रहते थे। उंझा फार्मसी उन्हींकी स्थापित वस्तु है। उनके साथ पण्डित श्रीरघुवरदासजीका अच्छा सम्बन्ध था। कितने ही जैन साधु उनके पास, वैद्यजीके ही अनु-रोध और सम्बन्धसे पढ़ने आते थे। उन साधुओंमेंसे किन्हींको मैं भी पढ़ा देता था परन्तु उस समय तक मुझे गुजराती भाषा कुछ भी नहीं आती थी साधुओंको हिन्दी भाषा समझनेमें कठि-नता मालूम होती थी। तो भी उन लोगोंको मेरा पढ़ानेका क्रम और मेरा श्रम हृदयङ्गम हुआ। वह लोग कभी कभी श्रीनगीन-दासजी वैद्यसे मेरी प्रशंसा करते रहे होंगे।

एक दिन श्रीवैद्यजी मन्दिरमें आये और श्रीपण्डितजीसे बोले—महेशानाके यशोविजय जैनसंस्कृतविद्यालयके लिये एक योग्य अध्यापककी आवश्यकता है। आप किसी अध्यापकका प्रबन्ध कर दें। श्रीपण्डितजीने मुझसे कहा कि यदि वहाँ जाकर पढ़ावें तो अच्छा हो। दो लाभ होंगे—एक तो यह कि आप जैन धर्मके ग्रन्थ देखना चाहते हैं, वह सभी ग्रन्थ वहाँ अनायास ही देखने और पढ़ानेको मिलेंगे। इस रीतिसे एक सम्प्रदायके आप पण्डित बन जायंगे। दूसरा लाभ धनका है। आपको धनकी आवश्यकता तो रहती ही है। वह पूर्ण होती रहेगी। मुझे भी अच्छा लगा। मैंने इसका स्वीकार कर लिया। जब श्रीवैद्यजीको यह विदित हुआ कि मैं स्वयं वहाँ अध्यापक होकर जा रहा हूं तो वह बहुत प्रसन्न होकर बोले कि, बहुत अच्छा है। हमारे यहाँके

साधु आपकी प्रशंसा करते हैं। मैं मेहशाना गया।

मेहशानामें पण्डितजीकी एक बालविधवा बालशिष्या एक स्कूलमें गुजराती-अध्यापिका थीं। श्रीसन्तोक बहिन उनका नाम था। सिद्धपुरमें और उंझामें भी पण्डितजीके पास मैंने सन्तोक बहिनको देखा था। पण्डितजीने सन्तोक बहिनको पत्र लिख दिया कि यह हमारे एक विद्वान् मित्र मेहशाना जैनविद्यालयमें अध्यापक होकर जा रहे हैं। तुम उनकी खबर रखना। वह मेरे पास आयीं। परिचय हुआ। आने जाने लगीं। परन्तु मैं सामान्य स्त्रियोंके साथ रहनेमें अभ्यस्त नहीं था अतः मैं सन्तोकबहिनके साथ बहुत बैठने और बोलनेमें संकोच करता था। धीरे धीरे यह संकोच दूर हुआ। श्रीपण्डितजीके एक पत्रके साथ एक दिन वह मेरे पास आयीं और संस्कृत पढ़नेकी इच्छा उन्होंने प्रकट की। मित्रका पत्र था। ना ता कर ही नहीं सकता था। वह पढ़ने लगीं। मेरा और उनका सम्बन्ध बहुत अच्छा नहीं रहा। उनके स्वभावमें मुझे सरलता नहीं दीख पड़ी। मैं तो सत्याग्रहआश्रम साबरमतीमें रहकर आया था। मन ही मन मैं चाहता था कि या तो वह सरल बनें या अलग जायं। ईश्वरने मेरी बात सुन ली। सन्तोक बहिनकी बदली पाटणमें हो गयी। वह चली गयीं।

मैं उस जैन विद्यालयका मुख्य अध्यापक था। अपना विद्यालयभवन था। मेरे लिये गादी और तकिया थी। साधु और साध्वी लोग अपनी प्रथाके अनुसार अपना-अपना आसन ले आकर बैठते, पढ़ते, चले जाते थे। भोजन बनानेका स्थान भी उसी विद्यालयमें था। विद्यालय ऊपर था और पाकशाला नीचे थी। मैं रहने लगा। पढ़ाने लगा।

जैनव्याकरण, त्रिशलाकाचरित्र, प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार आदि व्याकरण, न्याय, साहित्य, सभी विषयोंके वहाँ चातुर्मास्यके

साधु छात्र मिले थे। श्रीपुष्पविजयजी पन्यास सर्वोत्तम शास्त्रग्राही साधु थे। उन्होंने सर्वत्र मेरी ख्याति फैलायी और अन्य जैनमुनि मेरा सम्पर्क ढूँढ़ने लगे। महेशानामें एक और जैनपाठशाला है। बाहरसे आकर बहुतसे श्रावककुमार वहाँ पढ़ते हैं। उन बालकोंमेंसे भी कितनेको ही मेरे पास भेजा गया। वह लोग संस्कृतमन्दिरान्तःप्रवेशिका पढ़ते थे। वह पुस्तक श्रीभण्डारकरके अंग्रेजी पुस्तकका अनुवाद गुजरातीमें है। उस समय मुझे गुजराती भाषा आती ही नहीं थी। मैंने विद्यालयके अध्यक्षको कह दिया कि मुझे पुस्तक समझमें नहीं आता है। अतः मैं त्यागपत्र देता हूँ। लोगोंको मेरे कहनेका अर्थ ही समझमें नहीं आया। लोगोंको आश्चर्य हुआ। व्याकरण, न्याय, साहित्य आदि सभी ग्रन्थोंको पढ़ाने वाला आदमी यदि यह कहे कि मुझे संस्कृतमन्दिरान्तःप्रवेशिका समझमें नहीं आती है, तो अवश्य ही कोई रहस्य है। लोग मेरे पास आये। मैंने कहा, मुझे गुजराती भाषा नहीं आती है अतः मैं इस पुस्तकको गुजरातीसे समझा नहीं सकता। यदि मैं गुजरातीसे बालकोंको न समझा सकूँ, न पढ़ा सकूँ तो यहाँसे प्रतिमास मुझे साठ रूपये क्यों लेने चाहिये? मुझे श्रीपुष्पविजयजी पन्यासने कहा, शास्त्रीजी, आप घबड़ावें नहीं। आप उन शब्दों और प्रयोगोंको देखकर तो समझ ही जायँगे कि यह कैसे बने हैं। तब आप अपनी भाषामें अपने शब्दोंमें उन्हें समझा दीजिये। बालक सब समझ जायँगे। आप जानेकी बात न करें। हमारे श्रावकोंपर आपका अच्छा प्रभाव पड़ा है। मैं रह गया।

वहाँ जब मैं था, मुझे एक दूसरी बहिन मिली थीं। भागीरथी व्यास। वह वस्तुतः भागीरथी थीं—गङ्गा थीं—गङ्गास्वरूप थीं। गुजरातमें **गंगास्वरूप** शब्द यदि बहिनोंके लिये प्रयुक्त होता है तो उसका अर्थ **विधवा** होता है। वह बहिन विधवा थीं। उनको

एक पुत्र और पुत्री थी। दोनों आज बड़े हैं और सुखी हैं। श्रीभागीरथी बहिन अपनी माताजीके साथ रहती थीं। एक बार मुझे वहाँ ज्वर आया और कइ दिनों तक वह रह गया। श्रीभागीरथी बहिनकी वृद्धा माताजीने मेरी बहुत ही सेवा की। मुझे बीमारीमें भोजन भागीरथी बहिन ही अपने घरसे पहुंचा जाती थीं। अच्छा होनेपर भी मैं वहाँ ही भोजन करता था और मासिक कुछ दे दिया करता था। इच्छा न होने पर भी, बहुत लज्जाके साथ वह ले लिया करती थीं। मैं महेशाना छोड़कर आया तब भी वह सदा मेरा कुशल-समाचार जानती रहती थीं। अपने पुत्र श्रीदेवेन्द्रव्यासको भी मेरे पास भेजा करती थीं। पाँच वष पूर्व वह बीमार हुईं। मुझे सूचना मिली थी। मैं जानेका अवसर ही ढूँढ़ रहा था। इतनेमें ही श्रीदेवेन्द्रव्यासजीने लिखा कि उनकी माताजीने सदाके लिये आँखें बन्द कर लीं। मैं उनसे उनके अन्तिम दिनोंमें न मिल सका, यह दुःख मेरे हृदयमें रह ही गया।

कुछ महीनोंके बाद मैंने उस यशोविजयसंस्कृतविद्यालयको छोड़ दिया। पण्डित श्रीरघुवरदासजीको मेरा यह त्याग रुचिकर नहीं हुआ। वह मुझे वहाँ ही फिर जानेको कहते ही रह गये। मैं नहीं गया। मैंने जैनधर्मके सैकड़ों ग्रन्थ वहाँ रहकर अभ्यस्त कर लिये थे। एक सम्प्रदायका मुझे पूरा-पूरा अनुभव हुआ।

जब मैं मेहशानामें था, तभीसे मुझे श्रीयमुनादासगांधीजी राजकोटकी राष्ट्रियशालामें अध्यापनके लिये बुला रहे थे। दुःख यह था कि वह मेरे जीवननिर्वाहके सम्बन्धमें कुछ लिखते नहीं थे और मैं कुछ पूछ नहीं सकता था। पत्र-व्यवहार बहुत हुए थे। मैं समझता हूँ उन्होंने, जब श्रीमहात्माजी यरोडा जेलसे बीमार होनेपर मुक्त कर दिये गये थे और जुहूमें स्वास्थ्यलाभ कर रहे थे, तब उनको पत्र लिखा होगा। उस पत्रमें मेरी चर्चा रही होगी।

मेरा पता भी श्रीमहात्माजीको लिखा होगा। उन्होंने मुझे लिखा कि मैंने सुना है कि तुम साबरमतीमें मजूरी करके अपना जीवन निर्वाह करते थे और आश्रमवासी बालकोंको पढ़ाते थे। अब तुम यदि जा सकते हो तो राजकोटकी राष्ट्रियशालामें जावो। शाला नयी है। अभी उसके पास इतना धन नहीं है कि वह बहुतसे अध्यापक रख सके। सुना है, तुम कई विषय बालकोंको सिखा सकते हो। महात्माजीके पत्रका भाव यही था, भाषा यही नहीं थी। वह पत्र भी अब मेरे पास नहीं रहा। श्रीमहात्माजीका आदेश तो मुझे प्रत्येक समयमें सर्वथा माननीय रहा है। उनका इतना लेख तो मेरे लिये बहुत था। जगत्‌का एक महान् पुरुष मुझे कोई सेवा बतावे, इससे बढ़कर मेरे जीवनकी कृतार्थता क्या हो सकती थी? मैं श्रीयमुनादासगाँधीजीको पत्र लिखकर सूचना दी कि पू० बापूजीका पत्र मिला है। मैं एक सप्ताहमें वहाँ आता हूँ। मेरे भोजनादिकी व्यवस्था आपको करनी पड़ेगी। उन्होंने मुझे लिखा कि यदि भोजनव्यवस्था ही बीचमें विघ्न डालनेवाली थी, तो मुझे प्रथम ही क्यों नहीं स्पष्ट लिखा गया? मैं राजकोट पहुँचा। मैं बहुत महीनों तक वहाँ रहा। हरिजनोंका शायद कोई ऐसा प्रश्न उपस्थित हुआ था—या ऐसा ही कुछ हुआ था—मुझे स्पष्ट स्मरण नहीं है—किसी भी कारणसे मैं राजकोटसे चला आया। मैं यदि भूलता नहीं हूँ तो उसी समय श्रीनारायणदास-गाँधीजी, श्रीपुरुषोत्तमगाँधी और श्रीकनुगाँधी भी राजकोट साबरमती आश्रमसे आ गये थे।

मैं अब ऊँझा होकर पालनपुर गया। पालनपुरमें पण्डित श्री-रघुवरदासजीके बड़े भाई महान्त श्रीप्रेमदासजी वहाँके रघुनाथ-मन्दिरमें रहा करते थे। परिचय तो था ही। उज्जैनसे जब हम गुजरातके लिये चले थे, तो हमारे साथ वह भी थे और उनके

साथ ही रहनेवाली श्रीभागवतदासी भी थीं। मैं जहाँ कहीं रहता कुछ न कुछ किसी न किसीको पढ़ाया करता था। उस समय वहाँ शायद माधवप्रसादजी एक योग्य वैद्य थे। उनके एक अति योग्य पुत्र थे शायद नाम था रामरत्नजी। बहुत दिन हो गये। मैं बहुतसे नाम भूल गया हूँ। इतिवृत्त याद है। मैं श्रीमाधव भाईके पुत्रको संस्कृत पढ़ाता था। एक चारण नवयुवक भाईको छन्दःशास्त्र पढ़ाता था। कुछ और भी पढ़ने वाले थे। इस रीतिसे कालक्षेप करता था।

जब मैं सिद्धपुर रामानन्दविद्यालयमें था, उसी समय अयोध्यासे पण्डित सरयूदासजी वैष्णवधर्मप्ररोचकने एक पुस्तक मेरे पास भेजा और कहा कि यहाँ सबका एक ही मत है कि तुम इसका उत्तर दो। उस पुस्तकका नाम था '**श्रीसम्प्रदायदिक्प्रदर्शन**।' उसके लेखक थे मेरे श्रीगुरुदेवजी। श्रीहनुमानगढ़ीमें मुझे मेरे पूज्य श्रीगुरुदेवसे शास्त्रार्थ करना पड़ा था और अब उनके ग्रन्थके खण्डनका भार भी मेरे ही सिरपर रखा गया। मैंने उसे स्वीकृत कर लिया। बड़ोंकी आज्ञा माननी ही चाहिये। मैंने उस पुस्तकका अक्षरशः खण्डन किया। परन्तु यह स्मरण नहीं हो रहा है कि उस खण्डनको मैंने सिद्धपुरमें लिखा, या उँझामें, या पालनपुरमें। उस खण्डनका नाम है **श्रीसम्प्रदायरक्षा**। उसके प्रकाशनका व्यय बड़ोदेके उन्हीं श्रीमहान्त मथुरादासजीने दिया था जिनके स्थानमें मुझे दो घण्टोंसे अधिक देर तक आसन रखनेका स्थान नहीं मिल सका था। समयकी बात है।

चतुर्थ परिच्छेद

जब मैं गुजरातमें आया और बम्बई आदिसे लौटा तब आबू पहाड़को देखनेकी बड़ी भारी लालसा थी। पण्डित श्रीरघुवरदास-जी अयोध्यामें भी गुजरातमें आनेपर भी, उसका ऐसा वर्णन करते थे कि उसे देखे बिना मोक्ष नहीं मिल सकता था। मैं एक दिन आबू जानेके लिये निकला। आबूरोड पहुँचा। वहाँ आबूरोडमें (खराडीमें) राममन्दिरमें महान्तश्रीरामलखनदासजी थे। अच्छे सन्त थे। मैं गाड़ीसे उतरकर वहाँ ही पहुँचा। प्रातःकालके ८ या ९ बजे थे। वहाँ ही एक निम्बार्क सम्प्रदायके पण्डितजी भी उतरे थे। वह और मैं उज्जैनमें परिचित हो चुके थे। वह आबू जाकर दो दिन पहले नीचे उतर आये थे। उन्होंने जब सुना कि मैं आबू जानेके लिये आया हूँ तो उन्होंने मुझे कुछ सूचनाएँ दीं—

१—१२ बजे दिनमें चलकर सन्ध्याकाल तक आबू पैदल ही पहुँचा जा सकता है।

२—पैदल जाना अच्छा है क्योंकि वनश्रीका अवलोकन तभी अच्छी तरहसे हो सकता है।

३—वहाँ ऊपर जाकर रघुनाथमन्दिरमें ठहरना।

४—रघुनाथमन्दिरके महान्त खबर नहीं किस सम्प्रदायके हैं, परन्तु वह थोड़ेसे पागल हैं। गाली-गलौज बहुत करते हैं। तो भी उन्हें कुछ वेदान्तका संस्कार है।

६—वह यदि जान जायं कि कोई साधु पढ़ा लिखा है तो अच्छा व्यवहार भी करते हैं।

६—यहांसे जानेके लिये सीधी सड़कको छोड़कर पगडंडी

पकड़कर जाना चाहिये। पर्वतीय मार्ग ऐसे ही पार किये जा सकते हैं।

उन पण्डितजीने मेरे लिये स्वयम् ही भोजन बनाया। हम दोनोंने ही साथमें भोजन किया। मध्याह्नके १२ बजनेका समय हो आया था। उन्होंने मुझे शीघ्र जानेकी सम्मति दी।

मैं जब पटनेमें था, तो मुझे हज़ारी बाग़ जानेका दो बार अवसर मिला था। मैं पटनेमें पढ़ता था। हज़ारी बाग़ ज़िलेमें जोरी एक गांव है। उसके जमीनदार थे ठाकुर श्रीश्रवणजी सिंहजी। वह अति सज्जन थे। एक बार वह और गवालियरके ब्रह्मचारी शङ्करानन्दजी, एक ही धर्मशालामें ठहरे थे। शङ्करानन्दजी साहित्य-की मध्यमा परीक्षा देने बांकीपुर आये थे। मैंने एक बार सरस्वती मासिक पत्रिकामें फोटो भी देखा था, और पढ़ा भी था कि ब्र० शङ्करानन्दजी गवालियरमें तोतारामजी कायस्थके पुत्र हैं। उनकी मातृभाषा संस्कृत है। १४ वर्षकी अवस्थामें उन्होंने पंजाबकी शास्त्री परीक्षा दी थी, उत्तीर्ण हो गये थे। वह लाहोरमें f. y. में पढ़ते थे। उन्हें देखनेकी मेरी तीव्र इच्छा थी। सुन चुका था कि वह साहित्यतीर्थ परीक्षा देनेके लिये यहां मध्यमापरीक्षाकी तैयारी करके आये हैं। मैं धर्मशालामें गया। उनसे मिला। शङ्करानन्दजी जन्मसे आर्यसमाजी थे। बाबू श्रवणसिंहजी भी आर्यसमाजी थे और मैं भी उसी विचारमें ढल गया था। बाबू श्रवणसिंहजीने बहुत प्रेमसे मुझे जोरी आनेके लिये आमन्त्रण दिया था। मैंने उसका स्वीकार कर लिया था। एक समय जोरीके लिये चल पड़ा। गया होकर जाना पड़ता है। गया तक रेलगाड़ी है। उसके बाद घोड़ागाड़ी या बैलगाड़ीका मार्ग है। जंगलमें होकर जोरी जाया जाता है। जोरी स्वयम् जंगलमें है। हरद्वारमें मैंने पर्वत देखे थे। जंगल भी देखे परन्तु दूरसे। जंगलका प्रवास नहीं किया था। जोरी

जाते समय जंगलका प्रवास हुआ। कई मीलोंका मार्ग जंगलमेंसे ही पार करना पड़ता था। एक दो जगह एक दो दूकानें भी मिली थीं जिनमें कुछ खानेकी चीजें मिल जाती थीं। मैं घोड़ागाड़ीमें था। गाड़ीवाला प्रातः ४ बजे ही गयासे मुझे लेकर चला। गर्मीके ही दिन थे। अभी अन्धेरा था। एक घण्टेके बाद घोड़ा चमक उठा। मैं नींदके झोंके खा रहा था—चौंक गया। गाड़ीवान्‌ने कहा, ख़बरदार हो जावो, बाघ आया है। मेरा तो होश-हवास सब खतम् हो गया। ऊर्ध्वश्वास चलने लगा। घोड़ा जोरसे भगा। थोड़ी देरमें गाड़ीवान्‌ने कहा, बाघ जंगलमें घुस गया। मुझे थोड़ी सी शान्ति हुई। जोरी गांवके सामने ही एक नदी है। नदीके उस पार घोर जङ्गल है। पलाशपुष्प तो मैंने सबसे पहले वहां ही देखे थे। उसमे पूर्व केवल माघमें पढ़ा था—

नवपलाशपलाशवनं पुरः स्फुटपरागपरागतपङ्कजम्।
मृदुलतान्तलतान्तमलोकयत्स सुरभिं सुरभि सुमनोभरैः॥

इसके पहले भी मेरे बड़े भ्राताजीने सुप्रबोधगुटिकामें से मुझे एक श्लोक पढ़ाया था—

निर्गन्धा इव किंशुकाः॥

मेरे कहनेका तात्पर्य यह है कि मैंन एक बार जोरीमें, जोरीसे मोटरके द्वारा हज़ारीबाग़ जाते हुए मार्गमें वनश्रीका अनुभव किया था। उस दिन अर्बुद की वनश्रीका अनुभव करनेके लिये मैं उत्कण्ठित था। मैं आबूरोडसे १२ बजेसे पूर्व ही निकल पड़ा। वह पण्डितजी बहुत दयालु भी थे। मेरे साथ बहुत दूर तक गये। वह लौट आये। मैंने उन्हें लौट जानेकी प्रार्थना की थी। अब मेरी मूर्खताका आरम्भ हुआ। जैसे कोई वैयाकरण पण्डित कण्टकारि शब्दके भटकटैया अर्थको न समझकर, जूता अर्थ करके

और भटकैटैयाकी जगह जूताको घिस घिस कर पीने लगे थे, वैसे ही मैंने भी **पगडण्डी** शब्दका अर्थ वहांसे ही शुरू कर दिया। एक रास्ता पहाड़के किनारेसे जाता था, मैं तो उसीसे चल पड़ा। लगभग दो मील जानेपर एक आदमी मिला। उसने कहा कि यह मार्ग तो उधरसे घूमकर आबूरोड जा रहा है। उस बेचारेने मुझे आबूकी सड़क पकड़ा दी। मेरा लगभग पौन घण्टा समय व्यर्थमें गया। अब मैंने पक्की सड़कको छोड़नेकी भूल नहीं की। मुझे भय था कि ६ दिन चले ११ कोस वाली बात न हो जाय। वर्षा पड़ रही थी। पहाड़ों परसे पानी झरनेके रूपमें ऊपरसे गिर रहे थे। नाले बह रहे थे। पर्वत और वृक्ष स्नान करके साफ़ सुथरे और हरे भरे हो रहे थे। यही तो वनश्री थी। देखता देखता, ऊपर चढ़ता जाता था। प्रथमसे मेरा स्वभाव है कि मैं जहांके लिये चलूं, मार्गमें विश्राम न करूं। मध्येमार्ग विश्राम करनेसे श्रान्ति बढ़ जाती है। मैं चलता ही रहा। चलने की आदत तो थी, परन्तु इतने चलने की नहीं। १८ मील चलना था। सन् १९२३ या २४ की बात है। तब मैं युवा था। चलता रहा। मार्गमें जब आबू कुछ ही मील रह जाता है, तब जैनियोंकी एक छोटी सी धर्मशाला आती है। मेरी इच्छा थी कि मैं रात धर्मशालामें बिता दूं, प्रातः आबू जाऊँगा। मेरे पास पैसे नहीं थे कि मोटरमें बैठता। पैरोंमें शक्ति नहीं थी कि मैं आगे चढ़ता। कपड़े सब भींज गये थे। कम्बल भी भींज गया था। ठंड बढ़ती जाती थी। अहिंसा परमो धर्मके पुजारीने कहा यहां जैनके अतिरिक्त कोई नहीं ठहर सकता, शास्त्रार्थ व्यर्थ था। अन्य कोई स्थान था ही नहीं, जहाँ मैं छायामें विश्राम लेता। चल पड़ा आगे। मैं जब ऊपर पहुँचा तो अन्धेरा हो चला था। अभी जहां विश्रामभवन है वहां पहुँचकर मैंने किसी से पूछा कि भाई रघुनाथमन्दिर किधर और

कितनी दूर है ? उत्तर मिला कि देखो वह बाजारमें से महाराजजी चले आ रहे हैं। वही वहाँ के महान्त हैं। इनके साथ हो लो। मेरी दृष्टि महान्तजी महाराजके ऊपर दूरसे ही पड़ी। लम्बा सा झब्बा, लम्बी लाठी, सिरपर छाता, पैरमें जूता। मत्तगयन्दकी शान्त चालसे महाराजजी आ रहे थे। मैं ठंड से कांप रहा था। मैंने कहा, महाराजजी दण्डवत्। महाराजजीने गालियोंकी वर्षा शुरू कर ही दी। मुझे निम्बार्क पण्डितजी की बातका स्मरण हो आया। मैं चुप रहा। गालियां खानेका यह प्रथम ही अवसर था और प्रथम ही अर्बुद = आबूका दर्शन था। आगे आगे महाराजजी कुछ न कुछ बोलते चले जाते थे—ससुरे न देखें, वर्षा, न देखें जाड़ा, जब जी चाहा चल दिया। बाप का घर है ··· पीछे पीछे मैं सुनता हुआ चुपचाप चला जाता था। निरुपाय था। रघुनाथ मन्दिर तो जाना ही था। रास्ता उस समय अन्धेरेमें और वर्षामें बताता ही कौन। महान्तजी किसीके घरमें घुस गये। मैंने समझा यही मन्दिर है। मैं भी उसीमें घुसा। पीछे देखकर, गुस्सा होकर, लाठी उठायी, साला यहां कहां आता है। मैं पीछे हटा। वह शिवमन्दिरके पीछे से जा रहे थे। मैं नीचे उतरकर आज जहां नखी लाज है उस रास्तेसे घूमकर, किसीके संकेतसे मन्दिर की ओर चढ़ने लगा। उधरसे महन्तजी आये, इधरसे मैं गया। मार्ग में फिर मिल गये। फिर गालियाँ शुरू हुईं। वह तो मन्दिरमें जाने लगे और मैं वहां खड़ा रह गया, जहां आज टावर बना हुआ है। उस समय वहां एक ही लाइनमें तीन या चार कोठरियां थीं। ऊपर टिन पड़े हुए थे। महाराजजी मन्दिरके द्वारपर पहुँचकर बोले—'पुजारी' देख एक वीसनव आये हैं। इनका भर्ता बनाव। मैं तो सुनकर डर गया। मैंने सुना था कि आबूपर अघोरी रहा करते हैं। मैंने समझा कि मैं ऐसी जगहपर भूलसे

आ गया हूँ कि अब बचकर जाना कठिन है। मैं तो वहाँ ही लकड़ी के समान खड़ा था, जाड़ेसे काँप रहा था, कपड़े और कम्बल सब भींग गये थे। महाराजने वहां से ही आज्ञा दी कि 'ओ साधु' उस कोठरीमें घुस जा।' मैं तो चुपचाप उस कोठरीमें घुस गया। वहाँ भी पानी टपका था। जमीन् गीली थी। एक दो तारकी चटाइयां पड़ी हुई थीं परन्तु सब आर्द्र। मेरे दुःखका पार नहीं। मैंने तो सबसे पहले उस कोठरीका दरवाजा अन्दर से बन्द कर दिया जिससे कि यहाँ कोई घुस न सके। थोड़ी देरमें श्रीमहाराजजी एक सगडी जलती हुई लेआकर स्वयम् पधारे। आवाज़ दी, ओ साधु, ले, आग ताप, नहीं तो मर जायगा। मैं तो मरा हुआ जैसा ही था। थकावट, सर्दी, भय, तिरस्कार, भूख, प्यास सबने एक साथही मेरे ऊपर हमला कर रखा था। महाराजजी तो उस आगको वहाँ ही रखकर चले गये। मैंने दरवाज़ा नहीं खोला था, अतः वह क्रुद्ध होकर ही गये होंगे। जब वह मन्दिर में पहुँचे और उनकी आवाज़ मैंने मन्दिरसे आती हुई सुनी तो मेरे जी में जी आया। मैंने चोरके समान धीरेसे–कोई आवाज़ न सुन ले–द्वारको उघाड़ा। उस जलती सगड़ी को अन्दर ले लिया। मैं तापने लगा। धोती और कुर्ते उसीसे सुखाने लगा। मोटी खादी की धोती, खादीका कुर्ता, वह उस आगसे कब सूखने का? मैंने सब कपड़े वहाँ ही डोरी बँधी थी उसपर सुखा दिये। लंगोटी भी भींज गयी थी। उसको उसी अग्नि पर सेककर सुखाकर फिर पहिन ली। थोड़ी देरमें फिर महाराजजी आये। बोले—'ओ साधु खाने चल।' मैंने धीरेसे कहा, 'महाराजजी मुझे भूख नहीं है। 'अच्छा तेरी मर्जी। कहकर वह चले गये।

मैं विचारमें पड़ा। क्या यह सचमुच पागल हैं? यदि पागल है तो इन्हें अपने कर्तव्यका इतना क्रमपूर्वक भान कैसे है? मुझे

रहनेकी जगह बतायी, आग ले आये, भोजन करनेको बुलाने आये, यह सब काम पागलोंका तो नहीं है। नींद तो हराम थी क्योंकि ठंडी थी, ज़मीन ठण्डी थी, आकाश ठण्डा था, पहाड़ ठण्डा था, मेरा शरीर ठण्डा था। प्राण ठण्डे होनेकी तैयारी में थे। यही सब विचार करता पड़ा रहा। दुःखके दिन बड़े होते हैं। दुःखकी रात लम्बी होती है। वह पूरी ही नहीं होती थी। जैसे तैसे प्रभात हुआ अज़ांपर अज़ां मुर्ग़ देने लगा। मैं चुपचाप उठा। बाहर निकला। देखा कि मार्ग चलने योग्य प्रकाश तो है। रस्सीपरसे अपने कपड़े लिये। ईश्वरका नाम लिया। वहांसे चुपचाप भगा। प्राण बचे।

एकाध मील चलनेपर पूर्ण प्रकाश हो गया। सूर्यका तो दर्शन दुर्लभ था। अखण्ड वर्षा हो रही थी। मैं फिर भींजने लगा। उपाय तो कोई था ही नहीं। छाता तो था परन्तु आबूमें, ऐसी वर्षामें सामान्य छाता निरर्थक होता है। चलने लगा। भूख और प्यासने आंखोंके सामने अन्धेरा छा दिया। मैं चलने लगा। मैं उज्जैन-शास्त्रार्थका विजयी हूँ, विद्वान् हूं, श्रीवैष्णवोंका प्रेमपात्र हूं, इत्यादि मेरा गर्व गलित हो चुका था। एक गिलास पानीका भी मैं कंगाल था। मेरा पेट रोटी मांगता था। कण्ठ जल मांगता था। कालके कौर्यने मेरे लिये सब मंहगा बना रखा था। अब मैं चल नहीं सकता था। पहले दिन चलकर ही आया था। थका था। आबूका अन्न-जल तो मेरे भाग्यमें था ही नहीं। पैर लड़खड़ाते थे। मैं थोड़ी देरके लिये बैठ गया। प्रभातका समय था। यह नीलवस्त्रधारी गिरिराज मुझे फिर देखनेको मिले, न मिले, इस तृष्णासे से प्रातः-कालीन पर्वतीय दृश्य देखने लगा। कभी जोरीकी याद आवे, कभी हज़ारी बाग़का स्मरण हो। बैठा रहा। बैठनेसे तो काम नहीं चलेगा। अभी तो १५ या १६ माइल नीचे उतरना है। चिन्ताने

दबा लिया। तो भी मैं उठा, चलने लगा।

एक मील भी नहीं गया होगा, सड़क सुधारनेवाले मिस्त्री, मजदूर वहां काम शुरू कर रहे थे। मुझे आशा हुई। आदमी हैं तो पानी अवश्य होगा। मैंने पूछा, भाई पीनेको पानी कहाँ मिलेगा? उत्तर मिला, महाराज, यहाँ पानी कहाँ? हम लोग अपने पीनेके लिये यह डब्बे भरके रखते हैं। खबर नहीं, वह पानी जूठा था या पवित्र। मैंने तो माँगा, और एक भाइने दे दिया। मेरे पास उस समय लोटा था। उसमें लेकर पीते बना, उतना जलपान किया। पश्चात् अवशिष्ट जलसे मैंने दन्तधावन किया। मजदूरोंसे बातें भी करने लगा। बातोंके सिलसिलेमें उनमेंसे किसीने पूछा बाबाजी, आपका स्थान कहाँ है? मैंने कहा—'अयोध्याजी'। अयोध्याजीमें कौन स्थान? फिर उसने पूछा। मैंने कहा—'बड़ास्थान'। उनमेंसे दो तीन भाई बोल उठे, "अरे कवन हो, रामप्रसादबाबा कै अखड़वा?" मैंने कहा 'हाँ'। उन्होंने कहा, हमारा गुरुद्वारा भी तो वही है। मैंने पूछा—तुम्हारे गुरुजीका नाम क्या है? एकने उत्तर दिया—'बाबा राममनोहरप्रसादजी महाराज"। जब उन्होंने मुझसे सुना कि मैं भी उन्हींका शिष्य हूँ तो सभीने उठकर मेरा चरणस्पर्श किया और कहा, महाराज, अब तो हम लोग आपको भोजन कराये बिना नहीं जाने देंगे। भोजनके नामसे मेरे शरीरमें विद्युत्सचार हुआ। रोगियोंको जो भावे, वैद्य वही बतावे। मुझे तो रोटी चाहती ही थी। जीभ गङ्गाजीका उद्गमस्थान बन गयी। मैंने एक दो बार ना नू किया, परन्तु न तो वह मुझे छोड़ सकते थे और न मैं रोटीको छोड़ सकता था। मैं बैठ गया। उन्हीं डब्बोंके थोड़ेसे जलसे मैंने भिगे हुए शरीरको फिर भिगा दिया। इसका नाम था स्नान। कपड़े तो सब गीले ही थे। परन्तु अब मैं ३-४ मील नीचे उतर आया था।

अतः वर्षाका ज़ोर कम हो चुका था। भींजे कपड़ेसे ही मैं रसोई बनाने बैठा। लकड़ी गीली। कण्डे थे नहीं। जैसे तैसे ३-४ रोटियाँ मैंने बना लीं। आँटा तो भिजाया गया था बहुत। थोड़ीसी रोटियाँ मैंने अधिक बना लीं। उन सब भाइयोंको प्रसाद देना था। रोटी तो बन गयी। किसके साथ खायी जायगी, यह विचार ही कर रहा था। इतनेमे ही थोड़ासा गुड़ मेरे सामने आ गया। मैंने गुड़के साथ रोटीको रामनामके साथ उदरसात् किया। तृप्त हुआ। ब्रह्माण्ड स्थिर बना। पृथिवी फिर मुझे अचला दीखने लगी। थोड़ा सा विश्राम करके उन भाइयोंसे पूछकर, मनमें उन्हें धन्यवाद देता हुआ आगे बढ़ा।

मैं चला जा रहा था परन्तु मन अपने उधेड़ बुनमें लगा हुआ था। विचार आया, धर्म भी कैसी चीज है। वैष्णवताके नाते, एक गुरुके शिष्य होनेके नाते अथवा एक गुरुद्वारा होनेके नाते, इस जङ्गलमें भी हमें प्रेमका अनुभव हुआ। बात तो कुछ नहीं थी— छह अक्षरोंका मन्त्र और तुलसीकी लकड़ीके कुछ मणिके, इनके सिवा तीसरी कोई भी चीज मुझे और उन्हें जोड़नेवाली नहीं थी। उन्होने अपनी उपभोगकी वस्तुमेंसे निकालकर मुझे दिया। उनके हृदयमें अपने धर्म, अपने धर्मगुरु और अपने धर्मगुरुभाईके लिये कितना मान था, कितना प्रेम था। इन विचारोंने मुझे गद्गद बना दिया।

रातकी बात याद आयी। रघुनाथमन्दिरके महाराजजीकी गालियाँ, आगकी सिगड़ीको स्वयम् उनका लाना, भोजनके लिये स्वयम् उनका बुलाने आना, यह सब भी मेरे विचारका अब विषय बन गया था। अन्तमें मेरे मुखसे निकला—

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति॥

अब पहाड़की उतरायी पूरी हो चुकी थी। थोड़ी देरमें मैं आबूरोड-खराडी-मन्दिरमें पहुँचूँगा। पण्डितजी मिलेंगे। महान्त रामलखनदासजी मिलेंगे। वह समाचार पूछेंगे। मैं कहूँगा। क्या कहूँगा? क्या जो कुछ रातमें मेरे सिरपर बीती, सब कहूँगा? तुरन्त मेरे मस्तिष्कमें यह श्लोक स्मृत हो आया—

'वञ्चनं चापमानं च मतिमान् न प्रकाशयेत् ।'

परन्तु मैंने निश्चय किया, जो कुछ हुआ सभी कहूँगा। वहाँ पहुँच गया। सब वृत्तान्त मैंने सुना दिया। गालियोंकी मीमांसा तो हुई, परन्तु मैं आबूमें अन्न-जलके बिना थका थकाया सो गया था, भूख-प्यासे ही ब्राह्ममुहूर्तमें चुपचाप चल दिया था, इस घटनाने सबको दुःखी बना दिया। मुझे भी लज्जाने दबा रखा था। अपमानके फलका मैंने यहाँ अनुभव किया। अमृतसरमें भी अपमानका फल मुझे भोगना पड़ा था परन्तु दोनोंके देश, काल और स्वरूपमें अन्तर था। मैं पालनपुर पहुँचा। वहां किसीसे भी यह बात मैंने नहीं की थी।

पञ्चम परिच्छेद

उन दिनों आबूमें एक मथुरादास टाटम्बरी रहते थे। वह रामानन्दीय सन्त थे। वह कुछ पढे लिखे नहीं थे। पढ़नेकी इच्छा बहुत थी। उन्होंने सुन रखा था कि पण्डित रघुवरदासजी उँझामें रहते हैं। बड़े विद्वान् हैं। वह वहाँ उनके पास कुछ पढ़ने के लिये आबूसे गये। कुछ महीनों तक कुछ पढ़ा भी। वह फिर आबू गये। उन्होंने वहां जाकर पण्डितजीकी खूब प्रशंसा की। और वहांके श्रीमहान्तजी महाराजको प्रेरणा की कि वह उँझासे पण्डित जी को बुलावें। पण्डितजीका गर्मियोंमें आनेका आमन्त्रण आबू से पहुँच गया।

पण्डित श्रीरघुवरदासजीको मैं अब आगे 'श्रीवेदान्तीजी' इस शब्द से सम्बोधित करूँगा। श्रीवेदान्तीजी आबूमें पहुँचकर मुझे बुलानेका भी निश्चय करने लगे। आबूके श्रीमहान्तजी महाराजका नाम था परमहंस श्रीदामोदरदासजी महाराज। श्रीपरमहंसजी को पहलेसे ही आबूरोड वाले महान्त श्रीरामलखनदासजीने कह रखा था कि आपने अपने सम्प्रदायके एक विद्वान्का आबूमें अपमान किया है। वही सब कथा श्रीपरमहंसजी महाराजने श्रीवेदान्तीजीको भी सुनायी। श्रीवेदान्तीजीको या किसी अन्य-को भी मैंने यह आबूकी कथा नहीं कही थी। केवल आबूरोडमें ही यह बात सुनायी गयी थी। श्रीवेदान्तीजीको आश्चर्य हुआ। वह मेरे परम मित्र थे। इतना ही नहीं, वही एक मेरे मित्र थे। उनसे विरोध होनेके पश्चात् मेरे जीवनमेंसे मित्र जैसी चीज़ सदाके लिये निकल गयी। उन्होंने श्रीपरमहंसजी महाराजसे आग्रह

किया कि मुझे बुलाया जाय। आग्रहकी कोई बात ही नहीं थी। श्रीपरमहंसजीमहाराज राग-द्वेषसे, मान-अपमानसे बहुत दूर थे। वह सच्चे अर्थमें परमहंस थे और सच्चे अर्थ में सन्त थे। मुझे भी आबूसे पत्र पहुँचा। मैं भी आबू जानेके लिये तैयार हो गया।

श्रीवेदान्तीजी को आबू पहुँचते ही एक बड़ा लाभ यह हुआ कि लिम्बडीके तत्कालीन ठाकुरसाहब श्रीदौलतसिंहजीसे श्री रघुनाथमन्दिरमें ही परिचय हो गया। ठाकुरसाहबने श्रीवेदान्तीजी-से कहा 'यदि आप मेरी कोठीपर आ सकें तो वहां गीतादिपर आपका उपदेश सुननेका लाभ मुझे मिले। श्रीवेदान्तीजी वहां जाने लगे। मैं जब आबू पहुँचा तब श्रीवेदान्तीजीने यह बात मुझे कही थी और एक दिन तो मुझे भी लिम्बडी कोठीपर वह ले गये थे। मैं तो खादी ही पहिनता था। एक धोती और एक कुर्ता, यही मेरे पहिनने की चीज़। ऊपरसे एक चादर। वह भी खादीकी ही। इसी पोशाकमें मैं एक दर्बारके पास गया। थोड़ी देरमें ठाकुर साहब आये। मेरा परिचय पूछा और सुना। श्रीमहात्माजी-के सत्याग्रहका कठोर काल था। महात्माजीने एकबार हरिजनमें या यङ्ग इण्डियामें देशी राजोंको वाइसरायका खानसामा बताया था। इन ठाकुरसाहबोंकी तो कोई गिनती ही नहीं थी। ठाकुर साहबने नाक भौं सिकोड़कर कहा, महाराज यदि आप इस ड्रेस (पोशाक) में न रहते तो हमारे जैसोंको बहुत लाभ होता। मैंने पूछा कि इस मेरे पोशाकमें कोई दोष है? उत्तर मिला दोष तो नहीं परन्तु इसमेंसे राजद्रोहका गन्ध आता है। मैंने कहा, ठाकुर साहब, आपके पास धन, सम्पत्ति है, सब कुछ है। मेरे जैसे आपके पास न आवें तो भी आपको जो लाभ मिलना है वह तो राजभक्त विद्वानोंसे मिल ही जायगा। उसके पश्चात् मैं कभी भी उनकी कोठीपर नहीं गया।

इस बार श्री रघुनाथमन्दिरमें मेरा भी सम्मान था। श्रीपरम-हंसजीमहाराज बड़े गुणग्राही थे। उनकी वह भूल सदा खटकती रहती थी। मैं तो वहाँ प्रतिवर्ष गर्मियोंमें तो अवश्य ही जाता। गर्मीके बाद भी रहता। चम्पागुफा मेरे रहनेकी जगह। चम्पागुफा-के नामसे दो गुफाएँ हैं। एक बड़ी और एक छोटी। छोटी गुफा बहुत सुन्दर है और सर्व-ऋतु-सुखप्रद। हवा-प्रकाश भी पुष्कल। बड़ी गुफा केवल गर्मियोंके लिये अच्छी। बर्सातमें ख़राब। थोड़ा सा भी जलवर्षण हो तो गुफामें जलकी धारा बहने लगती। उसमें एक नाली बनायी गयी थी। उसीमेंसे जल बाहर निकल जाता। परन्तु ठंडक और गन्दगी तो रहने की ही। मैं उसी छोटी गुफामें १६ वर्ष बिताये थे। सन् १६४२ ई०में मैंने उसे छोड़ा। गर्मी समाप्त हो चुकी थी। यात्री सब चले गये थे। आजके वर्त-मान महान्तश्रीरामशोभादासजी उस समय वृन्दावनमें कुछ पढ़ते थे। श्रीपरमहंसजीमहाराजको एक दिन बड़े जोरसे ज्वर आया। भोजनके लिये मैं नित्य मन्दिरमें ही आता था। ज्वरका समाचार सुनकर मैं सीधा उनके पास गया। उनके रहनेकी कोठरी ठीक उस जगह थी जहां आज मन्दिरके बाहरके भागमें बड़ा कमरा बना हुआ है और जिसमें आजके श्रीमहान्तजी रहते हैं। आज यह कमरा नीचे है। वह मकान टिनका था और थोड़ी ऊँचाईपर था। मैं अन्दर गया। श्रीपरमहंसजी महाराज व्याकुल पड़े थे। उनके पास कोई नहीं। एक चटाईपर एक कम्बल या दरी बिछाये वह पड़े थे। इधरसे उधर आलोटते थे। मैंने कहा, महाराजजी, कैसी तबीअत है? बुखार बहुत जोरोंसे आ गया है ब्रह्मचारीजी!, उन्होंने कहा। मैं थोड़ी देर तक सिर और हाथ-पैरोंपर हाथ फेरता रहा। उनको शान्ति मिली। पानी मांगा, मैंने लाकर एक गिलास पानीका दिया। भोजन करनेका समय हो चुका था, भोग लग चुका था।

श्रीपरमहंसजीने मुझे आग्रहसे भोजनके लिये भेजा। मैं भोजन करके पुनः वहां ही आ बैठा। उनका वह ज्वर सायङ्काल ४ या ५ बजे उतर सका था। रात्रिमें मैं गुफामें न जाकर उनके पास ही रहा। सचमुच वह बड़े सन्त थे। उन्होंने पुरानी बातका स्मरण किया। कहा, ब्रह्मचारीजी उस दिन तो मैं नहीं जानता था कि आप ऐसे विद्वान् होकर भी इतने सेवाभावी हैं। उन्होंने यह इस लिये कहा था कि दो बार पेशाब मैंने एक मिट्टीके पात्रमें कराकर बाहर फेंक आया था। मैंने कहा, महाराजजी, अपरिचित दशामें तो ऐसा हुआ ही करता है। परन्तु आपने अपने हाथोंसे मुझे आग तापनेके लिये बरसते बरसातमें पहुँचायी, भोजन करनेके लिये आप स्वयम् बुलाने आये. आपकी इस उदारता और दयालुताके सामने वह गालियां तो कोई चीज ही नहीं थी, मैंने कहा—

एको हि दोषो गुणसन्निपाते,
निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः ॥

महाराजपरमहंसजीने कहा, नहीं, मुझे आज जान पड़ रहा है कि मैंने उस दिन भूल की और इसी लिये आपको मेरे स्थानसे भूखे प्यासे जाना पड़ा था। मैंने देखा कि इन बातोंके स्मरणसे श्रीपरमहंसजीके हृदयपर आघात हो रहा था, मुझे भी दुःख हो रहा था। मैंने बात टाल दी। दूसरी बात चली। प्रसन्नताका वातावरण छा गया।

यह मैं कह आया हूँ कि मैं चम्पागुफामें रहता था तो भी भोजनके लिये तो मन्दिरमें ही आता था। वहाँ सदा विरक्तसाधु रसोइया-पुजारी रहा करता था। एक दिन वहाँ मन्दिरमें कोई रसोई थी। मिष्ठान्न बना हुआ था। उसे एक ब्राह्मणने शायद गणेशने बनाया था। दाल-भात भी गणेशने ही बनाया

था। मैं आया और यह सब जानकर विचारमें पड़ गया। तब तक मैं ब्राह्मणके हाथका—वैष्णवदीक्षाके पश्चात् कभी भी भोजन नहीं किया था। अयोध्यावासियोंका ऐसा ही संस्कार है, उनकी ऐसी ही प्रथा है। श्रीपरमहंसजी तो रसोईमें पहुँच गये, मैंने कहा, महाराजजी मैं तो भोजन नहीं करूँगा। तब वह कुछ नहीं बोले। परन्तु जब श्रीरामशोभादासजीने भी ऐसा ही कहा, तो उनको क्रोध आया और बोल उठे—तुम्हारे द्वारा गादीके आचार्य तो सब शूद्र हैं। उनका तुम लोग खाते हो और ब्राह्मणका भोजन खानेमें तुम्हें पाप लगता है। यह सुनकर मुझे बहुत दुःख हुआ। किसी सम्प्रदायके पूर्वजोंको बुरा-भला कहना अच्छा नहीं। यह मेरी भावना आज भी बनी हुई है। दुःखसे, उसी दिनसे मैंने मन्दिरमें भोजन करना छोड़ दिया। दूसरे दिन श्रीपरमहंसजी महाराज सायङ्काल मेरे पास गुफापर आये थे। भोजन न करनेका कारण पूछा। मैंने कहा, महाराजजी, आप भी हमारे बड़े ही हैं, हमारे पूर्वज भी बड़े ही हैं। पूर्वजोंके लिये अपशब्द और अवाच्य सुननेके मार्गको ही बन्द करना उचित है। मन्दिर मेरा ही है। मैं आपका ही हूं। परन्तु अब मैं यहाँ ही भोजन बनाने-खानेका प्रबन्ध करूँगा। श्रीपरमहंसजीमहाराज चले गये। जहां तक मुझे स्मरण है, उस दिन श्रीयुत रामशोभादासजीने भी भोजन नहीं किया था।

वर्षाका ऋतु। मैंने कभी धन कमाने और उसके संग्रह करने की न तो इच्छा की है और न प्रयास किया है। उस समय भी मैं ऐसा ही था। मन्दिरमें भगवत्प्रसादसेवनको तो छोड़ दिया परन्तु गुफामें रहकर खाना क्या? यह एक विकट प्रश्न था। टाटम्बरी मथुरादासजी मेरे यहां नारायणमन्त्रार्थ=अष्टश्लोकी और उपनिषद्का रंगरामानुजका भाष्य पढ़ने आया करते थे।

विशिष्टाद्वैतमतविजयवाद् भी उन्होंने मुझसे ही पढ़ा था। वह प्रतिदिन पढ़ने आते थे। मैं भूखा रहता था तो भी उन्हें पढ़ा दिया करता था। उन्हें पता नहीं था कि मैंने मन्दिरमें भोजन करना छोड़ दिया है। तीसरे दिन उन्होंने मेरे मुखपर उदासी और ग्लानिका चिह्न देखकर उसका कारण पूछा। मैंने सब बातें उनसे कह दीं और कहा कि आज तीसरा दिन है, कुछ खाया नहीं। उन्हें पढ़ा दिया, वह अपनी हाथी गुफामें चले गये। वह पहले इसी चम्पा गुफामें रहते थे। परन्तु जब मेरी इच्छा उस गुफामें रहनेकी हुई तो वह उसे छोड़कर थोड़े दिनों तक दूध बावड़ी पर रहे और वहां रहकर ही हाथी गुफाको तैयार कराया। वहां ही वह रहने लगे। नक्की तालाबके किनारेकी गुफाओंमेंसे हाथीगुफा बड़ी गुफा है। उसमें पीछेके भागमें कूआ भी है। अन्दर द्वारमें प्रवेश करते ही एक अन्धेरी कोठरी भी उन्होंने बनवा ली थी। उनमें दम्भकी मात्रा अधिक थी। वह जब मेरे यहां पढ़ने आते थे, तब भी पुस्तक छिपाकर लाते थे। पढ़ते समय कोई गुफापर गुफादर्शन के लिये आ जाता तो पढ़ना बन्द कर देते, पुस्तकको अपने पहिने हुए टाटसे छिपा देते। उनकी गुफामें जब कोई दर्शनार्थी आता तो वह उसी अन्धन्तम कोठरीमें घुस जाते और वहां ही सबको दर्शन देते। सिद्ध योगिराज अन्धेरी कोठरी में ही रहते हैं, ऐसी, बाहर के यात्रियों को प्रतीति होती।

उनमें विद्या तो बहुत ही कम थी। भक्ति तो थी ही नहीं। आडम्बर अधिक था और टाटाम्बर उसमें वृद्धि करता था। उसी गुफामें रहकर वह खेतडीकी रानीकी एक या दो कन्याओं का विवाह हो जाय, इसके लिये राममन्त्रादिका जप भी करते थे। रानीको विश्वास दिलाया था कि उनकी पुत्री या पुत्रियोंका विवाह ६ मासमें अवश्य हो जायगा। रानीने उनकी बहुत सेवा

की। गुफा तांबा-पीतलके बर्तनोंसे भर गयी। खेतडी हाउससे नित्य थार भोजनका आया करता था। अनेक अन्य सामान भी पहुँचा करते थे। दक्षिणा तो मिलती ही थी। राममन्त्रका जप वह किया ही करते थे। आश्वासन भी रानीको मिला ही करता था। उस समय उनका टाट-फाट सब उनसे अलग हो गया। रेशमी रङ्ग बिरङ्गे झब्बे तैयार हुए। टाटम्बरीजी प्रातः एक रंगके वस्त्रमें तो दोपहरके दूसरे रंगमें और सायंकाल तीसरे रंगमें निकलते थे। टाटाम्बरीजी पाटाम्बरी हो गये। खेतडी रानीके धनसे टाटाम्बरीजीने चित्रकूटमें एक रामानन्दस्वामीजीकी चरण-पादुका बनवाई जिसका दर्शन अभी तक मैं नहीं कर सका। अस्तु।

आबूमें जब मैं उपोषित रहा करता था एक चारण ज़मीनदार चम्पा गुफामें आये। मैं तो चिन्तित था। उन्होंने आकर पूछा कि "कल्याणका मार्ग कौन सा है?" मुझे अपने ही कल्याणका मार्ग ढूंढना है। मैंने उनसे कह दिया कि यह सब मैं नहीं जानता। ऊपर रामझरोखेमें जाइये। वहां सिद्ध महात्मा रहते हैं। राम झरोखेमें स्वामीकैवल्यानन्दजी रहा करते थे। मैंने उनके पास उन्हें भेजकर अपने प्राण बचाये।

उन चारणबन्धुको संभवतः ऐसा प्रतीत हुआ होगा कि सन्तों-के सामने कुछ भेंट चढ़ानी चाहिये। उन्होंने स्वामीकैवल्यानन्दजी-के सामने दस रूपयेकी नोट रखा। वहाँ भी कल्याणका मार्ग कौन सा है?" पूछा। उन्होंने भी अपने प्राण बचाये और कह दिया हाथी गुफ़ामें एक टाटाम्बरी रहते हैं, उनके पास जावो, वह सब बतावेंगे। वह वहाँ गये। वहां भी उन्होंने एक नोट दस रूपयेका चढ़ा दिया और "कल्याणका मार्ग कौन सा है?" पूछा। टाटाम्बरीजी उस दिन उदार बन गये। बोले, तुम चम्पागुफ़ामे गये थे या नहीं? उत्तर मिला 'गया था'। तब तुमने वहाँ यह प्रश्न किया

था या नहीं ?" उत्तर मिला 'किया था, परन्तु उन्होंने कहा मैं यह सब जानता ही हूँ। रामझरोखमें जावो।' टाटाम्बरीजीने कहा वही तो बड़े विद्वान् हैं। वही इस प्रश्नका समुचित उत्तर दे सकते हैं। तुमने वहाँ कुछ भेट चढ़ायी या नहीं ? 'कुछ भी नहीं चढ़ाई' उत्तर मिला। उन्होंने मेरे भूखे रहनेकी बात उनसे की और मेरे पास उन्होंने उन भाईको भेज दिया। वह आकर, साष्टाङ्ग करके बैठ गये और बोले, 'महाराजजी मुझसे बड़ा अपराध हुआ, क्षमा करेंगे। मैंने सुना है कि आपने आज तीन दिनोंसे भोजन नहीं किया है। जो आज्ञा हो, करूँ ? मैंने कहा, आपकी जो इच्छा हो करें। किसीसे मांगना मैं पसन्द नहीं करता। वह बाजारमें चले गये। आटा दालादि, एक थैला कोयला लेकर गुफामें पहुँचे। मैंने दूसरे दिन वहां भोजन बनाया, खाया। चतुर्थ दिन था। वह जमीनदार मेरे पास बहुत समय आते और मैं उन्हें उपदेश करता। वह मारवाड़के थे, एक सप्ताहक बाद मारवाड़ चले गये।

षष्ठ परिच्छेद

आबूमें मैंने १६ चौतुर्मास्य व्यतीत किये हैं। मुझे जब साम्प्रदायिक कार्यसे बाहर जाना पड़ता तो उतने दिन बाहर रहकर पुनः मैं आबूमें ही आ जाता। आबू मेरे लिये बहुत सुन्दर आश्रम और आश्रय था। चम्पागुफाकी मैं खूब सेवा करता और वह मुझे खूब सुख देती। एक समय वहां रहते हुए मुझे 'वेदान्तसिद्धान्त-लेश' की आवश्यकता पड़ी। यह ग्रन्थ मंगाना था। उसका मूल्य ४-५ रूपये होगा। यह रूपये कहाँसे आवें? माँगनेका तो स्वभाव ही नहीं था। परिश्रम करके ही अपनी आवश्यकताओंकी पूर्तिका पाठ सत्याग्रह आश्रम साबरमतीमें पढ़ा था। वह ताजा ही था। आज भी वह ताजा ही है। मैं एक दिन प्रातः उठा, नीचे उतर गया। आबूरोड (खराडी) पहुँचा। वहाँ एक ईंटोंका भट्ठा है। वहां सदा ही कोई न कोई मजदूरी मिला ही करती थी। २०-२५ मजदूर मिट्टी लाने, पानी लाने, ईंटे उठाने—ढोने आदिका काम किया ही करते थे। मैं वहां जाकर अपने ब्रह्मचारीके बाह्य रूपको बदलकर, मजदूरका रूप धारण करके, मैनेजरके पाससे ईंटोंको ढोनेका काम प्राप्त कर सका। शायद ६ आने रोज मजदूरी मिलती थी। उसीमेंसे भोजन भी चलाना पड़ता था। जब मेरे पास पाँच रूपये हो गये, तो मैं अपना ब्रह्मचारीका रूप संभालकर पुनः आबू चम्पागुफामें आ गया। इतनी सख्त मजदूरीका काम तो मुझे क्यों कभी करना पड़ता? कभी ऐसा काम नहीं किया था। सिर, गर्दन ईंटोंके भारसे दबे रहनेके कारण बहुत दिनों तक चम्पागुफामें पीड़ाके मारे दुःखी थे। कमरकी भी ऐसी ही दशा थी।

सारे स्वास्थ्यपर उसका असर पड़ा। परन्तु मुझे प्रसन्नता हुई कि जगत्के एक महान् आत्माके आश्रमसे मैं जो कुछ सीखकर आया था, मैं समयपर उसकी परीक्षामें उत्तीर्ण हुआ था और मुझे किसी-से कुछ मांगना नहीं पड़ा था। आश्रममें रहकर मैंने वह सब सीखा था। बहुत पहले दक्षिण अफ्रिकामें श्रीमहात्मागांधीजीने अपने जीवनमें कैसे श्रम किये थे, उन्हें मैं पुस्तकों और समाचारपत्रोंसे जानता था। स्वामीसत्यदेवजी अमेरिकामें कैसी कैसी मजदूरियाँ करते थे, मैं उसे भी जानता था, इसीसे मेरा उत्साहभङ्ग नहीं हुआ, मानभङ्ग नहीं हुआ, थोड़ेसे कष्टोंसे मुझे पश्चात्ताप भी नहीं हुआ। देह-पीड़ा तो थोड़े दिनोंमें निवृत्त हो गयी। ऐसा अवसर तो फिर मेरे जीवनमें अभी तक नहीं आया है। आगे, भविष्यमें क्या होगा उसे तो भविष्य ही जानता होगा।

आबूमें एक खाकी बाबा हैं। वह अब नखी तालाबके किनारे, ऊपर हनुमान्जीके मन्दिरके ऊपर पिप्पलाद गुफामें रहते हैं। थोड़े दिनों तक इधर उधर रहकर फिर तो वह उसी गुफामें रहने लगे। उसका पिप्पलाद नाम मैंने ही रख दिया था। वहां एक पिप्पलका छोटासा वृक्ष था। अब वह है या नहीं, मुझे ज्ञान नहीं है। वह बहुत ही निर्मल और निस्स्पृह सन्त हैं। मैं जब अमृतसरमें श्रीमान् पण्डित हरदत्तजी त्रिवेदीके पास पढ़ता था, उससे पूर्व वह जम्मूमें राजपण्डित थे। राजा भी शाक्त धर्ममें श्रद्धा रखते थे। श्रीपण्डितजी तो उसके विद्वान् भी थे और दीक्षित उपासक भी थे। उपासनाके किसी विषयमें उनका राजाके साथ मतभेद हो गया था और वह वहाँसे अमृतसर चले आये थे। इसी प्रसङ्गके वर्णनके अवसरपर, श्रीपण्डितजीके ही मुखसे मैंने प्रथम प्रथम यह एक श्लोकका पाद सुना था—

"निरीहाणामीशस्तृणमिव तिरस्कारविषयः"

'जिसे किसी वस्तुकी स्पृहा नहीं है, इच्छा नहीं है, उसकी दृष्टिमें राजा भी तृणसमान ही है।' श्रीखाकी बाबाके लिये भी मैं ऐसा ही मानता हूं। वह इतने निस्स्पृह और विरक्त हैं कि उनके सामने मैं अपनी विरक्तताको लज्जित होती देखता हूँ। यद्यपि अब वह आबूमें बहुल वर्षोंसे रहनेके कारण सर्वत्र परिचित और प्रख्यात हो चुके हैं तथापि अब भी, और पहले भी जङ्गलोंमें चले जाते, कोई कन्द खोद लाते, कोई भाजी बन सके ऐसी बनस्पति खोद लाते, गर्मियोंमें गूलरके फल तोड़ लाते और उन्हींसे अपना निर्वाह करते। अब भी वह ऐसे ही पवित्रजीवनका आस्वाद लेते रहते हैं। उपकार उनका स्वभाव है। उनसे कोई जरा भी टेढ़ा हो जाय, कोई उनके सामने अपना गर्व दिखावे, अपनी आंख दिखावे तो वह दुर्वासा बन जाते हैं और उसके पास कभी भी नहीं पहुँचते हैं। वह मुझपर आज भी अटूट श्रद्धा और प्रेम रखते हैं। उस समय जब कि मैं वहाँ चम्पागुफामें रहता, मुझे कोई कष्ट होता, ज्वर होता, पीड़ा होती तो वही मेरी सेवा करते। मुझे बाजारसे किसी वस्तुकी आवश्यकता होती तो वही दौड़कर ले आते।

एक दिन रात्रिके समय लगभग ६ बजे मेरी गुफापर आये। मैं बैठा हुआ जप कर रहा था। मेरी गुफामें अन्दरसे बन्द करनेकी सांकड़ नहीं थी। अन्दर ही बैठा था, या बाहर, यह मुझे पूर्णतया स्मृत नहीं है। रघुनाथमन्दिरके श्रीपरमहंसजीमहाराजसे वह कभी कभी, रुष्ट हो जाया करते थे। श्रीपरमहंसजीमहाराजका स्वभाव भी थोड़ासा उग्र तो था ही, खाकी बाबाका स्वभाव भी थोड़ा उग्र ही है। खाकी बाबा उस समय परमहंसजीमहाराजसे बोलते नहीं थे। अत एव वह मन्दिरमें भी नहीं जाते थे। उन्होंने आकर कहा, "परमहंसजी गोशालाकी किसी गायको ढूँढ़नेके लिये सायङ्काल गये थे, परन्तु लौटते हुए मैंने उन्हें

नहीं देखा। क्या वह जङ्गलमें ही तो नहीं रह गये ?" मैं तो एकदम चौंक गया। परमहंसजीमहाराजका वृद्ध शरीर, रात्रिका समय, वर्षा खूब होकर दो दिन पहले ही थोड़ा सा विश्राम ले रही थी, मुझे परमहंसजी महाराजकी चिन्ता हुई। मैंने कहा खाकी बाबा, हम मन्दिर चलें, वहां पता लगावें। हम दोनों मन्दिरमें गये। उस दिन वह उस कमरेमें सोये पड़े थे, जिसमें उस मन्दिरके अधिकारी श्रीअम्बाशंकर भाई पहले रहा करते थे। उस समय तो, उससे बहुत पहलेसे ही श्रीरामशोभादासजी वृन्दावनसे आ चुके थे और मन्दिरमें ही रहते थे। मैंने वहां पहुँचकर श्रीरामशोभादासजीको ही बुलाया। वह तो अन्दर रहा करते थे। यदि मैं भूलता नहीं हूँ तो पूजाका भार भी उन्हींके ऊपर था, जल्दी सोकर जल्दी उठना उनके लिये आवश्यक था। मेरा शब्द सुनकर परमहंसजीमहाराज उठ गये, बोले क्या है ब्रह्मचारीजी ? हमारे शरीरमें प्राण आया। निश्चिन्तता जग उठी। परमहंसजीमहाराज जङ्गलमेंसे आ गये हैं, यह तो स्पष्ट ही हो गया। इस प्रश्नको दबाकर मैंने पूछा, महाराजजी मन्दिरकी कोई गाय खो गयी है, ऐसा खाकी बाबा कहते हैं। परमहंसजीने कहा, खो तो गयी थी, परन्तु मैं ढूँढ़ने गया था और पता लग गया। वह एक खड्डेमें गिरी पड़ी है। इस समय रात्रिमें, वर्षामें वह वहांसे निकाली नहीं जा सकती। प्रातःकाल उपाय किया जायगा। आप जाकर सो जायं। कोठरीमें खाटपर पड़े पड़े ही परमहंसजीने यह सब कहा। उन्हें पता नहीं लग सका था कि खाकी बाबा भी मेरे साथ हो हैं।

हम दोनों चम्पागुफापर आये। मैंने कहा खाकी बाबा, आप एक काम करेंगे ? उन्होंने कहा 'क्यों नहीं करूँगा ?' 'क्या काम है ?' मैंने कहा, गाय खड्डेमें गिरी पड़ी है, यह हम न जानते होते तो यह दूसरी बात थी। अब हम इसे जान गये हैं।

रात्रिका समय है। घोर वर्षा नहीं है, तथापि वर्षा तो पड़ती रही है। कोई जानवर आकर गायको नुक़सान करे तो बहुत दुःखकी बात होगी। अतः मेरा विचार है कि यदि आप तैयार हों तो हम दोनों ही श्रीपरमहंसजीके पास पुनः चलें, और गाय कहाँ पड़ी है, उसे जानकर वहाँ हम लोग चलें और रात्रिभर वहां रह कर पहरा दें। प्रातःकाल तो वह निकाली ही जायगी। वह तुरन्त तैयार हो गये। वर्षा होनेपर स्वामी कैवल्यानन्दजी रामझरोखे-से चले जाया करते थे। वहां कोई साधु वर्षामें नहीं रहते थे। परन्तु एक सन्यासी या निर्मलसम्प्रदायके कोई सन्त उन दिनों रामझरोखे निवास करते थे। खाकी बाबाकी आवाज़ जरा भारी है। उनकी आवाज़ सुनकर वह महात्मा ऊपरसे नीचे आये। हम लोगों ने उनसे भी यह बात कही, और वह भी हमारे साथ चलनेको तैयार हो गये। यदि मैं भूलता नहीं हूँ तो नखी लॉजके अधिष्ठाता सियारामपांडे भी हमारे साथ थे। वह महात्मा अपने ओढ़ने के लिये कम्बल आदि लेने ऊपर गये। वह कम्बल लेकर नीचे तालाबके किनारे हमारी प्रतीक्षा करें, ऐसा उन्हें कहकर, मैं और खाकी बाबा दोनों ही पुनः मन्दिर गये। खाकी बाबा जङ्गलों से परिचित थे। **यह हमार मग पग पग जोहा।** मैं जङ्गलसे परिचित ही नहीं था। परमहंसजी महाराजको मैंने पुनः जगाया। गाय जहां पड़ी हुई थी उसका पूरा पता पूछा। पूछ-पाछ करनेमें आवाज़ सुनकर श्रीरामशोभादासजी बाहर निकल आये। उनसे भी मैंने बात की कि हम लोग जङ्गल में जाते हैं। गायको ढूंढ़कर रातभर वहां उसके पास बैठेंगे-पहरा देंगे। वह भी हमारे साथी होने को तैयार हो गये। हम लोग ४-५ सात लालटेनें, बैटरियां, लाठी, सोंटे, कम्बल, दियासलाई आदि लेकर वहां पहुँचे जहां गोमाता निराश्रित दशामें एक खड्डेमें पड़ी हुई थी। गोमाताने

कातर दृष्टिसे, आर्तदृष्टिसे हम लोगोंकी ओर देखा। हमने उसकी दशाका अवलोकन किया। हम घास और पानी भी अपने साथ ले गये थे। हमने माताको उठाकर खड़ी करनेका प्रयत्न किया। उसकी कोई हड्डी टूट गयी थी, ऊपरसे नीचे पड़ जानेसे किसी ऐसे अवयवमें चोट लगी थी जिसे हम जान नहीं सके, गाय खड़ी न हो सकी। चारा उसके सामने रखा गया, वह खा न सकी। पानी भी पी न सकी। उसकी दशापर, उसकी स्थितिपर उसके दुःखपर हम लोगोंने अपनी विवशता प्रकट करते हुए वहां ही उसके पास ही डेरा डाल दिया। डेरामें था ही क्या? किसीके पास एक और किसीके पास दो कम्बल थे। रात्रिमें बाघ गायपर या हम लोगोंपर हमला न कर सके, इस दृष्टिसे हम लोगोंने जहां तहां जलती लालटेनें रख दी थीं। खाकी बाबा लकड़ी इकट्ठा करनेमें, घासके संग्रह करनेमें लग गये। सर्दी भी तो थी ही, उसे दूर करनेके लिये भी आग चाहिये थी। जनश्रुति है कि आग देखकर बाघ पासमें नहीं आता, इस लिये भी अग्निकी आवश्यकता थी। खाकी बाबाने प्रयत्न तो किया, लकड़ी और घास तो मिली परन्तु सूखी तो नहीं ही। गीली लकड़ी-गीली घास। जले कैसे? जंगलसे कंडे भी खाकी बाबा ले आये थे। मिट्टी का तेल छांट छांटकर कैसे भी उन्होंने धूमवान् पर्वत तो बना ही दिया। जो धूमवान् हो उसका वह्निमान् होना भी तो अनिवार्य ही है। वह्निमान् पर्वत और जगल तो बना परन्तु उस वन्हिमें कार्यसाधकता न थी। हम लोग कम्बल ओढ़ ओढ़कर बैठे। छाते आबूकी हवा में निरर्थक और निर्बल हो जाते हैं। मन्दमन्द वर्षा हो रही थी। आनन्दसे, चिन्तासे, उद्वेगसे हम लोगोंने उषःकालका दर्शन किया। अब बाघ आदि हिंसक पशुका भय नहीं रह गया था। हम लोग ज़रा सा लम्बे हुए। कोई सो गया,

कोई जागता ही रहा। प्रकाश होनेपर एक बार हम लोगोंने पुनः गोमाताको उठानेके लिये प्रयत्न किया, परन्तु सब व्यर्थ। हमको तो ऐसा मालूम हुआ कि उसे उठानेका प्रयत्न भी एक प्रकारकी हिंसा ही है। उसे बहुत कष्ट होता था। मन्दिरसे नौकर घास पानी लेकर वहाँ प्रातः पहुँच गये और हम लोग ऊपर आये। स्नानादिसे निवृत्त होकर थोड़ेसे मजदूर लेकर पुनः वहाँ ही गायके पास पहुँचे। मजदूर गायको बाँधकर ऊपर चढ़ा सकनमें असफल हुए। उनकी संख्या कम थी। अधिक मजदूरोंकी आवश्यकता थी। मैं ऊपर गया। एक ठीकेदारके यहाँसे अधिक मजदूर लिये, अधिक रस्सियाँ और बाँस लिये। हम पुनः वहाँ पहुँचे। दोपहरके पश्चात् श्रीपरमहंसजी महाराज भी पहुँचे। सायङ्काल ४ या ५ बजे गोमाता जीती हुई ऊपर आ गयी। हम लोगोको थोड़ी आशा हुई। गायका एक छोटा दूधमुँहा बच्चा ऊपर गोशालामें बें-बें कर रहा था। माँको देखकर बच्चेकी स्थितिका और बच्चेको देखकर विवश माँकी स्थितिका वर्णन किस लेखनी और किस भाषामें, किन शब्दोंमें किया जाय? सब अनिर्वचनीय। बछड़ा माँके पास लाया गया। स्तनपान करनेके उसके सभी प्रयत्न निष्फल गये। माँ अपने बच्चेकी ओर टगर-टगर देख रही थी। बच्चा माँके मुखके पास चुपचाप बैठ गया। बच्चेके लिये माँ एक दुगका काम करती है। बच्चा भी दूधके बिना आज दो दिनसे निर्बल हो गया था। माँ तो अपनी अन्तिम घड़ीको गिन रही थी। प्रातःकाल होते-होते गाय चल बसी। बच्चा भी सायङ्काल तक अपनी माँकी गतिका अनुसरण किया। कैसा दैन्य! और कैसा पारवश्य।

सप्तम परिच्छेद

जिस साल मैं आमन्त्रित होकर आबू गया था उसके दूसरे ही वर्ष आबूके श्मशानका झगड़ा वहाँ चला। श्मशान भरतपुरकी कोठीके नीचे है। वहाँसे गन्दी हवा कोठी तक आवे, यह बहुत स्वाभाविक है। कोठीके लोग चाहते थे, यह श्मशान यहाँसे उठ जाय। आबू बाजारके लोग चाहते थे कि वह वहाँसे न हटे। भरत-पुर स्टेटकी ओरसे एक पण्डितजी लाहौरसे बुलाये गये थे। बाजारवालोंने श्रीपरमहंसजी महाराजका आश्रय लिया था। एक रात्रिमें भरतपुर वकालतमें सभा हुई। दोनों पक्ष सज-धजकर बैठे थे। श्रीपरमहंसजी मुझे लेते गये थे। वहाँ विचार चला। एक पक्ष कहता था, श्मशान तीर्थ है, उसका स्थान नहीं बदला जा सकता। दूसरा पक्ष कहता था सम्पूर्ण आबू ही तीर्थ है, अतः श्मशान चाहे जहाँ ले जाया जा सकता है।

अन्तमें मैंने कहा कि समस्त आबू तीर्थ है यह बात सत्य है। परन्तु श्मशान उस आबू तीर्थमें तीर्थस्वरूप है। अतः आबू सामान्य तीर्थ है, श्मशान विशिष्ट तीर्थ है। विशिष्ट सामान्यका बाधक होता है। इसका उत्तर लाहोरी पण्डितजी नहीं दे सकते थे। उनके पक्षसे किसीने कहा, यह पण्डितजी **पञ्जाबरत्न** हैं, इनका कथन नहीं टाला जा सकता, क्योंकि यह शास्त्रीय प्रमाणसे ही कह सकते हैं। मुझे यह उक्ति अच्छी नहीं लगी। मैं झट बोल उठा, यह तो पञ्जाबरत्न हैं, परन्तु मैं तो **भारतरत्न** हूँ। मेरा कथन कैसे टाला जा सकता है। मैं भी तो शास्त्रीयप्रमाण ही उप-स्थित कर रहा हूँ। आप मतगणना करें, यदि **पञ्जाबरत्न**के

पक्षमें अधिक मत मिलें तो उनका मत स्वीकृत हो यदि **भारतरत्न**-के पक्षमें अधिक मत मिलें, तो यह पक्ष स्वीकृत हो। पञ्जाबरत्न-का पराजय हो गया। आबू बाज़ारका, श्रीपरमहंसजी महाराजका विजय हो गया।

मैं जबसे श्रीवैष्णवसम्प्रदायमें आया, न जाने क्यों, मेरे साथ लड़नेवाले, झगड़नेवाले, वैमनस्य करनेवाले मुझे बहुत ही मिले। एक छोटा सा उदाहरण। मैं जब आबूमें आया उससे पूर्व सत्याग्रह आश्रम साबरमतीमें रह चुका था। वहाँ रहनेवाले, वहाँ आने जानेवाले आजके और तबके सभी प्रतिष्ठित लोगोंसे परिचय था। एक साल सेठ यमुनादास बजाजजी सपरिवार आबू रहनेके लिये आये और श्रीरघुनाथमन्दिरके ऊपरके मकानोंमें वह ठहरे थे। वह भी तो मेरे परिचित ही थे। आश्रमसे भी एक दो बहिन उनके साथ आयी थीं जो मेरी छात्राएँ थीं। श्रीबजाजजीने मुझे कहा कि आप यहाँ मेरे यहाँ ही भोजन किया करें। मैंने मान लिया। उन दिनों वहाँ पण्डित श्रीभरतदासजी शायद वृन्दावनसे वहाँ आये थे, आज वह सहारनपुरमें महान्त हैं। उन्होंने कहा कि मैं सबसे कहूँगा कि ब्रह्मचारीजी बनियोंके यहाँ खाते हैं। मैंने उनसे कहा कि पण्डितजी, ऐसा शब्द प्रयोग नहीं करना चाहिये जो सन्दिग्ध हो और झगड़ेका कारण बने। आप भले यह कहें कि ब्रह्मचारी बनियेके यहाँ खाता है परन्तु साथ ही यह भी कहें कि "ब्रह्मचारी बनियेके यहाँ ब्राह्मणका बनाया हुआ खाता है।" परन्तु मैं तो मानने ही लगा हूँ कि सम्प्रदाय भयङ्कर खड्डा है। इसमें जो गिरा वह फिर कभी बाहर नहीं ही आ सकता। उसके जीवनमें असत्य, द्रोह, दम्भ, अभिमान आदि रोगोंके कीड़े घुस जाते हैं और उसके जीवनके सात्त्विक तत्त्वोंको सड़ा देते हैं, गला देते हैं, नष्ट कर देते हैं। पण्डित भरतदासजीने अपनी बोलीका

बोलना ही पसन्द किया था। मैं तो तब भी निर्भय था, अब भी निर्भय हूँ। निर्भयके पास भयका क्या काम? जो आदमी सम्प्रदायकी रोटीपर निभता है, सम्प्रदायकी दयापर निभता है, उसे भय हैरान किया करता है। मेरे जैसे निरपेक्ष स्वावलम्बीके लिये किसीका भय निरर्थक है। मैं जिस सम्प्रदायमें रहूँ, उसकी प्रामाणिक सेवा करनेकी भावना मेरे मनमें बनी रहे, इतना ही मैं सदा चाहता हूं। मेरी प्रामाणिक सेवाने इस सम्प्रदायमें मुझे अजर-अमर बना रखा है। किसी प्रकारकी भी निन्दा और अपवाद मेरे लिये टिक ही नहीं सके हैं, भविष्यमें भी टिक नहीं सकेंगे।

उस समयसे मेरे मनमें एक विचार उत्पन्न हुआ कि मेरे हाथमें कोई पत्र—मासिकपत्र होता तो कैसा अच्छा होता? उससे पहले मैं डाकोरके साधुसर्वस्व और लोकधर्मसे अपना काम चलाया करता था। उसके सम्पादक श्री देवदासजी मेरे स्नेही थे। मैं उनकी लेख आदिमे भी सहायता किया करता था। एक समय वह अपने पत्रके प्रचारके लिये बाहर जा रहे थे; उन्होंने पत्रके सम्पादन और व्यवस्थापनका सब भार मुझे सौंप दिया। मैं उसे स्वतन्त्ररूपसे अपनी पद्धतिसे चलाने लग गया था। परन्तु मुझे एक स्वतन्त्र और स्पष्टवादी पत्रकी आवश्यकता थी। बहुत पुराने इस विचारको मैंने एक दिन श्रीपरमहंसजी महाराजके समक्ष प्रकट किया और उन्होंने अविलम्ब अपनी सम्मति दे दी और सहायताका भी वचन दिया।

मैं साधुसर्वस्वके सम्पादनकालमें डाकोर ही रहता था। उस समय श्रीदेवदासजीके गुरुमहाराज महान्त श्रीरामसेवकदासजी महाराज वर्तमान थे। वह बहुत ही पवित्र सन्त थे। निरभिमानिताकी वह साक्षात् मूर्ति थे। वह भी और श्रीदेवदासजी भी मेरी सभी अनुकूलताएँ सुरक्षित रखते थे। बड़ोदेके स्व० महान्त

श्रीरामदासजी भद्रपुरुष थे। उनमें सेवाभाव था। धनका अभाव था नहीं। उत्साहकी ज्वलन्त मूर्ति थे। उन्होंने मुझे अपने यहाँ श्रीरामगलोलामन्दिरमें रहनेके लिये आग्रह किया। मैं वहाँ चला गया था। वहाँसे ही आबूका आना-जाना किया करता था। पत्र-प्रकाशनके दृढ निश्चयके साथ मैं किसी भी महीनेमें आबूसे बड़ोदा गया और अपने निश्चय तथा श्रीपरमहंसजी महाराजकी सहायताकी बातकी। उनकी प्रसन्नताका पार नहीं। वह यह चाहते ही थे। ता०..............से तत्त्वदर्शी मासिक पत्रका आरंभ हुआ। इसका सम्पादक मैं था और प्रकाशक तथा व्यवस्थापक महान्त श्रीरामदासजी (रामगलोला-बड़ोदा) थे। इस पत्रके आरम्भमें जब तक वह सम्पादित और प्रकाशित होता रहा, यह श्लोक छपा रहता था—

कस्मैचिदपि भूताय न द्रुह्यति न चेर्ष्यति।
न जहाति भिया सत्यं तत्त्वदर्शी कथञ्चन॥

चम्पागुफा आबूमें ही बैठकर मैंने श्रीरामानन्ददिग्विजय लिखा था। बहुत हर्षकी बात तो यह थी कि वह ग्रन्थ आबूमें ही लिखा गया था और सर्वप्रथम आबूके ही ब्रह्मचारी श्रीरामशोभादासजीके प्रयत्न और द्रव्यसे उसका प्रथम प्रकाशन हुआ। उस समय मैं **भगवद्दास** था अतः उसपर रचयिताका नाम **भगवद्दास त्रिवेदी** लिखा हुआ था।

आबूमें रहकर मैंने श्रीराममन्त्रका करोड़ों बार जप किया है। इसके अतिरिक्त श्रीरामानन्ददिग्विजयके पश्चात् अन्य भी कई ग्रन्थ मैंने चम्पागुफ़ामें ही बैठकर लिखे थे। **प्रपन्नकल्पद्रुम** भी उसी गुफामें लिखा गया है। अलवरनरेश रामसिंहजी एक दिन श्रीरघुनाथमन्दिरमें दर्शनार्थ गये। वहाँ ब्र० श्रीरामशोभादासजीने उन्हें श्रीरामानन्ददिग्विजय दिखाया और यह भी कह दिया कि इसके

प्रणेता आबूमें ही, चम्पागुफामें रहते हैं। वह वहांसे निकलकर सीधे मेरी गुफामें आये। मैं उनसे परिचित नहीं था। मैं गुफामें बैठकर कुछ लिख रहा था। उन्होंने द्वारपर खड़े होकर पूछा— 'रामानन्ददिग्विजयके लेखक आप हैं ?' मैंने कहा, जी हां। 'क्या उसकी कोई प्रति यहां है ? उन्होंने पूछा।' 'जी हाँ' मैंने कहा। 'देखनेको वह ग्रन्थ मिल सकता है ? उन्होंने पूछा। 'जी हाँ' मैंने कहा। पश्चात् मैंने कहा, आइये बैठिये। उन्होंने पूछा, 'बाहर बैठ सकता हूँ ? मैंने कहा जी हाँ। मेरी गुफापर बैठनेके लिये बहुत सुविधाजनक बैठकें बनी हुई थीं। आम्रवृक्षकी छाया थी। वहाँ ही नारंगीका भी एक वृक्ष। वहां ही चम्पापुष्पका वह वृक्ष जिसके नामसे गुफाका नाम **चम्पागुफा** पड़ा। वृक्षोंकी छटा, बैठनेकी सुविधा और भूमि गोबरसे लिपी हुई। उनका दिल बाहर गया। उनके साथ उनका डी० सी० था। जब नरेश बाहर बैठ गये तब उनके डी०सी०ने मुझे धीरेसे कहा, यह अलवरमहाराज हैं। मैं उठा, उनके बैठनेके लिये अन्दर पड़ा हुआ टाटका एक टुकड़ा हाथमें लिया, जाकर बिछा दिया। नम्रतासे कहा, आप इसपर बैठ जायं। नम्र नरेशने उस टाट-टुकड़ेको दोनों हाथोंमें लेकर शिरपर रखकर मेरे लिये बिछा दिया। मैं बैठ गया। रामानन्ददिग्विजय तो देखनेका एक बहाना था। उनके हृदयमें जो इच्छा प्रबलरूपसे उत्पन्न हुई थी उसका प्रकारान्तरसे उन्होंने क्रमशः स्फोट करना आरम्भ किया।

अलवरनरेश रामभक्त कैसे बन सके, इसका उन्होंने एक रोचक इतिहास सुनाया। जब वह अजमेरके मेयो कालेजमें विद्यार्थी थे उस समय कभी स्व० श्रीमती एनी बेसेण्ट वहाँ गयी थीं। उन्होंने सभी हिन्दू राजकुमारोंसे पूछा कि तुम हिन्दूधर्म किसे कहते हैं, वर्णन करो। एक भी राजकुमार इसमें सफल नहीं हुआ। स्वयं

श्रीमान् रामसिंहजी भी असफल ही रहे। राजकुमार रामसिंहजी जब अलवरनरेश बने तब सबसे पहला काम उन्होंने हिन्दूधर्म क्या है, इसे जाननेका किया। उस समय जितने भी प्रख्यात हिन्दी पण्डित और उपदेशक थे, उन्हें बुला बुलाकर हिन्दूधर्म समझनेका आरंभ किया। किसी पण्डितने उन्हें भागवतकी कथा सुनायी। उन्होंने कहा, भागवतके कृष्णसे मैं बहुत अच्छा हूँ। उपनिषदोंकी कथा उन्हें सुनायी गयी, उसमें भी रस नहीं आया। वाल्मीकिरामायणकी कथा सुनायी गयी, वह उन्हें रसप्रद प्रतीत हुई। बिहारसे स्वामी··············जी उनके पास आने लगे। उन्होंने अलवरनरेशपर भक्तिका रङ्ग चढ़ाना शुरू किया। उन्हें रामायणके राम अच्छे लगे। तबसे वह रामभक्त बने।

उन्होंने, **अतसीपत्रसच्छायम्** तीसीके फूलके समान श्रीरामका नील रंगका शरीर था, **नीलाम्बुजश्यामलकोमलाङ्गम्** नील कमलके समान श्रीरामका शरीर था, यह सब सुन रखा था, अतः उन्होंने जर्मनीसे भगवान्‌की नील मूर्ति बनवाकर मंगायी थी। अपने महलमें भगवान्‌की प्रतिष्ठा करायी थी। प्रेम और उत्साहसे भगवान्‌की सेवा पूजा होती थी। भगवान्‌के सामने गैलरी···बनायी गयी थी। उसीपर आर्तीके समय दर्शक और नरेश स्वयं बैठते थे। संगीतके विशेषज्ञ दरबारी नित्य भगवान्‌के समक्ष कीर्तन करते थे। यह सब मैंने स्वयं तब देखा जब वह अंग्रेजी सरकारकी कुदृष्टिसे निर्वासित हो चुके थे।

उन्होंने अपनी कथा सुनाकर अपने अङ्गरक्षकको आज्ञा दी और वह शीघ्र ही नीचे खड़ी रखी गयी मोटरसे जाकर एक मूर्ति श्रीरामजीकी लेकर गुफापर आ गये। उस मूर्तिकी शोभा अवर्णनीय थी। शीघ्र न बिगड़े ऐसे किसी धातुको काट छांटकर उसी

में से मूर्ति उत्पन्न की गयी थी। मुकुट, हार, हाथोंके आभूषण, विग्रहका रंग, सब कुछ इतना मनोरम था कि जब मैंने उस मूर्तिको चम्पा गुफामें अन्दर रखा तो जान पड़ता था देहधारी देवाधिदेव खड़े हैं। जो दर्शनार्थी आवे वही, थोड़ी देर वहां उस मूर्तिको देखकर स्थिर हो जाय। ग्रामीण जनता तो उस पर पैसे चढ़ाने लगी। तब मैंने उसे सामनेसे हटाकर आड़में रख दी। वह मूर्ति आज भी लहरीपुरा बड़ोदामें श्रीरामगलीला मन्दिरमें सुरक्षित है। महान्त श्रीरामदासजी महाराजने उसके लिये एक विशिष्ट काष्ठमन्दिर बनवाया, कांचका दरवाज़ा बनवाया और उसमें वह मूर्ति आज भी सुरक्षित है। इसके लिये उनके शिष्य वर्तमान महान्त श्रीनारायणदासजीको धन्यवाद है।

श्री० अलवर नरेशने अन्तमें कहा, देखिये आप भी रामभक्त हैं और मैं भी। मेरे राजगद्दीकी रजतजयन्ती होनेवाली है। यदि आप श्रीरामजीकी स्तुति या प्रशस्तिके ५० श्लोक लिख दें तो मैं उसे उस अवसरपर प्रकाशित करूंगा। मैंने कहा, अच्छा, आप कल्ह इसी समय (प्रातः लगभग १० बजे) आकर ले जाइयेगा। वह दूसरे दिन प्रातः ठीक नियत समयपर आ गये और ५० श्लोक मैंने उनके हाथों में दे दिये। उनकी इच्छासे मैंने उन्हें पढ़ा दिया उनका अर्थ भी समझा दिया। उनको हर्ष हुआ, पूर्ण सन्तोष हुआ। तृप्ति जैसी वस्तु को बनानेमें विधिने आलस्य किया और वह अत्यल्प ही बन सकी। अलवरनरेशकी तृप्ति नहीं हुई। उन्होंने कहा, इसे १०० पूरा कर दें। मैंने हां किया और कल्ह आनेके लिये कहा। उन्होंने उत्तर दिया कि "मैं बम्बई जा रहा हूँ। ५-६ दिनों में आऊँगा तो ले लूंगा।" वह चले गये। मैं शामको मन्दिरमें गया तो वहां 'बात सब फैल गयी, जाने सब कोऊ" सबने जान लिया कि अलवरनरेश चम्पा गुफा-

पर गये थे। और कुछ श्लोक लिखा लाये हैं। यह बात न जाने कैसे वहां प्रातःकाल ही पहुँच चुकी थी। किसीने वहां कहा कि अलवरनरेश इन श्लोकोंके लिये दक्षिणा भी देंगे। मेरा कान खड़े हो गये। मैंने दक्षिणाकी तो बात ही नहीं सोची थी। मैं गुफामें आया। दक्षिणाकी बात मेरे कानोंमें गूंजती ही रही। मैंने सोचा, क्या दक्षिणा मिलेगी? यदि सौ श्लोकके सौ रुपये मिले तो इसमें कोई प्रतिष्ठा नहीं हैं। यदि दक्षिणामें पचास रुपये ही मिले तो एक श्लोकके आठ आने। भारी अप्रतिष्ठा। शेखचिल्ली जैसे विचार आने लगे। भोज तो अपने पण्डितोंको एक एक श्लोक-के लिये भी सहस्रों रुपये देता था। मुझे रुपये लेकर क्या करने हैं यदि प्रतिष्ठा न मिली तो? अलवर नरेश आवेंगे तो अवश्य ही कुछ न कुछ देंगे। यह सब विचार मेरे मनमें चक्कर लगाने लगे। उस दिन उन्होंने मुझे कहा था कि आप जैसे त्यागीको तो अलवर आना चाहिये। मैंने उत्तर दिया था कि मेरे जैसे त्यागीका अलवरमें कुछ प्रयोजन ही नहीं है। यदि उनके दिये हुए रुपये मैंने संकोचवश ले लिये तो 'मेरे जैसे त्यागीका अलवरमें कुछ प्रयोजन नहीं है' मेरा यह वचन स्वतः खण्डित हो जायगा और सदा के लिये मेरे लिये लज्जाका हेतु बन जायगा। मैंने निश्चय किया कि अलवर नरेश बम्बईसे लौटें, उससे पूर्व ही मुझे नीचे उतर जाना चाहिये। दूसरे दिन ही मैं डाकोर पहुँच गया।

'रहेगी न बांस, नहि बाजेगी बांसुरी।'

मैं डाकोर जाते समय अलवर नरेशके लिये एक पत्र लिखकर मन्दिरमें दे आया था। मैं समझता था कि वह पत्र उन्हें अवश्य मिलेगा। मैं उसमें लिख आया था कि मैं कारणविशेषसे डाकोर जा रहा हूँ। आपके लिये श्लोक तैयार हैं। आप गूँदीवाली जगह डाकोरके, पतेसे मँगा लेनेका कष्ट करेंगे। अलवरनरेश आबू

आये परन्तु मन्दिरमें तो पुनः वह नहीं गये। उन्हें मेरा पत्र नहीं ही मिला। गुफापर कई चक्कर कई दिन लगाकर वह हताश हो गये। उस समय उनके मनमें मेरे लिये क्या क्या विचार पैदा हुए होंगे, यह अब जाना नहीं जा सकता। मुझे अप्रमाणिक समझा होगा, या अधिक श्लोक बनानेमें असमर्थ समझा होगा। उन्होंने चाहे जो समझा हो, श्लोक तो उन्हें उनके अपेक्षित समय-पर नहीं ही मिले। जब मैं थोड़े महीनोंके पश्चात् आबू गया और चम्पागुफापर पहुँचा तो मेरे आश्चर्यका पार नहीं। सुदामाकी झोपड़ीके समान वह बदल चुकी थी। नया रङ्ग, नया ढङ्ग। अन्दर कच्ची जमीन थी वह पक्की हो गयी। द्वार छोटा था, थोड़ा सा बड़ा हो गया। बाहर मेहराब लग गया जिससे वर्षाऋतु में थोड़ासा पानी अन्दर जाता था, रुक गया। मेरी पाकशालाके लिये जो नीचे छोटी गुफा थी वह भी सुन्दर सजकर खड़ी थी। यह हुआ क्या कुछ पता नहीं लगता था। जब मैं मन्दिरमें गया तब विदित हुआ कि उन श्लोकोंके पुरस्कारके रूपमें उस गुफाका जीर्णोद्धार हुआ था। मैं कृतज्ञताके भारसे दब गया।

उनके लिये जो १०० श्लोक तैयार थे, वह उन्हींके सूचित छन्दोंमें बनाये गये थे। वे श्लोक तो प्रपन्नकल्पद्रुमके नामसे पुस्तकके रूपमें छप चुके थे। अयोध्याके खाकी अखाड़ाके श्रीमान् महान्त भगवान्दासजी खाकीने उसे अपने धन-व्ययसे छपवा दिया था। उस पुस्तककी कुछ प्रतियाँ मैं अपने साथ आबू लेता गया था। वह जब गर्मियोंमें आबू आये, चम्पागुफापर आये, मुझे मिले, तो प्रणामके पश्चात् उनका प्रथम प्रश्न था—"मेरे श्लोक कहाँ गये स्वामीजी ?" मैंने 'आपके श्लोक ये हैं' कहकर पुस्तक दिखा दिया। उन्होंने उसे सिरपर चढ़ाया और १०० प्रतियाँ माँगीं जो पीछेसे उनके पास अलवर भेज दी गयी थीं।

अष्टम परिच्छेद

जिस समय मैं डाकोर स्थायी नहीं—अस्थायी रहता था और साधुसर्वस्य थोड़े दिनोंके लिये मेरे हाथमें आया था। उस समय मेरे मनमें एक विचार आया। श्रीरामानुजसम्प्रदायके लोगों कानाम आचार्यान्त होता है और श्रीरामानन्दसम्प्रदायके सन्तोंका नाम दासान्त होता है। मैंने इसपर बहुत विचार किया। मैंने देखा कि हमारी ही—श्रीरामप्रसादजी महाराजकी गादीमें आचार्यका नाम प्रसादान्त होता है। रसिक महात्माओंके नाम शरणान्त होते हैं। सम्प्रदायके उस समयके सबसे अधिक प्रतिष्ठित महात्मा श्रीमान् पण्डित श्रीरामवल्लभाशरणजीमहाराज थे। उनका नाम भी शरणान्त था। मैंने देखा कि दासान्त नामके दो विकल्प दूसरे विद्यमान हैं। मैंने सोचा कि इस सम्प्रदायमें—श्रीरामानन्दसम्प्रदायमें आचार्यान्त नाम क्यों न रखा जाय? पूर्वापरका विचार किया। विरोधका विचार किया। विरोधियोंका विचार किया। रामानन्द-सम्प्रदायमें रूढिवाद अत्यधिक है। उसके रूढियोंको तोड़ना, उसे उदार बनाना, उसे विचारक बनाना, यह मेरा ध्येय था। मैंने एक दिन अपनेको भगद्दाससे **भगवदाचार्य** बना डाला। साधु-सर्वस्वमें ता०..........के अङ्कमें यह घोषणा की गयी। थोड़ासा कोलाहल जहां तहां हुआ। पण्डित श्री भगवद्दासमिश्रजी (अयोध्या, ने इसके विरुद्ध कुछ प्रश्न मेरे पास भेजे थे। मैं समझता हूँ वह प्रश्न और उसका उत्तर भी साधुसर्वस्वमें ही प्रकाशित किये थे। मैं भयको तो महापाप मानता आया हूँ। मैं किसीसे डरता नहीं। अनुचित काम करता भी नहीं। बहुत वर्षों तक मैं अकेला ही इस

सम्प्रदायमें आचार्यान्तनामवाला रहा। जब देखा कि अब आचार्यान्तनामका कोई विरोध नहीं कर रहा है तब बहुत वर्षोंके पश्चात् पण्डित रघुवरदासजीने भी अपनेको रघुवराचार्य बनाया। बहुत वर्षोंके पश्चात् पण्डित वासुदेवदासजीने अपनेको वासुदेवाचार्य बनाया। ब्रह्मचारी वासुदेवदासजीको तो मैंने बहुत ही पहले वासुदेवाचार्य बना रखा था। इसके पश्चात् तो मेरी चलायी हुई परम्परा चल पड़ी। अब तो यह स्थिति है कि कोई अपने नामको दासान्त न रखना चाहता है और न सुनना चाहता है। अब तो लघुकौमुदीका विद्यार्थी भी रामानन्दीय अपने लिये आचार्यान्त-नाम ही पसन्द करता है। जो लोग मेरे विरोधी हैं वह भी इस नामके विषयमें मुझे ही अपना परमाचार्य मानते हैं। मेरे विरोधी रामनन्दीय मेरी सब बातका विरोध करते हैं परन्तु आचार्यान्त नामका विरोध वह कर ही नहीं सकते। अब उन्हें कोई वासुदेव-दास या वैष्णवदास कहे तो उसे अपना अपमान समझते हैं। गुरुपरम्पराके परिवर्तनसे जो क्रान्ति चली थी वह अपने दूसरे मञ्जिलमें पहुँचकर आचार्यान्त नाम तक पहुँची।

सन् में मेरे मनमें आया कि शास्त्रोंमें सर्वत्र विरक्तके लिये—संन्यासीके लिये काषायवस्त्रका विधान हुआ है। रामानन्द-सम्द्रदायका विरक्त विभाग भी तो संन्यासी ही है। संन्यासी, त्यागी, यति, विरागी यह सभी शब्द समानार्थक हैं। क्यों न मैं काषायवस्त्र धारण करूँ? मैंने जहाँ-तहाँ अपने मित्रोंको, शत्रुओं-को सूचित किया कि मैं काषायवस्त्र धारण करने जा रहा हूँ। किसीने निषेध किया, किसीने समयकी प्रतीक्षा करनेको लिखा, किसीने थोड़ा सा ठहर जानेके लिये लिखा। मैं अपने विचारोंमें दृढ रहनेका ही प्रयत्नशील रहा हूँ। ता०..................को आबूमें श्रीरघुनाथमन्दिरमें भगवान्के समक्ष बैठकर, विधि विधान-

के साथ काषायवस्त्रका मैंने धारण किया। तत्त्वदर्शी पत्रमें उसकी सूचना हुई। उसी समय सम्भवतः कुछ दिन पश्चात् ही नासिक कुम्भपर मैं आमन्त्रित होकर उसी काषायवस्त्रके साथ नासिक गया। उसी काषायवस्त्रके साथ स्टेशनसे तपोवन तक शाही-जुलूसके साथ मेरा स्वागत हुआ—हाथीपर मुझे बैठाकर बाजा-गाजा और निशानके साथ मैं चार सम्प्रदाय खालसेमें पहुँ-चाया गया।

अभी तक कोई ऐसा कुम्भ नहीं गया है जिसमें मैं स्वेच्छासे गया होऊँ। जब वहाँसे सम्प्रदायकी ओरसे बुलाया जाता हूँ, तभी जाता हूँ। उस समय भी मैं बुलाया गया था। श्रीमान् महान्त जगन्नाथदासजी ऑल इण्डिया निर्मोही, मेरे अत्यन्त स्नेही और हितैषी थे। अखाड़ोंपर उनका बहुत बड़ा प्रभाव था। उज्जैन-शास्त्रार्थके समयसे मुझे वह अच्छी तरहसे जान सके थे। मेरी निर्भयता और कार्यप्रणालीसे वह परिचित थे। ऐसा कोई कुम्भपर्व नहीं गया, जिसपर मुझे नहीं बुलाया गया है। उस समय भी बुलाया हुआ ही नासिक गया था। परन्तु मुझे यह सूचना नहीं मिली थी कि नासिक कुम्भके अवसरपर अखाड़ों और खालसोंका वैमत्य हो गया है। जहाँ दो मत हों वहाँ मैं, हो सकता है वहाँ तक, नहीं जाता हूँ। मैं तो नासिक गया। स्टेशनपर अखाड़ेके कुछ महात्माओंके दर्शन हुए। श्रीमहान्त जगन्नाथदासजी ऑ० इ० निर्मोही तो थे ही। एक मोटरमें बैठाकर मुझे स्टेशनसे थोड़ी दूर कहीं ले गये। मैंने वहाँ स्नान-सन्ध्यादि नित्य कार्य किये। थोड़ी ही देरमें हाथी, निशान, बाजे सैकड़ों साधु वहाँ पहुँच गये। जुलूस चला। अभी तक मुझे ज्ञान नहीं हो सका कि नासिकमें पारस्परिक कलह है। मुझे चार सम्प्रदाय खालसेमें ठहराना था। जब जुलूस चल पड़ा, और जहाँ सन्त महात्माओंके कैम्प लगे थे,

वह स्थान दूरसे दिखायी पड़ने लगा, तो मैंने पूछा कि मुझे कहाँ ठहरना है? उत्तर मिला दिगम्बर अखाड़ेके कैम्पमें। मैंने जब कारण पूछा तो मालूम हुआ कि यह वैमनस्यकी भट्ठीमें मैं आ पहुँचा हूँ। दोनों ओर खालसोंके कैम्प लगे थे, बीचमें सड़कपर मैं हाथी-निशानके साथ जा रहा था। डाड़िया खालसेका कैम्प आया। मैं आरम्भसे ही दोनों ओरके महात्माओंको हाथ जोड़ कर मस्तक झुकाकर प्रणाम करता जाता था परन्तु मेरे हृदयमें अशान्ति पैदा हो चुकी थी। अभी तक ऐसा कोई समय ही नहीं आया था जब मेरे स्वागतमें सम्पूर्ण रामानन्दीयवेष सम्मिलित न हो। महान्त श्रीरामदासजी महाराज डाड़ियाका छत्ता देखा, परन्तु वह केवल छत्तेसे बाहर खड़े थे, मेरे पास नहीं आये। खालसेके कोई भी सन्त महान्त मेरे पास नहीं आये। एक ओर त्यागी महात्मा त्यागी खालसेमें पड़े थे। उस दिन कोई समष्टि (भण्डारा) थी अतः त्यागी, तथा अन्य सन्त महान्त शान्त थे। अन्यथा मेरा जुलूस अवश्य रोक दिया जाता। मुझपर सभीका प्रेम था, सभीकी कृपा थी, यह भी एक कारण था जुलूस न रोकनेका। अब तो मैं परिस्थितिसे पूर्णतया परिचित हो चुका था। मैंने ऑल इण्डिया निर्मोहीजीसे प्रार्थना की कि मुझे चार सम्प्रदाय खालसेमें उतारा जाय। अखाड़ेमें उतरनेसे मैं अखाड़ेके पक्षका बन जाता। मुझे तो सर्वपक्षीय रहना था। मेरी बात सभी मान गये। वर्षा हो रही थी। मैं चार सम्प्रदाय खालसेमें पहुँचा। वहाँ ही थोड़ी देर विश्राम किया। मेरे बहुत पुराने साथी और अनन्य सहायक श्रीमान् महान्त भगवान्दासजी खाकी भी वहाँ थे ही। चार सम्प्रदायमें ही मेरी झोपड़ी तैयार होने लग गयी। कई घण्टोंमें एक लम्बी चौड़ी झोपड़ी बन गयी। आसनके लिये एक बड़ी चौकी मिल गयी। मैं अपनी झोपड़ीमें गया।

मैं क्रान्तिकारी आदमी हूँ। इस सम्प्रदायमें सदासे ही क्रान्ति करता आया हूँ। काषायवस्त्र धारण करना, इस सम्प्रदायमें एक बड़ी भारी क्रान्ति थी। यह सम्प्रदाय शुक्लवस्त्रका आग्रही है। श्रीरामानुजसम्प्रदायके संसर्गमें कई सौ वर्ष रहनेके कारण इस सम्प्रदायका आत्मा मर चुका था। विरक्तताका स्वरूप शीर्ण हो चुका था। गृहस्थोंके सफेद कपड़ेको ही इस सम्प्रदायके विरक्त विरक्तों का वस्त्र मानते थे। रामानुजीय आचार्योंने इस सम्प्रदायपर अपना वर्चस्व स्थापित कर रखा था। यह, श्री रामानन्दीय कन्धों-पर अपनी पालकी उठवाते थे, ढोवाते थे। इस क्रूरक्रियाका तो मैंने उज्जैनके कुम्भपर ही सर्वथा समूल नाश कर दिया था। परन्तु मुझे उनकी दासताके सभी चिह्न नष्ट करने थे। रामानुजीय अपने नामके आगे आचार्य शब्द जोड़ते थे, हमारे सम्प्रदायके लिये **दास** शब्द रजिस्टर्ड करा दिया गया था। मैंने इस नामके विरोध-का भी श्रीगणेश किया और मैं भगवदाचार्य बहुत वर्षों से बन चुका था। अतः नवयुवक मेरे ही पक्ष में थे, मेरे ही साथ थे। वहां बहुत से सन्त काषायवस्त्र वहां ही धारण करने के लिये उद्यत हो गये। नासिक—गोरेरामजीके मन्दिरके महान्त श्रीभगीरथदास-जीने कह दिया कि जितने भी लोग काषाय धारण करेंगे, सबको वस्त्र मैं दूंगा। चारो ओर चहल-पहल थी। काषाय सबके शरीर का नहीं तो सबकी जीभका प्रियतम अलङ्कार अवश्य बन गया था। जहां देखो जहां सुनो काषायवस्त्र और भगवदाचार्य की ही बात।

मेरी झोपड़ी ऐसे स्थान पर बन गयी थी कि झोपड़ी के पीछे से ही त्यागी महात्माओंके स्नानके लिये आने-जाने का मार्ग था। कितने ही त्यागी-तपस्वी आते और चुपचाप स्नान करके चले जाते। कितने ही ऐसे भी थे जो पत्थर लिये आते और मेरी

न्थाईकालमें कितनी ही बार अहमदाबादके सन्तोंको अपने मन्दिर-में बुलाया था, प्रसाद-सेवन कराया था, दक्षिणा भी दी थी। एक बार विष्णुयज्ञ भी किया था। इस रीतिसे वह मन्दिरके धनका सदुपयोग किया करती थीं। मैंने आनन्दभाष्यके चतुर्थाध्यायका भाषानुवाद किया था। श्रीमती विट्टणदेवीने ही उसे छपाकर प्रकाशित किया था। मैंने उसकी कई सौ प्रतियां नासिक कुम्भपर महात्माओंको बँटवा दी थीं। श्रीरामानन्ददिग्विजयकी भी कितनी ही प्रतियां बँटवायी थीं। तपस्वी महात्माओंने अपना क्रोध शान्त करनेके लिये उन सब ग्रन्थोंको जला दिया। मेरी श्रद्धा, मेरे प्रेम और एक पवित्रात्माके पवित्र धनका धुआं देखकर मुझे दुःख तो हुआ परन्तु मैंने दीर्घदर्शितासे सब कुछ सह लिया। अज्ञानका नाश कभी न कभी इस समाजमेंसे होगा ही, यही एक विश्वास था जिसने मुझे अक्षुब्ध रखा। उस समय कुछ अन्य वैष्णवोंने भी उत्साहमें आकर काषायवस्त्र धारण कर लिया था, उनके वस्त्र फाड़े गये। मैं ससुख और सकुशल बड़ोदा लौट आया।

जब मैं नासिकमें था, वहां चतुःसम्प्रदाय संस्थानके स्व० महान्तश्रीबिहारीदासजीके प्रबन्धमें नासिक शहरमें किसी सार्वजनिक स्थानमें एक सभा हुई थी। उसमें मेरे बोलनेके लिये कोई अमुक विषय दिया गया था। उस भाषणसे जनतापर जो प्रभाव पड़ा था वह यह था कि रामानन्दसम्प्रदायके साधुओंने मेरे साथ उस समय जो व्यवहार किया था वह अत्यन्त अनुचित और जङ्गली था। वह सभा केवल शिक्षितोंकी थी।

नवम परिच्छेद

बड़ोदाका त्याग। महान्तश्रीरामशोभादासजीने मुझे अतिशय प्रेम और सम्मानसे अपने यहाँ रखा था। सेवामें किसी प्रकारकी त्रुटि नहीं थी। आदरभावमें कभी भी न्यूनता नहीं थी। तत्त्वदर्शी उन्हींकी उदारतासे नियमित चलता था। वह स्वयं भी उसके लिये परिश्रम करते थे। तत्त्वदर्शी उन्हींके प्रबन्ध और व्यवस्थापकतामें निकलता था और उसके ८ वर्षके भव्य जीवनमें कभी भी कोई रोग-शोक-दुःख उसे व्याप्त न हो सका।

श्रीमहान्तरामदासजी रुग्ण हो गये। तत्वदर्शीका ८ वां वर्ष चल रहा था। वह बीमार होकर शान्तिके लिये अलकापुरी (बड़ोदा) में चले गये। मैं मन्दिरमें लहरीपुरामें रहता था। उनके एक शिष्य नारायणदासजी थे परन्तु जब वह बीमार पड़े थे, उस समय तक उन्होंने इन्हें अपना शिष्य बनाया नहीं था। शिष्य बनानेके लिये घरसे बुला रखा था। मन्दिरमें ही रखकर पढ़ाते थे। मैट्रिक पास करा चुके थे। श्रीमहान्तजीने शिष्य बनानेसे पूर्वही मन्दिरका विल श्रीनारायणदासजीके नाम करनेका विचार किया। विल लिखा गया। तैयार हो गया। अभी तक श्रीमहान्तजी अलकापुरीमें ही रहते थे। उस विलको एक भाईके हाथ मेरे पास मेरा हस्ताक्षर करानेके लिये मन्दिरमें भेजा। मैंने उसे पढ़ा। मुझे वह अच्छा न लगा और न उचित लगा। उसमें लिखा था कि यह मेरी सम्पत्ति है, जिस तरहसे मैं स्वतन्त्ररूपसे इस सम्पत्तिका उपभोग करता हूँ उसी प्रकारसे मेरे शरीरके पश्चात् मेरे शिष्य नारायणदासको भी करते रहनेका अधिकार है। शब्द तो यही नहीं

थे, भाव यही था। मैं इस बातका सदासे विरोध करता रहा हूँ कि साधुकी कोई भी निजी सम्पत्ति होती है। साधु होते ही वह निजत्वसे छूट जाता है। वह जो कुछ भी धन प्राप्त करता है, वह अपनी साधुतासे या साधुरूप-साधुवेष-भूषासे। अतः वह समस्त सम्पत्ति सार्वजनिक है। मैंने उसपर हस्ताक्षर नहीं किया। कहनेवालेने कुछ बना बिगाड़कर भी मेरे शब्दोंको उनके पास पहुँचाया होगा। उनका शरीर अत्यन्त अस्वस्थ था, उन्हें मेरे हस्ताक्षर न करनेसे बहुत दुःख हुआ।

तत्त्वदर्शीका अङ्क छपाना था। उसके प्रकाशनका समय निकट आ गया था अतः मैं उमरेठ चला गया। तत्त्वदर्शी उमरेठमें सरस्वती प्रेसमें छपा करता था। उसके अध्यक्ष श्रीरतिलाल त्रिवेदी बहुत प्रामाणिक सज्जन थे। उनको अपने उतरदायित्व और वचनका बहुत ध्यान रहता था। मैं उमरेठ गया और उन्होंने दो दिनोंमें ही तत्त्वदर्शीका ८वें वर्षका ११वाँ अङ्क छाप दिया। मैं बड़ोदा वापस आ गया। बड़ोदा स्टेशनसे मैं मन्दिर आनेके लिये जिस घोड़ा गाड़ीमें बैठा था, उसने मुझसे पूछा कि लहरीपुराके महान्तजीका देहान्त हो गया? मैंने कहा, मैं दो दिनके बाद यहाँ आ रहा हूँ। बीमार छोड़कर गया था। मुझे कोई समाचार नहीं है। उसने कहा, मैंने सुना है कि उनका शरीरान्त हो गया। मुझे बहुत ही दुःख हुआ। अन्तमें मैं उनसे नहीं मिल सका, ऐसा विचार मेरे मनमें आया। मैं मन्दिर दरवाजेपर पहुँच गया। नारायणदासजी मेरी अनुपस्थितिमें ही अलकापुरोमें शिष्य बना लिये गये थे। सिरके बाल मुड़े हुए थे। सफेद नयी धोती उनके शरीरपर थी। गाडीवान्के शब्द तो अभी कानमें ही थे। श्रीनारायणदासजीका रूप देखकर मुझे घबड़ाहट हुई और मैं पूछ बैठा—"क्या महान्तजीका शरीरान्त हो गया?" उन्होने कहा नहीं। मैंने

पूछा "तब तुम ऐसे रूपमें क्यों हो ?" उत्तर मिला कि वह एक दिन पहले या उसी दिन विरक्त शिष्य बनाये गये थे। मैं स्वस्थ हुआ। चिन्ता गयी। किसीने श्रीमहान्तजीको जाकर यह भी सुना ही दिया कि मैं उमरेठसे आते ही उनके मृत्युका समाचार पूछता था। श्रीमहान्तजीको अब मुझसे प्रेम नहीं रह गया था। वह मन्दिरमें घोड़ागाड़ीसे आये। मैं ऊपरसे नीचे उतरा। उन्होंने भगवान्को साष्टाङ्ग करके मुझे साष्टाङ्ग किया। मेरी छातीसे लिपट गये। रोने लगे। रोते रोते उन्होंने कहा—"मेरा कोई पाप उदय हुआ है, इसलिये मैं कह रहा हूं, महाराजजी, आप मेरे स्थानसे चले जायं।" मैंने उसी समय अपने पुस्तकोंकी व्यवस्था की। उनके भाई श्रीसोमाभाईको मैंने कहा कि मेरे सब पुस्तक पेटियोंमें बन्द करके धौलकामें भेज दिये जायं। मैं तो धौलका चला गया। पुस्तक भी सब धौलका पहुँच गये।

धौलकामें स्व० महान्त श्रीमहावीरदासजी रहा करते थे। उनका अपना मन्दिर था। वह वैद्य थे। मुझसे बहुत प्रेम करते थे। जहाँ जिस सभामें जाऊँ वहाँ वह अवश्य पहुँचते थे। एक समय सौराष्ट्रमें तुरखामें श्रीवैष्णव मस्तरामजीके यहां मैं श्रीवाल्मीकिरामायणका नवाह वांचने गया था। वहाँ भी वह पहुँच गये थे। उससे पहले वह हलवद और वढवाणकी गृहस्थ-वैष्णवोंकी सभामें भी पहुँचे थे जहां मैं सभापति था। एक बार वैसी ही सभा उन्होंने धौलकामें भी करायी थी और मुझे उसका अध्यक्ष बनाया था। उनके प्रेमसे ही मैं वहां चला गया था। पुस्तकोंकी व्यवस्था करके मैं आबू चला गया। धौलकामें मैं बहुत नहीं रहा।

मैं खेडा जिलेके विट्ठलपुर गांवमें प्रायः रहा करता था। वहांका जलवायु उस समय बहुत ही सुन्दर और स्वास्थ्यप्रद था। अब

बिगड़ गया है। बड़ोदेसे सम्बन्ध टूट जानेपर मैं आबूसे विट्ठल-पुर जाया करता था अथवा तो आबूपर ही रहा करता था। एक समय विट्ठलपुरमें था। स्वामीवासुदेवाचार्यजी अयोध्यासे बड़ोदे आये हुए थे। श्रीमहान्तरामदासजीने मुझे विट्ठलपुरसे बड़ोदा आनेके लिये एक भाई श्रीकल्याणजी भाईको भेजा। वह भाई बहुत ही प्रामाणिक और सज्जन थे। मैं बड़ोदा—अलकापुरीमें गया। रामगलोलामन्दिरमें नहीं गया। श्रीमहान्तजी उसी प्रेम और श्रद्धा-से मिले थे। साष्टांग करके मुझे मेरे योग्य आसनपर बैठाया। स्वामी वासुदेवाचार्यजीको मुझसे मिलना था, इसीलिये आपको कष्ट दिया है, श्रीमहान्तजीने कहा। मैंने कहा, मुझे आपका समाचार भी तो जानना ही था। अच्छा हुआ आपने मुझे स्मरण किया। वहाँ ही मैंने भोजन किया। स्वामीवासुदेवाचार्यजीसे वार्तालाप हुआ। पुनरपि वैतालो वृक्षमारूढः। मैं पुनः विट्ठलपुर चला गया।

श्रीमहान्तरामदासजी स्वस्थ हो गये। उनका मस्तिष्क भी शान्त हो गया। मुझे उन्होंने अपने स्थानसे चले जानेको कहा था, इसका उन्हें बहुत बड़ा पश्चात्ताप था। वह विट्ठलपुर भी मेरे पास आते थे। वह अवसर ढूँढ़ते थे कि मुझे पुनः बड़ोदा ले चलें। मेरी स्थिति उनसे भिन्न थी। जिस दिन उन्होंने मुझे रोते रोते ही सही, परन्तु यह कहा कि आप मेरे स्थानसे चले जायँ उस दिन मुझे कितनी वेदना हुई थी, उसका अनुभव केवल मैं ही कर सकता हूं। इस तरहका मेरे लिये वह दूसरा अवसर था।

———

दशम परिच्छेद

राजाधिराजमन्दिर अहमदाबादके महान्त श्रीवंशीदासजी शास्त्री-जीका देहावसान हो चुका था। मैं उन दिनों पालनपुरमें था। शास्त्रीजीका समाचार मुझे श्रीविट्ठनदेवीजीने तथा उनके प्रधान सेवकोंने पालनपुरमें पत्रद्वारा भेजा। पत्रोंमें आग्रह यह था कि मैं थोड़े दिनों तक राजाधिराजमें पुनः रहूँ और कथा-वार्ता करके मन्दिरको व्यवस्थित करूं। मैं अहमदाबाद गया परन्तु वहाँ रहने-की दृष्टिसे नहीं ही। श्रीशास्त्रीजीका त्रयोदशाह समाप्त हो गया। साधुओंकी प्रथाके अनुसार वैष्णवाराधन आदि सब क्रियाएँ सम्पन्न हो चुकीं। मैं चलना चाहता था परन्तु वहाँके मेरे पूर्व-निवाससे मेरे परिचित कितने ही भाइयोंने आग्रह किया श्रीविट्ठन-देवीजीका आग्रह तो था ही। मैं वहाँ रुक गया। इतनेमें आबूके श्रीरामशोभादासजीने श्रीरामानन्ददिग्विजयको छपाकर प्रकाशित करनेकी योजना की। श्रीरामानन्ददिग्विजय बहुत पहलेसे लिखकर सज्ज था, केवल उसका पुनरवलोकन अवशिष्ट था, कितने ही स्थलोंपर शीघ्रताके कारण कितने ही श्लोक और कितने ही प्रयोग अशुद्ध भी इस दृष्टिसे छोड़ दिये थे कि पीछेसे सुधार लूँगा। मैंने पुस्तकको ज्योंका त्यों उठाकर प्रेसको दे दिया। मुझे यह स्मरण नहीं रहा कि कुछ श्लोक और कुछ प्रयोग शुद्ध करने हैं। मुझे प्रूफ देखने-का अवसर भी कम ही मिला था। स्वर्गीय शास्त्रीजीके दो शिष्य थे। कोई कहता था कि शास्त्रीजीने उन दोनोंको शिष्य बनानेके लिये रखा था परन्तु दीक्षा देनेसे पूर्व ही उनका शरीरान्त हो गया। वह कहीं अलग भाड़ेके मकानमें रहते थे। उनकी इच्छा मन्दिरमें

रहनेकी थी परन्तु श्रीविट्ठनदेवीजीने कहा कि मेरे देहान्तके पश्चात् आना। वह दोनों घरके ही सगे भाई थे। गरीब घरके थे। उन्हें मन्दिरमें रहना ही था। उनको भय था कि यदि मैं वहाँ स्थायी रहने लग जाऊँगा तो वह मन्दिर मेरे ही हाथोंमें रह जायगा। मुझे मन्दिर चाहता ही नहीं था। मुझे प्रथमसे ही मठ-मन्दिर-आश्रमका मोह नहीं था। वहां झगड़ा बढ़ गया। अभियोग भी चलने लगा। मेरे साथ नहीं, श्रीविट्ठनदेवीजी और उन दोनों भाइयोंके साथ। एक दिन उन दोनों भाइयोंमेंसे एकने मन्दिरमें आकर क्रोधके साथ मुझे कहा—"आप यहाँसे चले जायं नहीं तो हम आपके ऊपर भी अभियोग करेंगे।" मैं उसी समय वहाँसे चला आया। रामानन्ददिग्विजय तो प्रेसमें गया था। मैं बाहर ही अधिक रहा करता था—शास्त्रार्थ और सभाओंके लिये। कभी-कभी प्रूफ मेरे पास पहुँचता तो देख लेता, कभी एक वैष्णव पण्डित वहां थे—व्याकरणकी मध्यमापरीक्षोत्तीर्ण। मैंने उनको यह कार्य सौंप दिया था। वह मेरे पास महाभाष्य पढ़ने आते थे। दिग्विजय तो छप गया परन्तु अत्यन्त अशुद्ध। उस समय सम्प्रदायका कार्य मेरे सिरपर बहुत था। प्रायः मैं बाहर ही रहा करता था। चम्पागुफा अधिकतया बन्द ही रहा करती थी। एक समय वहां एक संन्यासी श्रीरामस्वामीजी आये। वह संस्कृतके भी पण्डित थे और फारसीके भी। मैंने उन्हें रामानन्ददिग्विजयकी एक प्रति उनके मांगनेपर दी परन्तु साथ ही साथ यह भी कहा कि आप इसे आद्योपान्त पढ़ जायँ और जहां जहां अशुद्ध हो चिह्न करते जायँ। उन्होंने ऐसा ही किया। इतना ही नहीं, उन्होंने एक शुद्धाशुद्धपत्र ही तैयार कर दिया। मेरा एक कार्य इस रीतिसे पूर्ण हो गया। मैंने उन्हें धन्यवाद दिया और दूसरी आवृत्तिमें वह सभी स्थल शुद्ध कर दिये गये। कुछ उनसे छूट गये थे वह भी दूसरी

बार छपते समय सुधार दिये गये थे। अस्तु। दूसरेके मन्दिरसे हटनेका एक यह दुःखद इतिहास मेरे जीवनमें बन चुका था।

जिस समय मैंने बड़ोदा छोड़ा, मुझे बहुत आघात लगा था। उसका परिणाम यह हुआ था कि मैं मनुष्य देखकर वास्तवमें भयभीत हो जाता था। मुझे एकान्त प्रिय लगने लगा। मैं मनुष्यों-को सर्प और व्याघ्रसे भी अधिक भयङ्कर मानने लग गया था। जब मुझे पुनः बड़ोदा ले जानेके लिये श्रीमहान्त रामदासजी प्रयत्न करते प्रतीत होते तो मुझे बहुत ही कष्ट होता। महान्तजीका हृदय बहुत शुद्ध था। वह निर्मलान्तःकरण सन्त थे। वह सब भूल गये थे; परन्तु मैं उस घटनाको आज भी नहीं भूल रहा हूँ। यह सब होनेपर भी श्रीमहान्तजीके लिये मेरे हृदयमें परम आदर है। ऐसे महान्त आज ७७ वर्षकी अवस्थातक मुझे मिले नहीं हैं। उन्होंने कभी भी मेरी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं किया। मैंने कहा, सम्प्रदाय-के लिये अमुक कार्य होना ही चाहिये तो उन्होंने कभी उसके लिये नकार नहीं किया था। एक आचार्यके समान ही उनका मुझपर भाव था। देखनेके साथ ही वह भूमिपर पड़ जाते और साष्टाङ्ग दण्डवत् करते थे। मुझे भोजन कराये बिना कभी भोजन नहीं किया। मैं बड़ोदामें एक बार डबल निमोनिया या टायफाइडसे पीडित था। २०-२१ दिनोंतक मैं रोग-शय्यापर पड़ा था। मेरी सेवामें उन्होंने किसी प्रकारका मनश्चौर्य (मनचोरी-दिलचोरी) नहीं की थी। वहाँसे मेरे चले आनेपर भी उनका हृदय मेरे लिये वैसा ही सप्रेम बना रहा। वह अहमदाबादमें कई बार आते और केवल मुझसे मिलनेके लिये आते। कितनी बार वह अपने प्रिय और माननीय वैद्य ··· ··· ···· ···से मिलने आते तो भी मुझसे मिले बिना, एक रात्रि मेरे पास रहे बिना कभी गये हों, ऐसा मुझे स्मरण नहीं है।

जबसे मैं बड़ोदे रहने लग गया था, उनका स्वभाव हो गया था कि मुझसे पूछे विना न तो कुछ करना और न कहीं जाना। वह कभी बाहर दूकानोंपर जाकर बैठ जाते परन्तु कहीं भी बाहर मुझसे पूछे विना नहीं जाते थे। बड़ोदेमें एक वार सन्ततुकारामका सिनेमा आया। लोगोंने बहुत प्रशंसा की। श्रीमहान्तजीका मन उसे देखनेके लिये अवश्य आतुर हो गया। परन्तु वह लाचार थे। मैं सिनेमाका न तो प्रेमी हूँ और न मेरी दृष्टिमें उससे कोई लाभ है। मैंने सिनेमासे होनेवाली हानियोंका अनुभव किया है। उससे होनेवाले अधःपतनकी मेरे पास सूची है। वह मेरे स्वभावसे परिचित थे। परन्तु मैं उस सिनेमाको न देखूँ तो वह भी नहीं देख सकते थे। उन्होंने एक भाईको मेरे पास उस सिनेमाका वर्णन करनेके लिये भेजा। मैं समझ गया। मेरे पास कभी कोई ऐसी बात कर ही नहीं सकता था। मेरे रूममें उनकी आज्ञा विना कोई आ ही नहीं सकता था। मुझे ऐसी बातोंको सुननेके लिये अवकाश ही नहीं था। उन्होंने स्पष्ट स्वीकार किया कि श्रीमहान्तजीकी इच्छा उसे देखनेकी है। परन्तु आपके विना वह जा नहीं सकते। मैंने कहा कि वह जा सकते हैं, मैं सहर्ष आज्ञा देता हूं। परन्तु श्रीमहान्तजीने अकेले जाना स्वीकृत नहीं किया। अन्तमें मुझे लेकर ही वह सिनेमामें गये। मेरे जीवनमें सिनेमा देखनेका वह तीसरा प्रसङ्ग था। तबसे मैंने कभी भी सिनेमा नहीं देखा है।

बम्बईमें काँग्रेसका अधिवेशन था। श्री० बाबूराजेन्द्रप्रसादजी उसके अध्यक्ष थे। मैं भी उसमें सम्मिलित होने गया था। पञ्चमुखी हनुमान्‌जीके मन्दिरमें ठहरा था। वहाँके महान्त श्रीनरसिंहदासजीकी सज्जनतामें किसीका भी वैमत्य नहीं है। बम्बईमें वही एक स्थान है जहाँ आये गये सन्तोंकी सेवा होती है और कभी किसीको चले जानेके लिये नहीं कहा जाता। उनका सरल स्वभाव,

उनकी उदारभावना, उनका प्रेम किसीको भी उनकी ओर खींच लेता है। श्रीमहान्तजीने मुझे सिनेमा देखनेके लिये उत्तेजित किया। मैं तैयार हो गया। हम तीन-चार मिलकर चले। मैं रात्रिमें कहीं भी, किसी भी शहरमें, कभी नहीं निकलता। उस दिन रात्रिमें निकला। रात्रिकी बम्बई तो वस्तुतः मोहमयी हो जाती है। हम एक सिनेमागृहमें पहुँचे। वहाँ सेतुबन्धका दृश्य था। टिकट लिये गये। अन्दर पहुँच गये। न जाने क्यों उसमें मुझे तनिक भी रस नहीं आया। मैंने कहा, यहाँसे चलिये। रूपये व्यय हो चुके थे, तो भी, हम वहाँसे बाहर निकल आये। एक दूसरे अंग्रेजी सिनेमामें गये थे। वहाँ दो दृश्य पूरे हो चुके थे। शायद जगह भी नहीं थी। हम वहाँसे लौटे। रात्रि बहुत हो चुकी थी। सिनेमा तो देखना ही था। एक तीसरेमें गये। वहाँ आरम्भ होनेवाला ही था। टिकट लिये गये। हम अन्दर पहुँच गये। वह सिनेमा मुझे अतिशय प्रिय लगा। मुझे याद नहीं है कि उसमें बीभत्स और श्रृङ्गारमय दृश्य थे या नहीं। परन्तु मुख्य दृश्य तो इतना सुन्दर था कि मैं अपने आँसुओंकी धाराको रोक नहीं सकता था। हृदय भर आता था। मुझे उस खेलका नाम आज याद नहीं है। यह सिनेमाका प्रथम दर्शन था।

द्वितीय दर्शन अजमेरमें हुआ था। अजमेरमें श्रीमान् डाक्टर अम्बालालजी शर्मा बहुत सज्जन और कीर्तिकाय डाक्टर हैं। वह जितने बड़े डाक्टर हैं उतने ही बड़े उदार हैं। कीर्ति तो उनकी छायाके समान उनके साथ फिरा करती है। उनका मित्रमण्डल बहुत साक्षर और विनोदी तथा विचारक है। एक बार मुझे अयोध्या जाना था। मैं वहाँ विश्रामके लिये उतर गया था। साय-ङ्कालमें वह मण्डल उपस्थित हुआ। मैं भी वहाँ ही था। एकके बाद दूसरा विषय उपस्थित होता और उसपर खूब छानबीन होती।

मैं अयोध्या जा रहा था अतः अयोध्याके राम ही उस दिन मुख्य विषय बन गये। रामके जीवनकी आलोचना होने लग गयी। मैं समाधायक था। प्रत्येक प्रश्नका मैं उत्तर देता और रामके यशकी रक्षा करता। मैं अयोध्या गया। लौटते समय पुनः अजमेर उतरा। श्रीडाक्टरसाहेबने मुझे कहा कि 'आप शामको यहाँ ही रहेंगे। हम दोनों किसीसे मिलने चलेंगे। मुझे आश्चर्य तो हुआ। क्योंकि मैं कहीं भी किसीसे यों ही मिलने नहीं जाता। तथापि मैं उनके दिये हुए समयपर उनके दवाखानेमें ही उपस्थित था। घड़ी देख-कर वह तैयार हो गये। मैं तो तैयार ही था। मोटर भी बाहर तैयार ही थी। हम दोनों बैठ गये। मोटर चली। मैंने पूछा डाक्टर साहेबजी कहाँ किससे मिलने जा रहे हैं। उत्तर मिला कि—"आप उन्हें अच्छी तरहसे पहचानते हैं। वह भी आपको पहचानते हैं। उन्होंने मुझे टाइम दिया है। उसी टाइमपर हम वहाँ पहुँच जायँगे।" थोड़ी ही देरमें तो सिनेमागृह आया। मोटर वहाँ ही खड़ी हो गयी। मैंने डाक्टरसाहबसे पूछा, यहाँ कहाँ? उत्तर मिला कि मेरे और आपके परिचित यहाँ ही मिलेंगे। हम वहाँ उतर गये। उन्होंने टिकट लिये। हम अन्दर, ऊपर गये। कुर्सीपर बैठ जानेके पश्चात् उन्होंने कहा यहाँ आज **सीतावनवासका** दृश्य दिखाया जायगा। उसीके लिये मैं आपको यहाँ लाया हूँ। बात तो सब स्पष्ट हो गयी। सिनेमा देखनेके लिये मैं लाया गया हूं। मैं सिनेमा देखना नहीं चाहता। डाक्टरसाहब मुझे भुलावा देकर यहाँ ले आये। यही सब तर्क-वितर्क, विचार-उपविचार मनमें उठने लगे। इतनेमें दृश्यका आरम्भ हुआ। जिस समय रामने सीताका त्याग किया और अन्तमें जब सीता रामको वाल्मीकिके प्रयाससे मिलती हैं, उनके सामनेसे जब वह हटकर पृथिवीमें समा जाती हैं—लीन हो जातीं हैं—उस समय रामकी दशा देखते ही बनती थी। सीताके

त्यागने रामको हतश्री बना दिया था। गर्भवती महाराणीके त्यागसे वह क्रूरकर्मा बन चुके थे। भवभूतिने उनके मुँहसे सत्य ही कहलाया था कि—

रामस्य बाहुरसि दुर्वहगर्भखिन्न-
सीताविवासनपटोः करुणा कुतस्ते ॥

उस दृश्यको जिस किसी भी सहृदयने, किसी विचारकने देखा, सबके मुँहमें रामके लिये अप्रतिष्ठित शब्द थे। हम जब मोटरमें बैठ गये तब श्रीडाक्टर साहेबजीने कहा, स्वामीजीमहाराज, आप जिस रामका गुण-गान करते नहीं अघाते, उन रामको आज आपने देखा? आपका आज उनके लिये क्या अभिप्राय है? मैंने वाल्मीकिके रामको बहुत निकटसे पहचाननेका प्रयास किया है। उस दिन सिनेमाके रामके दृश्यने मेरे मस्तिष्कको विघूर्णित कर दिया। मैंने कहा, डाक्टर साहेब, उस दिन मैं लड़ता था, आज मैं आपके साथ हूँ। यह तीसरा सिनेमा दर्शन था। अब तो पूर्ण विराम है।

———

एकादश परिच्छेद

महान्त श्रीरामदासजी, मेरे वहांसे चले आनेके पश्चात् पुनः एक बार अधिक बीमार हो गये। उन्होंने उस समय तार करके बुलाया था। चले आनेके पश्चात् उस समय प्रथम बार ही मैं रामगलोलामन्दिरमें गया था। मैंने उनकी यथोचित सेवा की। उनके पास ही मैं बैठा रहता था। कई दिनोंके पश्चात् ज्वर उतरा। हठात् मैंने डाक्टरको बुलाकर इन्जेक्शन दिलाया था। ज्वर शान्त होनेपर, जब वह मूँगका जल पीने लगे तब मैं वहांसे उनकी ही इच्छासे वापस अहमदाबाद आया।

उनका अन्तकाल समीप आ गया था। मृत्युसे कुछ ही महीने पूर्व उन्होंने मुझे एक कार्ड लिखा—तत्त्वदर्शीका वह पुनः आरम्भ चाहते थे। लिखा था कि 'मेरे बाद आपको फिर कोई ऐसा आग्रह करनेवाला नहीं मिलेगा।' ऋषियोंके समान ही उनका यह वचन सत्य सिद्ध हुआ है। आज उनके बिना सम्प्रदायमें साहित्यक्षेत्र शून्य है। उनके उस कार्डका फोटो मैं अन्तमें दूँगा।

उनका साहित्यप्रेम अपूर्व था। किसी भी रामानन्दीयमहान्तमें मैंने उस प्रेमका दर्शन नहीं किया। हजारों रूपयोंको व्यय करके उन्होंने एक अतिसुन्दर पुस्तकालय बना लिया था। हिन्दी और गुजराती भाषाके पुस्तकोंका वह भण्डार था। जब मैं वहां रहने लगा तो उन्होंने पुनः डेढ़ दो हजार रूपये खर्च करके संस्कृतका भण्डार बढ़ाया। हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी साहित्यको भी समृद्ध किया। इन्साइक्लोपीडियाका संक्षिप्त एडिशन भी मँगा लिया। कुछ फारसीके, कुछ सिक्ख साहित्यके ग्रन्थोंका भी संग्रह किया। उनके

एकमात्र शिष्य वर्तमान महान्त श्रीनारायणदासजीने सत्य ही लिखा है कि "यह पुस्तकालय तो श्रीमहाराजजीने मेरे लिये ही बनाया था।"

मैं समझता हूँ कि जिस समय पहले श्रीमहान्तजी बीमार थे, और मैं चला आया था, उस उसम श्रीमहान्तजीको ऐसा लगता होगा कि मैं श्रीनारायणदासजीको उनका शिष्य होना पसन्द नहीं करता था। इसीलिये उन्होंने मेरी अनुपस्थितिमें उन्हें शिष्य बनाया था। यह भी सम्भव है कि श्रीनारायणदासको भी ऐसा ही प्रतीत होता रहा हो। परन्तु बात यह थी नहीं। मैं तो श्रीनारायणदासजीको बहुत प्यार करता था। मैंने स्वयं ही श्रीमहान्तजीसे कई बार कहा था कि वह नारायणदासजीको दीक्षा दे दें। परन्तु उन्हींकी इच्छा नहीं होती थी। उन्होंने शिष्य बनानेके लिये अयोध्यासे भी दो बालक मँगवाये थे। एक बार तो स्वामीनारायणसम्प्रदायके एक संस्कृत पढ़े लिखे योग्य साधु ही स्वयं वहां शिष्य होनेको आये थे। मैं आबूमें था। श्रीमहान्तजीने मुझे बुलाया और मेरी सम्मति पूछी। मैंने मना कर दिया। परसम्प्रदायके साधुको शिष्य बनानेमें कितनी ही आपत्तियां थीं। अन्तमें वह साधु चले गये। नारायणदासजी श्रीमहान्तजीके पूर्व आश्रमके सगे भतीजे थे। योग्य थे। आज्ञाकारी थे। उनके ही भाग्यमें उस मन्दिरकी सेवा लिखी हुई थी। वह वहांके महान्त बने। मैं प्रसन्न हूँ। आज वह विरक्त नहीं, गृहस्थ हैं। वीरसदके महान्त गोवर्धनदासजीको श्रीमहान्तजी, महान्त नारायणदासजीका संरक्षण (वली) बना गये थे। उन्हींकी पुत्रीसे महान्तश्रीनारायणदासजीने दाम्पत्य स्वीकार किया। सम्प्रदायकी ममता आज भी महान्तश्रीनारायणदासजीके मनमें बनी हुई है। अब उनका क्षेत्र गृहस्थवैष्णवसमाज है। वह उसमें भी प्रमुख भाग लेते हैं। श्रीमहान्तजीके पुस्तकालय-

को अभी तक सुरक्षित रखा है। सुरक्षित रहेगा, ऐसी आशा है। वह उत्साही हैं, प्रेमी हैं, श्रद्धावान् हैं। भगवान्के सभी उत्सव नियमित हुआ ही करते हैं।

मैं आबूमें भी रहने लगा था और बड़ोदेमें भी। क्योंकि तत्त्वदर्शी प्रकाशित होने लग गया था। मैं आबूमें था। श्रीमहान्त भगवान्दासजी खाकी, उस समय अहमदाबाद ही श्रीजगदीश-मन्दिरमें रहा करते थे। काकरिया तालाबपर श्रीरामानन्दमन्दिर बन चुका था। महान्त श्रीनारायणदासजी त्रिकमजीके मन्दिरके महान्त थे। उनका मुझपर अगाध प्रेम था। मैंने एक बार उन्हें कहा था कि आप श्रीरामानन्दस्वामीका एक मन्दिर बनावें। उन्होंने उस मन्दिरको बनाया। उसके लिये थोड़ा सा मुझे भी श्रम करना पड़ा था। उसकी प्रतिष्ठापर आमन्त्रित होनेपर भी कितनेही महान्त नहीं आना चाहते थे। मैंने घूम घूमकर सबको बुला लिया था। धूमधामसे उस मन्दिरमें श्रीस्वामीरामानन्दजीकी प्रतिमाकी प्रतिष्ठा हुई थी। काषायवस्त्र और दण्ड मैंने धारण कराये थे। मैं समझता हूँ दण्ड तो वही, आज भी वर्तमान है। श्रीरामानन्दकोट उस मन्दिरका नाम है। श्रीमहान्तजीने अपने अन्तिम समयमें भी मुझे बुलाया था। उन्हें अब दो मन्दिरोंकी व्यवस्था करनी थी। उनके दो शिष्य थे। एकको त्रिकमजीके मन्दिरका महान्त बनाया और दूसरेको रामनन्दकोटका। महान्त श्रीरामचरणदासजी श्री-रामानन्दकोटके पवित्र महान्त हैं। यथाशक्ति साधुसेवा भी करते हैं।

उसी मन्दिरमें स्वर्गीय महान्त श्रीरघुवीरदासजी चित्रकूटी चातुर्मास्य करनेके लिये अहमदाबाद आये। वहां उनकी कथा शुरू हुई। महान्तश्रीभगवान्दासजी खाकीजीने पहलेसे ही श्रीमान् पुजारी श्रीसेवादासजी महाराजजीसे विचार कर लिया था, निश्चय

कर लिया था कि इस वर्षसे चातुर्मास्यमें श्रीजगदीशमन्दिरमें भी कथा होनी चाहिये। उनका विचार कार्यान्वित हो उससे पहले महान्तश्रीरघुवीरदासजीकी कथा रामानन्दकोटमें शुरू हो चुकी थी। श्रीखाकीजीने मुझे आबूपर तार किया कि एक साम्प्रदायिक कार्य है, शीघ्र आइये। मैं वहां पहुँचा। स्टेशनपर ५ या ६ हाथी, निशान, बाजे, सैकड़ों साधु, कितने ही मोटर लिये सद्गृहस्थ मेरे स्वागत्के लिये तैयार थे। स्टेशनके स्टाफको कुतूहल था कि यह सब साजी सामान किसके लिये है। मैं गाड़ीसे उतरा। तत्काल ही खाकीजीने मुझे कहा आपको यहां श्रीजगदीशमन्दिरमें प्रवचन करनेके लिये श्रीजगदीशमन्दिरकी ओरसे बुलाया गया है। परन्तु महान्त श्रीरघुवीरदासजी आ चुके हैं और उनकी कथाका आरम्भ भी हो चुका है। परस्पर वैमनस्य न हो, ऐसा उपाय करना है। मैं सबके साथ ही बाहर तो निकला; उस ठाट-बाटको देखकर मैं खो गया। सबकी आँख बचाकर मैं एक घोड़ागाड़ीसे रामानन्दकोट पहुँचा। श्रीमहान्त रघुवीरदासजीसे बातें कीं। उनसे मैंने कहा, मैं यहां श्रीजगदीशमन्दिरमें प्रवचन करूँगा। आपको बुरा नहीं ही लगेगा। आप कहेंगे तो सायङ्कालमें आपके यहां भी मैं प्रवचन कर दिया करूँगा। वह सज्जन सन्त थे। उन्होंने सहर्ष मुझे उत्तर दिया कि आप कथा वहां अवश्य बांचें। हमें आवश्यकता होगी तो आपको बुला लिया करेंगे। अहमदाबाद स्टेशनपर सबको आश्चर्य था कि मैं कहां खो गया। जुलूस निकलनेके लिये जो समय पुलिससे मांगा गया था, वह समाप्त होने वाला था। पुलिस भी खड़ी थी। लोग भी खड़े थे। हाथी झूम रहे थे। झण्डे फरफरा रहे थे। सब मुझे देखनेके लिये खड़े थे। जब मैं वहां पहुँच गया। सबने जयजयकार किया। मैं कहां था ? यह प्रश्न स्वाभाविक ही था। उत्तरका समय नहीं था। मैं हाथीपर न बैठकर फिटन या

मोटरमें बैठा था। सबने मुझ दरिद्रको देखा। सबको आश्चर्य हुआ। उस समयके स्टेशनमास्टरने मुझसे कुछ अंग्रेजीमें पूछा था, उत्तर भी उसे अंग्रेजीमें मिला था। उन्होंने यह समझा कि मैं कुछ पढ़ा लिखा आदमी हूं। जुलूस चला। मैं श्रीजगदीश-मन्दिरमें पहुँचा।

भगवान् जगदीशका दर्शन किया। जगदीश जितने ही प्रतापी और पवित्र, दयालु और उदार वहांके श्रीमहान्तजी महाराज श्रीनरसिंहदासजीमहाराजका भी दर्शन किया। श्रीमान् पुजारी श्री-सेवादासजीमहाराज तो जुलूसके साथ ही थे। उस समय श्रीसाबर-मतीके तटपर सेठ सोमनाथ भूधरके घाटपर, उन्हींके सुन्दर बंगले-में मेरे लिये निवासस्थान निश्चित था। वहां ही पहुँचाया गया।

चतुःसम्प्रदायी वैष्णवोंके अखाड़ोंमेंसे एक श्यामदिगम्बर अखाड़ा भी है। उसके महान्त श्रीभरतदासजी थे। श्रीभरतदासजी बहुत पवित्र सन्त थे। बहुत दयालु। सबकी सेवा करनेमे अति उदार थे। अहमदाबादके जमालपुर मुहल्लेके पचासों कुटुम्ब उन्हें, उनके स्वभाव और उनकी सेवाका आज भी प्रेमके साथ स्मरण करते हैं। श्रीभरतदासजी मेरी सेवामें रहने लगे।

श्रीवाल्मीकिरामायणपर प्रवचन श्रीजगदीशमन्दिरमें भगवान्-के समक्ष होने लगा। श्रावणमाससे शायद यह प्रवचन प्रारम्भ हुआ था और दो मास तक चला। प्रवचनकी समाप्तिपर मुझे बड़ोदा जाना था। तत्त्वदर्शी वहांसे ही प्रकाशित होता था, यह मैं कह चुका हूँ।

जिस दिन प्रवचन समाप्त हुआ था, मेरे सभी श्रोता भाई और बहिन मुझे मेरे बंगलेपर धूमधामसे पहुँचाने गये थे। उस समयके दृश्यका वर्णन करनेके लिये न तो मेरे पास शब्द हैं, और न हृदय है। लगभग सभी भाइयों और बहिनोंकी आंखोंमें आंसूकी धारा

थी। सबका हृदय हिल रहा था। विदायीका समय था। वियोग होने वाला था। वियोग-दुःखसूचक भजन और गर्बा गाये जा रहे थे। मैं भी अपनेको नहीं संभाल सका। गङ्गासे मिलनेके लिये यमुनाने भी साहस किया। वह करुण दिवस था। दूसरे दिन मुझे वहांसे जाना था। भाइयों और बहिनोंने यही मनाया कि—

सजन सकारे जायंगे, नयन मरेंगे रोय।
विधिना ऐसी रैन कर, भोर कभी ना होय॥

दूसरे दिन जब मैं बड़ोदा जानेके लिये स्टेशनपर पहुँचा तो देखा कि फर्स्टक्लासका डब्बा सजाया गया है। मेरे गलेमें वहां पड़नेवाली सहस्रों पुष्पमालाएँ उस सजावटमें वृद्धि करने लगीं। मैं अपनी सीटपर जाकर बैठ गया। उन दिनों फर्स्ट क्लास और सेकेण्ड क्लासमें बैठनेवाले बहुत थोड़े होते थे, कभी तो कोई भी नहीं होता था। डब्बे सब ख़ाली ही रहते थे। अपने डब्बेमें मैं अकेला था। जब मेरी गाड़ी खुली उस दिन मैंने गुजरातके हृदयका दर्शन किया। वह प्रेम, वह आंसू, वह अधीरता, वह जयजयकार, वह विह्वलता, सब सदाके लिये स्मर्तव्य वस्तु है। वह दृश्य न तो भूल सकता है और न भुलाया जा सकता है। गुजराती भाई-बहिनोंके परिचयमें आनेका मेरे लिये वह प्रथम ही अवसर था।

मन्दिरके श्रीमहान्तजी महाराजने तथा श्रीपुजारी सेवादासजी महाराजने मेरी अनुकूलताका सदा ही ध्यान रखा था। भाई बहिन सभी उस बङ्गलेपर मिलनेके लिये आया करते थे। कुछ बहिनें वेदान्त पढनेके लिये आया करती थीं। अहमदाबादके सेठ अमृतलाल हरगोविन्दकी बहिन श्रीकाशी बहिन मुझे एक बार आबूमें मेरी गुफामें मिली थीं। पढ़नेवाली बहिनोंमेंसे वह अग्रगामिनी थीं। उनके साथ बहिनोंकी एक मण्डली उन दिनों रहा करती थी।

वे सभी बहिनें भी काशी बहिनके साथ आती थीं। उनमें एक तारा बहिन भी थीं। तारा बहिनको वेदान्तका संस्कार नहीं था। अन्य बहिनें वेदान्तके कुछ संस्कार लेकर आयी थीं। काशी बहिन तो विचारसागरके संस्कारके साथ आयी थीं। मेरे पास वह तत्त्वानुसन्धान पढ़ती थीं। तारा बहिनको वह ग्रन्थ क्लिष्ट मालूम होता था। अतः उन्होंने पञ्चीकरणसे प्रारम्भ किया।

मैं जहाँ रहता था, वह एकदम साबरमतीका तट था। वहाँ एक बहुत बड़ा नाला था। अहमदाबाद म्युनिसिपालिटीने उसे अभी ही ३ या ४ वर्ष हुए भर दिया है। वर्षाके दिन थे। साबरमतीमें जब खूब जल आ जाता तो वह नाला भी भर जाता। मैं किसी तरह मन्दिरमें प्रवचनके लिये जा नहीं सकता था। तब रोज हाथी सजकर मुझे लेने आता था। उस समय मुझे वाराही (मिथिला) याद आती थी। जब मैं वाराहीकी संस्कृत पाठशालामें कुछ महीनोंके लिये मुख्याध्यापक होकर गया था तो मुझे कहीं भी बाहर जाना हो तो एक दो हाथी मेरे सामने—विद्यालयके सामने झूलते ही हों। वह विद्यालय आमके बगीचेमें था। अतः वह विद्यालय ऋषि-कुल और गुरुकुलका स्मरण कराता था और ये गजराज किसी राजवैभवके स्मारक बनते थे। मैं जब सोमनाथ रूपचन्दके बङ्गलेसे हाथीपर श्रीजगदीशमन्दिर पहुँचता तो सैकड़ों भाई बहिन बाहर निकल आते और मेरे हाथीसे उतरनेका दृश्य देखते और जय-जयकार करते। मैं भी तो प्रसन्न ही होता। प्रसन्नताके लिये कारण तो थे ही।

मेरी कथामें—प्रवचनमें जमालपुर मुहल्लेसे कितने ही धन-सम्पन्न कुटुम्बके लोग भी प्रतिदिन आया करते थे। उनमें एक श्रीनारायणदास भाई कन्ट्राक्टर भी थे। वह किसी साधु सन्तके समागममें बहुत कम आते थे। यह उनका स्वभाव था। न जाने

क्यों वह मेरी कथामें प्रतिदिन आते थे। एक दिन उन्होंने मुझे अपने घरपर चलनेके लिये आग्रह किया। मैं गुफावासी तपस्वी। किसीके घरपर आने जानेका अनुभव नहीं था। उन्होंने बहुत आग्रह किया घरपर चलनेका और मैंने बहुत आग्रह रखा, न जानेका। वह मेरे निवास स्थानपर दो दिन आये। बहुत प्रार्थनाएँ कीं। परन्तु मेरा मन उनके घर जानेको समझ नहीं सका। अन्तमें उन्होंने कहा, मेरे घरमें पैर नहीं रखें। चलकर पोल (गली) के द्वारके चौखटपर चरण रखकर पीछे लौट आवें। मैंने इसका भी स्वीकार नहीं किया।

यह बात चारो ओर फैल गयी। स्वामीजी किसीके घरपर नहीं जाते, यह बात कर्णपरम्परया दूरगामिनी बन गयी। अहमदाबादमें एक आस्ट्रोलिया दरवाजा है। अहमदाबादके १२ दरवाजोंमेंसे यह एक है। वहाँ आज भी एक दर्जी कुटुम्ब रहता है। वहाँ एक वृद्धा माँ रहती थीं। मुझे अपने घर वह ले जानेके लिये बहुत समयसे विचार करती थीं। उन्होंने भी सुना कि स्वामीजी किसीके घर नहीं जाते। उन्होंने सत्याग्रह किया और तीन दिन तक भूखी-प्यासी अपने घरमें बैठी रहीं। स्वामीजी मेरे घरपर आवेंगे तभी मैं अन्न-जल लूँगी। रात्रिमें ६ बजेके पश्चात् उनके एक पुत्र और दूसरे भी मेरे पास आये। मैंने सब वृत्त सुन लिया। दशा निर्बल थी। मैं न जाऊं तो यह एक प्रकारकी हिंसा थी—पाप था। मैं वहाँ गया। उसका विजय हुआ। उसको आनन्द हुआ। मुझे भी सन्तोष हुआ।

अब तो मेरा आग्रह टूट चुका था। मैंने श्रीनारायणदास भाईको समाचार भेज दिया कि अब मैं आपके घर आ सकता हूं। उनके आनन्दका पार नहीं रहा। वह मेरे पास आये। अपने घर मुझे वह ले गये। थोड़े दिनोंके पश्चात् अपनी पुत्री कान्ता बहिनको मेरी शिष्या बना दी। मैंने उसे श्रीराममन्त्र दिया।

द्वादश परिच्छेद

प्रथम वर्ष जब मैं श्रीजगदीशमन्दिरमें रामायणपर प्रवचन कर रहा था तो अमुक कारणोंसे मेरी इच्छा प्रवचन बन्द करके वहाँसे चले जानेकी थी। मैं लगभग तैयार ही हो चुका था। अहमदाबादमें कड़ियाशेरी एक छोटा सा मुहल्ला है। उसमें निर्मोही अखाड़ेके एक सर्दार बाबा हरिदासजी रहते थे। उनका अभी ही स्वर्गवास हो गया है। वह मेरे निवासस्थानपर कई सन्तोंको लेकर आये और बोले—"हम यहाँ सो जाते हैं, हमारी छातीपर पैर रखकर आप चले जा सकते हैं", मैंने जाना बन्द कर दिया। बाबा हरिदासजीको जहाँ मुझपर इतनी श्रद्धा थी, थोड़े वर्षोंके पश्चात् वह मेरे विरोधियोंमें गिने जाने लगे।

मैंने श्रीजगदीशमन्दिरमें ८ वर्षों तक केवल श्रावण भाद्रपद—दो महीनोंमें प्रवचन करता रहा। आरम्भके दो वर्षों तक वाल्मीकि रामायणपर प्रवचन मैंने किया था। पीछेके ६ वर्षोंमें श्रीमद्भगवद्गीतापर प्रवचन करता रहा। गीताके प्रवचनमें मेरे विचार थे, मेरे नये विचार थे, किसीके अनुकरणके शब्द नहीं थे, अक्षर नहीं थे, मात्रा नहीं थी। सब कुछ स्वतन्त्र था। लोगोंको मेरा प्रवचन प्रिय लगा। आग्रह हुआ और गीताके द्वादश, त्रयोदश, पञ्चदश और द्वितीय अध्यायोंपर मैंने गुजराती भाषामें गीताभूषण नामकी अपनी व्याख्या लिखी और लोगोंने छपाकर उसका वितरण किया।

जब मैं प्रथम प्रथम श्रीजगदीशमन्दिरमें प्रवचन करने गया, उस समयका इतिहास और घटनाएँ पीछे लिखी जा चुकी हैं।

जिस विरोधको दूर करनेके लिये मैंने इतना प्रयास किया था, मेरे जुलूसके सारे सामानको स्टेशनपर ही छोड़कर मैं महान्त श्रीरघुवीरदासजीसे मिलनेके लिये कांकरिया तालाबपर श्रीरामानन्दकोटमें गया था, अन्ततो गत्वा वह विरोध हुए विना न रहा। मेरे मित्र पण्डित श्रीरघुवरदासजी लिम्बड़ीसे ऊँझा आये हुए थे। वह भी अहमदाबाद आये। कांकरिया तालाबपर ही उतरे। मुझे समाचार भेजा कि वह जगदीशमन्दिरमें नहीं आ सकते, जहाँ मैं ठहरा था, वहाँ भी वह नहीं आ सकते। विक्टोरिया गार्डनमें हम दोनों मिलें, ऐसा निश्चित पत्र उन्होंने लिखा। हम दोनों मित्र विक्टोरिया गार्डनमें नियत समयपर मिले। बातें बहुत हुईं। उन्होंने मुझे कहा कि आपके प्रवचनका अर्थ यह किया जा रहा है कि वह महान्त श्रीरघुवरदासजीके विरोधके लिये है। मुझे बहुत दुःख हुआ। मैं सम्प्रदायमें सदासे ही तटस्थ रहा हूँ। मुझे न किसी तिलकसे विरोध रहा है और न किसी अखाड़े-द्वारेसे। श्रीरामानन्द सम्प्रदायके प्रत्येक वस्तुको मैं समानदृष्टिसे देखनेवाला और माननेवाला आजतक बना हुआ हूँ। मेरी तटस्थतापर कुठाराघात होता हुआ मुझे प्रतीत हुआ। पण्डित श्रीरघुवरदासजी बहुत अनुदार विचारके सन्त थे। उन्होंने मुझे कहा कि इस कथाको बन्द करके आप मेरे साथ लिम्बड़ी चलें। उनका निर्णय मुझे अनुचित प्रतीत हुआ। ऐसा करना अन्योंके साथ विश्वासघात था। मेरे लिये आत्मघात था। महान्त श्रीरघुवरदासजीकी जमातमें एक रमेशदासत्यागी रहा करते थे। वह मेरे परमभक्त थे। परन्तु इस भ्रान्तवातावरणमें वह भी पड़े और मेरे साथ शत्रुताका भाव उनमें भी स्थिर हुआ। वातावरण कलुषित होता ही गया। मर्यादा नहीं थी। सब कुछ बिगड़ने लगा। बिगड़ता ही गया।

श्रीपुजारी सेवादासजी महाराज बहुत विनम्र और बहुत कठोर

सन्त हैं। वह अपनी प्रतिज्ञाके बहुत पक्के हैं। उनके मुखसे जो शब्द निकलते हैं वह हाथीके दाँतके समान कभी भी पीछे नहीं जाते। वह जैसी धारणा बना लेते हैं, उसीका अनुसरण करते हैं—उस मार्गसे हटते नहीं है। परन्तु इन सब गुणोंके दर्शनका मुझे बहुत समयतक सौभाग्य नहीं मिला था। एक समय श्रीजगदीमन्दिरमें कोई यज्ञ था। मैं भी बुलाया गया था। मैं जमालपुर सुन्दरिया-पोलमें एक सद्गृहस्थ ब्राह्मणके यहाँ ठहरा था। श्रीयुतमास्टर नन्दलालत्रिवेदी गुजराती स्कूलके हेडमास्टर थे। अब वह निवृत्त हैं। पहले वह सुन्दरियापोलमें बहुत वर्षोंतक रहे थे। उनके सभी पुत्र-पुत्रियोंका जन्म उसी पोलके उसी घरमें हुआ। श्रीमती कमला देवीजी उनकी धर्मात्मा पत्नी हैं। इन दोनों दम्पतिका स्वभाव बहुत ही सरल और सेवाभावी है। उनकी एक बहिन हैं गं० स्व० श्रीनर्मदा त्रिवेदी। उनके अबके बड़े बड़े लड़के तब छोटे छोटे बच्चे थे। उसी कुटुम्बमें मुझे ठहराया गया था। मुझे वहाँ जो सुख-शांति और सुविधाएँ मिली थीं वह अवश्य ही स्तुत्य थीं। कई दिनों तक मैं वहाँ रहा।

एक दिन श्रीमान् पुजारी सेवादासजीने रात्रिमें एक भाषण देनेके लिये मुझसे आग्रह किया। मैंने उसे मान लिया। वह समय देशमें आतङ्कका था। पू० महात्मागांधीजी स्वराज्य प्राप्तिके लिये सत्याग्रह आन्दोलन चला रहे थे। हरिजन आन्दोलन भी वेगमें चल रहा था। कितने ही मन्दिरोंके द्वार हरिजनबन्धुओंके लिये खुल चुके थे। वर्णाश्रमस्वराज्यसंघ इसके विरोधमें काम कर रहा था। यह संघ अहमदाबादमें भी स्थापित था। इस संघके कार्यकर्ता भाइयोंको एक मेरे विरोधी तथा रामानुजीयपक्षके साधुने मेरे विरुद्ध कुछ कह दिया। उस समय थोड़ेसे इने-गिने रामानन्दीय-साधु अपनेको रामानुजीय मानते थे। उनका काम यह था कि मेरे

साथियोंको और विशेषरूपसे मुझे सर्वत्र नीच वर्ण और नास्तिक होनेका प्रचार करना। उनके पास न तो विद्या थी, न बल था। इसी असत्य प्रचारसे वह जीते थे। आज उनमेंसे एक भी जीवित नहीं हैं। सभी भाई भगवान्‌की सेवामें उनके पार्षद बन चुके हैं। जब अयोध्यामें श्रीरामानुजसम्प्रदायके साथ श्रीरामानन्दसम्प्रदायके विच्छेदका आन्दोलन मैं चला रहा था, उस समयसे ही यह कुटिल नीति प्रचलित हुई थी। उस साधुने जिनका नाम शत्रुघ्नदास था, संघके लोगोंसे मिलकर मेरे विरुद्ध खूब प्रचार किया था। महान्त श्रीरघुवीरदासजी चित्रकूटी, रमेशदासत्यागी, पण्डित श्री-रघुवरदासजी आदिने जो मेरे साथ विरोधकी आग सुलगायी थी उसी अग्निमें लकड़ी और घृत डालनेवाला यह शत्रुघ्नदास भी था। अन्तमें तो वह अपनी जातिवालोंमें मिल गया था और उन्हींके सुधारमें लग गया था। उसके बहकानेसे कुछ लोग भ्रान्त बन ही गये थे। एक दिन वर्णाश्रमस्वराज्यसंघके उपदेशक प० कल्पनाथजीने मुझे शास्त्रार्थके लिये चैलेञ्ज दिया। भाषा बहुत विकृत और घिनौनी थी। सनातनधर्मी कहे जानेवाले लोग यह समझते हैं कि घिनौनी भाषा लिखना और बोलना भी विजयका एक साधन है। उस चैलेञ्जवाली छोटीसी विज्ञप्तिमें लिखा था—"गोघाती गांधीके चेले भगवदाचार्यको चैलेञ्ज। विषय था वर्ण-व्यवस्था और स्पृश्यता। मैंने उस चैलेञ्जको बिना किसी विलम्ब और संकोचके स्वीकृत कर लिया। मैंने स्वीकारके लिये संघके मन्त्रीके पास कुछ नियम भेजे थे, किन ग्रन्थोंका इस शास्त्रार्थमें प्रमाण स्वीकृत होगा उनकी एक नामावली मैंने भेजी थी। उसमें स्वामीरामानन्दाचार्यके ग्रन्थका भी नाम था, साम्प्रदायिक अन्य ग्रन्थोंके भी नाम थे। शास्त्रार्थके प्रबन्धका भार मैंने चैलेञ्ज देने-वाले पक्षके ऊपर रख दिया था। नोटिसबाजियां होती रहीं। परि-

णाम तो कुछ आया ही नहीं। टांय टांय फिस हो गया। उसी संघर्षकालमें मुझे उस समय श्रीजगदीशमन्दिरमें होनेवाले यज्ञके अवसरपर भाषण देनेके लिये आमन्त्रण मिला। संघवालोंको पता लग जाना उचित ही था। उन लोगोंने प्रवचनके पण्डालको आकर बहुत पहलेसे ही घेर लिया। अपना व्याख्यान—भजन आदि कार्यक्रम चलाने लगे। मेरे प्रवचनका समय था रात्रिमें ८॥ बजे। मैं सुन्दरियापोलसे जब अपने समयपर मन्दिरमें आया तब देखा कि मुझे एक समर करना है। श्रीपुजारीजीमहाराज भी चिन्तित थे। पवित्र यज्ञके अवसरपर कुछ अनिष्ट और अमधुर घटना न बन जाय, इसका भी ध्यान था। उन्होंने मुझसे पूछा, आप भाषण देंगे? मैंने कहा, आपके आमन्त्रणसे मैं भाषण देनेके लिये ही तो आया हूँ। अपने समयसे कुछ पूर्व मैं आ गया था। श्री· पुजारीजीने संघके लोगोंको कहा, तुम लोग पण्डाल खाली करो। स्वामीजीका प्रवचन होगा। उन लोगोंने बहुत अण्ड-बण्ड बकना शुरू किया। परन्तु पुजारीजी तो अपनी धुनके पक्के हैं, इसका अनुभव सर्वप्रथम मुझे उसी समय हुआ। उन्होंने ४-५ साधुओंको उन लोगोंको वहांसे निकाल देनेके लिये भेजा। संघके सभी लोग वहांसे चुपचाप तो नहीं—परन्तु कुछ कहते सुनते चले गये।

मेरे प्रवचनका समय हो चुका था। मैं तो वहां मन्दिरमें चातुर्मास्यका प्रवचन किया ही करता था अतः जमालपुरके सभी हिन्दू भाई-बहिन मुझसे परिचित थे। मेरी सभामें झुण्डके झुण्ड लोग आ रहे थे। संघके भाइयोंने उन्हें बहकाना शुरू किया—वहां मत जावो। वहां तो एक ढेढ़ व्याख्यान देनेवाला है। तुम सब अपवित्र बन जावोगे इत्यादि। परन्तु सब प्रयास निरर्थक गये। सभामण्डप श्रोता भाई-बहिनोंसे भर गया। श्रीपुजारीजीमहाराजने मुझे सभाके प्लेटफार्मपर जो खास मेरे लिये बनाया गया था,

गद्दीपर बैठा दिया। लोग तूफान न कर सकें इसके लिये अखाड़े-के सरदार मेरे दोनों ओर बैठ गये। एक ओर स्वर्गीय आल इण्डिया निर्मोही महान्त श्रीजगन्नाथदासजी महाराज थे और एक ओर दिगम्बरके कुछ सरदार थे। श्यामदिगम्बरके सरदार महान्त श्रीभरतदासजी अपना दल लेकर मेरे पीछे खड़े थे। निर्विघ्न वह प्रवचनक्रम चला था। श्रीपुजारी सेवादासजीकी दृढ़ताके, प्रतिज्ञा पूर्ण करनेकी क्षमताके, साहसके दर्शन करनेका मेरे लिये वह प्रथम अवसर था।

त्रयोदश परिच्छेद

श्रीजगदीशमन्दिरमें शायद ८ वर्षों तक प्रत्येक चातुर्मास्यमें दो महीने तक मेरे प्रवचनका क्रम चलता रहा। दो वर्ष श्री-वाल्मीकिरामायणपर प्रवचन होता रहा। श्रोता भाई-बहिनोंके परम आग्रहसे तीसरे वर्षसे गीतापर प्रवचन होने लगा। अन्ततक गीतापर ही प्रवचन होता रहा।

दोष और गुणकी मीमांसा अपने अपने ढङ्गपर सदा ही जगत्के लोग करते रहे हैं। मैं तो सदा ही कहता रहा हूँ कि दोष और गुण दोनों ही काल्पनिक वस्तु हैं। एक ही कार्य किसीकी दृष्टिमें दोषमय है और किसीकी दृष्टिमें गुणमय। मैं अपने प्रवचनोंमें प्रायः जगद्वन्द्य महात्मा गाँधीजीका और पण्डित श्री-जवाहरलालजी नेहरूका नाम लिया करता था। मेरा यह कार्य श्रीजगदीशमन्दिरके कितने ही सन्तोंको अच्छा नहीं लगता था। उनकी दृष्टिमें कथामें, प्रवचनमें, और वह भी भगवान्के मन्दिरमें महात्मा गाँधीजीका और श्रीनेहरूजीका नाम लेना अत्यन्त अनु-चित कार्य था। उनको इस बातका दुःख था कि महाभारतीय कितने ही वीर और धार्मिक पात्रोंका नाम लिया जा सकता था, पौराणिक कितने ही देवी, देवताओंके नाम लिये जा सकते थे, तो भी मैं इन सबको छोड़कर इन दो महापुरुषोंका ही क्यों रटन किया करता था। उनकी दृष्टिमें मेरा यह बहुत बड़ा दोष था। परन्तु मेरी दृष्टिमें यह बहुत बड़ा गुण था। महाभारतके पात्रोंको निकटसे मैं कभी भी जान नहीं सका हूँ। उनके और मेरे बीचमें ५,००० वर्षोंसे भी अधिक काल अन्तरालके रूपमें लेटे हुए हैं।

रामायणके पात्रोंकी भी यही बात है। पौराणिकपात्रोंकी भी यही बात है। मैं कभी साहसपूर्वक उनके लिये कह ही नहीं सकता हूँ कि उनको जैसा बताया गया है, वह वैसे ही थे या नहीं। ऐसी बात कहना मुझे रुचिकर नहीं, जिसके सम्बन्धमें मैं स्वयं सन्दिग्ध हूँ। महात्मागाँधीजीके सम्बन्धमें ऐसा नहीं है। मैं उनके गाढ परिचयमें था। वह हमारे युगके महान् पुरुष थे। समस्त भारत-वर्षका उनमें पूर्णतः विश्वास था। भारतके एकमात्र महामान्य वह नेता थे। उनके आचारों, विचारोंमें किसीने भी कभी वैषम्य नहीं देखा। उनकी वाणी कभी भी उनके आचार-विचारोंसे दूर नहीं जाती थी। **मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं** के वह महान् आदर्श थे। अत एव वह महान् आत्मा—महात्मा थे। समस्त विश्व उनकी भाषा सुननेको लालायित था। समस्त विश्वके समाचार-पत्र उनकी शत्रुता और मित्रतामें स्वेच्छानुसार रचे पचे थे। विश्वके बड़े-बड़े विद्वानोंने महात्माजीके सम्बन्धमें छोटे और बड़े अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। विश्वकी अनेक भाषाओंके विद्वानोंने अपनी अपनी प्रियभाषामें उनके गुणोका गान किया और तो भी वह सदा अतृप्त रहे। मैं श्रीमहात्माजीको सचमुच ही महात्माके रूपमें देखता था, मानता था। मेरी दृष्टिमें वही एक महात्मा थे। अतः वह मुझे प्रिय थे। मैंने उनके ही उपदेशोंसे अपनेको गढ़ा था, सजाया था। मेरे अच्छापनका स्रोत केवल महात्मा मोहनदासकर्म-चन्द्र गाँधी थे। उनके नामसे मैं पवित्र होता था। उनके स्मरणके साथ ही मैं अपने सैकड़ों भाइयों और बहिनोंको आत्मस्वरूप देख सकता था। उनके ही नामके प्रतापसे, उनकी ही स्मृतिसे, उनके ही दत्त आत्मबलसे मैं सैकड़ों बहिनोंके बीचमें अविकृतभावापन्न रह सकता था। गुजरातमें रूप सुन्दरियोंकी न्यूनता नहीं है। गुज-रातकी माताओंका रूप तो बहुत प्रसिद्ध है। जब मैं गुजरातको

देख भी नहीं सका था तब भी मैं गुजरातके विषयमें यह जानता था—

सखे स एष सर्वसम्पदामास्पदतया त्रिदशालयस्या-
देश इव गुर्जरदेशश्चक्षुषोः सुखीकरोति ।

सकर्पूरस्वादुक्रमुकनववीटीरसलस-
न्मुखाः सर्वश्लाघापदविविधदिव्याम्बरधराः ।
लसद्रत्नाकल्पा घुमघुमितदेहाश्च घुसृणै-
र्युवानो मोदन्ते युवतिभिरमी तुल्यरतिभिः ॥

गुर्जर महिलाओंके लिये भी प्रथमसे ही जानता था कि—

तप्तस्वर्णसवर्णमङ्गकमिदं ताम्रो मृदुश्चाधरः
पाणी प्राप्तनवप्रवालसरणी वाणी सुधाधोरणी ;
वक्त्रं वारिजमित्रमुत्पलदलश्रीसूचने लोचने,
के वा गुर्जरसुभ्रुवामवयवा यूनां न मोहावहाः ॥

मैं सैकड़ों बहिनोंके बीचमें धर्मनिष्ठ बना रहा, किसीने भी मेरी ओर अङ्गुलि भी नहीं उठायी, इसमें मैं कारण नहीं था, महात्मा श्रीगाँधीजी ही कारण थे। महात्माजीका प्रवचनोंमें नामस्मरण करना, मेरे लिये बहुत बड़ा गुण था परन्तु वह मेरी ही दृष्टिसे—साधुसमाजकी दृष्टिसे नहीं। आज साधुओंने—सैकड़ों साधुओंमें विचारक्रान्ति हुई है परन्तु वह वैयक्तिक क्रान्ति ही है—सामाजिक नहीं। आज भी साधुओंकी एक लम्बी क़तार महात्माजीकी निन्दा करनेमें ही, उन्हें गालिया देनेमें ही लगी है। अस्तु मेरे प्रवचनके इस ढङ्गसे कुछ लोग क्षुब्ध थे परन्तु श्रीपुजारीसेवादासजी महाराजको मुझसे असन्तोष नहीं था अतः मैं प्रतिवर्ष श्री जगदीश-

मन्दिरसे आमन्त्रण पाकर आबू पवतसे अहमदाबाद की श्री और समृद्धिके बीचमें आकर दो मासके लिये बैठ जाता था।

बाबा हरिदासजी अभी ही श्रावणमासमें वि० सम्बत् २०१३में स्वर्गवासी हुए हैं। वह मुझपर बहुत प्रेम करते थे। मैं भी उनपर प्रेम करता था। उनको बीड़ी पीनेकी बहुत बड़ी आदत थी। मुझे बीड़ी, सिग्रेट, तमाखू, गाँजा, सूका आदिके पीनेका निषेध करने की बहुत बड़ी आदत है। मैंने बड़ोदेसे प्रसिद्ध होनेवाले तत्त्वदर्शी मासिक पत्रमें कितनी ही वार इन नशा करनेवाली चीजोंके विरुद्ध कितने ही लेख लिखे थे। मैं समाजके दोषोंको छिपानेमें समाजका अहित समझता रहा हूं। सामान्यप्रजा दोषोंको छिपानेमें बहुत बड़ा हित समझती चली आ रही है। मैंने तो मनुष्यताके आकार-प्रकारको महात्मागाँधीजीके ही शब्दोंसे, व्यवहारोंसे सीखा है। अतः मैं अपने साथियों और जिसके साथ मेरा नियत सम्बन्ध हो चुका है उस श्रीरामानन्दसम्प्रदायके अनुयायियोंके दोषोंको छिपानमें मैं पाप समझता आया हूँ। मैंने किसीके वैयक्तिक गुप्त दोषोंकी ओर कभी भी दृष्टिपात नहीं किया है। उसमें मुझे कोई लाभ नहीं प्रतीत हुआ। किसीके गुप्तजीवनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसा मैं आज भी मानता हूं। परन्तु सामाजिक दोष और दुर्गुणोंको मैं कभी सहन करनेकी स्थितिमें नहीं था। अपने प्रवचनोंमें भी मैं बीड़ी, तमाखू, गाँजा, भांगकी निन्दा किया करता था। इन मादक पदार्थोंके दोषोंका वर्णन करके प्रजाको उससे अलग रखना, मैंने अपनी किसी भी कथा या प्रवचनका पवित्र आदर्श बना रखा था। मैं सर्वदा यह समझता रहा हूं कि कथा या प्रवचन कमाने खानेकी चीज नहीं हैं। वह तो मानवजीवनके सुषुप्त सद्गुणोंको जागरित करने और उनको एक अमुक सीमा तक पहुँचानेका उत्तम साधन है। केवल कथा कही

जाय, प्रवचन किये जाँय और वे सब श्रोताओंके हृदय, मन, मस्तिकसे अछूते ही रह जायँ, ऐसी कथा और ऐसे प्रवचन सब निरर्थक हैं। कोई बुरा माने, या भला माने, कोई मेरे प्रवचनमें आवे या न आवे, इसकी मुझे तनिक भी चिन्ता कभी भी नहीं हुई है, नहीं होती है। मैं केवल इतना ही देखता रहता हूँ कि मैं अपने विचारोंका प्रभाव किस श्रोतापर कितना डाल सका हूँ। श्रीजगदीशमन्दिरके अपने प्रवचनोंके द्वारा मैंने कितने ही श्रोताओं-को व्यसनमुक्त बना सका था। कितनोंने ही बीड़ी और तमाखू पीना छोड़ दिया था। कितनोंने ही चाह पीना छोड़ दिया था। कितनोंने ही विदेशी चीनीका उपयोग छोड़ दिया था। यही सब उन प्रवचनोंकी दक्षिणा थी।

मेरे रहनेके लिये श्रीजगदीशमन्दिरकी ही भूमिमें मेरे लिये फूसकी झोपड़ी बना करती थी। मुझे बङ्गला पसन्द नहीं था। प्रथम वर्ष तो मैं सोमनाथके घाटपर सेठ सोमनाथ रूपचन्दके बंगलेमें ठहराया गया था। वहाँसे मन्दिरमें आनेके लिये मन्दिरसे हाथी सजकर जाता था और मुझे ले आता था। ऐसे ही वही हाथी पहुँचा आता। परन्तु यह मुझे पसन्द नहीं था। इसमें कुछ दम्भ, कुछ अभिमान बढ़ने लग गया था। अतः दूसरे वर्षसे ही मैंने झोपड़ी पसन्द की और श्रीपुजारीसेवादासजी महाराज, हो सकता था, उतनी अच्छी घासकी झोपड़ी पहलेसे ही बनवा रखते थे। वर्षाके दिनोंमें वह झोपड़ी चूने लग जाती थी। अतः एक चौकीपर छाता लगाकर बैठना पड़ता था। परन्तु ऐसा थोड़े ही दिनोंतक करना पड़ा। पश्चात् तो श्रोताओंने मन्दिरकी प्रेरणासे अथवा स्वतः ही, झोपड़ीपर मोमजामा बिछा दिया। मन्दिरने जमीनपर टाट बिछाकर उसपर कपड़ेकी चादरें बिछा दीं। कुर्सी रख दी गयी। स्नानागार भी फूसका ही और पाकशाला भी

फूसकी ही।

मेरा एक नियम था। जब मैं मन्दिरमें प्रवचनके लिये जाऊँ तो भगवान्‌को साष्टाङ्ग करके कथामञ्चपर बैठ जाता था। मेरे लिये कथामञ्च बहुत सुन्दर लकड़ीका बना था। उसके बनानेवाले एक शिवलाल भाई जयराम मिस्त्री थे। वह आज भी मेरे अत्यन्त समीपी हैं। उन्होंने एक छोटी सी चौकी बनायी। उसमें चार स्तम्भ लगाये। ऊपर लकड़ीकी ही छत बनायी। उसपर डालनेके लिये, उसके शृङ्गारके लिये बहुत सुन्दर रेशमी और जरीके कामसे भरे हुए कपड़े उन्होंने डाले। तब वह व्यासासन नहीं, इन्द्रासन बन जाता था। वह चौकी आज भी मेरे पास है और मैं उसपर नित्य आराम करता हूं। प्रवचनके पश्चात्, भगवान्‌को प्रणाम करके, अन्दर ही अन्दर, भण्डारके पाससे मैं माननीय श्रीमहान्तजी महाराजके पास पहुँचता था। वहाँ दण्डवत्-प्रणामादि क्रियाके पश्चात्, २, ३ मिन्ट वहाँ बैठकर अपने आसनपर जाता था। वर्षों तक यही क्रम रहा। अन्ततक भी यही क्रम रहा।

बाबा श्रीहरिदासजी प्रवचन सुननेके लिये प्रतिदिन आते और बड़े प्रवेशद्वारके पास ही एक छोटेसे चबूतरेपर बैठते थे। मैं जब बाहर जाने लगता तो वह खड़े हो जाते और प्रायः मेरे आसनतक मुझे पहुँचा जाते। एक दिन उन्हें एक पुस्तक मिला। अहमदाबादमें एक पण्डित हरेराम ब्रह्मर्षि रहा करते थे। वह शैव थे। कुछ लेखक भी थे। उन्होंने एक पुस्तक लिखा था जिसमें वैष्णवोंकी कुछ निन्दा थी। वस्तुतः वह निन्दा वैष्णवोंकी नहीं थी, व्यसनोंकी थी—बीड़ी, सिग्रेट आदिकी थी। बाबा हरिदासजी मुझपर बहुत नाराज हो गये। वह स्वयं पढ़े लिखे नहीं थे। परन्तु उनके पास एक साधु रहता था जिसका काम ही यह था—किसीसे लड़ा देना, झगड़ा करा देना, पारस्परिक प्रेम और श्रद्धाको चूर-चूर कर

देना। मैं एक दिन प्रवचनसे उठकर जब बाहर जाने लगा तो बाबाजी वहाँ ही अपने स्थानपर बैठे थे। उठकर खड़े हो गये। मैंने नियमानुसार कुशल-समाचार पूछा तो वह बहुत क्रोधसे, उस पुस्तकको मेरे सामने बहुत जोरसे पटक कर बड़े जोरसे बोलने लगे कि तुमने यह पुस्तक लिखाया है। मैंने उस पुस्तकको कभी देखा नहीं था। उस दिनके सिवा आजतक भी उसे कभी देखा नहीं। उस पुस्तकको उठाकर मैंने उसके पत्रे उलटे। देखा कि उसमें, तत्त्वदर्शीके मेरे लेखोंसे जहाँ-तहाँसे कुछ लेकर लिखा गया था कि श्रीरामानन्दीय साधु बीड़ी, सिग्रेट पीते हैं। यह बहुत बुरा है। इत्यादि। मैंने पुस्तकको वहाँ ही छोड़ दिया। यह कहकर आगे चला गया कि "प्रेमसे कहते तो मैं इसका उत्तर कर देता। क्रोधसे तो काम बिगड़ गया। इसका कोई खण्डन नहीं करेगा।" प्रवचन दो मास ही होते थे। दो मास पूरे हो जानेपर मैं आबू चला गया। बाबा हरिदासजी मुझसे असन्तुष्ट ही बने रहे। कभी उन्होंने दिल खोलकर बातें नहीं की। मैं जब उन्हें मिलता, दण्डवत् कर लेता।

मैंने निश्चय किया कि अब यहाँ प्रवचनके लिये नहीं आना चाहिये। यह बात अभी तक मेरे मनमें थी, बाहर नहीं जा सकी थी।

चतुर्दश परिच्छेद

अग्रिम वर्ष मई १९४० ई० में मैं अहमदाबाद आबूसे आया और राजाधिराजमन्दिरकी अध्यक्षा श्रीमती विट्टणदेवीका अतिथि बना। मैं पीछे कह आया हूं कि जब मैं प्रथम प्रथम अहमदाबाद आया तो श्रीराजाधिराजमन्दिरमें ही कई महीनों ठहरा था। उस मन्दिरके महान्त पण्डित श्रीवंशीदासजी शास्त्री थे। वह प्रज्ञाचक्षु थे। अच्छे महात्मा और विद्याविलासी थे। उन्होंने मनोरमान्त पाणिनि व्याकरण पढ़ा था। उनके साकेतवासके अनन्तर, बहुत दिनों तक अपने गुरु भाइयोंसे मुक़दमा लड़कर, उस मन्दिर को, पण्डितवंशीदासजी शास्त्री की शिष्या श्रीमती विट्टणबाईने अपने अधिकारमें किया था। विट्टनदेवी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थीं। श्रीवंशी-दासजी शास्त्रीके पूर्वाश्रमकी कोई सम्बन्धिनी भी थीं। शास्त्रीजीकी अन्धावस्थामें यदि वह न होतीं, तो उनका जीवन कारुण्यपूर्ण बन जाता। परन्तु विट्टणदेवीजी, बहुत सुशील, सदाचार-सम्पन्न गुरुभक्ता थीं। उन्होंने जबतक शास्त्रीजी जीवित रहे, उनकी निःस्वार्थ सेवा की। उनके पास कुछ द्रव्यसंग्रह हो जाता तो वह साधु सन्तों को भोजन करा देतीं अथवा ऐसे ही किसी अन्य उपयोगी कार्यमें उसका व्यय कर देतीं। उस साल उन्होंने विष्णुयाग किया था और बहुत आग्रहसे मुझे बुलाया था। यज्ञ-की समाप्ति में मैं जब वहां से पुनः आबू जाने लगा तो श्रीमान् पुजारी सेवादासजी महाराज मेरे पास आये और कहा कि—"श्री महाराजजी (श्रीजगदीशमन्दिरके श्रीमहान्तजी महाराज) ने कहा

है कि अब तो प्रवचनके समय को थोड़े ही दिन अवशिष्ट हैं, अतः आबू न जाकर, मन्दिरमें ही चलकर निवास करें। मैंने कहा कि अब मैं जगदीशमन्दिरमें कथा—प्रवचनके लिये नहीं आऊँगा क्योंकि मेरे शब्दोंसे सन्तोंको दुःख लगता है। श्रीपुजारीजी महाराजने मुझे बहुत आग्रहसे मन्दिरमें चलनेके लिये कहा परन्तु मैं नहीं गया। श्रीपुजारीजी महाराज लौट गये। मैं आबू अपनी चम्पा गुफामें पहुँचा।

कभी किसी विषयमें हां करनेका परिणाम तो चाहे जो आता हो परन्तु 'ना' करने का परिणाम लगभग दुःखद हो जाता है। मैंने श्रीपुजारीजी महाराजको 'ना' तो कर दिया परन्तु मेरे हृदय-में एक वेदना सी होने लगी। पुजारी सेवादासजी के विषयमें उसी समयसे एक मेरी दृढ़ धारणा तो हो ही गयी थी कि वह दृढप्रतिज्ञ महापुरुष हैं। कहीं उन्होंने भी मेरे प्रतिकूल कोई प्रतिज्ञा कर ली तो सदाके लिये एक अच्छा सा सम्बन्ध टूट जायगा। मुझे दुःख हुआ कि बाबा हरिदासजीकी बात पर मुझे श्रीजगदीश-मन्दिर और श्रीपुजारीजीके साथ का मधुर सम्बन्ध बिगाड़नेका बीज मैंने बो दिया। परन्तु अब हो ही क्या सकता था! जो होना था हो गया और परिणामकी प्रतीक्षा करना ही अवशिष्ट था।

अहमदाबादमें प्रवचनका समय हो चुका था। श्रावण मास आ गया था। अहमदाबादके मेरे श्रोताओंको पता लग चुका था कि मैं अब श्रीजगदीशमन्दिरमें प्रवचनको बन्द कर चुका था। उनमेंसे कितने ही भाइयों और बहिनोंने मिलकर मुझे आमन्त्रित किया और अहमदाबादमें ही पुष्पनाथमन्दिर (कोचरब) में मेरे रहने और प्रवचन का प्रबन्ध किया। जबसे श्रीवैष्णवसम्प्रदायमें दीक्षित हुआ था कभी भी अन्य सम्प्रदायोंके किसी देवमन्दिरमें मैंने निवास नहीं किया। मुझे शंकरजी के मन्दिरमें रहना पड़ेगा,

इस विचारने मुझे विह्वल बना दिया। मुझे सबसे बड़ा दुःख तो यह था कि श्री जगदीशमन्दिरमें प्रवचनके लिये अस्वीकार करके उसीके पास ही अन्य मन्दिरमें प्रवचन करनेका प्रतिफल विरोधके अतिरिक्त कुछ नहीं होगा। मुझे एक विचार यह भी आया कि पण्डित श्रीरघुवराचार्यजी मेरा उपहास करेंगे और यत्र तत्र टीका-टिप्पणी के साथ प्रचार करेंगे कि मैं शिवमन्दिरमें रहता हूँ और जगदीशमन्दिरसे विरोध हो गया। अस्तु, विचारोंके गमनागमनके साथ ही आबूसे मैं अहमदाबाद पहुँचा और पुष्पनाथमें निवास हुआ। मेरे बहुत ना करनेपर भी, इच्छा न होनेपर भी, कुछ भाइयोंके अनुरोधसे मुझे पुष्पनाथमें प्रवचन करनेके लिये 'हाँ' करनी पडी। कन्ट्राक्टर श्रीनारायणदास कालिदासका विशेष आग्रह था। प्रवचनका प्रारम्भ हुआ। पुष्पनाथमन्दिरमें अवकाश तो बहुत था, छाया नहीं थी। श्रोताओंको बैठनेमें कष्ट होता था क्योंकि श्रावणमास था। चाहे जब वर्षा होती थी। सुन्दरियापोलके श्रीमान् माणिकलालजीने उस मन्दिरके पूर्वभागमें टिनकी छाया कर दी। हवा रुकती थी उसके लिये दीवाल तोड़कर तीन-चार खिड़कियाँ बना दी गयीं। सब प्रबन्ध सुन्दर रीतिसे हो गया। लाउड स्पीकर भी लग गया। अवश्य ही श्रोताओंकी संख्या बहुत अधिक हुई परन्तु मेरा दुःख भी अधिक ही हुआ। श्रीजगदीशमन्दिर पासमें ही था। केवल साबरमतीका नया सरदारपुल ही बीचमें था। बहुतसे सन्त भी मन्दिरसे कथा सुनने—प्रवचन सुनने आया करते थे। कुछ सन्तोंने श्रीपुजारीजी महाराजसे कथाकी प्रशंसा भी की होगी। श्रीपुजारी सेवादासजी महाराज इससे प्रसन्न भी होते रहते थे, ऐसा मुझे पता लगाता रहता था। परन्तु मिलना जुलना बन्द हो चुका था। कुछ साधु तो इसलिये कथा सुनने आते थे कि मैं साधुओंकी या किसीकी निन्दा भी करता हूं या

नहीं। मैं बहुत सावधान रहनेवाला आदमी हूं। श्रीजगदीश-मन्दिरमें तो मैं कितनी ही वार साधुओंकी समीक्षा भी प्रवचनके समय किया करता था। वहाँ साधु भी श्रोता थे, श्रीपुजारीजी भी वहाँ रहते ही थे। श्रीमहान्त नरसिंहदासजी महाराज सुनते ही रहते थे। साधु मेरे अपने थे, सम्प्रदाय मेरा अपना था, साधुओं-के लिये कुछ भी कहना, सुनना मेरे लिये बहुत सुगम था, अपने पनकी भावना थी। अपने ही सुधारकी बात थी। वहाँ संकोच नहीं होता था। पुष्पनाथमन्दिर जगदीशमन्दिर नहीं था, शङ्कर-मन्दिर था। यहाँ सन्तोंके सम्बन्धमें कुछ भी कहना, नितान्त अयुक्त था। मैंने कभी भी यहाँ साधुओंके लिये कुछ भी नहीं कहा। इससे श्रीपुजारीसेवादासजीको बहुत सन्तोष हुआ था। यहाँपर भी नियमानुसार दो मास ही कथा कहकर मैं आमोद (भरूच) चला गया। कितने ही बन्धु मुझे भरूच तक पहुँचाने आये थे। जिनमें श्रीपूनमचन्द भाई मुख्य थे। जब मैं प्रथम प्रथम श्रीजग-दीशमन्दिरमें कथा वाचनेके लिये गया था तबसे ही श्रीपूनमचन्द भाई और उनकी धर्मपत्नी अ० सौ० श्रीधनलक्ष्मी बहिन मेरी अनेक सेवाएँ करती थीं। जब पुष्पनाथमें रहने लगा तब तो मेरी सेवा—मेरे निर्वाहका समस्त भार इन्हीं लोगोंके ऊपर आ पड़ा था। पुष्पनाथके कूएँका पानी बहुत खारा था। उस समय तक वहाँ पानीका नल नहीं आया था। म्युनिसिपालिटीमें बाहरका यह भाग था। उसी वर्ष वह विभाग म्युनिसिपालिटीसे सम्मिलित किया गया था। श्रीधनलक्ष्मी बहिन शहरसे ही पानीके दो घड़े प्रतिदिन वहाँ मेरे पास भेजती थीं। काम करनेके लिये नौकरका भी उन्होंने ही प्रबन्ध किया था। श्रीपूनमचन्द भाई और श्रीधन-लक्ष्मी बहिन आज भी उसी प्रेम और श्रद्धासे मेरी सुविधाओंका ध्यान रखती हैं।

पुष्पनाथमन्दिर (अहमदाबाद) में मैं तीन वर्षोंतक आता और थोड़ा निवास करके जाता रहता। सन १९४२ ई० में मैंने चम्पागुफा आबूका त्याग कर दिया। महात्मा श्रीगाँधीजीका **'क्विट इण्डिया' 'भारत छोड़ो'** का आन्दोलन बहुत जोरोंसे चल रहा था। आबूमें अंग्रेजी सैनिक अधिक संख्यामें आ गये थे। जङ्गल निरुपद्रव नहीं रह सके थे। जङ्गलमें ही मेरा निवास था। जीवननिर्वाहके वस्तु भी महार्घ्य हो गये थे। अतः मैंने अपना स्थायी निवास अहमदाबादमें बनाया।

———

पञ्चदश परिच्छेद

जब मैं पुष्पनाथमें रहता था, और जब मैं वहाँके निवासको सदाके लिये छोड़नेवाला था, उसी समयकी एक घटनाका उल्लेख अवश्य ही सुखदायक होगा। पुष्पनाथमन्दिरको छोड़नेकी नियत-तारीखके केवल दो दिन ही अवशिष्ट थे। भगवान्‌ने अहमदाबादमें कुछ महान्त महानुभावोंको अदृश्यरूपसे प्रेरणा की। चार महांत मेरे पास आये। श्रीमहान्त गोकुलदासजी महाराज, श्रीमान् महान्त सूर्यप्रकाशजी श्रीमान् महान्त रामरत्नदासजी और श्रीमान् चन्द्रशेखरजी। श्रीमहान्त गोकुलदासजी बहुत प्रतिष्ठित महान्त थे। मेरे ऊपर उनका बहुत ही प्रेम था। सम्भव है कि वही सबको बटोरकर ले आये हों। वे लोग आये, तब मेरे पास कुछ भाई बहिन बैठे थे। भीड़ थी, क्योंकि मैं दो दिन बाद ही जानेवाला था। श्रीमहान्त गोकुलदासजीको मुझसे कुछ बातें एकान्तमें करनी थीं। मैंने सबको हटा दिया। मैं अन्दर सबको लेकर चला गया। पुष्पनाथमन्दिरके द्वारपर एक कोठा है। उसीपर मैं रहता था। उसमें एक छोटी सी कच्ची ज़मीनकी कोठरी थी, मैंने सिमेन्टसे उस ज़मीनको पक्की और बहुत सुन्दर बना ली थी। उसीमें मेरी भोजनशाला—पाकशाला थी। उसीके लिये मैंने 'अन्दर' शब्दका प्रयोग किया है। उसका नाम ही अन्दर था परन्तु दरवाज़ा बन्द कर लेनेपर भी, बहुत धीरेसे बोलनेपर भी बाहर बैठे हुए लोग हमारी बात सुन सकते थे। सब तो चले ही गये थे। महान्त-मण्डली रही थी। हम अन्दर शान्तिसे बैठ गये। श्रीमहन्त गोकुल-दासजी महाराजने कहा कि मैं तुमसे एक कामके लिये वचन लेने

आया हूं। मैंने कहा कि काम बताइये। मैं कर सकता हूंगा तो अवश्य करूँगा। उन्होंने कहा, नहीं, पहले तुम हाँ करो, तब मैं काम बताऊँगा। मैंने कहा, हमारे पास राजा दशरथका इतिहास उपस्थित है। विना जाने ही, उन्होंने कैकेयीको, वह जो माँगे, देनेके लिये वचन दे दिया; अन्तमें वह हैरान हुए। यह भूल आप मुझसे न करावें। श्रीमहान्तजीका मुझपर बहुत प्रेम था, कितने ही कार्य वह मुझसे बलात्कारसे भी करा लेते थे। उन्होंने कहा, तुम्हें हाँ करनी पड़ेगी। मैंने कहा, मेरे स्वतन्त्र विचार और स्वतन्त्र व्यवहारपर आपका अधिकार न हो इतने समय = शर्तके साथ मैं कहता हूँ कि आप जो कहेंगे, करूँगा। वह हँस पड़े, सभी हँस पड़े। मैं विचारमग्न था। उन्होंने कहा "देखो, तुमने हमारे सम्प्रदायकी जन्मभर सेवा की है। अव तुम वृद्ध हो रहे हो। जहाँ-तहाँ तुम्हें रहना पड़ता है। इच्छाके न रहने पर भी तुमको यहाँ शिवमन्दिरमें रहना पड़ा है। हम लोगोंको दुःख भी होता है, लज्जा भी। अतः हम चाहते हैं कि तुम्हारे लिये अहमदाबादमें शहरसे बाहर एक बङ्गला बना दें, एक नौकर भी दे दें, तुम्हारे जीवनकी आवश्यकताओंका सब प्रबन्ध कर दें, तुम उसमें शान्तिसे रहो।" आदरसे मेरा शिर झुक गया। सान्त्वनाके दो शब्द मुझे पहली ही वार सुननेको मिले थे। मैंने तो समझा था कि जङ्गलके फूल जङ्गलमें ही सूख जानेके लिये बने होते हैं। मैंने तो अपने जीवनका ध्येय श्रीसम्प्रदायकी सेवा बना लिया था। व्यापार करना मुझे आता ही नहीं है। सेवाके बदले मैं कुछ चाहता ही नहीं रहा हूँ। आज भी कुछ नहीं चाहता हूं। मैंने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया कि मैं इसका उत्तर आज ही नहीं दे सकता हूँ। विचार कर दूँगा। उन्होंने तो तत्कालिक उत्तरका ही आग्रह किया परन्तु मैं दृढ़ रहा। उन्होंने कहा, तुम रातभरमें विचार कर

लो। कल्ह श्रीकोठारीजी (महान्त रामरत्नदासजी) आवेंगे, उनसे अपना विचार कह देना। मैंने इसे मान लिया। महान्त श्रीरामरत्नदासजी मेरे बहुत पुराने परिचित थे। कुछ मैंने उन्हें पढ़ाया लिखाया भी था। वह समझदार भी हैं। वह दूसरे दिन मेरे पास आये और मैंने उनसे कहा कि मैं अभीतक इस प्रश्नपर विचार नहीं कर सका हूं। दो दिनके बाद बिट्ठलपुर जा रहा हूँ। वहाँ मुझे एकान्त और शान्ति मिलेगी। वहाँसे ही मैं इसका उत्तर लिख भेजूँगा। वह मेरी बात मान गये।

जिस समय मैं सब महान्तोंके साथ अन्दर बात कर रहा था उसी समय अहमदाबादके एक सेठ श्रीमान् माणिकलाल हरिलाल शाह अपनी धर्मपत्नी अ०सौ० श्रीमती जयादेवीके साथ मुझे मिलनेके लिये वहां आये थे। हमने द्वार बन्द कर रखा था और बातोंमें हम लोग थे अतः बाहर कौन आया और कौन गया, इसका ध्यान नहीं रहा। श्रीसेठजी और श्रीसेठानीजी दोनों ही चुपचाप बैठकर हमारी सभी बातें सुनते रहे। हम जब बाहर निकले तो सेठजी तथा सेठानीजीने प्रणाम किया। महान्त महानुभाव चले गये। श्रीसेठ माणिकलालजीने कहा कि बापजी, आप लोगोंकी लगभग सभी बातें हमने सुनी हैं। जिसका विचार आप करते थे उसी विचारको लेकर हम लोग भी यहां आये हैं। सेठानीजी की ओर संकेत करके उन्होंने कहा कि "इनका आग्रह है कि आपके लिये एक अनुकूल बंगला अहमदाबादमें बना दें जिससे आपको किसी प्रकारकी परतन्त्रता न रहे। मैंने कहा कि जब आपने अन्दरकी हमारी बातें सुन ही ली हैं तो आपको विदित ही होगा कि मैंने इन लोगोंको क्या उत्तर दिया? वही उत्तर मेरा, आपके लिये भी है। उन्होंने इसे मान लिया।

जब मैं आबू चम्पागुफामें रहता था तब यह सेठ श्रीमाणिक-

लालजी आबू गये थे और मुझे गुफामें ही मिले थे। मैं इस बात को भूल गया था। एक दिन सेठजी अकस्मात् पुष्पनाथमन्दिरमें पुष्पनाथके दर्शनके लिये आये थे। मैं ऊपर था। उन्हें पता लगा कि ऊपर कोई संन्यासी ठहरे हुए हैं। वह ऊपर आये। प्रणाम किया। मुझे पहचान गये। उन्होंने कहा—बापजी, आप मुझे पहचानते हैं? मैंने कहा—'नहीं'। उन्होंने चम्पा गुफामें परिचय की बात की। मुझे स्मरण नहीं हुआ। अपने स्वभावके अनुसार मैंने उनकी बात मान ली और उनके आनेसे हर्ष प्रकट किया।

जब वह मेरे पास आये थे, उस समय मेरे यहां जैकोबाबाद (सिन्ध) ज़िलेके ठुल ग्रामके ४, ५ भाई बैठे थे। वे लोग गुजरात देखने आये थे। अहमदाबादमें आकर मुझे न मिलें, हो नहीं सकता था क्योंकि मैं इनके गाँवमें कई बार जा चुका था। जब मैं आबू में रहता था तभी ठुल के एक सद्गृहस्थ ठाकुर साहब श्रीईश्वरलालजी और भाई लेखरामजी आबू गये थे। वह लोग मुझे चम्पा गुफामें ही मिले थे और ठुल आनेका साग्रह आमन्त्रण दिया था। मैं ठुल पहुँच गया था और कई वार वहां बुलाया गया था, कई वार मैं वहां गया था। तभी से परिचय। श्रीलेखरामजी भी उन तीन चार भाइयोंमेंसे एक थे। लेखरामजीने कहा कि हमें यहांकी कोई एक कपड़ोंकी मिल देखनी है। कैसे देखी जा सकती है? मेरे उत्तर देनेसे पहले ही सेठ श्री माणिकलालजी ने कहा कि, "बाप जी, यदि आप कहें तो अपनी गाड़ी मैं धर्मशालापर नियत समयपर भेज दूँ। ये लोग मिल देखकर गाडी वापस कर देंगे। सिन्धी भाइयोंको तो बहुत ही अच्छा लगा। उनका प्रोग्राम अनायास ही पूरा हो रहा था। मैं चिन्तामें पड़ गया कि सेठजीने अपना परिचय तो दिया था परन्तु मुझे वह प्रसङ्ग स्मृत नहीं होता था। अहमदाबादके लिये

मैं भी नया ही था, सिन्धी भाई भी नये ही थे। श्रीसेठजी भी मेरे लिये नये ही थे। एक अपरिचित सज्जनको कष्ट देना मुझे अच्छा नहीं लगा। सेठजी तो बैठे ही थे वे भाई चले गये। स्टेशनके पास रेवाबाईकी धर्मशालामें वे लोग ठहरे हुए थे। जब सेठजी भी चले गये तो मैंने एक पत्र लिखकर उन भाइयों के पास धर्म-शालामें एक आदमी के साथ भेजा और उसमें लिख दिया कि यदि प्रातः मोटर आवे तो वह लोग उसमें बैठकर कहीं न जायँ। मोटर के लिये जो समय निश्चित किया गया था, उससे पहले ही धर्मशाला से वह लोग बाहर चले जायँ, ऐसी मैंने सूचना दी थी। उन लोगोंने ऐसा ही किया। सेठजीकी मोटर गयी और वापस आयी। वे लोग धर्मशालामें नहीं थे। दूसरी शामको श्रीसेठजी पुनः मेरे पास आये और कहा कि वे लोग धर्मशालामें नहीं थे। मैंने कुछ कहकर, मेरे कपटप्रबन्धको छिपा रखा।

वही सेठजी मेरे पास मेरे लिये बंगला बनानेका प्रस्ताव लेकर उस दिन आये थे।

मैं जब दूसरी वार पुष्पनाथमें रहने श्रावाणमासमें गया तब मैंने इन्हीं श्रीसेठजीको आबूसे पत्र लिखा था कि मैं पुष्पनाथमें आकर दो मास रहनेवाला हूँ। कृपाकर मेरा सब प्रबन्ध इस वर्ष आप करें। उन्होंने बहुत उत्तम प्रबन्ध किया था। अपरि-चितकी तो अब कोई बात ही नहीं थी। मुझे अपने उस कपट प्रबन्धपर दुःख भी होता था, ग्लानि भी होती थी, लज्जा भी लगती थी।

तीसरी वार जब मैं सदाके लिये पुष्पनाथको छोड़ रहा था, उसकी घटनाका वर्णन मैंने पूर्वमें किया ही है। पूर्वमें कहे हुए चारों

महान्तोंको विट्ठलपुरमें पहुँचकर मुझे उत्तर देना था। मैंने पुष्पनाथको सदाके लिये छोड़ दिया। उसके छोड़नेमें एक कारण यह भी था कि उसके मन्दिरके सेवकोंमें दो विभाग थे। एक उस मन्दिरमें चिरकालसे रहनेवाले सन्तके विपक्षमें था और एक विभाग पक्षमें। जो उनके विपक्षमें थे वे ही लोग जवान भी और बूढे भी मेरे पास अधिक आया करते थे। जो लोग उन सन्तके पक्षमें थे, वे न जाने क्यों मेरे पास कभी आते ही नहीं थे। उन लोगोंमेंसे कुछने यह भी कहना शुरू किया कि मैं ही झगड़ा कराता हूं। जब यह बात मेरे कानमें आयी तब मैंने सदाके लिये उस मन्दिरको छोड़ देनेका निश्चय कर लिया था।

मैं विट्ठलपुर पहुँचा। उन चार महान्त महोदयोंके प्रस्तावपर विचार किया। निर्णय करनेमें मुझे विलम्ब नहीं हुआ। मैंने महान्त रामरत्नदासजीको तो शायद कुछ नहीं लिखा था परन्तु अवशिष्ट तीन महान्तोंको जो पत्र मैंने लिखा था, मेरी स्मृतिके अनुसार, वह इस आशयका था—

"मैं आपको धन्यवाद देता हूँ कि आपने मेरे लिये सहानुभूति प्रकट की। आपको प्रतीत होगा कि मैं अपने वर्तमान जीवनसे दुःखित हूं परन्तु मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि मैं जिस स्थितिमें हूँ, उसीमें प्रसन्न हूं। मैं कभी भी दुःखका अनुभव नहीं करता। अतः आप मुझे इसी स्थितिमें रहने दें। यदि मैं आपके प्रस्तावका स्वीकार कर लेता हूं तो, यदि भविष्यमें आप या आप लोग जिनपर भार रख जायँ वे मेरा प्रबन्ध न कर सकें तो मुझे अत्यन्त खेद होगा। जीवनका ठिकाना नहीं, एक दिन भी वह टिक सकता है और वर्षोंका वर्ष भी वह टिक सकता है। थोड़े दिनकी बात नहीं है। अतः मेरी पुनः प्रार्थना है कि आप मुझे इसी स्थितिमें रहने दें।"

श्रीमान् सेठ मणिकलालशाहीजीको उत्तर देनेका अवसर ही मुझे नहीं मिला। झीथड़ा गादीसे मुझे एक तार मिला था। वह तार अहमदाबादमें ही आया था और सेठजीने ही उसे अपने आदमीसे मेरे पास विट्ठलपुर भेजा था। विट्ठलपुरसे मैं तीसरे ही दिन अहमदाबाद होता हुआ, श्रीसेठजीसे मिलता हुआ झीथड़ा (मारवाड़) चला गया था। वहाँका कार्य पूरा हुआ। मैं अहमदाबाद आया। मैंने श्रीसेठजीके उस समयके बालक-पुत्र श्रीरमणीकलालको (आज तो वह ग्रेज्युयेट हैं और अच्छी तरहसे बैंगलोरमें व्यापार करते हैं) एक प्राइवेट पत्र लिखा था कि मैं शीघ्र ही वहाँ आ रहा हूँ। मेरे लिये किसी होटलमें एक रात्रिभर रहनेका प्रबन्ध कर लें। मैं दिल्ली मेलसे रात्रिमें ही पहुँचूँगा। विट्ठलपुर जानेकी गाड़ी प्रातः ६ बजे मिलेगी। उसीसे मैं विट्ठलपुर चला जाऊँगा। मैंने लिखा था कि होटलका प्रबन्ध चुपचाप करें। अपने पिताजीको कुछ न कहें। मैंने तारसे अपने अहमदाबाद पहुँचानेकी उन्हें सूचना दी। उन्होंने अपने पिताजीसे मेरे पत्रकी चर्चा कर दी थी। श्रीसेठजीने कहा 'बापजीको होटलमें नहीं रखा जा सकता। वह सन्त हैं, हमारे साथ भी रहना पसन्द नहीं करेंगे। अतः कोई बङ्गला ढूँढ़ लो और जितने दिन वह रहना चाहें, वहाँ ही रहे।' उनको प्रसन्नता हुई, एक पूराका पूरा बङ्गला राजनगरसोसाइटीके पास ही खाली मिल गया। उसका उन लोगोंने मासिक भाड़ा भी तै कर लिया। उसकी सफाई भी हो गयी। खाने-पीनेके सामान रख दिये गये। आवश्यक पात्र, कोयला, सगड़ी, नौकर आदिकी भी व्यवस्था हो गयी। मैं रात्रिमें ९ बजे आनेवाला था। ५ बजे शामतक यह सब व्यवस्था पूर्ण हो गयी। गाड़ीके समय स्टेशन पर श्रीसेठजी स्वयं भी आये थे और उनके वह पुत्र श्रीरमणीक भाई भी। मैंने धीमेसे श्रीरमणीक भाईसे पूछ लिया कि मेरे लिये

होटलमें व्यवस्था कर ली गयी है ? उन्होंने कहा कि होटलके सिवा अन्यत्र व्यवस्था होगी तो उसे आप पसन्द करेंगे या नहीं ? मैंने हाँ की। स्टेशनसे बाहर मोटर खड़ी थी। मैं उस बङ्गलेमें पहुँचाया गया। मेरे आश्चर्यका पार तब नहीं रहा, जब मैंने उस बङ्गलेकी सब कथा सुन ली।

———

षोडश परिच्छेद

उस बङ्गलेमें रात्रिमें विश्राम किया। प्रातः मेरे जानेका निश्चय था। श्रीसेठजी भी आये थे, श्रीरमणीक भाई भी आये थे और उनके चाचाके पुत्र श्रीकृष्णकान्त भाई भी आये थे। सबने कहा कि 'इस बङ्गलेका एक मासका भाड़ा दे दिया गया है। अतः आप संकोच न करें, जब तक रहना हो रहें।' मैं ठहर गया। श्रीसेठजी-ने मुझे उस बङ्गलेमें लगभग चिरस्थायी बनाया। मैं वहाँ सुखसे रहने लगा। मुझे किसी प्रकारका कोई भी कष्ट नहीं था। एक सज्जन सद्‌गृहस्थ, परमवैष्णव और सरल हृदयके प्रबन्धमें कष्ट हो ही क्या सकता था? महीनेपर महीने बीतने लगे।

एक दिन मुझे विचार आया—"यदि पूज्य महात्मागाँधीजी कभी मुझे पूछ बैठेंगे कि तुम कहाँ रहते हो? और क्या करते हो? तब मैं उनसे कैसे कह सकूँगा कि मैं एक बङ्गलेमें रहता हूं, मेरा सब भार और बहुत बड़ा भार एक सेठजीके ऊपर है? कहूँगा तो वह मनमें खिन्न होंगे, मुझे विलासी समझेंगे, सम्भव है कि मुझसे कभी बात न करें।" बहुत विचारके पश्चात् मैंने निश्चय किया यह कि—

"जगत्‌में मेरा अब काम क्या है? गुरुकृपासे पर्याप्त विद्या प्राप्त हुई। एक सत्सम्प्रदायमें प्रविष्ट हुआ। यथाशक्ति निस्स्वार्थ-भावसे उसकी सेवा की। अनेक ग्रन्थ लिखे। ८ वर्षों तक एक सफल मासिकपत्रका सम्पादन किया। अनेक शास्त्रार्थ किये। अनेक सभाओंमें भाषण दिये। महात्मा गांधीके सम्पर्कसे जीवन-को पवित्र बना रखा। त्यागके आदर्शको प्रामाणिकरूपमें रखा

की। मेरे पास धन नहीं कि मैं स्वतन्त्र जीवननिर्वाह कर सकूँ। मन्दिरोंमें किसीके आश्रित रहनेकी भावना समाप्त हो चुकी। अतः इस जीवनका अन्त कर देना ही मेरे लिये श्रेयस्कर है।" हिमालयमें जाकर किसी पर्वतके शिखरसे भृगुपात करके शरीरको गङ्गामें छोड़ देनेका संकल्प मैंने उस समय तो कर ही लिया। उन दिनों मेरी इच्छा हो गयी थी कि "मैं एक बार अपनी जन्म-भूमिमें जा आऊँ। अपने परमप्रिय पूज्य ज्येष्ठ बन्धुके चरणोंमें एक बार मस्तक झुका आऊँ। मैंने अपनी ही बाल्यसुलभा चञ्चलता या मूर्खतासे आर्यसमाजके सम्पर्कमें आकर भाईके सम्बन्धको भुला दिया था। उनका प्रेम मुझे तब तो क्षण-क्षणमें स्मृत होता और मैं कातर हो उठता। जिनकी गोदमें बैठकर मैंने कितने ही श्लोक सीखे, कितने ही हिन्दी काव्य सीखे, शैशवके मातृहीन दुःखोंका स्वप्नमें भी जिनके सौहार्द और प्रेमसे मैंने कभी अनुभव नहीं किया, एक बार तो उनसे मुझे अवश्य मिलना ही चाहिये।

पुनः विचार आया, वह न जाने कहां होंगे। वर्षों बीत गये। मैं बालकसे युवा हुआ। वृद्धावस्थाकी ओर दौड़ने लगा। वह मुझे अब पहचानेंगे या नहीं? वह भी होंगे या नहीं? अब मुझे प्यार करेंगे या नहीं? मैं विरक्त हो गया, वह मुझे अपने साथ भोजन करायेंगे या नहीं? ऐसे ऐसे अनेक विचार मेरे मनमें आने लगे। जब मृत्यु आसन्न होता है तब लोगोंके भाव कैसे रहते होंगे, उनकी झांकी मुझे उस समय होने लगी। बहुत दिनों तक मैंने भृगुपातका मानसिक अभ्यास किया। रातदिन यही मनमें होता था कि मैं गङ्गाके तटपर किसी पर्वतशिखरसे गङ्गामें गिर रहा हूँ। मैं स्वप्नमें भी देखने लगा कि मैं सुख और शान्तिसे पर्वतके ऊपरसे गङ्गामें गिर रहा हूँ। मुझे तनिक भी भय नहीं होता था।

कई महीनोंके बाद मेरा यह विचार दृढ हुआ और धीरे धीरे मैंने अपने कितने ही मित्रों और श्रीयुतमहात्मागांधीजीको भी अपने विचारोंकी सूचना देनेका निश्चय किया।

स्वामी सत्यस्वरूपानन्दजी शास्त्री उदासीन सम्प्रदायके विद्वान् सज्जन हैं। वह मेरे साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं। मैंने उन्हें भी मेरे इस संकल्पकी सूचना दी। एक समय वह अहमदाबादमें ही थे और उन्हीं दिनों श्री० भिक्षु आनन्दकौसल्यायन भी अहमदाबादमें हिन्दीपरीक्षोत्तीर्ण छात्रोंको प्रमाणपत्र वितरणके लिये आमन्त्रित होकर आये थे। उनके साथ मेरा कभी साक्षात्कार नहीं हुआ था परन्तु नाम और कर्मसे हम दोनोंको जानते थे। उपर्युक्त स्वामीजीने उनसे भी मेरे इस संकल्पकी बात की। उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ। दोनों सज्जन मेरे पास आये। मेरे संकल्पकी बात चली। श्रीभिक्षुजीने आत्महत्याका प्रश्न उठाया। मैंने कहा हिन्दूधर्म आत्महत्याको स्वीकार नहीं करता है। आत्मा नित्य और अवध्य हमारे यहां माना गया है। मैंने जब कहा कि अब मेरी आवश्यकता यहां मुझे प्रतीत नहीं होती है तब उन्होंने उत्तर दिया कि 'आपको नहीं विदित हो सकता कि आपकी आवश्यकता कब, कहाँ और कैसी है।' उन्होंने मेरे तत्त्वदर्शी पत्रके एक लेखका नाम लेकर कहा कि 'उस लेखको मैंने सारनाथमें तब पढ़ा था जब मैं धर्मदूत आफिसमें था उस लेखसे एक कार्यके लिये मुझे अत्यन्त स्फूर्ति और उत्साह मिला था और उस कार्यमें मैं सफल हुआ था।' उन्होंने कहा—'इसके माननेमें कोई आपत्ति नहीं है कि ऐसी अनेक घटनाएँ आपके लेखों और पुस्तकोंसे घटित हुई होंगी जिनका आपको कोई भी ज्ञान नहीं है। मेरी ही इस घटनाका आपको कोई ज्ञान नहीं था।' तब भी मैं तो अपने विचारपर दृढ़ रहा। मुझे ऐसा प्रतीत होता था कि भविष्यका

जीवन बहुत ही परतन्त्र और दुःखमय बनेगा। दुःखसे मुक्ति पाना ही तो मोक्ष है। दुःखसे बचनेके लिये ही संन्यासका विधान है। दुःखसे बचनेके लिये ही संसारके प्राप्त वैभवके त्यागकी भारतीय प्रथा है। मैं स्वेच्छासे मृत्युको—चाहे जिस रीतिसे वह प्राप्त कर ली जाय—संन्यासीके लिये निर्दोष मानता हूं। मैंने बाल्यावस्थामें ही **प्रायोपवेशनमतिर्नृपतिर्बभूव** कालिदासके इस वचनपर मल्लिनाथकी टीकामें इस पुराणवचनको पढ़ रखा था—

> **समासक्तो भवेद्यस्तु पातकैर्महदादिभिः।**
> **दुश्चिकित्स्यैर्महारोगैः पीडितो वा भवेत्तु यः॥**
> **स्वयं देहविनाशाय काले प्राप्ते महामतिः।**
> **आब्रह्माणं वा स्वर्गादिमहाफलजिगीषया॥**
> **प्रविशेज्ज्वलनं दीप्तं कुर्यादनशनं तथा।**
> **एतेषामधिकारोस्ति नान्येषां सर्वजन्तुषु॥**
> **नराणामथ नारीणां सर्ववर्णेषु सर्वदा॥**

इन वचनों से इतना तो स्पष्ट ही है कि स्वेच्छासे कृत्रिम उपायोंसे मृत्युका आलिङ्गन करना हिन्दुधर्म में वैध है। यद्यपि इसमें न तो संन्यासीका उल्लेख है और न जलपातका तथापि इन वचनों-का मेरे संकल्पमें बहुत बड़ा हाथ था। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि मैं अपने जीवनको निभानेमें सर्वथा असमर्थ था।

कभी मैंने यह भी विचार किया था कि मैं अपनी जीविकाके लिये किसी स्कूल, कॉलेजमें अध्यापनकार्यका आश्रय लूं। मैंने अहमदाबादके एक सज्जन श्रीहरखचन्द गांधीजी-जो उस समय सरकारी वकील और आनरेरी..........थे, उनसे मेरी इच्छाकी पूर्तिके लिये प्रयत्न करनेको कहा था और वह शीघ्र ही एस० एल०

डी० कालेजमें मेरे लिये एक प्रोफेसरका स्थान निश्चित कर आये थे। मैंने सोचा कि यदि मैं जीवित रहूँगा तो सम्प्रदायका कार्य मुझे अवश्य करना पड़ेगा। मैं कालेजसे वेतन लेकर जीवननिर्वाह करता हूँ, इसे जान लेने पर सम्प्रदायके लोग मुझसे घृणा करेंगे और मैं समाजसेवा नहीं कर सकूंगा। इसी भयसे तो मैंने मेहशानाके जैनविद्यालयके मुख्याध्यापक पदको छोड़कर चला आया था। मैं प्रोफेसर नहीं बन सका।

मैंने यह भी विचार किया था कि यदि जीना ही होगा तो हिमालयमें कहीं गुप्तवासके द्वारा, भिक्षाटनसे, जीवननिर्वाह करूंगा। इस विषयमें मैंने उस समय बाबा कालीकमलीके अन्न क्षेत्र (ऋषिकेश) से पत्रव्यवहार भी किया था। मुझे सन्तोष नहीं हुआ और पूर्व निश्चयपर आया और देहपातके लिये उस समय कुछ महीनोंमें ही आनेवाली रामनवमीकी तिथि भी निश्चित कर ली।

मैंने कहाँ कहाँ किन किन को इस सम्बन्धमें पत्र लिखा, मुझे आज बहुत स्मरण नहीं है। परन्तु महात्मा श्रीगांधीजी को और शिकारपुर (सिन्ध) में पण्डित श्रीलक्ष्मणदासजी शास्त्री को जो भूपतवाला, हरिद्वारके श्रीराममन्दिरके आज महान्त हैं, लिखा था। महात्माजीके पत्रका उत्तर सेवाग्रामसे श्रीनरहरिभाई परीख-के हाथसे लिखा हुआ आया और पण्डित लक्ष्मणदासजीका उनका ही लिखा हुआ उत्तर आया। ये दोनों पत्र तथा काली कमलीवालों का पत्र सब सुरक्षित हैं और इस ग्रन्थके द्वितीय भागमें या अन्य किसी भागमें उन्हें प्रकाशित करूंगा। किसीने भी मेरे मतका अनुमोदन नहीं किया था। परन्तु मैं अपने विचारपर अटल रहा।

अन्तमें मैंने सोचा कि जो मेरी सच्ची लगनसे सेवा कर रहे

हैं, मेरी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति कर रहे हैं, जो निस्स्वार्थ-भावसे मेरे सुखकी चिन्ता कर रहे हैं और इतना बड़ा व्यय कर रहे हैं उन श्रीमान् सेठ माणिकलाल भाईजीको तो मेरे इस निश्चय-की सूचना अवश्य देनी चाहिये। यदि मैं उनको कहे बिना यहाँसे चुपचाप चला जाऊँगा तो उनके मनको बहुत सन्ताप होगा। वह यही समझते रह जायँगे कि उनसे सेवामें कोई त्रुटि हुई, अतः मैं चला गया। बात यह तो थी ही नहीं। मैं तो अपने विचारोंसे ही दुःखी था और अपने विचारोंसे ही दुःखनिवृत्तिका मार्ग ढूँढ़ रहा था। मेरा साहस नहीं होता था–श्रीसेठजी को पत्र लिखने का। तथापि एक दिन पत्र लिख ही लिया और उनके पुत्र श्रीरम-णीक भाई को दिया कि वह अपने पिताजीको दे दें। उन्होंने पूछा कि इसमें क्या लिखा है? परन्तु मुझे स्मरण नहीं है कि मैंने क्या उत्तर दिया था।

श्रीसेठजीको वह पत्र रात्रिमें बहुत विलम्बसे मिला जब वह १० बजे उस दिन घरपर आये और भोजनसे निवृत्त हुए। उन्होंने पत्र पढ़ा, अपनी पत्नी श्रीमती सौ० जयादेवीजीको भी उसे सुनाया। दोनोंको ही महान् दुःख हुआ। रात्रि बहुत बीत चुकी थी अतः वह उसी समय ही मेरे पास नहीं आ सके परन्तु प्रातः ही ७ बजे सेठजी मेरे पास आये। जाड़ेका दिन था। मैं बाहर धूपमें बैठकर विद्यार्थियोंको पढ़ा रहा था। अकस्मात् वह मेरे सामने आकर खड़े हुए और चरणस्पर्श किया। मैं समझ ही गया कि वह, कभी नहीं, आज इस समय क्यों आये? पाठ बन्द कर दिया। छात्रोंको हटा दिया। बातें होने लगीं। उन्होंने पूछा, यदि इस निश्चयमें कोई हमारी त्रुटि कारण हो तो उसे बता दें, हम सावधान रहेंगे। मैंने कहा "मैं वृद्ध होता जा रहा हूं। आपका यह सम्बन्ध कब तक रहेगा, मुझे पता नहीं। मैं आज इतने सुखमें रह रहा हूँ

कि मेरा जीवन दुःखसहनके लिये तैयार नहीं हो सकेगा, ऐसा मुझे भय है। मैं आपको अपने लिये क्यों हैरान करूँ? आपका तो मैंने कोई भी उपकार नहीं किया है, कोई सेवा नहीं की है, तब आपके ऊपर निष्कारण अपना भार क्यों रखूँ? मेरे जीवनका मेरे पास कोई दूसरा साधन नहीं है। कार्य तो मैंने अपने जीवनमें बहुत ही कर लिये हैं। मुझे इतनेसे ही सन्तोष है। अतः मैं इस निश्चयपर आया हूँ कि यहांसे जाऊँ और शरीर त्याग कर दूं।"

सेठजीने कहा, "बापजी देखिये, वृद्धावस्थामें लोग सहायक और सहायता ढूँढते हैं। हम लोग आपकी सहायताके लिये हर तरह से उद्यत हैं। हम लोग आपको सन्त तो मानते ही हैं परन्तु साथ ही साथ अपना वडील (घरका वृद्ध पुरुष) भी मानते हैं। हमें आप भार नहीं हैं। आपके सारे जीवनका हमपर कोई भार प्रतीत भी नहीं होता था। सेठानी बहुत दुःखी हैं। उनको रात्रिमें नींद नहीं आयी। हमारी प्रार्थना है कि आप आजसे संकल्प करें और हमें वचन दें कि फिर कभी ऐसा विचार आप नहीं करेंगे। उनके निरुपाधिक और सरल शब्दोंने मेरे हृदयपर सुधासिञ्चन किया। मुझे आज आश्चर्य हो रहा है कि इतना दृढ संकल्प उनके इन थोड़ेसे शब्दोंसे कैसे टूट गया? यह कहा जा सकता है कि मेरे सङ्कल्पमें कुछ भी निर्बलता और न्यूनता रही होगी परन्तु यह भी कहा जा सकता है कि सज्जन और सत्पुरुषके हार्दिक शब्द किसी भी विपरीत विचारको अदृश्य बनाने की क्षमता रखते ही हैं। बहुत बड़े दृढ संकल्पको भी कोई भी विचार या कोई भी वातावरण अवश्य हिला सकता है। महात्मा गांधीजी तो मरनेके लिये संकल्प करके ही अपने साथीके साथ देवीके मन्दिरमें धतूरेके बीजको खानेके लिये गये थे। परन्तु वह घर वापस आ गये। सत्याग्रहकी विश्वव्यापिनी घोषणाको भी उन्होंने चौरीचौराके

ज़रासे काण्डसे सहसा स्थगित कर दिया था। मैंने सेठजीके सामने संकल्प किया, प्रतिज्ञा की कि अबसे मैं कभी भी ऐसे विचार को अपने मनमें नहीं आने दूंगा।

आज १६ वर्ष बीत चुके हैं, मैं उन्हीं श्रीसेठजीकी उदार और मधुर छायामें सुखी हूं। आज दो सौ रूपये मासिक मेरे लिये वह व्यय कर रहे हैं। मेरा सभी भार उनके ऊपर ही है। मेरे अतिथियोंका भार भी उन्हींके ऊपर है। उन्होंने मुझे कभी भी दुःखी नहीं देखना चाहा है। उन्होंने मुझे कभी भी रेलगाड़ीमें थर्ड क्लासमें यात्रा नहीं करने दी है। एक दिन १० वर्ष पूर्व मेरे लिये सेकेण्ड क्लासका टिकट लिया गया था। मुझे काशी जाना था। सेठजी स्वयं स्टेशनपर पहुँचाने आये थे। दिनमें सब डब्बोंमे भीड़ रहती ही है। मेरे सेकेण्ड क्लासके डब्बेमें भी भीड़ थी। मुझसे पूछे और कहे बिना ही वह मेरा टिकट फर्स्ट क्लासका बनवा लाये और मुझे उसमें ले जाकर बैठा दिया। वह प्रारब्धवादी हैं, मैं ऐसा नहीं हूं। वह कहते हैं कि आप अपने प्रारब्धका फलभोग कर रहे हैं। मैं कहता हूँ कि मैं आपकी उदारता और सज्जनताका फल भोग रहा हूं।

———

सप्तदश परिच्छेद

मैं बड़ोदेमें रहकर तत्त्वदर्शी मासिकपत्रका सम्पादन कर रहा था। एक समय मुझे वहां डबल न्युमोनिया हो गया। महान्त श्रीरामदासजीने मेरी खूब सेवा की। मेरी बीमारीके दिनोंमें ही लहेरियासराय (दर्भङ्गा-बिहार) से श्रीमान् महान्त अवधविहारी-दासजी (रायपुरवालों) का मुझे एक तार मिला। मिर्जापुर (दर्भङ्गा) में एक श्रीरामानन्दसम्प्रदायका प्रतिष्ठित और सम्पन्न मन्दिर है। उसके महान्त श्रीआनन्ददासजीने विवाह कर लिया था। विरक्त यदि विवाह कर ले तो हिन्दूशास्त्र उसे आरुढपतित मानते हैं। आरूढपतितका अर्थ है—चढ़कर गिर जाना। आनन्ददासजी आरूढपतित हो गये थे अतः विरक्त गादीपर बने रहनेकी योग्यता उनमें नहीं रह गयी थी। मिथिलाके महान्तमहानुभावोंने मिलकर उनपर गादी त्यागके लिये नोटिस दी और पश्चात् अभियोग किया। अभियोग बहुत दिनों तक चलता रहा। उनको महान्ताईसे हटाकर श्रीरामभूषणदासजीको उनके स्थानपर बैठाना था। श्रीरामभूषणदासजीको महान्त आनन्ददासजीका शिष्य सिद्ध किया गया था। महान्त श्रीरामलोचनदासजीमहाराज बहुत सच्चरित्र और सरल महात्मा थे। इस अभियोगमें उनका बहुत बड़ा हाथ था। मुक़दमा लगभग पूरा होनेको आया तब यह सिद्ध करना अवशिष्ट था कि कोई साधु विवाह करनेसे पतित हो जाता है अत एव वह विरक्तगादीकी महन्ताईके अयोग्य होता है। इसे

सिद्ध करनेके लिये उन लोगोंने शिंगड़ाके महान्त श्रीरघुवराचार्य-जीको कई पत्र लिखे परन्तु वे नहीं आये। महान्त श्रीरघुवराचार्य-जी जब मुजफ्फरपुर संस्कृत कालेजमें मेरे नैयायिकगुरु श्रीमान् महामहोपाध्याय पण्डित बालकृष्ण मिश्रजीसे न्याय पढ़ते थे, तब मिथिलाके ही कई महान्त महानुभाव उन्हें दाल-चावलकी सहायता दिया करते थे। मिथिलामें दाल-चावल ही मुख्य भोजन है। जब महान्त श्रीरघुवराचार्यजीने सर्वथा आना अस्वीकृत कर दिया तब मिथिलासाधुसभाके महामन्त्री महान्त श्रीअवधबिहारीदास-जीने मुझे बड़ोदे तार दिया। उन दिनों तो मैं मृत्युशय्यापर पड़ा था। मैंने उत्तर दिया कि मैं बीमार हूँ नहीं आ सकता। उन्होंने समझा कि जैसे रघुवराचार्यजीने कुछ बहाना बनाया और नहीं गये ऐसा ही मैं भी कोई बीमारीका बहाना बना रहा हूँ। उन्होंने तारसे मेरे आनेके लिये गाड़ीभाड़ा भेज दिया। मैंने पुनः तार किया कि मैं बीमार हूँ। अच्छा होकर ही आ सकता हूँ उन्हें विश्वास हुआ। मुक़द्मेकी तारीख लम्बी सी डाल दी गयी। मैं थोड़ासा अच्छा हुआ और जलवायुके परिवर्तनके लिये सौराष्ट्र-में वढ़वाण सिटी चला गया। वहांपर पण्डित चतुर्भुजदास शास्त्री गड़िया हनुमान्वालेने मेरा सब प्रबन्ध किया। महान्त श्रीराम-दासजी भी मेरे साथ वहां मेरी व्यवस्थाके लिये बड़ोदेसे साथ ही आये थे। श्रीमहान्तजी बड़ोदा गये। मैं वहां ही रहने लगा। थोड़ा सा स्वास्थ्य अच्छा हुआ, हो ही रहा था, एकाएक पण्डित वासुदेवाचार्यजीका कर्वीविद्यालयसे एक तार मिला "मेरा मुँह देखना चाहो तो शीघ्र आवो।" मैं घबड़ा गया। दुःखमें मुझे जो कोई भी स्मरण करे, उसके पास पहुँच जाना, मैंने अपना धर्म समझ लिया है। इसमें मुझे कोई भूल नहीं प्रतीत होती। मेरे डाक्टरोंने कहा, मना किया, कि इतनी ठंडीमें बाहर जानेसे बीमारी-

की पुनरावृत्तिकी बहुत बड़ी आशङ्का रहती है। परन्तु मुझे तो वासुदेवाचार्यजीका मुँह देखना था। मैंने तत्काल ही चित्रकूटके लिये बड़ोदा गये विना ही, प्रस्थानकर दिया। बड़ोदा महान्तजीको पत्रद्वारा सूचना दे दी। वह बहुत चिन्तित हो गये थे। चित्रकूट मेरे पहुँचनेके दूसरे ही दिन उनका चिन्तापूर्ण पत्र मुझे मिला। मैंने तार किया कि 'मैं स्वस्थ हूं।' वहाँ एक विद्यार्थी और पण्डितजीका झगड़ा था। उसके लिये काशीसे पाठशालाओंके निरीक्षक (इन्स-पेक्टर) भी आ चुके थे। सब छात्रों और पण्डित वासुदेवाचार्यजी-के बयान लिये गये थे। इस घटनासे तत्कालीन महान्त तथा श्री-जयदेवविद्यालयके संस्थापक महान्त श्रीजयदेवदासजी महाराज बहुत खिन्न थे। उनके खेदपूर्ण शब्द आज भी मेरे कानोंमें गूँज रहे हैं। मुझे उस झगड़ेका अन्त करनेके लिये काशी उसी बीमार अवस्थामें जाना पड़ा। उसे पूरा करके मैं सीधा लहेरियासराय पहुँचा।

मुझे स्मरण नहीं है कि पं० वासुदेवाचार्यजी मेरे साथ काशी आये थे या नहीं। मुझे यह भी स्मरण नहीं है कि मैं काशी जाकर पुनः कर्वी आया था या नहीं। परन्तु मेरे साथ लहरियासरायतक पं० वसुदेवाचार्यजी अवश्य गये थे। मुझे वहाँ पहुँचाकर वापस कर्वी चले गये।

जब मैं लहेरियासराय पहुँचा तब मुझे वहाँ कोई सन्त महान्त नहीं मिले। लहेरियासरायमें नरघोघीका डेरा था, परन्तु वह भी बन्द था। उस मुक़दमेकी तारीख़में ८, १० दिनका विलम्ब था। मैं वहाँ शायद बङ्गाली टोलेमें एक धर्मशालामें ठहर गया। दो दिनके पश्चात् मेरी इच्छा हुई कि मैं रायपुर हो आऊँ और महान्त श्रीअवधबिहारीदासजीसे मिल आऊँ। जाड़ेके दिन थे। मैं रलवे टाइम टेबल देखे विना ही निकल पड़ा। मैं शामतक वापस आ

जाऊँगा, इतना तो विश्वास था ही। अतः ओढ़नेके लिये कोई विशिष्ट साधन नहीं लिया। खादीकी चादर जिसे मैं बाहर निकालते समय शरीरपर रखता हूं, उतना ही लेकर चल दिया। खादीके कुर्तेके ऊपर एक गर्म बण्डी थी। सिरपर मैं खादीकाएक टुकड़ा अपने ढंगसे लपेट लिया करता था, अब भी कभी कभी लपेटता हूं, उस कपड़ेसे सिर ढँका हुआं था। रायपुर पहुँचा। महान्तजी नहीं थे। कहीं बाहर गये थे। पुजारीजीने कहा कि दो घण्टेके बाद आवेंगे। मैंने वहाँ ही तपस्या शुरू की। मिथिलाके महान्तोंमें एक रोग था। वे किसी निर्धन साधुको अपने स्थानमें न तो कुर्सी देते थे, न भोजनके समय आसन देते थे, न स्थानमे खड़ाऊँ पहिनने देते थे और न खाट या खाटपर सोने देते थे। उनकी उस अविद्याका तो मैंने सन् १९२१ में ही लहेरियासरायकी धर्मादा बिलकी सभाके समय ही निरास कर दिया था, तो भी बाधितानुवृत्ति स्वाभाविक थी। पुजारीजीने एक पुवालके ढेरपर मुझे बिठा दिया, मैं बैठ गया। जिस ट्रेनसे मैं लौटकर शामतक लहेरियासराय धर्मशालामें पहुँचना चाहता था वह ट्रेन तो चली गयी। श्रीमहान्त जी अभी तक आये नहीं थे। शामके ३॥ बज चुके थे। ठण्डी बढ़ रही थी। मुझे मेरे शरीरकी चिन्ता सता रही थी। कहीं न्युमोनियाने पुनः अपना बल मुझपर आजमाया तो यहाँ मेरी क्या स्थिति होगी, इस प्रश्नका मेरे पास कोई उत्तर नहीं था। श्री-महान्तजी आये। न तो स्वयं कुर्सीपर बैठनेका उनका साहस हुआ और न मुझे बैठानेका। खड़े खड़े ही उन्होंने मुझसे बातें की। ५ बज गये। जाड़ेके दिनोंमें—वह भी मिथिलामें ५ बजे शामको तो खूब ही ठण्डी पड़ने लग जाती है। न तो उन्होंने कहा कि रात-में यहाँ रह जावो और न मैंने ही वहाँ रहनेकी बात की। मैं वहाँ-से विदा हुआ। उन्होंने यह भी नहीं कहा कि अब गाड़ी कौन सी

मिलेगी। मैं तो क्यों पूछता? चल पड़ा। स्टेशन वहाँसे थोड़ी दूरपर है। वहाँ पहुँच गया। कोई ट्रेन नहीं। बहुत प्रयत्नके पश्चात् एक गुड्स ट्रेनने मुझे समस्तीपुर पहुँचा दिया। समस्तीपुरसे ही लहेरियासरायकी ट्रेन जाती है। वहाँ पहुँचनेपर मालूम हुआ कि प्रातः ५, ६ बजे ट्रेन जायगी। समस्तीपुर मैं रात्रिमें १० बजे पहुँचा था। न भोजन, न वस्त्र। जाड़ेकी रात। अपरचित स्थान। थर्ड क्लासकी मुसाफ़िरी। लाचार प्लेट फार्मपर ही एक बेंचपर मैंने सिद्धासन लगाया। खादीकी चादर ओढ़ ली। खुली जगह। हवा चलती थी। खादीकी चादर बिचारी कितनी भी कृतज्ञ बने, उपकार करना चाहे, परन्तु उससे होता ही क्या था। वह मेरे लिये कालरात्रि थी। यह दशा उस आदमीकी थी जो मिथिलाके बड़े-बड़े महान्तोंका प्रतिष्ठित साथी बननेवाला था और जिसके साक्ष्यपर ही उतने बड़े मुकदमेका फैसला होनेवाला था और जिसे लहेरिया-सरायकी कोर्टमें जजके साथ ही बैठनेकी कुर्सी मिलनेवाली थी। भूख अलग हैरान करती थी और सर्दी अलग। मैं बाज़ारकी चीज़ बहुत कम खाया करता हूँ। उस समय तो रात्रिके १० बज चुके थे। रात्रिमें तो मैं खाना बिलकुल पसन्द नहीं करता। वहाँ उस समय मिलता ही क्या? चूड़ा और दहीका वह देश है। मैं निमोनियाका बीमार था। सर्दीके दिनोंमें, यह अपरिचित भोजन अयुक्त ही था। चुपचाप, राम राम करके बैठे बैठे वह रात बितायी। उस समय मुझे अमृतसरसे मुलतान जाते समय मार्गमें उतरकर पैदल चलनेमें उस गर्मीमें और उस रेगिस्तानमें जो कष्ट हुआ था उसका क्षण-क्षणमें स्मरण होता था। वह गर्मीके मौसमका दुःख था और यह सर्दीके मौसमका। इतना ही अन्तर। वहाँ मुझे माइलों तक सिरपर पुस्तकोंका बोझ लिये पैदल खुले पैरसे और खुले सिर चलना पड़ा था, यहाँ निर्वस्त्र, भूखे-प्यासे,

अशक्त शरीरसे, लेटे विना, किसी वस्त्रके विना मिथिलाकी सर्दीकी रात-सारी रात-बितानी थी। मुलतानके मार्गमें मैं अमृतसरवाले अपमानका स्मरण करता था और समस्तीपुरमें मिथिलाके महान्तोंके अविवेकसे मैं विचारशून्य था। अस्तु, सबेरा हुआ। धुक् धुक् धुक् धुक् करती, खटमलोंसे भरी हुई, बी० एन० डबल्यु० रेलवे (बेवकूफ-नालायक-वाहियात) रेलवेकी छोटी सी गाड़ी आकर सामने प्लेटफार्मपर खड़ी हुई। बहुत कष्टसे मैं बाहर जाकर टिकट ले आकर, उस गाड़ीमें बैठ गया। वह स्टेशन बहुत बड़ा है। बहुत बड़ा जंक्शन है। गाड़ी आधे घण्टेसे भी अधिक वहाँ ठहरा करती थी। गाड़ी चल पड़ी। जैसे-तैसे ठिठुरता और काँपता हुआ मैं लहेरियासराय पहुँचा। धर्मशाला मेरी प्रतीक्षामें ज्योंकी त्यों खड़ी थी। उसने अपनी गोदमें मुझे बिठा लिया। गर्म कपड़े ओढ़नेको मिले। थोड़ी देरके बाद मैं शान्त हुआ।

जिस दिन मुक़दमेकी तारीख़ थी उससे एक दिन पहले नरघोघीके महान्तजी वहाँ अपने डेरेमें पहुँच गये। उसी दिन रायपुर वाले महान्त श्रीअवधविहारीदासजी भी पहुँच गये। वहाँ मेरे पहुँचनेकी सूचना मैंने पत्र द्वारा नरघोघी भेज दी थी। रामपुरके महान्तजीने भी सूचना दी। मैं जिस धर्मशालामें ठहरा था, उसका पता रायपुरवाले महान्तजीको मैंने बता दिया था। वह वहाँ आकर मुझे नरघोघीके डेरेपर ले गये। मैं वहाँ जा रहा था परन्तु, मेरा मन प्रसन्न नहीं था। मुझे भय था कि यदि रायपुरके स्वागतकी वहाँ भी पुनरावृत्ति हुई तो मुझे बहुत दुःख होगा। परन्तु मुझे थोड़ा सा विश्वास, थोड़ी सी आशा थी कि स्यात् नरघोघीके श्रीमहान्तजी अविवेक नहीं करेंगे। मैं वहाँ पहुँच गया। महान्त श्रीरामलोचनदासजी मेरे इक्केके पास आ गये। दण्डवत् प्रणाम हुआ। मुझे मेरे निवास स्थानपर वह ले गये। प्रबन्ध देखकर मैं

प्रसन्न हो गया। एक अच्छा सा पलङ्ग था, उसपर एक दरी और उसपर कम्बल बिछा हुआ था। दो कुर्सियाँ रखी हुई थीं। अन्दरके एक छोटेसे रूममें नहानेके लिये एक छोटी सी चौकी रखी हुई थी। मैं जाकर अपने पलङ्गपर बैठ गया, उसके पहले दोनों महान्तोंको कुर्सीपर बैठनेकी प्रार्थना कर ली। एक साथ ही तीनों अपने अपने आसनपर बैठ गये। पाँच मिन्टतक क्षेम-कुशलकी बात हुई। तुरन्त ही मेरे सामने बड़ा सा अंग्रेज़ी पुस्तक रख दिया गया। वह सम्पूर्ण मेरे बाँचनेके लिये था। सीतामढीके महान्तने बहुत पहले शादी की थी और उन्हें भी पदच्युत करनेके लिये ऐसा ही एक बड़ा मुक़दमा किया गया था। हाइकोर्ट, प्रिवी-कौन्सिल तक वह मुक़दमा गया था और विवाहित महान्त विजयी बन गये थे। उस पुस्तक महासागरमेंसे यह ढूँढ़ निकालना था कि उस मुक़दमेमें विरक्तोंके पराजित होनेमें क्या-क्या कारण थे, क्या-क्या निर्बलताएँ थीं। प्रातःकाल ही तो १० बजेसे मुझे कोर्ट-में साक्षी बनकर जाना था। रात्रिका बहुत सा हिस्सा मुझे उसके पढ़ जानेमें ही लगाना पड़ा। उसके पहले भोजन हुआ था। जाड़े-की रात और भोजनमें दाल-भात। वरुणविसर्जन करते करते दम निकल जाय, ऐसी वहाँकी स्थिति थी। सब निभा लिया। सब पुस्तक पढ़ लिया। पराजयके कारणोंको ढूँढ़ लिया। मेरी अपनी तैयारी तो उस धर्मशालामें ही पूरी हो चुकी थी। प्रातः खा-पीकर न्यायालयकी ओर हम सब चल पड़े। वह स्पेशल कोर्ट था। वहाँ —उस देशमें फूँसके मकानोंका बहुत रिवाज है। बहुत सुन्दर रीतिसे वह वहाँ बनाया जाता है। उसीमें मुझे साक्ष्य (गवाही) देनेके लिये जाना था। हम बाहर कुर्सियोंमें बैठ गये। जब जज साहब आ गये, हम लोग अन्दर गये। मेरे लिये जज साहबके साथ ही उसी स्टेजपर एक कुर्सी और टेबुल रखा गया था। मैं

वहाँ जाकर बैठ गया। टेबुलपर मेरे साथके सब ग्रन्थ सजा दिये गये। वहाँ जो कुछ हुआ उसका विवरण इस ग्रन्थके दूसरे या तीसरे भागमें आवेगा। सारांश यह है कि वहाँ मेरे वक्तव्यसे विरक्तोंका विजय हुआ।

अष्टदश परिच्छेद

जब मैं श्रीजगदीशमन्दिरमें चातुर्मास्यमें दो मास या ढाई मास प्रवचनके लिये रहता था तब मीरपुर (जम्मू) से एक वैष्णव महान्तका पत्र मिला कि वहाँ स्मार्तोंके साथ शास्त्रार्थ है, आप आवें। मैंने लिखा कि मैं दिवालीके पश्चात् आऊँगा। उस साल दिवाली मैंने अहमदाबाद जगदीशमन्दिरमें ही रहकर मनायी थी। उसके पश्चात् मैं मीरपुर जानेके लिये निकला। मीरपुर जम्मूराज्य का एक कसबा है। अच्छे अच्छे सम्पन्न हिन्दू वहीं रहते थे। अब वह पाकिस्तानके अधिकारमें चला गया है। मेरी इच्छा थी कि वहाँका शास्त्रार्थ पूरा करके मैं कश्मीर देख आऊँगा। मैं कभी श्रीनगर नहीं गया। आज तक भी नहीं जा सका हूं। मीरपुरमें हिन्दुओंमें दो विभाग हो गये थे। एक विभागमें विरक्त रामानन्दीय वैष्णव और कुछ उनके सेवक-सती-अनुयायी। दूसरे पक्षमें क़सबेके सारे हिन्दू थे। जब मैं वहाँ गया और एक पालकीमें जुलूसके रूपमें मुझे शहरमें ले जाया गया तो मुझे वहाँ कोई उत्साह दृष्टिगत नहीं हुआ। सबकी दृष्टिमें मैं शत्रुके रूपमें वहाँ पहुँचा था। मेरे भाषणमें भी कोई नहीं था। २०-२५ भाई शायद बैठे थे। उनमें दोनों पक्षके लोग थे। मैंने बहुत ही नम्रताका आश्रय लिया। मेरी नम्रताने वहाँ जादूका काम किया। दूसरे दिन तो, जो लोग मुझे या जिस पक्षने मुझे बुलाया था, वे जिन्हें शत्रु या ख़राब समझते थे वे ही प्रतिष्ठित लोग आये। मैंने वहाँकी पूरी कथा नहीं सुनी थी। अधूरी कथाके बलपर ही वहाँ मेरा प्रथम अधूरा भाषण हुआ था। अधूरे भाषणने भी लोगोंके मनको मेरी

ओर आकृष्ट किया। स्मार्त पक्षने भी वहाँकी स्थितिका वर्णन किया। मेरे पक्षवालोंने कितनी ही बातें मुझसे छिपा रखी थीं। जब मैंने वह सब बातें सुनीं तो मुझे अपार दुःख हुआ।

बात यह थी कि उस साल श्रीकृष्ण जन्माष्टमी दो थी। वैष्णव लोग दूसरी अष्टमीके दिन उत्सव और उपवास करते हैं, स्मार्त लोग पहली अष्टमी को। वहां श्रीकृष्णका एक ही मन्दिर था। वह भी पबलिक मन्दिर था। उसमें एक रामानन्दीय श्रीवैष्णव प्रबन्धक थे। गृहस्थोंने प्रार्थना की थी कि प्रथम अष्टमीकी रात्रिमें उन्हें भगवान्के दर्शनके लिये रात्रिमें मन्दिर खुला मिलना चाहिये। वैष्णव व्यवस्थापक महोदयने इसे नहीं माना। बात ही बातमें झगड़ा हो गया, विरोध हो गया। वैष्णवोंने मुझे स्मरण नहीं है, शायद विज्ञप्ति छपाकर या किसी अन्य उपायसे सारे शहरमें घोषणा कर दी कि जो पहली अष्टमी मनायेगा उसे गोवधका पाप लगेगा। मेरे पक्षकी यह बहुत बड़ी भूल थी। इस भूलका प्रायश्चित्त नहीं हो सकता था। भारतके धर्मविभागमें कोई बहुत महत्त्व नहीं है, कोई एकता नहीं है, कोई तात्त्विक विचार नहीं है। हमारे यहां सभी बातें झगड़ेकी ही हैं। रामनवमीमें भी झगड़ा, कृष्णाष्टमीमें भी झगड़ा। एकादशीमें भी झगड़ा। उपासनामें भी झगड़ा। ईश्वरमें भी झगड़ा। स्वर्गमें भी झगड़ा। मोक्षमें भी झगड़ा। ऐसा सन्दिग्ध हिन्दूधर्म अब तक भी जीवित है, इसमें मुख्य कारण है हिन्दुओंकी बहुत बड़ी संख्या। अन्यथा इस जातिका कभी ही अन्त हो गया होता।

श्रीरामानन्दसम्प्रदायके प्रसिद्ध नवयुवक विद्वान् कार्यकर्ता परमहंस श्रीरामगोपालदासजी शास्त्री सर्वप्रथम मुझे वहां ही मिले थे। वह बहुत समझदार और गम्भीर थे। क्रोध तो उन्हें जानता ही नहीं था। जितेन्द्रिय और सदाप्रसन्न रहने वाले महात्माओंमें

से वह भी एक थे। मैंने उनसे सम्मति ली कि क्या करना चाहिये? उन्होंने कहा कि शास्त्रार्थसे चाहे परस्परकी समझावटसे, श्रीरामानन्दसम्प्रदाय का मान सुरक्षित रहना चाहिये। शास्त्रार्थसे मान रक्षाकी कोई आशा नहीं थी। पहली अष्टमी करनेवालोंको गोवधका पाप लगेगा या लगता है, ऐसा कहकर में कैसे विजयी हो सकता था? ऐसी बात करना भी तो मूर्खता है। मेरे जैसा आदमी ऐसी बातें सुनना भी नहीं चाहता। स्मार्तपक्षको कोई पण्डित नहीं मिल रहे थे। लाहोरमें तलाश हो रही थी। वह लोग पण्डितके लिये हैरान थे। आखिर कई दिनोंके बाद, जब उन्हें कोई पण्डित नहीं मिला तब सुलहकी बात होने लग गयी। एक बहुत ही सज्जन प्रतिष्ठित महानुभाव मेरे पास आये। बहुत ही दुःखसे उस करुण घटना का उल्लेख करने लगे। मुझे शर्म आने लगी। मैंने कहा, आप भी हिन्दु हैं, यह साधु लोग भी हिन्दु हैं। **वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति** के समान **हैन्दवोपराधोपराध एव न भवति हिन्दुषु**—जैसे याज्ञिकोंने वैदिकी हिंसाको हिसा ही नहीं माना है, ऐसे ही हिन्दूका अपराध हिन्दुके लिये अपराध ही नहीं गिना जाना चाहिये। जैसे तैसे उभयपक्षसंमत शान्ति हुई। सब झगड़ा दूर हो गया। शास्त्रार्थसे होनेवाले स्थायी मनोमालिन्यके लिये भी अवसर नहीं रहा। चलते समय वहाँसे ता० ३०-११-३६ को एक मानपत्र मुझे, मिला और मैं कश्मीर जानेके लिये तैयार हुआ। इतनेमें ही खबर मिलीकी बर्फ पड़ चुकी है अतः कश्मीरका मार्ग बन्द है। वहाँका मेरा जाना बन्द रहा।

जिस दिन जिस समय मैं वहांसे निकलने लगा, सब मेरा सामान घोड़ागाड़ीमें पहुँच चुका था। मैं रूमसे बाहर निकलने

वाला ही था, इतनेमें दो या तीन लड़कियां मेरे पास आयीं। उनमेंसे मुझे तो एकका ही नाम स्मृत है। उसीके साथ आज भी मेरा सम्बन्ध है। आजकल वह जम्मूराज्यमें ही एक क़सबेमें शिक्षिका-अध्यापिका हैं। इनका नाम राजदेवी गुप्ता है। राजदेवी आज ता बहुत बड़ी हैं। तब तो छोटी उम्र की थीं। वह हिन्दी-की किसी आखिरी परीक्षामें तीन बार अनुत्तीर्ण हो चुकी थीं। वह रो रही थीं। खूब रोकर, प्रार्थना की कि 'मुझे आशार्वाद दो, मैं इस वर्ष पास हो जाऊँ।' शेष दो बहिनोंने सन्तानकी प्रार्थना की। मैं आशिर्वाद देना नहीं जानता। यन्त्र-मन्त्र-तन्त्र भी नहीं जानता। "भगवान्‌की कृपासे सब अच्छा होगा" कहकर अपना पिण्ड छुड़ाया। वहांसे निकला। श्रीराजदेवीने अपना पता दिया था और मेरा भी लिख लिया था। श्रीराजदेवी कहती हैं, हमेशा कहती हैं कि वह मेरे ही आशीर्वादसे उसी वर्ष पास हो गयी थीं और नौकरी भी मिल गयी थी। वह यह भी कहती हैं कि "मेरे पास होनेका गजट नहीं निकला था तभी मैंने उन्हें पत्र लिखकर उपालम्भ दिया था कि तुम पास हो गयी हो परन्तु मुझे सूचना क्यों नहीं तुमने दी।" वे दोनों लड़कियां भी उसी वर्ष माता बन गयीं। सबकी श्रद्धा मेरे लिये सुरक्षित रही।

श्रीपरमहंस रामगोपालदासजी तार्किकका आग्रह था कि मैं लाहोर भी चलूँ और पेशावर भी। सब जगह तार दे दिये गये। तारका जवाब भी आ गया। मैं और परमहंसजी पेशावर पहुँचे। पेशावरमें महान्त श्रीशत्रुघ्नदासजी महाराज लालतुरङ्गीजीकी गादीके आचार्यके यहां हम ठहराये गये। स्टेशनपर सभी सन्त, महान्त, विद्वान् स्वागतके लिये आ गये थे। मेरे व्याकरणके विद्यागुरु श्रीमान् पूज्यपाद स्वामी श्रीसरयूदासजी महाराज व्याकरणाचार्यके एक सतीर्थ्य पण्डित श्रीजनार्दनदासजी वहांके श्रीराधाकृष्णसंस्कृत

हाईस्कूलके प्रधानाध्यापक थे। वह भी स्टेशनपर उपस्थित थे। हम लोग पेशावरमें बहुत दिनों तक रहे। ठण्डीके दिन। सतत वर्षा। सड़कोंपर कीचड़। सूर्यका अदर्शन। भारी ठण्डी। सामने-ही हिमाच्छन्न पर्वत, तो भी हम वहां ठहरे रहे। श्रीमान् महान्त शत्रुघ्नदासजी महाराजकी इच्छा थी कि मेरे द्वारा ही उनके यहां एक संस्कृतपाठशालाकी स्थापना हो। उसका मुहूर्त दूर था अत एव वहां ठहरना पड़ा था। श्रीमान् महान्तजी बहुत ही आनन्दी और वीर सन्त थे। तलवार तो उनकी कमरमें लटकती ही रहती थी। तलवारके ज़ोरसे ही उस तलवारी देशमें रहा जा सकता था। मुझे स्मरण है कि उन्होंने एक गुरुद्वारेसे अपने स्थानकी रक्षा तलवारके ही बलसे की थी। वह अच्छे पहलवान थे। खूबसूरत हिमालयपर्वतीय शरीर था। नवीन अवस्था थी। अब वह कहां है, पता नहीं। सुना है कि पाकिस्तानके बाद वह दिल्लीमें कहीं निवास करते हैं। वहां पाठशालाकी स्थापना मैंने की। प्रथम पाठ छात्रोंको मैंने ही पढ़ाया। उस अवसरपर स्थानीय पाठशालाके छात्र, पण्डित तथा अन्य योग्य महानुभाव आमन्त्रित थे। मैं समझता हूँ कि एक पाठ सिद्धान्तकौमुदीका और एक लघुशब्देन्दुशेखरका मैंने आरम्भ कराया था। जिस समय मैंने अ इ उ ण सूत्रका व्याख्यान किया तो सब विद्वानोंको आश्चर्य हो गया। अब तक सबकी धारणा है कि पाणिनि मुनि शैव थे। जयादित्यने अष्टाध्यायीकी टीकामें—काशिकामें—एक श्लोक लिखा है—

नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नव पञ्च वारान्।
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम्॥

इस श्लोकसे यह सिद्ध किया जाता है कि शङ्करजीके प्रसादसे ही पाणिनिमुनिको व्याकरणरचनामें सिद्धि मिली थी और आरम्भ-

के १४ सूत्र तो शिवजीके नृत्तावसानमें १४ बार बजाये गये हुए डमरूके शब्दके फलितार्थ हैं। मैंने इस सिद्धान्तका खण्डन किया। मैंने कहा—

पाणिनिने अपने प्रथमसूत्र अ इ उ ण् में सर्वप्रथम अका पाठ किया है। अ का अर्थ विष्णु होता है। अ के पश्चात् इ का पाठ किया है। इ का अर्थ होता है लक्ष्मी। उसके पश्चात् उ का पाठ किया है। उ का अर्थ है शिव। यदि वह शैव होते तो वह अवश्य ही उ अ इ ण् ऐसा सूत्र बनाते। किंच शिवके डमरूके शब्दोंकी सहायतासे अ इ उ ण् आदि १४ सूत्र उन्होंने बनाये, यह कथन भी असङ्गत है। पाणिनिके पूर्वके वैयाकरणोंने वर्णमाला तैयार कर ली थी। उनके भी प्रत्याहारसूत्र थे और हैं। अतः ऐसा माननेमें पाणिनि और उनकी विशद व्यापिका मेधाका अपमान होता है।

मैंने वहां यह भी समझाया था कि शेखरकारने लिखा है कि ये १४ सूत्र श्रुतिरूप हैं, वह कथन भ्रान्त है। श्रुतियोंमें कहीं भी यह आनुपूर्वी श्रुत नहीं है। साक्षात् श्रुति होनेसे इस व्याकरणको पढ़नेका अधिकार केवल त्रैवर्णिकको ही है, यह भी विद्वानोंका कथन अशुद्ध ही है। व्याकरण कोई भी पढ़ सकता है। जैसे अन्य व्याकरणोंको सभी वर्ण और सभी धर्मके लोग पढ़ते हैं या पढ़ते थे, ऐसे ही पाणिनि व्याकरण भी सबके लिये अध्येतव्य है। शेखरका इस सम्बन्धका वचन इस प्रकार है—

"ननु चतुर्दशसूत्र्यामक्षरसमाम्नाय इति व्यवहारानुपपत्तिराम्नायसमाम्नायशब्दयोर्वेद एव प्रसिद्धेरित्यत आह माहेश्वराणीति। महेश्वरदागतानीत्यर्थः। महेश्वर-

प्रसादलब्धानीति फलितम्। एवञ्चैवमानुपूर्वीका श्रुति-रेवैषा। तत्प्रसादात्पाणिनिना लब्धा। श्रुतिमूलकत्वा-दस्यैव वेदाङ्गत्वम्।"

पाठशालाके उद्घाटनके पश्चात् वहाँकी ब्राह्मणसभामें मैं आमन्त्रित हुआ और किसी विषयपर रात्रिमें भाषण हुआ था। मार्गशीर्ष शुक्ल १२ सम्वत् १९९३ के दिन ब्राह्मणसभाने उसी व्याख्यानके अवसरपर एक संस्कृतभाषामें मानपत्र दिया था। ता० २६-१२-३६ को महान्त शत्रुघ्नदासजी गादीनशीन दरबार बाबा लालजीने एक मानपत्र दिया। दो मानपत्र वहाँ और भी मिले थे।

इसके पश्चात् हम लाहोर पहुँचे। वहाँ श्रीमहान्त सियाराम-दासजीके बाग़में मुझे उतारा गया था। यह बाग़ लगभग शहरसे बाहर था। स्टेशनपरसे बहुत धूम-धामसे जुलूस निकला था। शहरमें कितने ही स्थानमें भाषण हुए थे। यहाँ एक नया प्रबन्ध किया गया था। मैं जहाँ जहाँ जाऊँ वहाँ मेरे साथ मोटरमें दो चांदीकी छड़ी लिये छड़ीदार रहते थे। वहाँ ता० को एक मानपत्र प्राप्त किया जो बहुत ही धूमधामसे दिया गया था।

मेरे साथी श्रीपरमहंस रामगोपालदासजीकी इच्छा थी कि मैं अमृतसर भी जाऊँ परन्तु वहाँके वैष्णव यदि लाहोरके वैष्णवों-के समान ही योग्य सत्कार करें। मुझे सत्कारकी बहुत इच्छा तब भी नहीं थी, आज भी नहीं है। परन्तु उस समय मेरे साथ एक संघर्ष छिड़ा हुआ था। सन् ई० में श्रीमहात्मागाँधीजी यरोडा जेलमें थे। उस समयके अंग्रेज भारतमन्त्रीने एक क़ायदा बनाकर भारतके हरिजनोंका अलग मतविभाग रखना चाहा था। महात्माजी हरिजनोंको हिन्दुओंसे अलग होने देना नहीं चाहते थे। भारतमन्त्री इस बातपर तुला हुआ था। अत एव महात्माजी,

यदि यह क़ायदा हटा न लिया जाता तो आमरणान्त उपवासपर चले गये थे। सारा भारतवर्ष उद्विग्न हो उठा था। महात्माजी ही तो उस समय एक ऐसे देशनायक थे जिनके एक एक शब्दके पीछे भारतीय प्रजा प्राण निछावरके लिये तैयार थी। श्रीमान् पण्डित मदनमोहनमालवीयजी और अन्य नेता महात्माजीके उपवासको तोड़वानेमें लग गये थे। हरिजनमन्दिरप्रवेश-आन्दोलन खड़ा किया गया। दक्षिणके प्रसिद्ध सभी मन्दिर उसी समय हरिजनोंके लिये खोल दिये गये थे। हरिजन हिन्दुओंसे पृथक् हैं ही नहीं, यही सिद्ध करना है। इसी सिद्धिपर ही भारतमन्त्रीको उनके विचारसे विचलित किया जा सकता था। महात्माजीका विजय हुआ। उसी समय मैंने अपने तत्त्वदर्शी मासिकपत्रमें अन्त्यज-स्पर्शके सम्बन्धमें एक बहुत बड़ा लेख लिखा था। उस लेखने सनातनधर्मियों और रूढिवादी हिन्दुओंमें बहुत बड़ी खलबली पैदा कर दी थी। मेरे सहधर्मी वैष्णव भी मुझसे विरुद्ध थे। मेरे मित्र महान्त श्रीरघुवराचार्यजी तो सदासे ही चाहते थे कि सम्प्रदायमें मेरा कोई प्रभाव न पड़ सके अन्यथा वह स्वयं प्रभावशून्य बन जायँगे। अतः उन्होंने भी इस मेरे विरुद्ध आन्दोलनमें हार्दिक भाग लिया। उन्होंने मेरे लेखके खण्डनका प्रयास किया। वस्तुतः आजतक एक भी मेरा लेख तो दूर रहा, मेरा शब्द भी खण्डित उनसे या किसीसे भी नहीं हो सका था या है। उन्होंने विरोधी बनकर अन्य विरोधी पैदा कर दिये। पञ्जाब, यू० पी० विहार, गुजरात आदि सभी प्रदेशोंके समाचारपत्रोंमें मुझे धर्म-द्रोही सिद्ध करनेका प्रयास किया गया था। अमृतसर और लाहोरके पात्रोंमें भी उन दिनों यही चहल पहल थी। सर्वत्र मेरा बहिष्कार घोषित हुआ। बहुत ही थोड़े इने गिने मेरे सम्प्रदायी बन्धु मेरे साथ थे। श्रीमहान्त भगवान्दासजी खाकी, श्रीमान्

महान्त सीतारामदासजी शास्त्री, ब्रह्मचारी श्रीवासुदेवाचार्यजी, श्री-तरुणजी, पण्डित रामचरणशरणजी शास्त्री, बड़ोदेके श्रीमान् सद्गत महान्त श्रीरामदासजी प्रभृति कुछ महात्मा मेरे साथ थे। यों तो मुझे पीछेसे मालूम हुआ कि सैकड़ों महात्मा महानुभाव मेरे पक्षमें थे। परन्तु खुल्लम-खुल्ला साथ देनेवाले बहुत ही थोड़े थे। अमृत-सरमें एक गृहस्थ साधु श्रीरलियाराम रहते थे। वह सनातनधर्मकी दृष्टिसे लेखक भी थे और वक्ता भी थे। आज हैं या नहीं, मैं नहीं जानता। वह अमृतसरके प्रतिनिधि बनकर मेरे पास लाहोर आये थे। उन्होंने मुझसे पूछा कि—

आप मन्दिरोंमें अन्त्यजप्रवेशके सिद्धान्त को मानते हैं? मैंने कहा, हां।

"यदि आप इस सिद्धान्तको छोड़ दें तो आपको लाहौरसे भी अधिक उत्साहके साथ हम अमृतसरमें आपका स्वागत करेंगे" उन्होंने कहा।

मैंने कहा, सिद्धान्त छोड़नेके लिये नहीं होता है, उसपर ही रहने और अवसर आनेपर सर्वस्व निछावर करने के लिये वह होता है। मैंने कहा, अमृतसरके स्वागतके लिये मैं अपना सिद्धान्त छोड़ दूँ, यह मुझसे नहीं हो सकेगा। समय आवेगा जब इस सिद्धान्तको सभी वैष्णव भी अपनावेंगे। आज मैं क्षुद्र स्वागतके लोभ से इस सिद्धान्तको छोड़कर कल्ह अपनी सारी प्रतिष्ठा और मान गँवाकर गलियोंमें भटकनेवाला एक सामान्य मनुष्य बन जाऊँगा। मैं इस सम्प्रदायमें जो क्रान्ति लाना चाहता हूँ उसमें असफल बनूंगा। मेरी असफलताका प्रभाव केवल मेरे ही जीवन-पर नहीं पड़ेगा, प्रत्युत लाखों साधु सन्तोंपर भी पड़ेगा। श्री-रलियारामजी चले गये। मैं अमृतसर नहीं जा सका। गुजरात चला आया।

विंश परिच्छेद

एक बार मैं सिन्धके जैकोबाबाद जिलेके ठुल ग्राममें वहाँके एक सज्जन ठाकुर श्रीईश्वरलालजी के यहां ठहरा हुआ था। उन्हीं दिनों शिकारपुरमें एक यज्ञ था। शिकारपुरके आमलावाली जगहके परलोकवासी श्रीमान् महान्त गोकुलदासजी महाराजकी यज्ञोंमें अत्यन्त अभिरुचि थी। कितने ही यज्ञ वह करा सके थे। उस समय भी वहाँ एक यज्ञ था। उसी अवसरपर बाबा कमलदासजी, ऑल इण्डिया निर्मोही श्रीमहान्त जगन्नाथदासजी, श्री महान्त राधामोहनदासजी दिगम्बर और शायद श्रीमहान्त सीतारामदासजी हनुमान गढ़ी-अयोध्या। शिकारपुर आये थे। मुझे भी आमन्त्रण था। मैं ठुलसे आया था। शिकारपुरमें दो ऐसी घटनाएँ हुईं जिससे लगभग सभी आश्चर्य चकित हो गये।

श्रीमहान्त जगन्नाथदासजी उज्जैन शास्त्रार्थके समयसे ही मुझपर अत्यधिक स्नेह रखते थे। मेरा अपमान उन्हें कभी भी सह्य नहीं होता था। जब मैं उस समय शिकारपुर आया तब मेरा जुलूस जब मन्दिरके निकट पहुँचा, वहां कोई प्रीतमसभा थी, उसके कुछ सदस्योंने मेरे जुलूसके सामने काली झण्डियां उड़ायी थीं। यह वही समय था जब मेरे अन्त्यजस्पर्श लेखके सम्बन्धमें समस्त सनातनधर्मी जगत्में मेरे विरुद्ध आन्दोलन जगाया गया था। इन काली झण्डियोंसे श्रीऑलइण्डिया निर्मोही महान्तजीको बहुत दुःख हुआ। मेरे पास प्रतिदिन आते और दिनमें कई बार आते और मुझसे कहा करते थे कि तुम अन्त्यज-हरिजन-आन्दोलनसे हट जाओ। एक दिन मैं बहुत घबड़ा गया। जो कोई आवे

हरिजन आन्दोलनसे हट जानेका ही उपदेश करे। मैं सायङ्काल भ्रमण करनेके लिये नहरकी ओर चला गया। वहां शान्त होकर ध्यानमें बैठा। मुझे ऐसी प्रेरणा हुई कि मैं भगवान्से इस सम्बन्धमें आज्ञा प्राप्त करूँ, सायङ्कालकी आर्ती होनेवाली थी। वर्तमान महान्त श्रीलक्ष्मणदासजी शास्त्रीजी उस समय वहांके पुजारी थे। आर्ती हो चुकी। स्तुति हो रही थी। मैंने कागजके तीन टुकड़े लिये। दो छोटे और एक बड़ा। बड़े टुकड़े पर लिखा—'क्या मैं हरिजन आन्दोलन बन्द कर दूं?' दूसरे छोटे टुकड़ों पर 'हां' और 'ना' लिखा। तीनों की तीन गोलियां बनायीं। मैंने उन्हें ले जाकर श्रीपुजारीके हाथमें उन्हें दीं। उनसे कहा कि इन तीनों गोलियोंको भगवान्के चरणोंपर रख दें। सब हैरान थे। श्रीपुजारी भी चकित थे। मैंने पुजारीजीसे कहा कि एक मोटी गोली और एक छोटी गोली भगवान् के चरणोंपर से उठाकर मुझे दें। उन्होंने ऐसा ही किया। मैंने सबके सामने उन गोलियोंको विस्तृत किया। गुजरात से आये हुए महान्त महानुभाव भी थे, अन्य सज्जन भी थे। उस छोटे टुकड़ेमें लिखा हुआ था 'हां' दोनों गोलियोंको—दोनों टुकड़ोंको साथमें पढ़ा जाय तो वह शब्द और वाक्य यों बनेंगे—

"क्या मैं हरिजन आन्दोलन बन्द कर दूँ?"

"हां"।

हां, यह भगवान्का उत्तर था। रात ही रात इस घटनाकी हजारोंकी संख्यामें सिंधी भाषामें विज्ञप्तियां छपाई गयीं और बाँटी गयीं। पंजाबके पत्रोंमें भी यह सामाचार प्रकाशित हुआ। अन्य पत्रोंमें भी। यह मेरा पराजय समझा गया था। मैं इसे भगवान्का आदेश मानता था।

श्रीमहात्मागांधीजीका हरिजनसेवक दिल्लीसे प्रकाशित होता

था। उसके सम्पादक थे हिन्दीके प्रसिद्ध लेखक—श्रीवियोगीहरि जी। उन्होंने इस प्रसङ्गपर एक टिप्पणी हरिजनमें लिखी कि "स्वामी भगवदाचार्यजी पराजित हुए हैं।" मैंने श्री वियोगीहरिजी-को भी अपनी परिस्थिति बतायी और श्रीमहात्मागांधीजीको भी इस सम्बन्धमें पत्र लिखा। उनके दो कार्ड इस प्रसङ्गके मुझे मिले। एक कार्ड अभी तक ढूँढ़नेपर भी मेरे हाथमें नहीं आया है। एक कार्ड मिल गया है। वह गुजरातीमें हैं। उसका अनुवाद यह है—

भाई भगवदाचार्य,

आपका पत्र मिला। जो आपने चिट्ठी डाली थी उसमें सर्वथा मौन लेनेकी बात थी तो उसका पालन करना ही चाहिये। बाकी देवको जिस प्रकारसे आपने ललचाया है उस प्रकारसे ललचाना नहीं चाहिये। यह अभिप्राय क़ायम है।

२५-६-३४   बापु

वर्धा

इसके पूर्वका पत्र भी ढूँढ़ रहा हूं। हजारों पत्रोंमें कहीं छिप गया है। शिकारपुरके प्रसङ्गने मेरी जीभपर ताला लगाया परन्तु हृदयपर ताला नहीं था। मैं सम्प्रदायसे अलग हो जाता, परन्तु ऐसी परिस्थिति नहीं थी। सम्प्रदायके महान् आचार्य श्रीरामानन्द-स्वामीजीका आचार और व्यवहार मेरे पक्षमें था। यह कायरता होती यदि मैं सम्प्रदायसे अलग हो जाता। मुझे तो लड़ना था, झगड़ना था और साम्प्रदायिकोंके हृदयमें यह स्थिर करना था कि अन्त्यज भी अपने ही सगे भाई हैं। भगवान्के दर्शनका उन्हें भी उतना ही अधिकार है जितना हमको। मैं सम्प्रदायमें बना रहा।

तत्त्वदर्शीमें मैंने पुनः एक लेख लिखा जिसका थोड़ासा अंश इस प्रकारका था—

"एक बात हो सकती है। इस ढोंगसे मुझे लोग महात्मा

एकविंश परिच्छेद

जबसे यह अन्त्यजस्पर्श-प्रकरण प्रारब्ध हुआ तबसे डाकोर-वाले मेरे स्नेही महान्त श्रीदेवादासजी मेरे विरुद्ध हो गये। उनका एक अपना साप्ताहिक पत्र लोकधर्म निकल रहा था। उसमें उन्होंने मेरा पूर्ण बलसे विरोध करना शुरू किया था। मेरे सभी विरोधियोंके लिये लोकधर्म कल्पवृक्ष बन गया था। मेरे पास तत्त्वदर्शी मासिक पत्र था। उस पत्रकी मुखमुद्रा यह थी।

कस्मैचिदपि भूताय न द्रुह्यति न चेर्ष्यति।
न जहाति भिया सत्यं तत्त्वदर्शी कथञ्चन॥

"अर्थात् तत्त्वदर्शी किसीसे द्रोह नहीं करता, ईर्ष्या भी नहीं करता। एवम् भयसे कभी सत्यका त्याग भी नहीं करता।" तत्त्व-दर्शी बहुत ही निर्भीक और स्पष्टवक्ता पत्र था। ग्राहकोंके टूटनेका उसे भय नहीं था क्योंकि प्रायः वह अमूल्य जैसा ही था। लोगोंके पास भेजा ही जाता था और लोग पढ़ा ही करते थे। मैंने उसी पत्रमें सब विपक्षियोंके बलको, विद्याको विध्वस्त करता रहता था और उनके दर्पसर्पको अपनी मधुरवंशीके ध्वनिपर नचाया करता था। एकवार पण्डित श्रीरघुवराचार्यजीने मुझे लिम्बड़ीमें बुलाया। उसी समय मैं काषायवस्त्र धारण करके उज्जैन जाकर, स्वागत प्राप्त करके बड़ोदा आया था। मैं लिम्बड़ी गया। उन्होंने कहा कि सायलाके महान्तजीका पत्र आया है। वहाँ किसी ब्राह्मणने वहाँके ठाकुरसाहबसे कहा है कि साधुओंको भागवत कथा वाचने-का अधिकार नहीं है। इसके लिये सायलामहान्तजी चाहते हैं कि

साधुओंको यह अधिकार शास्त्रीय रीतिसे सिद्ध रहे। पण्डितजीने मुझे पूछा कि यह शास्त्रार्थ करो तो मैं सायला स्वीकृतिपत्र लिख दूँ। मैंने कहा कि यह शास्त्रार्थ अवश्य करूँगा। मानवमात्रको समान अधिकार होना ही चाहिये। देखनेका अधिकार मनुष्य-मात्रको प्राप्त है। किसीको आँखें नहीं और वह न देख सके, यह दूसरी बात है। उपदेश देनेका, कथा वाचनेका सबको अधिकार है, कोई बोल न सकता हो, कोई पढ़ा हुआ न हो अतः वह उप-देश न कर सके या कथा न वाच सके, यह तो अलग बात है। हम लोग सायला गये। एक दिन पूर्व ही हम पहुँच गये। महीना कौन सा था, मुझे याद नहीं है। मैं तो वहाँ जाते ही ज्वरग्रस्त हो गया। दूसरे दिन ही तो शास्त्रार्थ था। मैंने डाक्टर बुलाया। मुझे आशा थी कि मैं शास्त्रार्थके समय तक निर्ज्वर हो जाऊँगा। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। शास्त्रार्थ दिनमें १० बजे शायद शुरू हुआ था। उस समय मुझे खूब ज्वर था। मैं बैठ नहीं सकता था। प्लेट-फार्मपर ही मेरे लिये पथारी बिछायी गयी। मैं रजाई ओढ़कर वहाँ ही लेटा लेटा शास्त्रार्थ सुनता था। श्रीपण्डित रघुवरदासजी शास्त्रार्थ करते थे। मध्यस्थ वहाँके दरबार—ठाकुरसाहब थे। विप-क्षसे एक अल्पपठित ब्राह्मण शास्त्रार्थके लिये बैठे थे। उन्हींका यह कथन था कि साधुको कथा वाचनेका अधिकार नहीं है। उन्होंने भागवत महात्म्यसे अपने पक्षकी पुष्टिके लिये यह श्लोक उपस्थित किया था।

विरक्तो वैष्णवो विप्रो वेदशास्त्रविशुद्धिकृत्।
दृष्टान्तकुशलो धीरो वक्ता कार्योऽतिनिःस्पृहः॥

उनका कथन यह था कि विरक्तवैष्णव ब्राह्मण हो तभी वह कथा सुना सकता है। यदि विरक्तवैष्णव अब्राह्मण हो तो उसे

कथा सुनानेका अधिकार नहीं है। पण्डितजी उत्तर करते थे, परन्तु उत्तर होता नहीं था। गुणकर्मसे वर्णव्यवस्थाका स्वीकार भी करने लग गये थे। वह थक गये तब संस्कृत भाषामें बोलने लगे। अवच्छेदकता प्रकारताका जाल बिछाना शुरू किया। उस पण्डितने कहा कि मैं संस्कृतका पण्डित नहीं हूँ, न्यायशास्त्रका भी पण्डित नहीं हूँ। अतः मुझे गुजराती भाषामें ही मेरे प्रश्नका उत्तर दीजिये। मामला गड़बड़ हो रहा था। गुजराती भाषामें शास्त्रार्थ करते करते संस्कृत बोलने लग जाना, यह एक पराजयका चिन्ह था। वहाँका पराजय सायलाके लिये भयङ्कर वस्तु था। मुझसे नहीं रहा गया। मैं रजाई अलग करके उठ बैठा। मैं ही बोलने लगा। गुजरातीमें ही बोलने लगा। मैंने कहा—

विरक्तो वैष्णवो विप्रः इस श्लोकमें विरक्त वैष्णवका अर्थ साधु नहीं है। विप्रका ही वह विशेषण है। कथावाचक ब्राह्मणको विरक्त होना चाहिये और वैष्णव होना चाहिये। विरक्त शब्दसे संग्रहीका निषेध किया गया है। जो धनलोलुप न हो ऐसे ब्राह्मणको ही कथावाचनेका यहाँ उल्लेख हुआ है। यहाँ साधुका निषेध नहीं है। जिस समय भागवतमहात्म्य बना, उस समय साधुसम्प्रदाय अस्तित्वमें नहीं आया था। अतः साधुको कथा वाचनेसे रोकनेका कोई कारण ही नहीं था। ब्राह्मण उस समय पतित हो रहे थे, विषयलोलुप बन रहे थे, अतः ब्राह्मणका विशेषण विरक्त कहना पड़ा। माहात्म्यमें ही लिखा है कि—

विप्रैर्भागवती वार्ता गेहेगेहे जनेजने।
कारिता कणलोभेन कथासारस्ततो गतः॥

"ब्राह्मण लोग अन्नके लोभसे घर घर और जन जनमें कथा करने लग गये है अतः कथाका सार चला गया है।"

पण्डितास्तु कलत्रेण रमन्ते महिषा इव ।
पुत्रस्योत्पादने दक्षा अदक्षा मुक्तिसाधने ॥

"पण्डित लोग भैंसेके समान स्त्रियोंमें रमण करने लग गये हैं। पुत्रोत्पादनमें ही वे कुशल हैं। मुक्तिसाधनमें वह जड हैं।"

सायलाके पण्डितजीने कहा कि उस समय साधु नहीं थे, यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि माहात्म्यमें ही कहा है—

'पाषण्डनिरताः सन्तो विरक्ताः सपरिग्रहाः ।'

...सन्त पाषण्डी हो गये हैं और विरक्त परिग्रही हो गये हैं।" अतः उस समय भी साधु थे ही।

मैंने कहा यह **सन्तः** शब्द और विरक्त शब्द साधुके लिये नहीं आये हैं। सन्तःका अर्थ सज्जन और विरक्तका अर्थ है निष्परिग्रह। यहाँपर विरक्तवैष्णव अर्थात् दीक्षित विरक्तवैष्णवका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। इसीलिये माहात्म्यमें ही कहा गया है—

'इह सन्तो विषीदन्ति प्रहृष्यन्ति ह्यसाधवः ।'

यहांपर भी सन्तः, असाधवः शब्द सज्जन असज्जनके लिये ही आये हैं। वर्तमानकालमें जैसे विरक्तोंको साधु कहा जाता है, वैसे ही भूतकालमें उन्हें साधु कभी नहीं कहा जाता था। अतः **'सभ्यसज्जनसाधवः'** इस अमरकोषके प्रमाणसे भी साधु शब्द सज्जनका ही वाचक है—बाबा लोगोंका वाचक नहीं है।

अतः सारांश यह निकला कि जो ब्राह्मण ब्रह्मचारी न हो, संयमी न हो, निर्लोभ न हो, असंग्रही न हो, उसीको कथा वाचनेका अधिकार नही है। इसी लिये अगले श्लोकमें पुनः स्पष्ट कर दिया कि—

अनेकधर्मविभ्रान्ताः स्त्रैणाः पाषण्डवादिनः ।

शुकशास्त्रकथोच्चारैस्त्याज्यास्ते यदि पण्डिताः ॥

'विषयी और पाषण्डी यदि पण्डित हों तब भी उसे भागवतकी कथा वाचनेका अधिकार नहीं है।' यहां केवल अधिकारी ब्राह्मणका निरूपण हुआ है, अनधिकारी साधुका नहीं। अतः इस वचनसे साधु कथा न वांचे' यह सिद्ध नहीं होता।

न हि वैष्णवता कुत्र सम्प्रदायपुरस्सराः।

इस वचनसे भी यही सिद्ध होता है कि उस समय साम्प्रदायिक वैष्णवता थी ही नहीं।

अथवा यहां विप्रशब्दका अर्थ ब्राह्मण है ही नहीं। विप्रका अर्थ है पूर्ण ज्ञानी। विशेषेण प्राति पूरयति ज्ञानं संस्कारं वा स विप्रः। अतः **विरक्तो वैष्णवो विप्रः** का अर्थ यह है कि पूर्णज्ञानी विरक्त वैष्णवको ही कथा वाचनेका अधिकार है। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि विषयी, संग्रही गृहस्थ ब्राह्मणादिको भागवत-कथा वाचनेका अधिकार ही नहीं है।

'तेषु विप्रा विरक्ताश्च स्थापनीया प्रबोध्य च।'

इस श्लोकसे भी यही कहा गया है कि विद्वान् विरक्त वैष्णवको कथाकी गादीपर बैठाना चाहिये। वह पण्डितजी तो चुप हो गये। शास्त्रार्थ पूरा हो गया। मैंने वहां बैठे हुए कुछ बालकोंको अपने पास बुलाया। ठाकुरसाहेब भी पास ही बैठे थे। मैंने बालकोंसे पूछा कि तुमने यहां क्या सुना? और क्या समझा? बालकोंने उत्तर दिया कि **हमने यह समझा कि साधु कथा वांच सकते हैं।** मैंने कहा, बस पूरा हो गया। बच्चे बच्चे इस बातको समझ जायँ कि साधु कथा वांच सकते हैं, यही इस शास्त्रार्थका आशय था। फिर मैंने श्रीठाकुरसाहेबसे उनका मध्यस्तपदसे मत

पूछा। उन्होंने भी कहा कि मैंने यही समझा है कि साधुमहात्मा भी कथा वांच सकते हैं।

पण्डित श्रीरघुवीरदासजी पीछेसे जब मेरे विरुद्धमें बोलने लगे थे और हरिजनोंको मन्दिरमें प्रवेश करनेका भी विरोध कर रहे थे उस समय मेरे एक लेखका उत्तर देते हुए उन्होंने लोकधर्ममें लिखा था कि उन्होंने सायलामें गुणकर्मसे वर्णव्यवस्थाका स्वीकार नहीं किया था। मैंने इस स्पष्ट असत्यका खण्डन करनेके लिये सायलाके वर्तमान महान्तजीको पत्र लिखकर इस विषयमें वस्तु-स्थितिका सत्य समाचार मांगा। यह उस समय महान्त नहीं थे, परन्तु कथा तो वह भी वांचते ही थे। उनका उत्तर आया और उसे मैंने तत्त्वदर्शीके वर्ष ३, अंक ३ में प्रकाशित कर दिया था। उन्होंने लिखा था कि आप दोनों ही गुणकर्मसे ही जाति बतायी थी, जन्मसे नहीं। इस विषयमें आप दोनोंका मतैक्य था, विरोध नहीं। यह पत्र आ० वदि ५, शनि, १९८९ संवत्का लिखा हुआ था। इस विषयका पूरा विवरण तत्त्वदर्शीमें प्रकाशित है।

जब मैंने इस पत्रको प्रकाशित किया तब पण्डितजी शायद चुप हो गये थे।

द्वाविंश परिच्छेद

जब यह सब विवाद चल रहा था उसी समय उत्कृष्ट विद्वान् स्वामी गङ्गेश्वरानन्दजी उदासीनके लिखे हुए **श्रौतमुनिचरितामृत** ग्रन्थका भी झगड़ा चल रहा था। अयोध्यामें इसके लिये निर्णय-सभा रखी गयी थी। सब सम्प्रदायोंके साधु महात्मा वहां उपस्थित थे। अयोध्यासे तार आया और मैं अयोध्या पहुँचा। वह अक्तूबर-का महीना था। स्वामी गङ्गेश्वरानन्दजी भी वहां पहुँच गये थे। स्वामी रत्नदासजी नैयायिक भी आ गये थे। मेरे पहुँचनेके दो दिन बाद शिंगडासे महान्त श्रीरघुवराचार्यजी भी अयोध्या पहुँच गये। स्वमी गङ्गेश्वरानन्दजी विद्वान् हैं और स्वसम्प्रदायनिष्ठ हैं। हिन्दुओंका एक प्राचीन धर्म है कि अपने सिद्धान्तोंको सर्वश्रेष्ठ बताना, अपने सम्प्रदायको अलौकिक सम्प्रदाय सिद्ध करना तथा अपने गुरुओंको या तो भगवान्का अवतार बताना या तो ऐसे ही किसी सिद्धपदपर बैठा देना। स्वा० गङ्गेश्वरानन्दजीने भी इसी सड़े हुए प्राचीनधर्मका अनुसरण किया। उनकी सम्प्रदायवादिता-को लक्ष्यमें रखकर विचार करनेसे उनका यह अनुगमन निन्दनीय नहीं माना जा सकता। उस पुस्तकमें गङ्गेश्वरानन्दजीने लिखा है कि भारतके सभी ऋषि, मुनि आदि उदासीनसम्प्रदायके थे। इसके लिये उन्हेंने, वेदोंको भी खड़खड़ाया है। ठीक ही किया। जो सम्प्रदाय वेदों तक न पहुँचे वह सम्प्रदाय ही कैसा? सब सम्प्र-दायक वेदोंको अस्पृश्य नहीं रहने देते तो उदासीनसम्प्रदाय कैसे वेदबाह्य रहे। मैंने तो अयोध्यामें उनसे कहा कि यह सब न लिख होते तो भी उदासीनसम्प्रदाय जीता ही रहता और यदि इसमें

लोकोपकारकी भावना बनी रहे तो वह लोकभोग्य भी बन सकता है। इसके लिखनेसे उदासीन सम्प्रदाय बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं बन जाता। परन्तु वह मेरे मित्र हैं। उन्होंने लिखा है, श्रम किया है, धनव्यय कराया है। इतने बड़े प्रयासको सर्वथा मलिन बना देना, मुझे अच्छा नहीं लगा। मैं अयोध्या पहुँचा उसी दिन संन्यासी, नाथ, निर्मलके प्रतिनिधि महोदय मेरे पास आये थे। मैंने उनसे कहा था कि आप लोगोंको उक्त ग्रन्थपर जो आपत्तियां हैं, जो विरोध है, उसकी मुझे एक सूची दे दीजिये। उन्होंने अपनी आपत्तियां मुझे लिखा दीं। श्रीस्वामीशङ्कराचार्यका विषमृत्यु, दण्डखण्डन, ये दो विवादग्रस्तविषय तो मुझे स्मृत हैं। अन्योंका स्मरण नहीं रहा। मैंने बड़ास्थानमें ही एक सभा बुलायी थी जिसमें अयोध्याके सभी प्रतिष्ठित महानुभाव थे। संन्यासी महात्माओंकी ओरसे लिखायी गयी हुई आपत्तियोंको मैंने सभामें सुनाया और सभाने निर्णय किया कि स्वा० गङ्गेश्वरानन्दजीसे इसका उत्तर लेना चाहिये। स्वामी रत्नदासजी नैयायिक भी वहां आये थे। वह न्यायके अच्छे पण्डित हैं। मैंने उनके द्वारा स्वा० गङ्गेश्वरानन्दजीके पास एक समाचार भेजा कि वह इस पुस्तकके विरोधके सामने झुक न जायं। स्थिर रहें। परन्तु वह स्थिर न रह सके। उस पुस्तकमें वैष्णवोंके चारो सम्प्रदायोंके आचार्योंको उदासी बताया गया है। वैष्णवोंका भी इस विषयमें विरोध था। जब मैं बड़ास्थानकी सभाको पूर्ण कर चुका तब दो संन्यासी आये। उन्होंने कहा हमारा विरोध लिखाना कुछ रह गया है। मेरे पूछनेपर कहा कि उदासियोंने निर्मलसम्प्रदायके विरुद्ध अन्यत्र बहुत लिखा है। उसका भी संशोधन होना चाहिये। मैंने कहा सब रोगोंकी एक ही दवा नहीं हो सकती। निर्मल-उदासीनसम्प्रदायका झगड़ा अलग वस्तु है और इस पुस्तकका झगड़ा अलग वस्तु है। इस झगड़ेको इसमें

न जोड़ा जाय। महात्मा लोग मुझसे रुष्ट हो गये। एक नोटिसोंका बण्डल मेरे सामने रख दिया। यह क्या है, इसे पूछनेपर उत्तर मिला कि गङ्गेश्वरानन्दजीको स्वामी जयेन्द्रपुरीका चैलेञ्ज है। मैंने कहा, इसे मुझे क्यों देते हैं, गङ्गेश्वरानन्दजीके पास पहुँचाइये। उत्तर मिला कि आप इस समय मध्यस्थ बने हुए हैं आपको ही हम लोग इसे दे रहे हैं। आप वहाँ पहुँचा दें। मैंने उस बण्डलको तत्काल ही स्वा० गङ्गेश्वरानन्दजीके पास भेज दिया। स्वामी रत्नदासजी मेरे पास आये और कहने लगे कि स्वा० गङ्गेश्वरानन्दजीकी इच्छा है कि अयोध्यामें वैष्णवोंका समाधान अभी ही, आज ही कर लिया जाय। गङ्गेश्वरानन्दजी काशी शास्त्रार्थके लिये अभी रातकी गाड़ीसे जा रहे हैं। पण्डित रघुवराचार्यजी भी उसी दिन आ गये थे। रातमें राजगोपालमन्दिरमें ऊपर छतपर सभा हुई। उदासीन कितने ही महान्त, सन्त और विद्वान् उपस्थित थे। वैष्णवोंके लगभग चारो सम्प्रदायके विद्वान् भी थे। प० रघुवराचार्यजीका स्वभाव था कि, झट किसीको झुका दिया जाय। उन्होंने एक लेख तैयार किया और उसमें श्रीगङ्गेश्वरानन्दजी तथा उनके कितने ही प्रतिष्ठित सन्तमहान्तोंके हस्ताक्षर कराये गये। लिखाया गया कि श्रौतमुनिचरितामृतके ये सब स्थल अनुचित हैं। दूसरी आवृत्तिमें ये सब अमुक प्रकारसे सुधार दिये जायँ। मैं इस लिखानेके विरुद्धमें था अतः मैंने कहीं कोई अपना हस्ताक्षर नहीं किया। यदि किसीने समझ बूझकर कुछ लिखा है तो उसपर बलात्कारसे अपना मन्तव्य नहीं लादना चाहिये। यह मेरा सिद्धान्त है। वैष्णवोंने भी तो शङ्कर आदि देवोंको भी अपने सम्प्रदायका ही मान लिया है। शाङ्करोंने ब्रह्मा, व्यास आदिको शाङ्कर मान लिया है। यह तो सनातनकी रीति है। मैं तो अलग रहा। सबके हस्ताक्षर हो गये और स्वामी गङ्गेश्वरानन्दजी उसी रातमें काशी चले गये।

—

त्रयोविंश परिच्छेद

बहुत वर्ष बीत गये। कदाचित् संवत् १९८४ वि० की बात हो या इससे भी प्राचीन। मैं घरमें सर्वजित् त्रिवेदी था। आर्यसमाजमें भवदेव ब्रह्मचारी था। श्रीरामानन्दसम्प्रदायमें भगवद्दास ब्रह्मचारी था। अब समय आ गया था कि मैं दासकी परम्पराको तोड़ डालूँ। यद्यपि यह परम्परा मुझसे पूर्वके लोगोंने ही तोड़ डाली थी। बड़ास्थान अयोध्याकी गादीपर आनेवाले आचार्य दासान्त नाम छोड़कर प्रसादान्त नाम धारण करते हैं। रसतत्त्ववित् महात्माओंने शरणान्त नामका स्वीकार किया है। अतः दासान्त नामका रूप पहले से ही परिवर्तित हुआ है तथापि उपर्युक्त दोनों परिवर्तनोंकी अपनी एक सीमा है। प्रसादान्त नाम बड़ास्थान अयोध्याके गादीके आचार्यका ही हो सकता है अन्यका नहीं। शरणान्त नाम रसिक-धर्म माननेवालेका ही हो सकता है, अन्यका नहीं। मैं ऐसा परि-वर्तन चाहता था जो सर्वदेशीय हो। मैंने अपना नाम **भगवदाचार्य** रखा। एकदम कोलाहल हो उठा। रामानन्दसम्प्रदायमें खलबली मच गयी। अयोध्यामें एक पण्डित भगवद्दासजी मिश्र रहते हैं। वह श्रीरामानन्दसम्प्रदायानुयायी हैं। उन्होंने साधुसर्वस्व साप्ताहिक पत्रमें मेरे विरुद्ध लेख प्रकाशित कराया। उन्होंने उस लेखमें मुझसे प्रश्न किया कि—आपके गुरु और प्रगुरुके नाम आचार्यान्त थे या नहीं ? मैंने लिखा कि मेरे सभी पूर्वज आचा-र्यान्त नामवाले ही थे। मेरे गुरुदेवका नाम स्वामी श्रीराममनोहर-प्रसादाचार्यजी महाराज था। उस गादीके संस्थापकका नाम स्वामी रामप्रसादाचार्यजी महाराज था। वह एक कुतूहलका समय था।

पहला कुतूहल तो मैंने रामानन्दसम्प्रदायको अलग करनेमें उपस्थित किया था। अब दूसरा कुतूहल दासान्त नामके परिवर्तनका था। सम्प्रदायके पण्डित महाशय सभी भयभीत थे। इच्छा तो उनकी भी थी कि वह तत्काल ही मेरा अनुकरण करें। परन्तु **नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः**। यह परिवर्तन बुजदिलों और कमजोरोंके लिये था ही नहीं। समाजका जो सामना कर सके, वही क्रान्ति कर सकता है, वही क्रान्तिकारी नेता हो सकता है। किसी भी पण्डितका साहस नहीं होता था कि वह अपनेको आचार्यान्त नाम प्रदान करे। मैं शायद वि० संवत् १९८४ में अपना नाम बदलकर भगवदाचार्य बना था। वि० संवत् १९८९ में पण्डित श्रीरघुवरदासजीने कल्पित आनन्दभाष्य मुद्रित कराया। उसमें उन्होंने अपना नाम रघुवरदास लिखा है। बहुत दिनोंके पश्चात् वह मेरे ही बलपर, रघुवराचार्य बने थे। मेरे साथ जब अन्त्यजमन्दिरप्रवेशके विवादमें वह पड़े तो प्रयास करने लगे कि आचार्यान्त नामका भी विरोध करें। परन्तु उनका भी नाम अब आचार्यान्त ही था, मेरे साथ विरोध करनेसे वह अपने नामका भी अस्तित्व खो बैठनेके भयसे व्यग्र थे। उन्होंने जयपुरके श्री-बालानन्दजीके स्थानके श्रीमान् महान्त रामकृष्णानन्दजीका आश्रय लिया। पण्डितजीका तिलक लश्करी तिलक था। श्रीबालानन्दजीका स्थान लश्करी महात्माओंकी एक गादी मानी जाती है। जैसे तैसे उन्होंने उनसे **आचार्य** इस शब्दकी भिक्षा मांग ली। अब उनको अभिमान हुआ कि उनका नाम उनके आचार्यका दिया हुआ है और भगवदाचार्य यह नाम स्वयंगृहीत है। खड़े हो गये। एक पत्रमें प्रकाशित किया कि "मुझे बालानन्दजीकी गादीसे **आचार्य** की उपाधि मिली है। मेरे सामने किसीका कोई वश चलता ही नहीं है। मैंने पूछा कि भाई यदि **आचार्य** यह उपाधि

आपको मिली है तो अब आपको अपना नाम 'रघुवरदास आचार्य' अथवा 'आचार्य रघुवरदास' लिखना चाहिये। रघुवराचार्य ऐसा क्यों लिखते हैं? यदि ऐसा लिखते हैं तब तो यह मेरी ही प्रसादी है, ऐसा क्यों नहीं मान लेते? इसका कोई उत्तर उनके पास था ही नहीं। **मौनं सर्वार्थसाधकम्।** यह घटना जून सन् १९३४ की है।

चतुर्विंश परिच्छेद

काषाय वस्त्र

श्रीरामानन्दसम्प्रदायकी गुरुपरम्परा तो मैंने बड़े परिश्रमके पश्चात् बदल ही डाली थी। परन्तु इस सम्प्रदायमें अभी अनेक रीति-रवाज, रूढियोंका परिवर्तन अपेक्षित है। जब मैंने अपना आचार्यान्त नाम लिखना शुरू किया, आरम्भमें तो सब भयभीत थे। बड़ा भारी भय सबको **पंघत** का था। रोटी मिलनी कठिन हो जाय। पङ्क्तिमें भोजन करनेके लिये कोई बैठने ही नहीं देगा, यह सबसे बड़ी खतरनाक चीज़ थी। धीरे धीरे तो ऐसा समय आया कि पण्डित और विद्यार्थियोंने मिलकर रामानन्दसम्प्रदायमें दासान्त नामका बहिष्कार ही कर डाला। अब तो जो कोई पण्डित पैदा होता है, या विद्यार्थी बनता है, या पण्डित बन रहा है, वह अपना दासान्त नाम लिखते लज्जित होता है। सम्प्रदायमें भाग्यसे ही कोई साक्षर मिलेगा जो अपने नामको आचार्यान्त न बना दिया हो। यह भी मेरी एक सफल क्रान्ति थी और है।

अब मुझे शुक्लवस्त्रमें क्रान्ति करनी थी। विरक्तोंका शुक्लवस्त्र अशास्त्रीय है। शास्त्रीय और वैदिक सम्प्रदायोंमें तो विरक्तका शुक्लवस्त्र सर्वथा अवैदिक है। नारदपरिव्राजकोपनिषद्में स्पष्ट लिखा है कि—

मञ्चकं शुक्लवस्त्रं च स्त्रीकथा लौल्यमेवच।
दिवास्वापं च यानं च यतीनां पातकानि षट्॥

शुक्लवस्त्र श्रीरामानुजीयगृहस्थोंके होते हैं। एक भी संन्यासी

रामानुजीय शुक्लवस्त्रधारी नहीं होता। रामानन्दसम्प्रदाय शताब्दियोंतक श्रीरामानुजसम्प्रदायान्तर्गत हो गया था। एतद्देशीय (औदीच्य विरक्तोंको दाक्षिणात्य ब्राह्मण अच्छी दृष्टिसे नहीं देखते। अत एव भारतके विरक्त श्रीवैष्णवोंके लिये शुक्लवस्त्रका ही उन्होंने विधान किया। पहलेके श्रीरामानन्दीय विरक्त अवश्य ही काषायवस्त्र पहिनते थे परन्तु वे जबसे श्रीरामानुजसम्प्रदायके अनुयायी बने तबसे उनमें गृहस्थाचार अधिक बढ़ गया और शुक्लवस्त्रने उनके शरीरको घेर लिया।

मैंने अपने सभी विद्वान् साथियोंको, द्वारागादीके आचार्योंको अन्य प्रतिष्ठित सन्तमहान्त.को सूचना दी कि मैं अमुकमासकी अमुक तिथिको काषायवस्त्रका ग्रहण करूँगा। आषाढ़ पूर्णिमा वि० संवत् १६८८ के दिन आबू पहाड़पर श्रीरघुनाथमन्दिरमें, भगवान् श्रीरघुनाथके समक्ष श्रीरामानन्दस्वामीजी महाराजकी छवि पधराकर षोडशोपचार पूजन करके, होम आदि समस्त शास्त्रीय विधि कराके, पहलेसे ही रङ्गकर सज्ज रखे हुए वस्त्रको श्रीमदाचार्यके चरणोंमें अर्पित करके, मैंने काषायवस्त्रका धारण किया। बड़ोदेसे श्रीमान् महान्त श्रीरामदासजी वस्त्र तैयार करके लाये थे। उन्होंने उस दिन वहां उत्सव किया। भगवान्को विशिष्ट भोग धराया। उपस्थित सब सन्तोंको भगवत्प्रसाद सेवन कराया। मेरी शिखा तो छोटी हो चुकी थी, उसका मैंने कोई संस्कार नहीं किया। यज्ञोपवीतको भी रहने दिया। कई वर्षोंके पश्चात् शिखा और सूत्रको भी मैंने अपनेसे पृथक् कर दिया। श्रीवैष्णव संन्यासमें शिखा-सूत्र प्रायः रखनेका ही विधान है। मुझे ये दोनों अनुपयुक्त प्रतीत हुए अतः मैंने इनका विसर्जन किया।

एक महीने बाद ही नासिकका कुम्भपर्व था। बहुत आग्रहसे मैं वहाँ बुलाया गया था। मैं गया। धूमधामसे मेरा जुलूस

निकाला। श्रीमहान्त जगन्नाथदासजी आ० इ० निर्मोहीमहान्तजीका मुझे बुलानेमें विशेष प्रयत्न था। उस समय निर्मोही अनीके श्रीमहान्त श्रीकमलदासजी महाराज जीवित थे। वहाँपर साम्प्रदायिकोंने मेरे साथ तो बहुत अन्याय नहीं किया परन्तु अपने स्वभावके अनुसार उन्होंने दुश्चेष्टाएँ अवश्य की थीं। तपस्वी लोगोंने अधिक तूफान किया था। उस समय मैंने श्रीआनन्दभाष्यके चतुर्थाध्यायका हिन्दी-भाष्य-सहित प्रकाशन किया था। उसके प्रकाशनका सर्वव्यय राजाधिराजमन्दिर (अहमदाबाद) की अध्यक्षा स्वर्गवासिनी श्रीमती विट्ठनदेवीजीने दिया था। प्रचारार्थ मैंने उस ग्रन्थका वहाँ वितरण कराया था। तपस्वी महात्माओंने क्रोधमें आकर उसकी प्रतियाँ ढूँढ़ ढूँढ़कर जलायी थीं। कुछ नवयुवक श्रीरामानन्दीयविरक्तवैष्णवोंने उस समय वहाँ ही काषायवस्त्र धारण किया था। और काषायवस्त्र सबको प्राप्त हुए थे नासिकके श्रीगोरेरामजीके महान्त श्रीभगीरथदासजीकी ओरसे। तपस्वियोंने उनके वस्त्रोंको उतार लिया, फाड़ डाला और उनकी होली कर दी। कितने ही काषायवस्त्रधारियोंको लोगोंने मारा-पीटा भी था। आज काषायका विजय है। जो मेरे और काषायवस्त्रके विरोधी थे उनके झण्डाधारी लोग भी आज काषायवस्त्र पहिन रहे हैं। यह भी मेरी क्रान्ति सफल हुई। आज सर्वत्र शान्ति है। कोई काषायका विरोध नहीं करता है।

———

स्वामी भगवदाचार्य

(गुर्जर काण्ड)

(उत्तरार्द्ध)

अहैतुकीं क्रोधततिं विवृण्वतो-
पराधशून्येपि मयि स्थिरां दृढाम् ।
प्रसादयामि प्रणतः पुरो हि त-
न्मदीयदैवस्य मनो रुषावृतम् ॥ १ ॥

निरर्गलां सर्वजनापकारिणीं,
कदापि नो साधुपथे विहारिणीम् ।
दुरात्मनां दुर्गतमां मनोगतिं,
नमामि मूर्ध्ना शठराजराजिनीम् ॥ २ ॥

सुषन्धिमिच्छत्यथ नो जनेषु यः,
परापवादेन च यः प्रसीदति ।
दधाति दुष्टाचरणेषु यो रतिं,
प्रयातु दूरं मनसः स दानवः ॥ ३ ॥

नानुभूता मया शान्तिर्न जितं कस्यचिन्मनः ।
अगम्येन हेतुना येन जन्मन्यस्मिञ्जयत्वसौ ॥ २ ॥

सिंहव्याघ्रोरगेभ्योपि क्रूरान् क्रूरतरान्नरान् ।
सृजते देवदेवाय कस्मैचन नमो नमः ॥ ५ ॥

(१)

जब मैं आबूमें चम्पागुफामें रहता था, एक दिन मेरे पास वहां एक पारसी बहिन और एक पारसी भाई मिलनेको आये थे। उन्होंने नीचे ही किसीसे विद्वान् सन्तोंका नाम पूछा होगा और एक मुसलमान भाई··········कूरेशी साहेबने चम्पागुफा और मेरा नाम बता दिया होगा। आनेवाली बहिन तो डॉक्टर थीं और साथके भाई डभोईमें या कहीं अन्यत्र रहते थे और किसी आफिसमें क्लर्क थे। उन लोगोंने आकर हाथ जोड़कर, बैठते ही, पहले तो मेरा नाम पूछा। पश्चात् उन पारसी बन्धुने प्रश्नोंकी झड़ी लगा दी। २५ या ३० प्रश्न मुझसे पूछे थे। मैंने सभी प्रश्नोंका उत्तर तत्काल ही दिया था। सभी प्रश्न थियोसोफीसे सम्बन्ध रखते हैं। मेरे सभी उत्तर मेरे दिमागसे सम्बन्ध रखते थे। उनकी परीक्षामें मैं उत्तीर्ण हुआ। वह बहुत प्रसन्न हुए। उनका नाम शायद जहाँगीर भाई था। जब तक वह आबूपर रहे प्रतिदिन मेरे पास आते रहे।

श्रीमती गुल बहिन कभी उनके साथ आतीं, कभी अकेली आतीं और कभी अपने पति श्रीफ़रामरोज़के साथ आतीं। श्रीफ़रामरोज़जी उन दिनोंमें मियांगाम (बड़ोदा) में वहिवटदार थे। दोनों ही सज्जन, दोनों ही विद्वान् और दोनों ही श्रद्धालु थे। हमारा परस्पर प्रेम बढ़ता गया। श्रीगुलबाने थियोसोफ़ीके कितने ही पुस्तक अंग्रेजीमें मुझे पढ़नेको दिय। मेरी अंग्रेजी भाषा उन दिनों बहुत कमजोर हो चुकी थी, वह पुस्तक एक नये सिद्धान्तोंसे भरपूर थे। अतः श्रीगुलबा मुझे उन पुस्तकोंको समझनेमें सहायता

दिया करती थीं। उनके जानेका समय हुआ। दम्पति साथमें ही मुझे मिलने आये। बहुत प्रेम और श्रद्धासे मियांगाम आनेको मुझे आमन्त्रित किया। हम दोनोंमें मियांगाम आनेके लिये समय (शर्त) यह हुआ कि मैं उन्हें गीता सिखाऊँ और वे मुझे थियोसोफ़ीके अंग्रेजी पुस्तकोंको समझनेमें सहायता दें। वर्षाऋतुमें मैं मियांगाम पहुँच गया। उन लोगोंने मेरे रहनेके लिये बहुत सुन्दर प्रबन्ध किया। भोजनका प्रश्न उनके सामने था। वहां बहिवटदार साहेबकी ही आफ़िसमें एक ब्राह्मण श्रीरामचन्द्र भाई पण्ड्या (पाण्डेय) रहते थे। वह कुटुम्ब बहुत ही श्रद्धालु था। जब तक मैं वहां रहा, उन्हींके यहां भोजन करता था। सुखसे विद्याव्यासङ्गमें कालव्यय होता था।

स्त्रीजाति मातृपदके लिये ही बनायी गयी है। स्त्रियोंका हृदय स्वभावतः स्निग्ध, श्रद्धालु और प्रेमपूर्ण कोमल हुआ करता है। श्रीगुल बहिनने मेरे साथ उतना सुन्दर व्यवहार किया कि मेरी दृष्टि उन्हें माताके रूपमें देखने लगी। पीछेके इस ग्रन्थके प्रकरणोंसे यह तो स्पष्ट ही हो चुका है कि मुझे मातृसुख बहुत कम मिला है। माताके रहते हुए भी मातृसुखका न प्राप्त होना, विधिविडम्बनाके अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है। मेरा मन तो आज भी कहता है कि—

यमानन्दं जनयति मातुरुत्सङ्गलीनता।
न तेन समतां याति ब्रह्मानन्दः कदाचन॥
मातृस्तनक्षरत्क्षीरसौधधाराभितर्पितः।
स्पृहयेन्न यतिः क्वापि मुधा ब्रह्मसुखाप्तये॥

"माताकी गोदमें समा जाना जिस आनन्दको जन्म देता है उसके साथ ब्रह्मानन्द कभी भी सन्तुलित नहीं हो सकता।" माता-

के स्तनोंसे बहते हुए दूध रूप सुधासे तृप्त हुआ यति कभी भी ब्रह्मानन्दकी स्पृहा नहीं कर सकता।" मेरा यह कथन अन्धभावुकताका द्योतक नहीं है। यह तो सच्चे हृदयका शब्द है और समस्त वेदान्तोंके आम्रेडनके पश्चात् प्रतिभान्वित शब्द है। **सर्वंमिथ्या** कह देनेसे न तो माता मिथ्या होती और न मातृसुख। **ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या** कहनेसे भी माता और मातृसुखको मिथ्यात्व नहीं प्राप्त होता है। माताके अतिरिक्त ब्रह्म कोई वस्तु है या नहीं, यह तो अभी लाखों और असंख्य वर्षोंतक, प्रलयान्ततक भी साध्य ही रहेगा। मातृरूप ब्रह्म और मातृसुखरूप ब्रह्मसुख सर्वप्रत्यक्ष है। श्रीमती गुलबाके लिये मेरे हृदयमें मातृभाव उदित हुआ और मातृभक्तिका परमसुख मुझे मिलने लगा।

मैंने उन्हें गीता पढ़ानेके लिये थोड़ा सा संस्कृत पढ़ाने लगा। पूर्ण सफलता नहीं मिली। परन्तु मैं तो उनके पुस्तकालयका लाभ लेने लग गया था। A study in consciousness, the Inner reality, the master and the path, first principles of Theosophy, the seven principles of man आदि कितने ही पुस्तकोंका मैंने वहाँपर वाचन और मनन किया। चातुर्मास्य वहाँ ही इसी पवित्र कार्यसे पूर्ण किया। मेरे आबू जानेका दिन समीप आ गया। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने बहुत ही अनुभवके साथ लिखा है कि—

मिलत एक दारुण दुख देहीं।
बिछुरत एक प्राण हरि लेहीं॥

इस चौपाईका मुझे मेरे जीवनमें अनेक वार अनुभव हुआ है। पण्डित श्रीरघुवरदासजी जब मुझे अयोध्यामें अकेला छोड़कर मुजफ्फरपुर न्याय पढ़ने गये थे, तब मैं खूब रोया था। उससे भी

पूर्व जब कि मैं श्रीसम्प्रदायमें दीक्षित नहीं हुआ था और अयोध्या-से ही मैं भरतपुरके राजगुरु श्रीअधिकारी जगन्नाथदासजीके साथ हरद्वार गया था और लौटते समय जिस स्टेशनपर हम और वह अलग होने लगे तब मेरा हृदय फूट फूट कर रोने लगा था। पण्डित नत्थनलालजी शर्मा भी साथमें ही थे। बाँकीपुरवाले डाक्टर श्रीलक्ष्मीपतिजीका जब स्वर्गवास हुआ तब तो मैं सप्ताहों तक रोता रहा। ऐसा ही प्रसङ्ग मियांगाममें उपस्थित हुआ। वह एक सारी रात रोनेमें ही गयी। श्रीगुलबहिनका वियोग मेरे लिये बहुत दुःखद था। मैंने उनके ज्ञान, बुद्धि, स्वभाव आदिसे लाभ उठाया था। उन्हें छोड़नेमें मुझे दुःख था। उस दुःखको रोकर ही मैं हटा सकता था। भगवान् रामको भी रोना खूब आता था। वह हृदय खोलकर रो सकते थे। जगदम्बा श्रीजानकीके विरहमें वह रो रहे थे, झुर रहे थे, सूख रहे थे और दुःखी हो रहे थे। उत्तर-रामचरितमें तमसाने सत्य ही कहा था—

'प्रियाशोको जीवं कुसुममिव घर्मः क्लमयति।'

'तदद्याप्युच्छ्वासो भवति ननु लाभो हि रुदितम्।'

भवभूतिने यह भी सत्य ही कहा है--

'शोकक्षोभे हि हृदयं प्रलापैरेव धार्यते।'

गुजरातके कलापी कविने भी सत्य ही कहा है—

प्रभू रोवूं देजे दरद मम भोला जिगरने,
नकी रोवुं ए तो तुज हृदयनीं आशिष दिसे।
चिताराना चित्रे कवित कविना ने ध्वनि महीं,
प्रतीभानी ल्हेरो दरदमय मीठुं रुदन छे॥
महा कष्टो साथे रुदन पण आपे प्रभु तने।
अने हैयूं तारुं रुदन वतिए साफ करजे॥

श्रीगुलबहिनका पवित्र स्नेह कभी न भूल सके, ऐसी वस्तु है। मैंने उनके स्मरणके लिये एक श्लोकमें उनका गुप्त नाम लिख दिया था जिसे मेरे साथ होनेवाले एक साम्प्रदायिक युद्धमें पण्डित श्री-रामप्रियादासजीने समझ लिया और मेरी अप्रतिष्ठा करनेकी दृष्टिसे उसे किसी पत्रमें प्रकाशित भी कर दिया था। वह श्लोक आज मेरे सामने नहीं है। कभी कहीं इसी पुस्तकके किसी भागमें प्रकाशित कर दूँगा।

यह सम्बन्ध बहुत दिनोंतक चला। श्रीगुलबा सदा ही मेरी खबर रखा करती थीं। आबू पहाड़पर उनके पिताका मकान है। वहाँ ही वह छोटीसे बड़ी हुई थीं। प्रत्येक उष्ण ऋतुमें वहाँ वह आतीं और मेरे पास आये विना न रहतीं। महात्मा श्रीगाँधीजी-का सत्याग्रह युद्ध चल ही रहा था। सन् १९४० में वह मेरी गुफा-पर आयी थीं। मुसलमान् बन्धुओंका अत्याचार हिन्दुस्तानमें बढ़ रहा था। महाशय जिन्ना-इसलाम खतरेमें हैं—यह आवाज़ बुलन्द कर रहे थे। अंग्रेज उन्हें हिन्दू-मुसलमान्-विरोधी आन्दो-लनके लिये सहायता कर रहे थे। मैं श्रीमहात्मागाँधीजीका अनु-यायी था और हूँ, अतः मैं इन दोनों धार्मियोंमें विरोध न बढ़े, यही चाहता था। एक दिन श्रीगुलबाके सामने मेरे मुखसे निकल गया कि हिन्दुस्तान हिन्दुस्तानियोंका है, यहाँ अंग्रेजोंका क्या काम? इसपर श्रीगुलबाको बहुत दुःख हुआ। उन्होंने मुझे कहा कि 'आप भी ऐसा ही कहते हैं।' मैंने कहा, 'हाँ' ऐसा ही कहनेके लिये मेरा हृदय पुकार कर रहा है।' उसी समय वह वहाँसे घर चली गयीं। गुफापर कभी भी नहीं आयीं। मियांगाम जाकर उन्होंने मुझे एक अन्तिम पत्र लिखा कि 'मेरे और आपके सिद्धान्तमें अन्तर है अतः हम लोग अबसे अलग ही रहें तो अच्छा है। अबसे पत्रव्यवहार भी बन्द कर देना चाहिये।' मैंने

उसी समयसे उन्हें पत्र लिखना बन्द कर दिया। यह भी उनके वचनके पालनके लिये ही। मेरे हृदयमें उनके लिये आज १८ या १६ वर्षोंके बाद भी उतना ही प्रेम है और उतना ही मान है। मैं जानता भी नहीं हूँ कि वह लोग आजकल्ह कहाँ हैं, परन्तु हृदयमें उनका स्मरण बना हुआ है।

जब उनका और मेरा सम्बन्ध अच्छा था, उस समय मैं उनकी ही प्रेरणासे सन् में थियोसोफिकल सोसाइटीके वार्षिक अधिवेशनमें अड्यार गया था। उससे पूर्व मैं जब बड़ोदामें रहता था, बड़ोदा लॉजमें उस सोसाइटीका अशुल्क सभासद् था। वकील श्रीछोटालाल भाई पटेलका आग्रह था कि इस लॉजमें एक संन्यासी होना चाहिये। मैं सभासद् बना, इसका एक बहुत बड़ा लाभ यह हुआ कि मैं जब अड्यारमें उस उत्सवपर गया तो अड्यार संस्कृत लायब्रेरीका अध्ययन करनेके लिये वहाँ दो महीने रह सका। जो थियोसोफिकल सोसाइटीका सदस्य न हो वह वहाँ नहीं रह सकता था। वहाँ ही मैंने तामिल भाषाका अभ्यास किया था जो बहुत अल्प था और अब अत्यल्प हो गया है।

हिन्दूजाति पृथिवीपर वसनेवाली मनुष्यजातिसे विलक्षण है। इसके यहाँ तर्क, विचार, मनन आदिका कोई फल नहीं है। या यों कहा जाय कि इसके यहाँ तर्कके लिये, विवेकके लिये कोई अवसर ही नहीं है। जो कुछ इसने अपनेसे पूर्वजोंके मुखसे सुना है, उनको करते देखा है, वैसा ही अन्योंको सुनाना, वैसा ही स्वयं करना तथा अन्योंसे करवाना, अपना सनातन धर्म यह जाति मानती है। मनुने भी यही कहा है—

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः।
तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते ॥ ४।१७८ ॥

"पिता पितामह प्रभृति जिस मार्गसे गये हों उसी मार्गसे जाना चाहिये। उस मार्गसे जानेसे क्षति नहीं होती है।"

भगवान् कृष्णने भी गीतामें कहा है—

'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।'

"अपने धर्ममें मर जाना अच्छा है परन्तु परधर्मको भयङ्कर मानना चाहिये।" इन सब उपदेशोंका परिणाम यह हुआ कि हम विवेकशून्य बन गये। हमारे अनुभवका हमारे लिये कोई मूल्य नहीं रह गया। यदि हम अपने विवेकसे कोई तत्त्वका निर्णय करना चाहें तो वह शठता गिनी जाती है, वह नास्तिक्य माना जाता है और वह सबसे बड़ा सामाजिक अपराध गिना जाता है।

आर्यसमाजके संसर्गमें रहकर मैं थोड़ा सा यह सीख सका कि जो कुछ हमारे यहाँ लिखा हो, सभी विश्वसनीय नहीं है। इसी बातको मनुने भी किसी तरहसे कह दिया है कि—

यस्तर्केणानुसन्धन्ते स धर्मं वेद नेतरः

आर्यसमाजके संस्थापक स्वामी दयानन्दजी स्वयं विचारक तो थे, परन्तु उनका विचारमार्ग बहुत ही संकुचित था। वह क्रान्तिकारी तो थे परन्तु उनकी क्रान्ति लूली और लंगड़ी थी। वह बहुत दूरदर्शी नहीं थे। तथापि हिन्दुजातिमें वह उस समयके महान् संशोधक और महापुरुष थे। उन्होंने हिन्दूजातिकी निर्बलताका कारण तो ढूँढ़ लिया था परन्तु उसे दूर करनेके उपचार और औषधके ढूँढ़नेमें वह अधिकांशमें असफल रहे। मैंने उन्हींके मार्गसे विचार करना सीखा। वह सीखना मेरा प्रारम्भिक था। मैं उनसे आगे बढ़ा। मैंने विचार किया कि वेदोंके लिये जो हमारे हृदयमें यह भावना है कि वह ईश्वरीय है, वही ईश्वरीय है, **वेदप्रणिहितो धर्मोधर्मस्तद्विपर्ययः** जो कुछ वेदोंमें कर्तव्य बताया गया है, वही धर्म है, अन्य सब कुछ अधर्म है, इत्यादि विचार मानवीय उन्नतिके विघातक हैं। समदर्शिता और सर्वधर्मसम्मान बहुत आवश्यक और संग्राह्य तत्त्व हैं। मेरे जीवनमें यह आ सका, इसमें मुख्य कारण महात्मा श्रीगाँधीजी हैं। उनके जीवनका उनके व्यक्तित्वका मुझपर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है। मैं आर्यसमाजके सिद्धान्तोंको मानता हुआ भी श्रीवैष्णवसम्प्रदायमें दीक्षित होनेका विचार कर सका, यह मेरी निराग्रहवृत्तिका ही परिणाम है। मेरी दृष्टिमें कोई भी वस्तु नितान्त सत्य नहीं है। हम किसी वस्तुके एक ही अङ्ग, एक ही अवयवको जानते हैं और उसीको सत्य माननेके लिये लड़ते झगड़ते रहते हैं। ईश्वरके अस्तित्वका विवाद तो अभी चल ही रहा है। सहस्रों वर्षोंके पश्चात् भी इस विवादका अन्त न हो सका। और अत एव ईश्वरका सिंहासन भी अविचल नहीं रह सका। सांख्यों और मीमांसकोंने ईश्वर सत्ताको ऐसा

धक्का लगाया जो अब तक भी अपना काम कर रहा है। जब ईश्वर अस्तित्व ही अभी अविचल नहीं है तो उसके साकार-निराकारका विचार केवल मानसिक उपद्रव है। मैं इस उपद्रवमेंसे बच सका क्योंकि मुझे ईश्वरके अस्तित्वमें कोई विश्वास ही नहीं है। मैं पहले **हे परमपिता परमात्मा** इत्यादि कहा करता था परन्तु उसका मनके साथ कभी कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं हो सका था। एक समय मैं अमृतसरके निवासकालमें आर्यसमाज लाहोरके वार्षिक उत्सवमें गया था। वह उत्सव वहाँ लगभग सदा ही नवम्बर मासमें हुआ करता है। नवम्बर मासमें लाहोर बहुत ठण्डा हो जाता है। सर्दी अत्यधिक होती है। उन दिनों मैं ब्रह्मचारी था और आर्यसमाजका आदर्श मेरे सामने था अतः मैं न तो छाता लगाता था और न उपानह्—जूता पहिनता था। उस ठण्डीमें खुले पैरोंसे मैं आर्यसमाजके नगरकीर्तनमें घूमता रहता था। ओढ़नेको भी बहुत अच्छा नहीं मिलता था। एक बड़े रूममें हम पन्द्रह बीस आदमी सोये थे। सब सो गये थे। मेरे पैरमें विपादिका = बेवाई फट गयी थी, वह दुखती थी। सर्दी भी लग रही थी। मैं उठकर बैठ गया। अन्धेरा तो था ही। मैं परमपिता परमात्माका स्मरण करने लगा। ओम् ओम् करनेमें तो किसीका भी मन लगता नहीं। मेरा भी नहीं लगता था। निराकार ईश्वरकी उपासना और प्रार्थना सब एक तमाशा था, यद्यपि मुझे इसके अतिरिक्त कोई अन्य मार्ग उपासनाका ज्ञानपूर्वक नहीं प्राप्त हुआ था। राम और हनुमान् ये दोनों देव मेरे सामनेसे अदृश्य हो चुके थे। अतः परमपिताको सम्बोधन करके प्रार्थना सुनकर स्वामी सीतारामदासजी (जिनके विषयमें पीछे कह चुका हूं जग गये। उन्होंने कहा, कौन है ? ब्रह्मचारीजी ! मैंने धीरेसे हाँ कर दिया। और भी कितने ही जग गये थे। सबपर यह प्रभाव उस समय

अवश्य पड़ा था कि ब्रह्मचारीजी बहुत बड़े परमेश्वरभक्त और परमेश्वरोपासक हैं।

मैं भारपूर्वक नहीं कह सकता कि यह प्रार्थना मेरे हृदयके साथ सम्बद्ध थी अथवा मेरी जीभके साथ। परन्तु मैं कभी बहुत खिन्न होकर रो पड़ता था तब मेरे सामने या तो ईश्वर होता था, या तो स्वामी दयानन्द। स्वामी दयानन्दके लिये मेरे हृदयमें बहुत सम्मान है। यद्यपि वह तात्त्विक विचार नहीं कर सके हैं परन्तु वह दम्भी, पाषण्डी, स्वार्थी आदि नहीं ही थे। उन्हें जो सत्य प्रतीत हुआ था, उसीके वह वक्ता और प्रचारक थे। मैं सत्यका उपासक हूँ। दम्भ मुझे पहले भी प्रिय नहीं था, आज भी नहीं है। स्वामीजीको मैं इसलिये बहुत पूज्य दृष्टिसे देखता हूँ। उनके सदाचारशिक्षणको भी मैं अपना आदर्श मानता रहा हूँ। बीड़ी, सिग्रेट आदि नशेकी चीजोंके लिये घृणा तो आर्यसमाजने ही मेरे हृदयमें उत्पन्न की है। सत्यके लिये आग्रह तो मैंने आर्यसमाजसे ही सीखा था। परन्तु उसमें कितनी ही न्यूनताएँ थीं। उस समय साकारोपासनाको मैं असत्य मानता था और निराकारोपासनाको ही सत्य मानता था। मूर्तिपूजा, मृतकश्राद्धादि असत्य हैं, ऐसा मैं उस समय मानता था। वह एक प्रवाह था और उसमें मैं बह रहा था। आज मैं जागरित हूँ। मूर्तिपूजाको मैं आज एक आवश्यक तत्त्व मानता हूं परन्तु सामान्य मूर्तिपूजकोंसे मेरे विचारोंमें मूर्तिपूजाके सम्बन्धमें अन्तर है। मैं मूर्तिपूजाको हृदयकी श्रद्धाको विकसित करने तथा सर्व मिथ्याभिमानोंको गलित करनेका एक साधन मानता हूँ। मेरे विचारमें मूर्ति ईश्वरकी ही हो सकती है, ऐसा नहीं है। मैं किसी भी श्रेष्ठ पुरुष या श्रेष्ठ स्त्रीकी मूर्तिमें विश्वास रखता हूं। ईश्वरको तो मैं मानता ही नहीं हूं अतः ईश्वर मूर्तिकी बात भी दूर जाती है। परन्तु किसी श्रेष्ठ, पवित्र, ओजः-

पूर्ण व्यक्तिको ईश्वर मानकर उसकी मूर्ति बनाकर, उसकी पूजाके लिये मैं आज भी अनुमोदन करता हूँ। मृतकश्राद्धके लिये तो आज भी मेरे हृदयमें कोई सद्भाव नहीं आ सका है। मैं उसे एक अन्धपरम्परा मानता हूँ। उस श्राद्धका कोई महीता ही नहीं है। अतः यह सत्य है कि कोई वस्तु किसीके लिये सत्य है तो वही वस्तु किसीके लिये असत्य है। इसी विचारने मुझे वैष्णवधर्मके द्वारतक पहुँचा दिया और मैं अवश्य ही एक पवित्र वैष्णव बन सका। हिन्दुजाति और हिन्दूधर्मकी जो यह विलक्षणता है कि जिसे जैसा मानते आये हैं, वैसा ही मानते रहनेमें श्रेय है, वह मेरे हृदयसे चली गयी। मैं शोधक हूं। सत्यकी शोध करनेके लिये मैं श्रीवैष्णवसम्प्रदायके द्वारमें प्रवेश कर सका था।

एक समय मेरा चित्त बहुत उद्विग्न था। श्रीरामानन्दसम्प्रदायमें आकर मैं कभी भी सुखकी नींदसे सो नहीं सका हूं। इस सम्प्रदायके अनेक भ्रमोंका निरास करना मैंने अपने जीवनका ध्येय बना रखा है। जनसमाजकी सेवा तो करनी ही है। यदि मैं अन्यकी सेवा न करूँ तो मुझे किसीसे सेवा करानेका कोई अधिकार नहीं है। वेदने कहा है कि—

देहि मे ददामिते।
निधेहि मे नि ते दधे॥

देनेके बदलेमें देना और लेनेके बदलेमें किसीको लेनेके लिये बाध्य करना यह सनातन नियम है। मैं सारे जगत्की या सारे भारतवर्षकी तो साक्षात् सेवा कर ही नहीं सकता। अतः अगत्या किसी अमुक समाज या वर्गकी ही सेवा करना अनिवार्य हो जाता है। मेरी इच्छासे ही मैं इस सम्प्रदायमें आया। यहाँ दीक्षित हुआ। परमप्रतापशाली विद्वान् तथा इस सम्प्रदायकी एक शाखाके महान् स्वतन्त्र आचार्यका शिष्य बना। प्रतिष्ठित स्थान और प्रतिष्ठित गुरु मिले। इसे छोड़कर अन्यत्र कहाँ जाऊँ? यहाँ ही सेवाका स्थान ढूँढ़ लिया। किसी भी समाजमें जातिमें वर्गमें सम्प्रदायमें अविवेकी और जड़ लोगोंकी कमी नहीं हुआ करती। इस सम्प्रदायको इस नियमसे पृथक् नहीं माना जा सकता। यहाँ भी कुछ नहीं, प्रत्युत अधिक लोग मुझे आरम्भमें ऐसे मिले जिन्हें मेरी भावपूर्ण और निःस्वार्थ सेवा असह्य हो गयी। मनुष्यका एक स्वभाव यह भी है कि वह जितना जानता है उतनेसे ही सन्तुष्ट

रहता है। इतना ही नहीं, वह यह भी समझता है कि जितना मैं जानता हूँ, उतना ही जगत्‌में ज्ञान है, उससे अधिक ज्ञान कहीं है ही नहीं। इस ढङ्गके आदमी बड़े ही बेढङ्गे होते हैं। उनके ज्ञानमें न हो ऐसी ज्ञानकी बातें भी उनकी दृष्टिमें अज्ञान और अधर्म है। मेरे जीवनमें नवीनताका उत्पादन करना, यह विधि लेख है। मैं नया ही सोचता हूँ, नया ही लिखता हूँ, नया ही करता हूँ। मेरे बन्धुओंको यह सब नास्तिकताका खड्डा मालूम होता है। अतः मुझे गालियाँ देनेवालोंकी, मेरी निन्दा करनेवालोंकी, मुझे नास्तिक, मूर्ख, शूद्र, मुसलमान्, ईसाई आदि कहनेवालोंकी, संख्या असंख्य थी। अब बहुत कम हो गयी है। अब लोगोंको मुझे और मेरे वचन, कथन, उपदेशकी सहन करनेकी टेव पड़ गयी है। अब तो लोग मुझे **अपररामानन्द** कहने लग गये हैं। परन्तु मैं इससे फूलता नहीं हूँ। मैं जिस समयकी बात कह रहा हूँ वह मेरे त्यागिजीवनके मध्यकालकी बात है। किसी कारणसे कुछ उद्विग्नता मुझमें आ गयी थी। एकान्तवासकी आदत आबूकी चम्पा गुफासे पड़ गयी थी। एकान्तवासके लाभका भी मुझे अनुभव हो चुका था। मैंने नर्मदानदीके एक एकान्त तटको ढूँढ़ लिया। वहाँकी शोभा अपूर्व थी। मन लुब्ध था। वह स्थल अधिक रमणीय प्रतीत होने लगा। मैंने वहाँ रहकर, जगदम्बा जानकीके साक्षात्कारके लिये तप करने लगा। किसी भी तपकी सिद्धि एक क्षणमें भी हो सकती है और सम्पूर्ण जीवनमें भी नहीं हो सकती है। तपःसिद्धिका आधार काल नहीं है किन्तु उत्कण्ठा है। जिसके हृदयमें तपःसिद्धिकी जितनी अधिक सात्त्विक उत्कण्ठा होगी, मानसिक पवित्रता होगी, निस्स्वार्थ भावसे मन जितना अधिक भरा हुआ होगा, उतनी ही शीघ्रतासे वह सिद्धि प्राप्त हो जाती है। **बहूनां जन्मनामन्ते** यह कथन अधम कोटिके उपासकोंके लिये

है। ध्रुवको वर्षोंतक उपासना नहीं करनी पड़ी थी। मुझे छह दिवसोंमें ही सिद्धि प्राप्त हुई। जगदम्बाका दर्शन हुआ। मैं कृतकृत्य बना। मेरे सब दुःख उस समय शान्त हुए। नये दुःख उत्पन्न न हों, इसके लिये वह तपस्या नहीं थी। उस तपका, उस साक्षात्कारका वर्णन मैंने **दिव्यदर्शनम्**की प्रस्तावनामें **मधुरस्मृति** शीर्षकसे लिखा था। वह प्रस्तावना अब अप्राप्य होती जा रही है। उस समय जो स्रोत मुझे जगदम्बाके दर्शनमें सहायक था वह तो **दिव्यदर्शनम्** नामसे पृथक् छपा है और वह मिलता भी है। परन्तु **मधुरस्मृति** अप्राप्य है। मैं यहाँ उसे ज्योंका त्यों—अविकल उद्धृत करता हूँ।

"बीसवीं शताब्दीके मस्तिष्क श्रद्धा और विश्वासके महाप्रलयके समय नवशिक्षित लोग जप, तप, भजन, पूजन आदिके फलपर विश्वास करें या न करें परन्तु मैं आज एक स्वानुभूत सत्य घटना आपके समक्ष रखे बिना रह नहीं सकता।

चिरकालसे मेरी इच्छा थी कि मैं श्रीराममन्त्रका एक लक्ष जप करूँ। इसके लिये अनेक प्रयत्न मैंने किये परन्तु प्रभुकी इच्छासे मैं बहुत समय तक सफल मनोरथ न हो सका।

मैं अनादिशक्ति सर्वशक्तिसम्पन्न परमकृपालु जगदम्बाको प्रभुकी प्राप्तिका द्वार मानता हूँ। मैंने निश्चय किया कि इस अनन्तशक्तिमयी माताको अवश्य प्रसन्न करके आशीर्वाद ग्रहण करना चाहिये।

यद्यपि इस शक्तिको सब लोग जगदम्बा कहते हैं परन्तु मेरा जगत्के साथ क्या सम्बन्ध है? वह चाहे जगत्की अम्बा हों या न हों परन्तु मेरी तो अम्बा अवश्य ही हैं। मैंने उन्हें अम्बा न कहकर केवल 'बा' शब्दसे ही सम्बोधन किया है। अतः 'बा'

शब्दसे मेरा तात्पर्य उसी मधुरमूर्ति, मधुरहृदय, मधुरस्वभाव शक्तिसे समझना चाहिये।

गुजरातके एक परमपवित्र ※ स्थलमें मैं जाकर बैठा। अन्न और फलका त्याग कर दिया। केवल जलके आधारपर तब तक जीवन निभानेका संकल्प किया जब तक 'बा' का मधुर और दिव्य-दर्शन न हो। मेरे हृदयमें इस बातके लिये दृढ विचार हो गया कि जब तक 'बा' अपनी गोदमें मुझे बिठाकर भोजन न करावें, तब तक अन्न जलका ग्रहण नहीं करना। और यदि स्थिति ऐसी उत्पन्न हो कि जिसमें शरीरको भी 'बा' के चरणोंमें अर्पित कर देना पड़े तो सुखके साथ उसका अन्त कर देना।

इस स्थितिमें तीन दिन व्यतीत हुए। 'बा'के दर्शनका कोई भी चिह्न दीख नहीं पड़ा। ज्यों ज्यों दिन बीतते गये, मेरा हृदय कठोर होता गया और प्रतिज्ञामें दृढता आती गयी। आंखोंसे अनवरत अश्रुधारा चलती रही। मुझे तो ऐसा मालूम होता था कि मेरा हृदय पिघलपिघलकर पानी बनकर आंखोंके मार्गसे बह रहा है। रोते रोते चौथा दिन भी बीत गया। रात्रि आयी। नर्मदाका पवित्र तट। तटके ऊपर ही एक वृक्ष। उस वृक्षके नीचे 'बा' के कमल-चरणोंके दर्शनोंका अभिलाषी यह भाग्यहीन, आंखोंकी धारासे पृथ्वीको आर्द्र कर रहा था। नर्मदाका कलकल निनाद कदाचित् मेरी जड़तापर उपहास करता हुआ उदित और अस्त हो रहा था। नर्मदाका वेग कदाचित् मेरी आतुरताके वेगसे होड़ लगा रहा था।

※ इस स्थानका नाम मैंने इस लेखमें नहीं लिखा था। अब भी नहीं लिखना चाहता हूँ। कभी कोई वहां जाकर मेरे स्मारक बनानेका उपक्रम न करे, यह भय उस समय भी था और आज भी है। सिद्धस्थानोंको प्रकाशमें ले आनेपर उनके दूषित होनेका भय रहता है। —भगवदाचार्य

नीरव जङ्गल । अमुक अमुक प्रकारके पक्षियोंके अतिरिक्त संसारकी सृष्टिका कोई भी वस्तु मेरा साथी नहीं । सूर्य और चन्द्र ये ही दो देव दिन और रात्रिके क्रमसे मेरी रक्षा कर रहे थे । यह चौथी रात्रि भी व्यतीत हो गयी ।

पांचवा दिन मुझे कैसा प्रतीत होता होगा उसका अनुभव तो उन सहृदय महानुभावोंको ही हो सकेगा जो इस आतुरताकी नदीमें, प्रतीक्षा-प्रवाहमें कभी कभी अपनेको अर्पित कर चुके होंगे। चार दिनों तक मैंने जलपर ही शरीरको टिका रखा था, आज उसे भी छोड़ दिया । हृदयसे शब्द निकला, यदि 'बा' का दर्शन नहीं होगा, यदि 'बा' स्वयम् आकर अपना चरणामृत देकर मुझे सन्तुष्ट न करेंगी तो यह शरीर रखना व्यर्थ है । मुझे पुनः पुनः श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीकी यह चौपाई याद आया करती थी—

यहि शरीर सन अब फल काहा ।
जेहि न प्रेमपण मोर निबाहा ॥

यह पञ्चम दिवस भी व्यतीत हो गया । अन्न और जलके बिना शरीर शिथिल हो गया परन्तु आत्मामें एक अनुपम स्फूर्तिका अनुभव हुआ । उसने इस दुःखको सहन करनेकी मुझे क्षमता-प्रदान किया । रोते, सोते, जागते, मूर्छित होते, "बा" "बा" की पुकारके शब्दोंको बीचमें रात्रि व्यतीत हो गयी ।

चिन्ता बढ़ती गयी । हृदयसे आहें निकलने लगीं । शरीरमें ज्वाला सी धधकने लगी । बा, क्या आप इतनी कठोर हैं ? बा, क्या आपको इस अभागे बालकपर तनिक भी दया नहीं आती है ? बा, क्या आप मेरी परीक्षा कर रही हैं ? पुत्रकी परीक्षा कैसी ? बा, क्या यह निष्ठुरता आपके लिये उचित है ? बा, क्या आप इसी रीतिसे मेरे इस शरीरका अन्त चाहती हैं ? ऐसी ऐसी अनन्त भावनाएँ हृदयमें उत्पन्न होने लगीं । प्रेमके,

भक्तिके, मातृ-चरणोंकी श्रद्धाके थोड़ेसे श्लोक मैंने वहां भूमिपृष्ठपर ही लिख रखे थे। उनको ही पढ़ पढ़कर सन्तोष करता रहा। श्लोकके शब्द ही हृदयके रक्षक थे। एक ओर 'बा' की उदासीनता और दूसरी ओर अबोध बालकका हठ—दोनों ही अपनी अपनी स्थितिमें अटल बैठे हैं।

आज छठाँ दिवस है। पेटमें दो दिवससे पानीका भी एक बिन्दु नहीं गया है। परन्तु न जाने कहाँसे आखें जलधारा बहा रही हैं। व्याकुलतामें दिन बीत गया। पुनः रात्रिका शान्त साम्राज्य पृथिवीतलपर विस्तृत हो गया। 'बा' की दयाका चिन्तन करते करते हृदय पुष्पित हो उठता था। कण्ठ गद्गद हो जाता था। मैं आपेसे बाहर हो जाता था। मैंने रोते रोते निर्बल स्वरसे कहा—

मातः कदा तव लसच्चरणारविन्दे,
संवीक्ष्य तप्तनयने अयने सुखस्य।
सम्पादयामि नु कदा लुलितं मनो मे,
हर्षास्पदं विगतदुःखपरम्परं च॥

मेरी आंखें बन्द थीं। मैंने आंखें खोलीं। मैंने दयाकी मूर्ति, उदारताकी पराकाष्ठा, मधुरताका अविनश्वर स्रोत, सहिष्णुताकी अधिष्ठात्री देवी, पवित्रताका स्वरूप, सुन्दरताकी सीमा, प्रकाशका पुञ्ज, मृदुताका मधुरालाप, प्रसन्नताका कुञ्ज, सहृदयताका अद्वितीय निकेतन, नयनोंकी तृप्ति, हृदयका संतोष और वाणीका चरम विषय एक महिलाको अपनी ओर मन्दमन्दगतिसे आती हुई देखा। हृदय कांप उठा। शरीर रोमाञ्चित हो गया। वाणी लड़खड़ाने लगी। कण्ठ गद्गद हो गया। 'बा' की स्मृतिने 'बा' 'बा' की पुकारने मुझे मूर्छित कर दिया। मैं निश्चेतन हुआ।

उस समय, जब कि मैं शनैः शनैः चेतनावस्थामें आ रहा था, मुझे अनुभव होता था कि मैं 'बा' की पवित्र गोदमें हूँ। मेरे मस्तकपर दयालु 'बा' का कोमल हाथ फिर रहा है। कभी मेरे धड़कते हृदयपर कभी आखोंपर, कभी मस्तकपर, अननुभूतपूर्व 'बा' के करस्पर्शका अनुभव मैंने किया। अभी तक मेरी मूर्छावस्थाकी आखें बन्द ही हैं। अवस्था भी अभी अर्धचेतनकी ही थी। कदाचित् मैंने पूछा—

'कासि मातः ?'
माताजी आप कौन हैं ?
कदाचित् मुझे उत्तर मिला—
'तवाम्बास्मि'
मैं तेरी बा हूँ।
इसके पश्चात् थोड़ेसे प्रश्नोत्तरका भान मुझे इस प्रकार है—
'यामन्तश्चिन्तये सदा ?'
जिनका मैं हृदयमें सदा ध्यान करता हूँ ?
'सैव वत्स'
हां मैं वही हूँ प्रियपुत्र !
'कृपा जाता'
दया आयी ?
'मोपलब्धाः'
उपालम्भ मत दे।
कुतः ?
क्यों ?
'अस्मि बा' *

---

* कासि मातस्तवाम्बास्मि यामन्तश्चिन्तये सदा।
सैव वत्स कृपा जाता मोपलब्धाः कुतोस्मि बा ॥

मैं तेरी माँ हूँ न ?

वीणाको तिरस्कृत करनेवाली और कोकिलाको लजानेवाली इस वाणीको पुनः मेरे कानोंने न सुना। केवल इतना ही मैं जान सका कि 'बा' ने अपना चरणामृत मेरे मुखमें डाल दिया है और उसके पश्चात् परम स्वादिष्ठ भोजन 'बा' ने अपने हाथोंसे मुझे कराया है। इन सबके पश्चात् मुझे ज्ञान हुआ कि 'बा' अपनी तर्जनी अंगुलि मेरे मुखमें डालकर उसका पान करा रही हैं। तदनन्तर क्या हुआ, मैं कुछ भी नहीं ज्ञान सका। मैं गाढ़ निद्रामें सो गया। प्रातःकालके चार बज गये। मेरी निद्रा न गयी। मयूरने शब्द किया। मेरी निद्राका अन्त आया। आखें मसलीं। हाथ मुँह शुद्ध किया। विचार करने लगा कि यह क्या था? क्या मैंने सचमुच 'बा' के दर्शन किये हैं? या यह केवल स्वप्न था? मधुरमधुर हस्तस्पर्श, जिसका कि मैं अभी स्मरण कर रहा हूं, वह वस्तुतः बा के हाथका स्पर्श था अथवा केवल मेरी मनोवृत्तियोंका बाह्य स्वरूप था? मैंने तो इन सबको सत्य ही समझा। उसका कारण था। आज मुझे न तो क्षुधा है और न पिपासा। न वह निर्बलता है और न वह श्रान्ति। न वह व्याकुलता है और न आतुरता।

इतना होने पर भी मेरे निर्बल हृदयने कहा, जब तक इसका पूर्ण निश्चय न हो तब तक अन्न, जल नहीं ही ग्रहण करना। मैं पुनः निराहार और निर्जल, उसी आसनसे बैठ गया। पुनः 'बा'-के ध्यानमें निमग्न हुआ। पुनः 'बा' इस शब्दकी अनवरत अक्षुण्ण धारा प्रवाहित होने लगी। समस्त दिन बीत गया। हृदयको आतुरता थी कि रात्रि कब आवेगी। क्योंकि कदाचित् रात्रिमें ही 'बा' पुनः पधारें। मेरे हृदयकी ज्वालासे जले हुएके समान उत्तप्त भगवान् भास्कर पश्चिमीय महासागरमें संध्या-

कालिक स्नान करनेके लिये प्रस्थित हो गये। चन्द्रदेव हँसने लगे। कदाचित् मेरे सौभाग्यपर पुष्पवृष्टि करनेके लिये अपने चारों ओर निर्मल पुष्प मैंने सञ्चित कर रखे थे। संसार शान्त और नीरव हुआ। मेरे व्याकुल हृदयने आहें निकालनी प्रारब्ध कीं। वे आहके शब्द श्लोकके रूपमें परिणत हुए। उन्हें ही मैंने इस छोटेसे पुस्तकमें ※ सुरक्षित रख दिये हैं। मैं—

जानासि मातर्यदि पातकानि क्षुद्रे मदीये हृदि संस्थितानि।
तथापि मा मां त्यज दीनसूनुं पवित्रयागत्य पदाम्बुजेन॥

यह श्लोक बोल रहा था इतनेमें ही मुझे गत रात्रिके समान ही पुनः अनुभव होने लगा। मैं चेतनामें न रह सका। पुनः मूर्छित हुआ। मूर्छावस्थामें ही कदाचित् मैंने कहा—'बा', अपने चरण-कमलकी पूजाकर लेने दें।' 'बा', मेरे पास न है चन्दन, न कस्तूरी और नहीं है कपूर। 'बा' तो भी मुझे पूजा कर लेने दें। 'बा', मुझे अपने हाथोंसे आपके चरणकमलोंको धोकर चरणामृत ले लेने दें। बा, एकबार इस अभागे मस्तकको आपके चरणोंमें झुका देने दें। इतना कहकर मुझे मालूम हुआ कि मैं रो रहा हूँ, 'बा' अपने अञ्चलसे मेरा मुख पोंछ रही है, मुझे अनुभव हुआ कि 'बा' मेरे सामने एक सुन्दर आसनपर बैठी हुई हैं, मैं भी सामने बैठा हूं, चरणको एक पात्रमें रखकर मैं धो रहा हूं, चन्दन केसर और कपूरसे 'बा'के पवित्र चरणोंकी—उन चरणोंकी जिनके लिये अपरिमित कालसे हृदय तरस रहा था—मैं पूजा कर रहा हूँ। मेरी सब इच्छाएँ पूर्ण हो गयीं। बा अन्तर्हित हुईं। परन्तु धीमे

※ उस पुस्तकका नाम 'दिव्यदर्शनम्' था। अब वह पुस्तक 'स्तोत्र-मुक्ताकलापमें संगृहीत है।

धीमे 'बा'के कुछ शब्द मेरे कानोंमें आये। कदाचित् वह यह थे 'हवेहुँ तने नहीं मलीश'।*

मैं पुनः गाढ़ निद्रामें गया। प्रातःकाल उठते ही देखता हूँ कि मेरे वस्त्रोंपर किसीके चरणचिह्न अङ्कित हैं। निश्चय हुआ कि कलकी रात्रिमें भी स्वप्न नहीं था। आजकी रात्रिमें भी स्वप्न नहीं था। वस्तुतः मेरी भावनाके अनुकूल मुझे मेरी 'बा'ने दर्शन देकर मुझे कृतार्थ बनाया है।

सप्ताह पूर्ण हुआ। आज मैंने भोजन किया है। शरीर स्वस्थ है। आनन्दका साम्राज्य है। वह चिन्ता आज नहीं है। वह व्यथा आज दूर हो गयी। वह शोक आज चला गया। वह व्याकुलता आज अदृश्य है। परन्तु 'हवे हुँ तने नहीं मलीश' यह वाक्य हृदयको बींध रहा है। दर्शनकी तृष्णा तो आज भी बनी हुई है। आँखोंसे अश्रुधारा तो आज भी प्रवाहित है। जीवन भार सा प्रतीत हो रहा है। उस मधुर-सम्मेलनका स्मरण मुझे कभी रुलाता है, कभी आनन्दित करता है। वह मधुर शब्द आज भी मेरे कानोंमें प्रतिध्वनित हो रहे हैं। वह प्रेममय मृदु-कर-स्पर्श आज भी मुझे अनुभूत हो रहा है। परन्तु आज मेरे जीवनका लाभ 'बा'के वियोगमें विलाप करना है न कि पुनः दर्शनकी आशा। आज मेरे भाग्यमें अमिट रेखाएँ लिखी गयी हैं कि 'तू जन्मभर रो और तरस।' आज मेरे जीवनका माधुर्य अस्त हो गया। सुखमय दिवस दुःखमें परिणत हो गये। क्षणभरके लिये शीतल हृदय पुनः सर्वदाके लिये

---

* चिरकालसे गुजरातमें ही रहनेके कारण मेरी भावनाओंका द्वार गुजराती भाषा ही हो गयी है। मैं सब विचार इसी भाषामें करता था अतः उत्तर भी इसी भाषामें मिलते हुए प्रतीत होते थे। अतः 'बा'के यह अन्तिम शब्द मैंने यहाँ गुजराती भाषामें ही अङ्कित किये हैं।

प्रतप्त हो गया। मेरे सुखकी अधिष्ठात्री और मेरी कविताका आधार मेरे दुःखकी स्वामिनी और दुःखमयी कविताका आधार बन गयी है। जो हो, मैं तो 'बा'का हूँ और बा मेरी हैं। वह अदृश्य शक्ति आज भी मुझे धैर्य देती दिखायी दे रही है। अस्तु।

त्रिवेदोपाह्व ब्रह्मचारी-भगवदाचार्य"

———

वि० सम्वत् २००४ में मैं सामवेदके सामसंस्कारभाष्यको छपानेके लिये काशी गया था। वहाँ पञ्चगङ्गाघाटपर श्रीमठमें ठहरा था। सद्गत परमहंस श्रीरामगोपालदासजी मेरे साथ थे। वह साकेतवासी महान्त श्रीरामलक्ष्मणदासजीके यहाँ ठहरे हुए थे। भाष्य छप गया। कदाचित् श्रीरामानन्ददिग्विजयकी द्वितीयावृत्ति भी छपानी थी, वह भी छप गयी। काशीके श्रीरामानन्दीय छात्रों-ने द्वारकाधीश, शङ्कुधारामें मुझे एक अभिनन्दन पत्र देनेकी योजना की। शरत्पूर्णिमाके दिन उस मन्दिरमें छात्रोंकी जिनमें कुछ स्थानीय महान्त महानुभाव भी थे, मुझे अभिनन्दनपत्र देनेकी सभा हुई। अभिनन्दन हिन्दीपद्यमें था। ६ पद्य थे। उनमेंसे पाचवाँ पद्य इस प्रकार था—

माना कि प्रकाश प्रगटाया सभी देशोंमें,
तिमिर तिरोहित पड़े बालक तिहारे हैं।
काशी सी नगरीमें न वास रहनेका कहीं,
शिक्षाके हेतु कहीं अब लौं ना सहारे हैं॥
रोया चहुँ ओर वहीं धारा अश्रुओंकी पर,
अब लौं ना मिल्यो किसी सिन्धुको किनारे हैं।
आशा बाँधि-बाँधि आये चञ्चरीक स्वामी पास,
यों तो सब भाँति फूटे भाग्य ही हमारे हैं॥

इस पद्यने मुझे हिला दिया। महान्त श्रीअवधविहारीदासजीने कहा कि विद्यालयके लिये मैं यह द्वारकाधीशमन्दिर स्वामीजीको देता हूं। एक बङ्गाली साधुने कहा कि मैं २५ सहस्र रूपये देता हूं।

एक मणिलाल शाहने कहा कि मैं अमुक हजारकी ईटें, चूने आदि-की सहायता करूँगा। सभा समाप्त हुई। मैंने कोई भी प्रतिज्ञा वहाँ नहीं की। विचार करूँगा, कहकर अहमदाबादके लिये चल पड़ा। मुझे स्मरण है कि मैं जब रानी स्टेशनसे चला तब मेरे हृदयमें यह भाव उत्पन्न हुआ कि पाठशालाके लिये भवन बनाना ही नहीं है क्योंकि मन्दिर मिल गया है। २५ सहस्र रुपयोंका वादा हो ही चुका है। अतः यदि मैं अभी २५ सहस्र और उसमें जोड़ दूँ तो आधा लाख रूपये हो जायँगे। उद्‌घाटनका कार्य तो हो जायगा। आगे मैं रूपये बढ़ा लूँगा। मेरी इच्छा थी कि तीन लाख रूपये विद्यालयके स्थायी कोषमें जमाकर दूं। सम्वत् में श्रीरामानन्दविद्यालयकी स्थापना हुई। मैं तीन दिनोंतक उपवासमें बैठ गया। विद्यालयके उद्‌घाटनके पश्चात् ही मैंने भोजन किया किया। विद्यालयके नामसे उस मन्दिरकी, मन्दिरकी सम्पत्तिकी भी रजिष्ट्री मैंने पहलेसे ही एक समितिके नामसे करा ली थी। विद्यालयका उद्‌घाटन हुआ। काशीके लगभग ६२ संस्कृतके धुरन्धर विद्वान् उस समय आमन्त्रित थे। विद्यालय चलने लगा। सरकारी परीक्षाके बन्धनोंसे मैंने इस विद्यालयको पृथक् रखा था। अध्यापक बहुत सुयोग्य हमें मिल गये थे। मैं प्रतिसप्ताह अहमदा-बादसे पढ़ानेका क्रम लिख भेजता था, वह पण्डितजी उसी क्रमसे पढ़ाते थे। तीन मासमें तो विद्यार्थी बहुत योग्य बन गये। संस्कृत लिखने बोलने लग गये थे। काशीके किन्हीं एक विद्वान्ने उनकी परीक्षा ली थी और वह आश्चर्यमुग्ध बन गये थे।

ईश्वरकी इच्छा हुई। एक अनिवार्य कारणसे मुझे वह विद्या-लय एक वर्षके बाद ही बन्द करना पड़ा। मैंने काशीसे आकर अयोध्यामें बड़ा स्थानमें एक सभा बुलायी थी। विद्यालयकमेटीके सदस्य भी उपस्थित थे। मैंने कहा था कि इस समय विद्यालयके

पास अमुक रूपये हैं, मैं आप लोगोंको सौंप देता हूं। विद्यालयकी व्यवस्था आप लोगोंमेंसे कोई करें। धनकी व्यवस्था मैं करूँगा। कोई तैयार न हुए। विद्यालय मेरी ओरसे समाप्त कर दिया गया। धनराशि मेरे ही पास थी। कुछ सहस्त्र रुपये एक वर्षमें खर्च हुए थे। कुछ रुपये अहमदाबादमें ही एक सेठके यहाँ मेरे और श्री-महान्त अयोध्यादासजी शास्त्री कलोलियावाडीके नामसे जमा थे। मैंने एक कमेटी बुलायी। मैंने श्रीमहान्तअयोध्यादासजी और महान्त श्रीरामरत्नदासजीको यह भार सौंप दिया कि आप लोग हिसावकी जाँच कर लें। यह निर्णय भी करें कि जितने जिनके रुपये लिये गये हैं उनको उतने ही रूपये वापस कर दूँ या जितना व्यय हो चुका है उतना कम दिया जाय। उन लोगोंने निर्णय किया कि एक वर्षका खर्च—एक चतुर्थांश काटकर अवशिष्ट लौटा दिया जाय। मैंने इसी हिसाबसे सबके रूपये लौटा दिये। विजय-नगरके सद्गत महान्त श्रीलक्ष्मीदासजीने अपने रूपये नहीं लिये। उन रूपयोंमेंसे मैंने उन्हींके नामसे पुरुषसूक्त भाष्य छपा दिया और शेष रूपयोंको छात्रवृत्तिमें व्यय कर दिया। पण्डित वेङ्कटे-श्वरदासजीको भी एक वर्ष या कुछ अधिक दिनोंतक उसीमेंसे छात्रवृत्ति देता रहा हूँ।

रामानन्द विद्यालय अभी भी चल रहा है। मेरी ओरसे वह समाप्त कर दिया गया था परन्तु एक दूसरी कमेटीने उस नामको जीवित रखा और आज ९ वर्ष हो गये, अपने नियमानुसार वह विद्यालयको चला रही है। स्वामी श्रीमाधवाचार्यजी व्याकरण, न्याय-वेदान्ताचार्य उस नये विद्यालयके प्रारम्भसे ही व्यवस्थापक बनाये गये थे। उन्हींके श्रमसे वर्षोंतक विद्यालय चलता रहा। अब श्री० ब्रह्मचारी वासुदेवाचार्यजी उसके व्यवस्थापक हैं।

मैं जब हिमालय यात्रामें दो वर्ष पूर्व गया था, तब पण्डित

श्रीराघवदासजी रामायणीके आग्रहसे वृन्दावन भी किसी साम्प्रदायिक कार्यसे गया था। वहाँ श्रीमान् हिज् होलीनेस स्वामी श्रीसंकर्षणाचार्यजी महाराजके भी दर्शन हुए थे। आप श्रीरामानन्द-सम्प्रदायके सबसे बड़े धनाढ्य महान्त हैं। मैंने उनसे प्रार्थना की थी कि रामानन्दविद्यालय काशीकी ओर भी कृपादृष्टि रखेंगे। उन्होंने कुछ महीने बाद ही काशीस्थ अपने एक मकानको विद्यालयको दे देनेकी मेरे पास सूचना दी और यह सूचना मैंने विद्यालयके कार्यकर्ताओंको भेज दी। दो वर्ष पूर्व मेरी हीरक जयन्ती मनायी गयी। ७५ वर्ष पूरे हुए थे। उसके उपलक्ष्यमें उपर्युक्त विद्वान् स्वामीजी महाराजने एक दूसरा मकान भी, जो काशीमें ही है मुझे सौंपा। मैंने उसे श्रीरामानन्द गादीके लिये पसन्द किया। श्रीमान् महान्त भगवानदासजी खाकी उस विद्यालयके प्रधानमन्त्री हैं। कायदा-कानूनसे अभिज्ञ हैं। उन्हें मैंने सूचना दी कि उन दोनों मकानोंकी विद्यालयके नाम रजिष्ट्री करा ली जाय परन्तु यदि रामानन्दगादीकी स्थापना हो तो उन दो मकानोंमेंसे अमुक नम्बरका बड़ा मकान विद्यालयकमेटी खाली करके गादीको सौंप दे। श्रीमान् H. H. स्वामी संकर्षणदासजी महाराजसे भी मैंने यही प्रार्थना की। और इसी रीतिसे उसकी रजिष्ट्री हो चुकी है।

संस्थाके संचालकोंको यदि किसी भी दानका उपयोग करने आवेगा, तो पात्रके लिये दानकी कभी भी कमी नहीं रहती है, नहीं रह सकती है, इसे ध्यानमें रखा जाय।

(५)

जब बात बिगड़ जाती है तब वह बिगड़ती ही रहती है। कभी सुधार भी हो जाता है परन्तु वास्तविक नहीं—क्षणिक। सौराष्ट्रके कलापी कविने बहुत ही सत्य लिखा है—

जगमां कदी माफी मले न सखे।
मली माफी भले सहु लोक कहे॥
दिल दाग पड्यो 'न पड्यो' न बने।
पछी माफ करे जग क्यां थी सखे॥
विसरी न जवाय बनेल विना।
पछी माफ थयुं क्यम थाय सखे॥
तुटी दोर गयो पछी एक थयो।
कहीं अेम बनेल सखे कदि छे?
पडी गांठ भले पड़ीं साँध भले।
पण दोर तुटेल तुटेल रहे॥
"बनशे नहि ते बनशे न सखे"

रस्सीके टूट जानेपर दो टुकड़े हो जानेपर यदि उसे एक बनानेका प्रयास होगा तो बीचमें वह जोड़ वह गाँठ तो रहेगी ही। घटनाओंका स्मरण अनिवार्य है। जगत्‌में माफी जैसी कोई चीज़ नहीं है। वह केवल उदारता है, समयकी मांग है, स्थिति और परिस्थितिका जवाब है। माफी नहीं है। जब तक दिलमें घटनाका स्मरण है, माफी निरर्थक है। मेरे और श्रीरघुवराचार्यजीमें गाँठ पड़ गयी थी। उस गाँठको दृढ बनानेवाले उनके पक्षमें बहुत लोग—साधु थे। मेरे पक्षमें लिखनेवाला मैं एक था। उनके पक्षमें लेखक

बहुत थे। सभी कुछ न कुछ लिखते और विरोधके लिये श्री-रघुवराचार्यजीको प्रोत्साहन देते। **'मर्ज़ बढ़ता ही गया, ज्यों ज्यों दवा की।'** अन्तमें अयोध्यामें एक विराट् सभाकी मैंने योजना की। श्रीरामानन्दीय श्रीवैष्णवधर्ममहामण्डल अयोध्याका उस समय मैं प्रधानमन्त्री था। राजगोपाल (अयोध्या) के महान्त श्रीरामदासजी उसके सभापति थे। ता० ८-२-१९३६ को श्रीराजगोपालमन्दिरमें एक सभा हुई। प्रायः सभी प्रतिष्ठित महान्त सन्त वहाँ उपस्थित थे। उस सभामें यह निर्णय किया गया कि सम्प्रदायमें आज विद्वानोंके दो पक्ष हो गये हैं और दोनोंमें तीव्र मतभेद है। उसे दूर करनेके लिये ता० ११ अप्रैल १९३६ ई० को अयोध्यामें एक सभा बुलायी जावे। सभा बुलायी गयी। झीथड़ा, खोड़ (मारवाड़) धोलका, सहारनपुर, वृन्दावन, आबूरोड, झङ्ग मघियाना (पंजाब), भागलपुर, पांतेपुर, रायपुर, पालीगंज, कुम्भेलामठ, बछवारा (मुङ्गेर), कोटा, पटना, ईचाक, हज़ारीबाग़, झूँसी (प्रयाग) इन्दोर, आगरा, नासिक इत्यादि स्थानोंके महान्त महानुभाव उपस्थित थे। जो नहीं आ सके थे, उनके सहानुभूति पत्र और और तार आ गये थे। विशेष विवरण जाननेके लिये तत्त्वदर्शीके ५वें वर्षके ८, ९ अङ्क देखने चाहिये। तत्त्वदर्शी शीघ्र ही **स्वामीभगवदाचार्य** इस ग्रन्थका एक भाग बनकर प्रकाशित होनेवाला है।

झगड़ा अन्त्यजमन्दिर प्रवेशका था। उसका स्वरूप बदल गया और वर्णव्यवस्थाका वह झगड़ा बन गया। बहुत बड़ा कोलाहल था। मैं कहता था कि रामानन्दसम्प्रदायके विरक्तविभागमें कोई वर्णव्यवस्था नहीं है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, कभी कभी कायस्थ, कभी कभी बनियां, कभी कभी भाट, गुजरातमें पाटीदार (कुर्मी) साधु आदि भगवान्के भण्डारमें जाते हैं। सब सबका खाते हैं।

इसका नाम वर्णव्यवस्था नहीं है। दूसरा पक्ष कहता था कि वर्ण-व्यवस्था श्रीरामानन्दसम्प्रदायके विरक्तोंमें भी है। मैंने अयोध्यामें एक बहुत प्रतिष्ठित महात्मासे इस सम्बन्धमें पूछा तो उन्होंने कहा, जो कुछ तुम कहते हो, सत्य तो वही है, हम ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, कायस्थ, भाट, कुर्मी आदि सबका ही बनाया हुआ दाल भात खाते हैं परन्तु यह बात सभामें मैं नहीं कह सकता। मुझे ग्लानि बहुत हुई। यह कैसा सम्प्रदाय जिसमें मृत्युकी अन्तिम घड़ीतक झूठ ही बोला जाय, झूठका ही प्रचार और समर्थन किया जाय! अयोध्याका वातावरण शास्त्रार्थके दिनोंमें बहुत भयङ्कर हो गया था। पण्डित श्रीरघुवराचार्यजी भी आ गये थे, महान्त देव-दासजी भी डाकोरसे आ गये थे। अहमदाबादसे श्रीमान् पुजारी सेवादासजी महाराज, पण्डित श्रीहरिकृष्णदासजी, महान्त श्री-शत्रुघ्नदासजी (श्रीमहान्त गोकुलदासजीके प्रतिनिधि), श्रीमहान्त भरतदासजी श्यामदिगम्बर आदि और नासिकसे श्रीमान् महान्त श्रीसीतारामाचार्यजी, तथा वहाँसे ही महान्त श्रीभगीरथदासजीके प्रतिनिधि बनकर पण्डित श्रीरामरत्नदासजी "तरुण" जी०डी० आर्ट, महान्त पण्डित श्रीद्वारकादासजी प्रभाकर, पालीगंज (पटना) इत्यादि महानुभाव भी उपस्थित थे। इन सब लोगोंके हृदयमें क्षोभ था। पण्डित श्रीद्वारकादासजी विभाकरजीने तो इस सभाके बहुत दिनों बाद राजापुर (पटना) की सभामें, स्वागताध्यक्षके पदसे अपने भाषणमें मेरे समाजसे पृथक् हो जानेका मार्मिक शब्दोंमें दुःख व्यक्त किया था। वह सम्पूर्ण भाषण अगले भागमें प्रकाशित किया जायगा। उस सभामें अयोध्यामें सभागत सभी महात्मा लगभग मेरे हितैषी थे। महान्त श्रीरामदासजी (बड़ोदा) तो तत्त्वदर्शीके प्रकाशक ही थे। उनके हृदयकी वेदनाका कैसे वर्णन कर सकूँ। मेरे परम विरोधी लोग भी आ ही गये थे। परमहंस बलभद्रदास-

जी भी थे जो मेरी निन्दाके पर्वत खड़े किया करते थे, वह भी वहाँ उपस्थित थे परन्तु छिपकर। एक राजगोपालमन्दिर ही अयोध्यामें ऐसा स्थान था जहाँपर परम्परापरिवर्तनके विरोधी बन्धु उतरते रहते, आश्रय प्राप्त करते। बलभद्रदासजी वहाँ ही थे। प्रथम दिन सभा हुई। राजगोपालमें ही सभा हुई थी। उस समय वहाँ मन्दिरके पीछेके कम्पाउण्डमें सभायोग्य मैदान था। आज भी होगा।

अयोध्यामें ही उस समय श्रीमान् महान्त श्रीरामदासजी डाडिया भी उपस्थित थे। वह भी सभामें आये। उनको बहुत दुःख था। उज्जैनमें श्रीरामनुजीयोंके साथ शास्त्रार्थके समय उन्होंने जिस युगलमित्रको शरीर दो और आत्मा एकके रूपमें देखा था आज वही दोनों मित्र परस्पर विरोधी बनकर शास्त्रार्थ करने बैठे हैं, इसे देखकर महान्त श्रीरामदासजी महाराजका हृदय रोता था। वह हम दोनोंको सभामेंसे उठाकर ऊपर कोठेपर ले गये। महान्त श्री-रामदासजी, महान्त श्रीरघुवरप्रसादजी महाराजभी ऊपर ही थे। हम लोग पहले महान्त श्रीरामदासजी महाराजके कमरेमें गये। वहाँ थोड़ी सी बातें हुईं। पण्डित श्रीरघुवराचार्यजीको और मुझको महान्त श्रीरामदासजी डाडिया हाथ पकड़कर उठाकर, एक छोटी सी एकान्त कोठरीमें ले गये। हम तीनों वहाँ बैठ गये। श्रीमहान्तजी डाडियाने मेरा दाहिना पैर पकड़ लिया और कहा, मैं जो कहता हूँ उसे लिख दो। मैंने कुछ नहीं कहा। उनका सम्प्रदायके लिये बहुत उपकार था। परम्परायुद्धमें उन्होंने सम्प्रदा-यकी समृद्धिके लिये ही श्रीमहान्त जगन्नाथदासजीसे अपने समस्त व्यवहारोंका क्षणिक पार्थक्य किया था। मैंने फाउन्टेन पेन हाथमें ली। मैंने कहा—कहिये क्या लिखाते हैं। पण्डित रघुवरदासजी खंखारने लगे। मैंने कहा—आप महान्त रामदासजी डाड़िया नहीं हैं। महान्तजीने कहा, मैंने इनको कह दिया है कि तुमसे क्या

लिखाना है। मैं लिखने लगा—श्रीरघुवराचार्यजी लिखाने लगे—

(१) श्रीरामानन्दाचार्यचरणाभिमत वर्णव्यवस्था मैं मानता हूं। अबसे मैं वर्णव्यवस्थाके सम्बन्धमें कुछ भी नहीं लिखूँगा।

(२) अबसे ऐसे लेख नहीं लिखूँगा जिससे सम्प्रदायमें अशान्ति और कलह उत्पन्न हो।

(३) हमारे सम्प्रदायमें कापायधारणरूढि नहीं है। मैंने धारण कर लिया है। अन्य कोई धारण न करें।

मैंने जब तीसरी प्रतिज्ञा लिखी तो मुझे मालूम हुआ कि आज श्रीरामानन्दसम्प्रदायने मेरे श्रम और मेरे सम्प्रदायप्रेमका प्रतिफल दिया है। हमारे सम्प्रदायमें काषायधारणकी रूढि नहीं है परन्तु काषायधारण अशास्त्रीय है यह बात नहीं लिखायी गयी थी। सम्प्रदायने अपनी छाप मार दी कि काषायधारण करके मैंने रूढिका खण्डन किया है परन्तु शास्त्रका रक्षण किया है।

इसका दूसरा वाक्य मुझे सम्प्रदायका आचार्य बनाता था। 'अन्य कोई काषायधारण न करे' यह आज्ञा आचार्यके अतिरिक्त कर ही कौन सकता है ? मैंने वहाँसे उठते समय महान्त श्रीरामदासजी डाडिया और पण्डित रघुवरदासजीसे कहा भी था कि आप लोगोंने मुझे आचार्य बनाया इसके लिये आभार।

पहली प्रतिज्ञामें श्रीरामानन्दाचार्यचरणाभिमत वर्णव्यवस्था माननेकी प्रतिज्ञा थी। उसमें कुछ भी नवीनता नहीं है। रामानन्द स्वामीने चमार, मुसलमान आदिको भी राममन्त्र देकर अपना शिष्य बनाया था। सभी शिष्य उनके साथ रहते थे। ब्राह्मण और क्षत्रिय भी उनके शिष्य थे। सभी विरक्त थे। मैंने इसे मान लिया।

अन्तमें मेरी ही बात सत्य हुई। मैंने वहाँ कहा था कि आप लोगोंने मुझे आचार्य बनाया है। आज तो सैकड़ों सन्त मुझे सम्प्रदाचार्य मानते और लिखते हैं। अभी गत प्रयागकुम्भके

अवसरपर सर्वप्रथम अखिलभारतीय विद्वत्परिषद् अयोध्याके प्रमुख पण्डित श्रीब्रह्मदेवशास्त्रीजीने अपने सभी लेखों, विज्ञप्तियों और मुझे दिये गये मानपत्रमें मुझे श्रीरामानन्द लिखा था। वैद्यराज स्वामी त्रिभुवनदासजी शास्त्रीने भी यही सब किया। उन्होंने मुझे अपररामानन्दाचार्य लिखा। आचार्योचित स्थानपर मेरा फोटो छपा। इन दोनों महानुभावोंसे पूर्व, जिस वर्ष मैंने काषायधारण किया था और नासिक-कुम्भपर गया था, वहाँ नगरमें नागरिकोंकी एक सभामें मेरा परिचय देते हुए चार सम्प्रदाय स्थान नासिकके श्रीमहान्त विहारीदासजीने मुझे अपर-रामानन्द कहा था।

अयोध्याके इस शास्त्रार्थके अवसरपर भी श्रीमान् महान्त भगवान्दासजी खाकी सर्व प्रकारसे मेरे साथ बने रहे। बड़ास्थानके श्रीमान् महान्त श्रीरघुवरप्रसादजी महाराज भी मेरे साथ ही थे। जहाँतक हो सकी थी, सहायता उन्होंने की थी। पण्डित श्रीरघुवराचार्यजीका एक षड्यन्त्रवाला पत्र भी उन्होंने ही राजगोपाल-मन्दिरमें अपने हस्तगत किया था, और मुझे दिया था। उसकी प्रतिलिपि मैंने श्रीमान् पण्डित श्रीरामवल्लभशरणजी महाराजको अयोध्या, बड़ोदेसे भेजी थी।

मिथिलाके वैष्णव महान्तोंमें एक रूढि थी। उसके अनुसार स्थानोंमें—मन्दिरोंमें जानेवाले प्रतिष्ठित सन्तों, महान्तों और विद्वानोंको कुर्सी बैठनेके लिये नहीं दी जाती थी। महान्त लोग कुर्सीपर बैठते थे और अन्य लोग नीचे चटाईपर। हाँ, यदि धनमें उन्हींके समान कोई महान्त आ जावे, या थानेदार या ऐसा ही कोई अफ़सर आ जावे तो सादर कुर्सी अर्पित की जाती थी। यही दशा पीढों और खड़ाऊँकी थी। भोजनके समय महान्तके अतिरिक्त किसीको भी न तो बैठनेके लिये पीढ़ा दिया जाता था और न कोई अन्य आसन। महान्तके अतिरिक्त कोई भी सन्त खड़ाऊँ भी नहीं पहिन सकता था।

सम्भव है कि ई० सन् १९२१ हो। उस समय ब्रिटिशसरकार धर्मादा स्थानोंके लिये एक क़ायदा बनाना चाहती थी। मिथिलाके महान्तोंके पेटका पानी उबलने लगा। उन लोगोंके पास सम्पत्ति भी है और ज़मीनदारोंके समान ही ठाटबाटसे रहनेकी भावना भी। मिथिलामें एक मिथिलासाधुसभा थी। सभी सम्प्रदायके साधुओंकी वह सभा थी। उसने एक महती सभाका आयोजन किया। अयोध्यासे श्रीविनायकजी आये थे। भरतपुरसे श्री० अधिकारी जगन्नाथदासजी महाराज आये थे। बड़ोदा (सावली) से प० श्रीराजेन्द्रप्रसादजी रामानुजीय आये थे। मैं विहारमें वराहीमें अध्यापक था, अपने सभी छात्रोंके साथ वहाँ कई दिन पहले पहुँच गया था। पण्डित श्री रघुवराचार्यजी, जहाँतक मुझे स्मरण है, वह मुज़फ्फरपुरमें पढ़ते थे, वहाँसे ही वह भी वहाँ आ गये थे। उस सभाके

मन्त्री या कोई अन्य अधिकारी महान्त श्रीशिवनारायणदासजी निम्बार्क थे। उनके स्थानका नाम मैं इस समय भूल गया हूँ। मधुवनीके ही पासमें कहीं है। पहले मैं उनके ही पास इस दृष्टिसे गया कि वह सभाके अधिकारी हैं, अतः सभाकी व्यवस्थाका स्वरूप उनसे मैं जान सकूँगा। मेरे छात्रोंसे भी सभामें काम लेना था।

जब मैं महान्त शिवनारायणदासजीके सामने पहुँचा तो देखा कि पण्डित राजेन्द्रप्रसादजी नीचे चटाईपर बैठे हैं और महान्तजी कुर्सीपर। मैं गया, तो मुझे भी उसी चटाईपर ही बैठना पड़ा। मुझे तो वह सर्वथा ही अच्छा नहीं लगा। थोड़ी देरमें उठकर बाहर आया। राजेन्द्रप्रसादजी मेरे साथ ही बाहर आये। पूछनेसे विदित हुआ कि यहाँ किसीको कुर्सी न देनेका रवाज है। मैं तो नया दीक्षित था। हृदय मेरा राष्ट्रिय था। मैंने स्वतन्त्र होकर थोड़ी सी राष्ट्रिय प्रवृत्ति भी चलायी थी। मुझे यह व्यवहार अपमानपूर्ण मालूम हुआ। मैं उसी समय छात्रोंके साथ, गाड़ीका समय था, गाड़ीमें बैठकर लहरियासराय आया। वहाँ अधिकारी श्रीजगन्नाथदासजी आ गये थे। दूसरे दिन महान्त श्रीशिवनारायणदासजी आये और साथ ही पण्डित राजेन्द्रप्रसादजी भी। उसी दिन पण्डित श्रीरघुवराचार्यजी और श्रीबालकरामविनायकजी आये। दूसरे दिन ही सभा होनेवाली थी।

हम लोगोंको रहनेके लिये जो स्थान लहेरियासरायमें मिला था, वह अनुकूल नहीं था। मेरे साथ तो मेरे विद्यार्थी बड़ी संख्यामें थे। उनके लिये और हम सबके लिये वह स्थान छोटा पड़ता था, जो हमें मिला था। अधिकारीजी तो राजसम्बन्धी थे। ठाटबाटसे रहनेवाले थे। उन्हें अच्छे स्थानकी आवश्यकता थी। अधिकारीजी, पण्डित श्रीरघुवराचार्यजी और मैं शहरमें कोई

खाली मकान ढूँढ़ने चले। एक मकानको ताला लगा हुआ था। सामने अच्छी सी खुली जमीन थी। बग़लमें एक तालाब था। यह सब मिथिलाका स्वाभाविक वैभव है। श्रीसीताजीने मिथिलाको निष्कारण पसन्द नहीं किया था। जानकी बननेमें यही सब हेतु थे। मिथिलाका सौन्दर्य तो अलौकिक है। हमने दूरके एक पड़ोसीसे पूछा, यह मकान वन्द क्यों है? उत्तर मिला कि उसमें भूत रहता है अतः गृहस्वामी छोड़कर चला गया है। मुझपर आर्यसमाजका प्रभाव था। मैं भूत-प्रेतका विश्वासी न तब था न अब हूँ। मैंने चाभी मांग ली। ताला खोल लिया। जो मिथिला गये होंगे उनको वहांके मकानोंका अनुभव हुआ होगा। सामने एक घर होता है, उसमेंसे एक द्वारमें होकर अन्दर जाया जाता है। वहां ही आंगन भी होता है। जहाँ पर्देकी प्रथा है, सर्वत्र मकान ऐसे ही बनते हैं। मैं अन्दर गया। सब लोग बाहर खड़े थे। कहीं भूत दिखाई नहीं पड़ा। पड़ोसी भी तो सब वहां इकट्ठे हो गये थे। किसीने कहा गाली दो तब भूत पत्थर मारेगा। मुझे भय तो लगा कि गाली देनेसे भूतका पत्थर यदि सिरमें लगा सिरकी खैर नहीं। तो भी मैंने भूतको गालियां दीं—साला, ससुरा कुछ कहा। पत्थर तो नहीं पड़े। मुझे थोड़ीसी हिम्मत आयी। किसीने कहा अन्दर, आँगनमें जाकर गाली दो। यह काम बहुत कठिन था। जीभसे भूतका अस्तितव न मानना अलग वस्तु है परन्तु जन्मसे ही भूतकी कथा कहने और सुननेवाला हिन्दू भूतसे डरे विना रह नहीं सकता। मैं बहादुर बनकर घरमें वहाँ तक तो गया था। आशा यह थी कि सब लोग सामने खड़े हैं। यदि भूत मुझे हैरान भी करेगा तो यह लोग मुझे बचावेंगे। अब तो अन्दर जानेकी बात हुई। वहाँ तो कोई था ही नहीं। वहींपर भूत मुझे पकड़े और मारे तो मैं क्या करूँगा? यह विचार मेरे मनमें सता रहा था।

मैंने अधिकारीजीको मेरे साथ अन्दर आनेको कहा, उन्होंने कहा, तुम मरो, मैं क्यों मरूँ ? पण्डित श्रीरघुराचार्यजी तो बहुत ही भीरु थे। उनको मैं जानता था। अब मुझे अकेला अन्दर जाना पडेगा, इस विचारसे मेरा मन बहुत निर्बल हो गया था। तथापि गया। ज़ोर ज़ोरसे गालियां दीं। बाहरवाले सब सुनते और मेरी मूर्खतापर हँसते थे। मैं बाहर आया। भूत तो नहीं मिला परन्तु उस घरमें रहनेका किसीका भी साहस नहीं पडा। अस्तु।

सभामें मैंने कुर्सी, खड़ाऊँ और पीढ़ेकी बात चलायी। मैंने कहा जो दुःखमें आपका साथ दे सकते हैं, जो आपके भाई हैं उनको तो आप कुर्सी देते नहीं हैं, और जो आपका निन्दक है, उसे कुर्सी देते हैं। आपका नाश कल्ह होता हो तो आज ही होना चाहिये। उसी दिनसे कुर्सीपर अपना क़ब्जा हुआ। सभाके बाद जब हम नरघोघीमहान्तजीके तथा पचाढी महान्त श्रीराजेश्वरदासजीके डेरेपर गये तो उसी समय मुझे और पण्डित श्री-रघुवराचार्यजीको कुर्सी मिली थी। अब तो सभी स्थानोंमें कुर्सी, पीढ़ा, खडाऊँ आदिकी छूट हो गयी है।

परन्तु देरकी एक घटनाका मुझे स्मरण है। लहरियासरायमें ही, मेरे परम्परायुद्धके पश्चात्, हनुमान्‌गढ़ीके एक नागा श्री-राधामोहनदासजीने एक अपनी संस्थाका अधिवेशन किया था। अयोध्याके श्रीमान् वैकुण्ठवासी पण्डित श्रीरामवल्लभाशरणजी महाराज उसके सभापति थे। मेरे प्रसिद्ध विरोधी परमहंस बल-भद्रदासजी भी वहां उपस्थित थे। उस सभासे पण्डित श्रीरघुवरा-चार्यजी और मैं दोनों ही पातेपुर, उस समयके महान्त श्रीराम-प्रकाशदासजी महाराजके साथ, गये थे। मेरे पैरमें लकडीकी चट्टी थी और पण्डितजीके पैरमें खड़ाऊँ था। चट्टीका निषेध नहीं हुआ परन्तु वहाँके पुजारीजीने बहुत विनयसे खड़ाऊँ उतरवा

दिया। मैं समझता हूं कि अब सर्वत्र सर्वतोभद्र है। श्रीराधामोहन-दासजीकी वह संस्था वही थी जिसके प्रधानमन्त्री पीछेसे पण्डित श्रीरघुवराचार्यजी बने थे और जिसके एक अधिवेशनमें मुझे विद्या-भास्करकी उपाधि मिली थी।

नागा श्रीराधामोहनदासजी बहुत बड़े सुधारक थे। अयोध्यामें वेश्याएँ भी रहती थीं। उनको उन्होंने ही अयोध्यासे बाहर किया था।

मैं अहमदाबादमें स्थायिरूपसे श्रीमान् सेठ माणिकलाल हरिलाल शाहके आश्रयमें रहता हूं, यह बात पहले कही जा चुकी है। मुझे यहां रहते शायद ७ या ७॥ वर्ष हुए होंगे तब एक दिन यहांके एक छोटेसे महान्त और मेरे पहलेके विद्यार्थी श्रीरामरत्न-दासजी कडुवापोलसे मेरे पास आये। उन्होंने एक सादा बन्द लिफाफा मेरे सामने रख दिया। उस लिफाफेपर मेरा नाम लिखा हुआ था। अक्षरोंको देखते ही मेरा रोमाञ्च हो गया। वे अक्षर थे मेरे मित्र और शिंगडाके महान्त श्रीरघुवराचार्यजीके। बहुत दिनोंके बाद वे अक्षर मुझे देखनेको मिले थे। मैंने लिफाफा फाड़कर पत्र पढ़नेसे पूर्व ही महान्त रामरत्नदासजीसे पूछा कि इसे आप कहाँसे ले आये? उन्होंने कहा मेरे पास शिंगडासे पत्र आया है। उसी लिफाफामें यह लिफाफा बन्द था। आतुरताके साथ लिफाफा फाड़ दिया। प्रियमित्रका पत्र पढ़ने लगा। उसमें कोई विशेष बात नहीं थी। विशेष बात वह लिख भी नहीं सकते थे। अयोध्याके शास्त्रार्थवाले प्रसङ्गसे वह और मैं विभक्तहृदय थे। उस पत्रमें जो कुछ लिखा था, उसने मुझे मेहशानाका स्मरण करा दिया। उसमें लिखा था—"संतोक बहिन अफ्रिकासे आपका पूरा पता पूछती हैं। उनको पत्र लिखनेके लिये उनका पता निम्न लिखित है।" पूरा पता अफ्रिकाका लिखा हुआ था।

जब संतोक बहिन पाटणसे मोम्बासा (ईस्ट अफ्रिका) गयी

थीं, उस समय उनका सम्बन्ध मेरे साथ बहुत अच्छा नहीं था, तो भी पत्रव्यवहार तो था ही। वह मुझे पत्र लिखा करती थीं। मेहशानामें श्रीयशोविजयसंस्कृत पाठशालामें मैं प्रधानाध्यापक था। तबसे ही तो मेरा उनका गाढ परिचय था। जब तक वह मेहशानामें थीं कैसे भी, कुछ-न-कुछ सेवा करती ही थीं। वह जबसे गुजरात छोड़कर मोम्बासा गयीं, कभी भी मुझे उन्होंने कोई पत्र नहीं लिखा था। वर्षों बीत चुके थे। शायद २५ वर्षोंसे भी अधिक समय बीत गया था। मैं उनको भूल ही गया था। इतने दिनोंके पश्चात् वह मुझे याद करेंगी, यह बात कभी मेरे ध्यानमें नहीं थी। परन्तु मुझे प्रसन्नता हुई। कोई मुझे याद करे, और प्रेमसे याद करे, इसमें कोई क्षति नहीं है। प्रेमके क्षण जितने भी अधिक या थोड़े बीत सकें, अच्छी ही बात है। मैंने एक पत्र शिंगडा लिखा और एक मोम्बासा। सन्तोक बहिनका उत्तर आया। वह अमुक तारीखको गुजरात पहुँच रही हैं और अमुक महीने तक गुजरातमें रहेंगी, उस पत्रमें यही सूचना थी। यह भी लिखा था कि 'मैं सौराष्ट्र जाती हुई मार्गमें पहले आपसे मिलूँगी।' मैंने मोम्बासा पत्र भेज दिया कि भले आवो। मैं यहाँ ही हूँ।

एक दिन वह अकस्मात् घोड़ागाड़ीमें सामान भरकर, राजनगर सोसायटीमें उन दिनों मैं जिस बङ्गलेमें रहता था, वहाँ पूछ पाछकर पहुँच गयीं। मैं अन्दर था। वह बाहर मेरा नाम पूछती थीं। मैं बाहर निकला। वर्षों पहले देखी हुई शकल, मेरे सामने थी। मैंने प्रेमसे बुलाया। नौकरको भेजकर सामान अन्दर मँगा लिया। शायद वह दो दिन दो रात मेरे पास रहीं। प्रसन्न थीं। उन्होंने मुझे कहा, 'जो चाहिये माँग लीजिये।' मैंने पूछा—कितने रूपये जमा किये हैं? उत्तर मिला, बहुत। मैं तो सदाका निर्धन। जिस समय वह आयी थीं, मैं बाजरेकी

रोटी बना रहा था। मैंने उन्हें भी वही रोटी खिलायी। उन्हें अच्छी लगी या नहीं, यह तो वह जानें और उनका राम जाने। मैं निर्धन तो हूं, परन्तु मेरे पास सधनोंकी सेवाके साधन तो अवश्य रहते हैं। सेठ श्रीमाणिकलालजी बहुत ही उदार और पवित्र हृदयके सेठ हैं। मेरे बङ्गलेमें किसी भी वस्तुकी कमी नहीं। मैं बाजरी, ज्वार, चना, गेहूं सब कुछ खा लेता हूं। सब कुछ खानेकी आदत रखता हूं। कभी मुझे दुःखके दिन देखने और व्यतीत करने पड़ें तो मुझे बाजरा-ज्वार खानेमें कष्ट और ग्लानि न हो, इसी लिये मैं सब कुछ खाता रहता हूँ। साधन सभी उपस्थित थे। सन्तोक बहिनने अब मेरा रसोईघर संभाल लिया। उनकी जो इच्छा होती, पकातीं, मुझे भी खिलातीं, अपने भी खातीं। उनके पतिका घर पाटणमें है और पिताका घर बाबरा (सौराष्ट्र) में। उन दिनों मैं नैपाल जानेका विचार कर रहा था। गङ्गास्वरूप श्री हीराबहिन मगनलाल मेहता और गङ्गास्वरूप श्री विजयाबहिन मणिलाल शाह ये दो बहिनें नैपाल जा रही थीं। मेरी भी इच्छा हो गयी। ये दोनों बहिनें वेदान्ती हैं। वेदान्तके कुछ ग्रन्थ इन्होंने मुझसे भी पढ़े हैं। दोनों बहिनें पवित्र और सेवाभावशील हैं। चिरकालीन परिचय है। मार्गमें मुझे कोई कष्ट नहीं होगा, इस विचारसे मैंने नैपालयात्राका संकल्प कर लिया था। नैपाल जानेमें सुगमता केवल शिवरात्रिके समय होती है। सन्तोक बहिनने कहा कि 'मुझे यात्रा करनी है।' मैंने उन्हें सूचना दी कि हम नैपाल जानेवाले हैं। वह भी तैयार हो गयीं। उन्होंने कहा, जानेसे पहले मुझे सूचना दें तो मैं अवश्य आऊँगी। वह बाबरा चली गयीं।

मैंने उन्हें तार किया कि मैं नैपाल जानेके लिये अमुक तारीखको निकल रहा हूं। चलनेकी इच्छा हो तो अमुक तारीख

तक गुजरातमें आ जावो। मुझे कुछ कामसे तीन दिन पहले ही अहमदाबादसे निकलना पड़ा। मैंने उन्हें पहलेसे ही मेरे साथ चलनेवाली बहिनोंके नाम बता दिये थे। रूप-रङ्गका भी संकेत कर दिया था। उनको सूचना दे दी कि श्रीहीराबहिन और श्रीविजया बहिन अमुक ट्रेनसे अमुक दिन निकलेंगी। रास्तेमें उन्हें ढूँढ़ लेना। वह सीधे सौराष्ट्रसे मेहशाना पहुँच गयीं और अहमदाबादसे आनेवालीं उन बहिनोंको गाड़ीमें पहचान लिया। उनके पास बैठ गयीं। श्रीहीराबहिनको भी मैंने श्रीसन्तोक बहिनके सम्बन्धमें परिचय दे दिया था। श्रीसविता बहिन पाठक भी श्रीहीरा बहिन और श्रीविजया बहिनके साथ थीं। श्रीसविता बहिन मेरी परिचित नहीं थीं। ये चारों बहिनें मुझे दिल्ली स्टेशनपर मिलीं। मैं इनको लेनेके लिये स्टेशनपर आ गया था। रहनेके लिये शहरमें एक स्थानमें प्रबन्ध कर लिया था।

नैपालयात्राकी बात किसी आगेके प्रकरणमें लिखूँगा। श्रीसन्तोक बहिन मुझसे, मेरे स्वभावसे पहले ही परिचित थीं। और मैं उनसे परिचित था। नैपालयात्रामें वह उन तीनों बहिनोंको प्रसन्न कर सकी थीं या नहीं। उनके स्वभावसे उन तीनों बहिनोंको सन्तोष था या नहीं, यह प्रश्न अलग है। यात्रा हमारी लम्बी थी। नैपालसे लौटकर, जनकपुर, वैद्यनाथ, कलकत्ता, पुरी आदि अनेक स्थलोंमें हम पांचोंने भ्रमण किया था। वहाँसे लौटकर श्रीसन्तोक बहिन बाबरा गयीं। हम लोग अहमदाबाद आये।

———

श्रीसन्तोक बहिनकी छुट्टियोंके दिन पूरे हो चुके थे। उन्हें मोम्बासा वापस जाना था। बहुत दिन पहले ही वह मेरे पास आ गयीं। यदि मैं भूलता नहीं हूं तो वह लगभग २५ दिन मेरे साथ अहमदाबादमें रहीं। उस समय तक मैं अपने पास स्त्रियोंको रातमें नहीं रहने देता था। अतः उनको सोनेके लिये मैं ऊपर भेज दिया करता था। ऊपर मकान मालिक रहा करते थे। नीचे मैं रहता था। मकान मालिक अच्छे थे। मेरा सम्बन्ध अच्छा था। गृहस्वामिनी श्रीतरलिका बा बहुत अच्छे स्वभाव की थीं। वह मुझसे कुछ पढ़ती भी थीं। अतः मेरी अतिथिस्वरूपा श्रीसन्तोक बहिनको वह अपने पास सुलातीं और प्रातः नीचे भेज देतीं। सन्तोक बहिन प्रेमसे मेरे साथ रहीं। उन्हें भी मैंने मेहशानामें संस्कृत भाषा पढ़ायी थी। अतः उनके हृदयमें वह गुरुभाव जागरित हो गया। जब तक वह मेरे पास रहीं, वही भोजन बनाया करती थीं।

उन दिनों मैं दूध नहीं पीता था। उनको भी दूध नहीं मिलता था। एक दिन उन्होंने मुझसे पूछा कि आप दूध क्यों नहीं पीते हैं? मैंने उन्हें दूध न पीनेका रहस्य समझाया जो इस प्रकारका था—

"बहिन, कानपुर भारतका एक व्यापारी शहर है। उसी जिलेमें गौरियापुर एक ग्राम है। उस ग्राममें एक महात्मा महान्त श्रीबदरीदासजी रहते थे। उनके गृहस्थ शिष्य भी बहुत थे। स्वयं महात्मा थे अतः उनका वहाँ मान भी था। एक समय उनके एक

ब्राह्मण बालक शिष्यकी कण्ठी पाठशालाके एक पण्डितने तोड़ डाली थी। वह पण्डित स्मार्त थे। वैष्णवों और वैष्णवोंके चिह्नसे वह जला करते थे। उन्होंने उस बालकसे कहा कि कण्ठी उतार दो तब मैं तुमको इस पाठशालामें प्रविष्ट होने दूँगा और पढ़ाऊँगा। बालकने इसे नहीं माना। पण्डित महाशयने उसकी कण्ठी तोड़ डाली। वह रोता हुआ अपने गुरुके पास गौरियापुर आया। अयोध्यामें एक परमहंस कल्याणदासजी महात्मा रहते थे। वह बहुत सम्प्रदायनिष्ठ थे। वह प्रायः चित्रकूट किसी गुफामें रहा करते थे। उनके साथ महान्त श्रीबदरीदासजीका बहुत अच्छा सम्बन्ध था। कण्ठी तोड़नेकी बात गौरियापुरके श्रीमहान्तजीने उन परमहंसजीको लिखी। उन दिनों श्रीरामानन्दसम्प्रदायमें खूब जागृति थी। श्रीरामानुजसम्प्रदायसे उसी समय रामानन्दसम्प्रदाय अलग हुआ था। मेरी बहुत ख्याति थी। श्रीपरमहंसजीने गौरिया-पुरके महान्तजीको मेरा पता लिख दिया और कहा कि मुझे शास्त्रार्थ करनेके लिये गौरियापुर बुलावें। उन दिनों मैं गुजरातमें रहने लग गया था। कहाँपर रहता था, आज मुझे स्मरण नहीं है। मैंने उस शास्त्रार्थमें आनेके लिये स्वीकृति भेज दी थी। बड़ी बड़ी विज्ञप्तियाँ छापी गयीं और सारे कानपुर जिलेमें बाँटी गयीं। सर्वत्र घोषणा कर दी गयी थी कि वैष्णवधर्मपर और उसकी रूढियोंपर जिसे कोई आपत्ति हो, अमुक दिन, अमुक तारीखको गौरियापुर सभामें आकर शङ्काका समाधान करे। जिसे शास्त्रार्थ करना हो, वह शास्त्रार्थ करे। मैं गौरियापुर नियत समयपर पहुँच गया था। जिलेके सन्त महात्मा सैकड़ोंकी संख्यामें वहाँ पहुँच गये। सभाका दिन आ गया। जिलेसे हजारो आदमियोंकी-स्त्रियों और पुरुषोंकी, बालकों और वृद्धोंकी भीड़ इकट्ठी हुई। सभाका आरम्भ हुआ। मैंने प्लेटफार्मसे सूचना दी कि श्रीरामानन्दसम्प्र-

दायके धार्मिक रीति-रवाजके विषयमें, कण्ठी-तिलकके विषयमें या अन्य किसी सिद्धान्तके विषयमें किसीको कोई शङ्का हो तो प्रश्न पूछ सकता है। कोई द्वेष हो तो शास्त्रार्थ कर सकता था। सभा दो दिनों तक होती रही। मैं ही वक्ता था। दोनों दिन मेरे भाषण हुए। मैंने देखा कि कोई पण्डित नहीं आया है तब मैं अधिक बलसे कहने लगा—जिसे शास्त्रार्थ करना हो, आवे और शास्त्रार्थ करे। कोई सामने नहीं आया। शास्त्रार्थ नहीं हुआ।

वहाँ ही पासमें एक गुजराईं ग्राम है। उस ग्राममें ब्राह्मणोंकी प्रधानता है। वहाँ ब्राह्मणोंमें दो पार्टियाँ है। वहाँका एक मुहल्ला शिवधर्मी है और दूसरा वैष्णवधर्मी—श्रीरामानन्दसम्प्रदायका अनुयायी। गौरियापुरकी सभामें गुजराईंसे सभी वैष्णव स्त्री-पुरुष आये थे। वह लोग वहाँ ही मुझसे परिचित हुए थे। और गुजराईं कभी भी आनेके लिये मुझे उन लोगोंने आमन्त्रित किया था। गुजरातसे अयोध्या आते-जाते मैं एक समय गुजराईं पहुँच गया। वहाँके वैष्णवब्राह्मण सन्तोंका आदर करते थे। वहाँके रामलाल तिवारी सबसे प्रथम साधुओंकी सेवा करते थे। मैं गुज-राईं आने जाने लगा। मैं कभी कहींसे द्रव्य तो लेता ही नहीं था, अतः मेरी विरक्तताने उन लोगोंपर प्रभाव डाल दिया। उनके विशुद्ध प्रेमने मेरे हृदयको आन्दोलित किया। मैं कई बार वहाँ आने जाने लगा। उन दिनों सभाओंमें शास्त्रार्थोंमें, मेरी ही बुलाहट हुआ करती थी। मैं आलस्यशून्य होकर सब जगह पहुँच जाता। गाड़ी भाड़ेके सिवा मैं कुछ भी नहीं लेता था। हाँ, कभी कभी मुझे लेना भी पड़ता था। देनेवालेके आग्रहका मुझे मान भी करना पड़ता था। जब जब कानपुर स्टेशन आवे तब तब मैं गुजराईंके लिये झांसीवाली गाड़ी बदल लेता। गुजराईंमें रामलाल तिवारीका ही घर मुख्य माना जाता था। वह थे भी बहुत विवेकी, भद्र और

सीधे। सबके दिन समान कभी नहीं जाते। वह निर्धन हो चले। खेतीकी उपज कम होने लगी। वह खानेवाले दो तो वही पति-पत्नी थे और तीसरी एक, उनकी साली थीं। जैसे तैसे संसार-व्यवहार चलता था। श्रीरामलाल तिवारीने अपनी लीला समेट ली। उनके स्वर्गवासी होनेपर वह घर दुःखी हो गया। सन्तान तो कोई था ही नहीं। खेत सब बिक गये थे। दोनों बहिनोंका जीवन दुःखी हो गया। कानपुरके कोई दयालु सेठ थे। वह इन बहिनोंको शायद मासिक दस रूपये देते थे, उससे काम चलता था। कई वर्षोंके पश्चात् मैं पुनः गुजराई गया। उस घरको देखते ही मुझे मृच्छकटिकके चारुदत्तब्राह्मणके वचन याद आने लगे।

> यासां बलिः सपदि मद्गृहदेहलीनां,
> हंसैश्च सारसगणैश्च विलुप्तपूर्वः।
> तास्वेव सम्प्रति विरूढतृणाङ्कुरासु,
> बीजाञ्जलिः पतति कीटमुखावलीढः॥

धनाढ्य चारुदत्त जब दरिद्र हो गया था तब उसके घरपर अन्न चुँगनेके लिये हंसों और सारसोंका आना बन्द हो गया था। उसके घर आँगन, देहली और अलिन्द घासोंसे भर गये थे। मैंने देखा कि रामलाल तिवारीके घरकी यही दशा थी।

मैं वहां कई दिन रहा, देखा कि कोई साधु-सन्त वहां नहीं आते थे। जहां नित्य साधुओंका आना जाना बना रहता था, वहां कई दिनोंमें भी एक भी साधु आता दिखायी न पड़ा। तब मुझे एक चारुदत्तका दूसरा श्लोक याद आया—

> एतत्तु मां दहति यद्गृहमस्मदीयं,
> क्षीणार्थमित्यतिथयः परिवर्जयन्ति।

संशुष्कसान्द्रमदलेखमिव भ्रमन्तः
कालात्यये मधुकराः करिणः कपोलम् ॥

जैसे मदस्रावहीन गजके गण्डस्थलको भौंरे छोड़ देते हैं वैसे ही चारुदत्तके घरको निर्धन समझकर अतिथियोंने छोड़ दिया था और वैसे ही रामलाल तिवारीके घरपर भी कोई साधु अतिथि आते नहीं थे।

चारुदत्तका ही एक तीसरा श्लोक भी मेरे मस्तिष्कमें चक्कर लगाने लगा—

सत्यं न मे विभवनाशकृतास्ति चिन्ता,
भाग्यक्रमेण हि धनानि भवन्ति यान्ति।
एतत्तु मां दहति नष्टधनाश्रयस्य
यत्सौहृदादपि जनाः शिथिलीभवन्ति ॥

चारुदत्तने कहा था, धन तो भाग्यका खेल है, आता और जाता है। उसके जानेकी मुझे कोई चिन्ता नहीं है। परन्तु मुझे निर्धन समझकर कोई मेरी मित्रता नहीं चाहता है, कोई मेरे साथ मैत्रीका निर्वाह नहीं कर रहा है, यह बात मुझे जला रही है। रामलाल तिवारीके घरपर भी मैंने यही देखा। मैं जब उस समय गुजराईसे चलने लगा तब रामलाल तिवारीकी वृद्ध और अन्ध पत्नी श्रीरमाबहिन मेरा पैर पकड़कर फूट-फूटकर रोने लगीं। उनके पेटमें ज्वाला सुलगती थी परन्तु शान्तिका साधन नहीं था। उनकी बहिन श्यामाकी भी आंखोंमें सावन भादों दिखायी पड़ने लग गये। दोनों बहिनोंने सहायताकी मांग की। मैं लज्जासे दब गया। अहमदाबाद आया। मेरे पास धनागमका कोई साधन नहीं। बङ्गलेका भाड़ा और अन्नादि खाद्यसामग्रीके अतिरिक्त मैं सेठ श्री माणिकलाल भाईसे अन्य खर्चके लिये मासिक ३० रूपये

लेता हूं। इसीमें, नोकर, दूध, डाकव्यय, अन्य व्यय। मैंने नौकर तो बहुत पहलेसे हटा दिया था और नौकरके रूपये बचते थे उन्हें मैं गुजराई भेज देता था। परन्तु कानपुरके जो सेठ उन लोगोंको मासिक सहायता देते थे वह सहायता बन्द हो गयी। मेरे रूपये थोड़े थे। उनका काम बन्द हो गया। अतः मैंने संतोक बहिनके आनेके थोड़े मास ही पूर्व दूध भी बन्द कर दिया था। दूध और नोकर दोनोंके बचे रूपयोंसे गुजराईकी वे दोनों बहिनें अपना काल बिता लेती हैं।

मेरी इस बातको सुनकर श्रीसंतोक बहिनको दया आयी। यह मुझे खबर नहीं—वह दया मेरे ऊपर थी अथवा गुजराईकी बहिनोंके ऊपर। उन्होंने कहा, 'आप दूध पीना शुरू करें। उन लोगोंका खर्च मैं भेजूँगी।' मुझे प्रसन्नता हुई। उसी दिनसे दूधका आना, पीना, शुरू हो गया। सन्तोक बहिन अफ्रिका जाकर बहुत दिनोंतक गुजराईके रुपये मेरे पास भेजती रहीं।

जब हम लोग नैपालकी यात्रामें गये थे तब सन्तोक बहिनको मैं गुजराई भी ले गया था और उस घरकी, उन बहिनोंको, उन बहिनोंकी उस दशाको दिखा दिया था। उन्हें सन्तोष हुआ था कि उनका धन अच्छे मार्गमें जा रहा है। अफ्रिका जाकर भी वह गुजराईके लिये पैसे भेजती रही थीं। धन्यवाद। यह १९४९ की बातें हैं।

———

वह गयीं और मुझे अफ्रिकामें बुलानेकी उनकी इच्छा हो गयी थी। मैं यहाँ कुछ उदासीन भी रहा करता था। उदासीनताके कुछ कारण थे, जिन्हें मैं यहाँ लिख नहीं सकता। दुष्ट कारण तो एक भी नहीं था। तथापि मुझे उनका यहाँ निर्देश नहीं करना चाहिये।

मेरी इच्छा बहुत दिनोंसे एक भक्तिविषयक ग्रन्थ लिखनेकी थी। धनाभाव खटकता था। अब सन्तोक बहिन मिल गयी थीं। वह मेरे लिये धन-व्यय करनेको कह भी गयी थीं। यहाँ एक मेरी विद्यार्थिनी बहिनने मुझे उस ग्रन्थको लिखनेकी प्रेरणा भी की। वह ग्रन्थ छप गया। पैसे तो सन्तोक बहिनने ही दिये थे। उन्हीं की मृत माताकी स्मृतिमें वह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ था। उस ग्रन्थका नाम है 'भक्तिशास्त्र'। गुजराती भाषामें लिखा गया है।

मुझे बराबर स्मरण नहीं है, शायद उनके जानेके एक वर्षके पश्चात् मैं भी ईस्ट अफ्रिकामें गया। सन्तोक बहिनकी ही प्रेरणा थी और उनका ही धन था। उस समय वह मेरे लिये धनव्यय करनेमें तनिक भी हिचकिचाती नहीं थीं। मेरा भी संकोच चला गया था।

मुझे यहाँसे पासपोर्ट मिला। मैं अन्य देशोंमें भी भ्रमणकी इच्छासे यहाँसे निकला था। ईस्ट अफ्रिका जानेमें थोड़ी सी क़ानूनी रुकावट पैदा हो गयी। उसी समय भारतसरकारको एक क़ायदा बनानेके लिये विवश होना पड़ा था। यहाँसे लोग वहाँ जाते थे। अपनी अपनी कलासे वहाँ धन सञ्चित करते थे। हज़ारों और लाखों रुपये वहाँसे यहाँ लाये जाते थे। कभी-कभी ऐसे लोग भी जाते थे जो वहाँ हिन्दुओं और मुसलमानोंमें

विरोध पैदा कर देते थे। उस समय वहाँके भारतीय प्रतिनिधि औंध स्टेटके राजकुमार श्रीअप्पा साहेब थे। श्रीअप्पा साहेबकी प्रार्थनासे ही भारतसरकारने क़ायदा बना दिया था कि भाषणादि देनेके लिये कोई संन्यासी ईस्ट अफ्रिका नहीं जा सकता। यहाँके माननीय वकील श्रीभास्करराव बलवन्तरावने मुझे यह बात कही। वह कलक्टर आफिसमें जाकर इसे स्वयं पढ़ आये थे। पासपोर्ट प्राप्त करनेके लिये मैंने जो फ़ार्म भरा था उसमें लिखा था कि मैं वेदान्तके प्रचारके लिये जाता हूँ। इस नये क़ानूनके अनुसार मैं नहीं जा सकता था।

मैंने दूसरा फार्म भरा और लिखा कि मेरे परिचितोंसे मिलने जुलनेके लिये अफ्रिका जा रहा हूँ। पासपोर्ट मिल गया। मैं एरोप्लेनसे एक आधीरातको उड़ा और प्रातः एडनमें और प्रायः ९ बजे केनिया (अफ्रिका) की राजधानी नैरोबीमें पहुँच गया।

मोम्बासासे संतोक बहिनके छोटे भाई श्रीमावजी भाई जोषी नैरोबीमें मुझे लेनेके लिये पहुँच गये थे। प्लेनसे उतरकर बाहर आया। उपस्थित प्रतिष्ठित हिन्दू बन्धुओंने फूल-हारोंसे स्वागत किया। फोटो लिये गये। श्रीयुत चुनीलाल भाई पटेलके यहाँ मुझे रखा गया। सायङ्कालमें कुछ भाई इकट्ठे हुए। दूसरे दिन पबलिक स्वागत करनेकी योजना हुई। मुझे कहा गया कि एक भाषण देना होगा। मेरे तो प्राण ही सूख गये। मैं जब भारतसे निकलनेके लिये पासपोर्ट लेनेका प्रयत्न कर रहा था तो मुझसे कलक्टरने लिखा लिया था कि मैं अफ्रिकामें भाषण-व्याख्यान-प्रवचन नहीं दूँगा, नहीं करूँगा। मैंने कहा मैं अपनी सर्कारको दिये हुए वचनका भङ्ग नहीं करूँगा। लोग निराश हुए। श्रीचुनीलाल भाई बहुत कुशल और व्यापक थे। वह तत्काल श्रीअप्पासाहेबके कार्यालयमें गये। वह नहीं मिले। श्रीकाका साहेब कालेलकर भी

उन दिनों उसी देशमें थे। उन्हें लेकर श्रीअप्पासाहब किसी अन्य प्रान्तमें चले गये थे। कार्यालयसे श्रीचुनीलालभाईको सूचना मिली कि इस देशमें साधु-संन्यासीपर भाषण देनेका प्रतिबन्ध तो यहाँकी प्रार्थनासे लगाया गया है। लोग आते हैं। हज़ारों और लाखों रुपये यहाँसे ले जाते हैं। यहाँ भी धनकी आवश्यकता तो रहती है। यहाँकी संस्थाएँ धनके अभावसे ही बन्द हो जाती हैं, या रहती हुई भी निरर्थक बन जाती हैं। कार्यालयसे पूछा गया कि स्वामीजी धनसंग्रहके लिये आये हैं? मोम्बासासे आये हुए श्रीजोषीजी भी श्रीचुनीलालभाईके साथ ही थे, उन्होंने केनिया डेली मेल (दैनिक पत्र) को सामने रख दिया। जोषीजीने मेरे आनेका समाचार छपाया था और लिखा था किं किसी प्रकारका फण्ड या चन्दा लेने स्वामीजी नहीं आ रहे हैं। दूसरा प्रश्न हुआ कि हिन्दू और मुसलमानोंमें झगड़ा तो स्वामीजी नहीं पैदा करेंगे? इसका उत्तर श्रीजोषीजीने दिया कि स्वामीजी महात्मा गांधीके अनुयायी और कांग्रेसी हैं अतः वह वर्गवादमें विश्वास नहीं रखते। अब मुझे व्याख्यान देनेकी स्वतन्त्रता वहींसे मिली परन्तु लिखित आज्ञा नहीं थी, मौखिक थी। मैंने वहाँ अपने स्वागतके दिन एक पबलिक हालमें लोगोंकी इच्छाके अनुसार—धर्मके विषयपर एक भाषण दिया। हिन्दू, सिक्ख और अन्य लोग भी उपस्थित थे। मेरे भाषणोंमें देवी-देवताकी बातें बहुत कम रहती हैं। सबको बहुत प्रसन्नता हुई। कितने सज्जनोंको तो मैंने यह कहते हुए सुना कि ऐसा भाषण यहाँ कभी किसीने दिया ही नहीं। अफ्रिकाके मेरे सभी भाषण छपे हुए हैं परन्तु उनमें यह भाषण नहीं है। इसका कारण इतना ही था कि यह भाषण भारत सर्कारकी आज्ञा प्राप्त किये बिना ही दिया गया था।

उसी दिन सायङ्काल मैं और श्रीजोषीजी मोम्बासाके लिये

ट्रेनसे चले। दूसरे दिन प्रातः ८ बजे मोम्बासा पहुँच गये। स्वागत करनेवाले लोग स्टेशनके बाहर जमा थे। बैण्ड बाजा भी बज रहा था। यह सब हो चुका। मैं श्रीजोषीजीके निवासस्थानपर पहुँचा। उनका निवास स्थान बहुत सुन्दर है। विशाल बिल्डिंग है। मैंने नीचेके भागमें रहना पसन्द किया।

जब मैं स्टेशनसे उनके घरपर पहुँचा तब ऊपर ही हम गये थे। वहाँ ही पूजन आदि हुआ था। वहाँ एक बहुत ही धनाढ्य हिन्दू कुटुम्ब रहता है। सेठानी श्रीमती नर्मदा बहिन वहाँ उसी कुटुम्बकी अधिष्ठात्री उपस्थित थीं। वह वहाँकी कुबर होती हुई भी अत्यन्त सादी और अत्यन्त नम्र हैं। उन्होंने श्रीसन्तोक बहिनसे धीरेसे कुछ कहा। सन्तोक बहिनने मुझे कहा कि—यह बहिन चाहती हैं कि दो दिनमें शुरू होनेवाले अधिक मासमें उनके यहाँ अधिक मासकी आप कथा कहें। थोड़ी सी भागवतकी कथाकी बात भी की गयी। मुझे भाषण देनेकी भारतसर्कारकी आज्ञा नहीं थी। परन्तु मैं कथा तो कर सकता था। मैंने स्वीकार कर लिया। प्रसन्नताका वातावरण फैल गया।

मोम्बासामें एक अत्यन्त उपयोगी और सुन्दर हिन्दु युनियन है। उसमें श्रीशङ्करजीका मन्दिर है। मन्दिरमें व्याख्यानादिके लिये विशाल जगह है। वहाँ ही नवागन्तुकोंके भाषण होते हैं। वहाँके भाई बहिनोंने भाषणका प्रस्ताव किया। मैंने मेरे ऊपर लगे हुए प्रतिबन्धकी कथा सुना दी। लोगोंने कहा कि हम लोग यहाँसे सैकड़ों हस्ताक्षरोंके साथ भारतसरकारसे प्रार्थना करें कि स्वामीजीको भाषणकी छूट दी जाय। मैंने मना किया। मैंने कहा, यह तो भारतसरकारके साथ लड़नेकी बात हुई। ऐसा न करके, मुझे समय दिया जाय। मैं ही अपनी सरकारसे भाषणों और प्रवचनोंके लिये आज्ञा प्राप्त कर लूँगा। लोगोंने मेरी बात तो मान ली परन्तु तुरन्त

ही तो अधिक मासका आरम्भ हो रहा था। वहाँ भी हिन्दु लोग उस मासको पवित्र और पुरुषोत्तम मास मानते हैं। उस मासमें कुछ उपदेश सुननेकी उनकी उत्कण्ठा थी। निश्चय हुआ कि मैं भागवतकी कथा करूँ। भागवत वहाँ ही एक ब्राह्मणके घरमें मिल गया। अहमदाबादके मोक्षमन्दिरने उस भागवतका प्रकाशन किया था। वहाँ कथा शुरू हो गयी। वहाँके मेरे प्रवचनोंमें पहले भागवत कथा ही है। उसका कारण यही है कि तब तक मुझे प्रवचन करनेकी भारतसरकारकी आज्ञा प्राप्त नहीं हुई थी।

मैंने श्रीमान् पण्डित जवाहरलाल नेहरूजीको विवरणसहित एक पत्र लिखा और प्रवचनोंकी आज्ञाके लिये प्रार्थना की। मेरा पत्र उन्हें बहुत विलम्बसे मिला। उसका उत्तर भी बहुत विलम्बसे मुझे प्राप्त हुआ। उसमें उन्होंने पूछा कि आपपर क्या और कैसा प्रतिबन्ध लगा है। मुझे आश्चर्य हुआ। मैंने सब कुछ स्पष्ट लिखकर उन्हें भेजा था। तथापि मैंने पुनः उन्हें लिखा। मैंने श्रीकिशोरलालभाई मशरूवालोंको भी एक पत्र वर्धा लिखकर मेरी परतन्त्रताकी बात कही। उन्होंने तत्काल ही भारतसरकारसे मेरे ऊपरसे प्रतिबन्ध उठा लेनेकी प्रार्थना की। मेरे दूसरे पत्रका उत्तर दिल्लीसे आनेके पूर्व श्रीमशरूवालाजीका पत्र आ गया। पत्रके साथ उस ऑर्डरकी नक़ल भी मुझे मिल गयी जो मुझे चाहे जहाँ भाषण देनेकी छूट देता था। श्रीकिशोरलाल भाईने लिखा कि यह तो उस आर्डरकी नक़ल है परन्तु आपको उसी देशसे भारतीय प्रतिनिधिके कार्यालयसे बाक़ायदे यह आर्डर मिलेगा। उन्होंने पत्रके अन्तमें एक वाक्य लिखा—देखियेगा, इस आर्डरका उपयोग बहुत सावधानीसे करियेगा।" अब मेरी जीभ आज़ाद थी। अधिक मास तक मैं मोम्बासामें था। उसके पश्चात् मैं भ्रमणमें निकला।

——

जो लोग द्रव्यकी भूखसे ईस्ट अफ्रिका जाते हैं वह वहाँके गाँव गाँवमें भ्रमण करते हैं। मुझे तो द्रव्यकी आवश्यकता ही नहीं थी। सेठ श्रीमाणिकलालशाह अहमदावादमें मुझे सब कुछ देते हैं। मेरी आवश्यकता अत्यल्प है अतः धनेच्छा भी अत्यल्प ही है। मैं तो अफ्रिका देखने गया था। वहाँ टाँगानिका प्रान्तमें टाँगा एक शहर है। उसमें मेरे चिरपरिचित वैष्णवबन्धु श्रीकाशीराम-भाई रहते हैं। उन्हें पता लग गया था कि मैं मोम्बासामें हूँ। उनका बहुत आग्रह था कि मैं टाँगा भी पहुँचूँ। वह मोम्बासामें मेरे पास आ भी चुके थे। अतः मैं मोम्बासासे वहाँ गया। मोटर और प्लेनसे भी वहाँ जाया जाता है। हम लोग मोटरसे गये थे। मेरे साथ श्रीसन्तोक बहिन और श्रीजोषीजीकी सबसे छोटी पुत्री मधु बहिन थीं। मधु बहिनके बड़े बहनोई (भगिनी पति) श्री-काशीरामजी हमको पहुँचाने गये थे। जब मैं मोम्बासासे टाँगा जानेके लिये निकला, उस समय वहाँके परम दानी उदार सेठ श्रीकानजी भाई मेघजी भाईकी माताजीने मुझे बहुत प्रेमसे कहा कि, वापूजी, कहीं हाथ लम्बा नहीं करना। जो खर्च चाहे, हमारे यहाँ तार करना। मैंने कहा, बा कहीं भी हाथ नहीं फैलाऊँगा। हाथ फैलानेका अर्थ है, दूसरे साधु-संन्यासियोंके समान पैसा कमाना। मेरा तो यह आदर्श ही नहीं था। पैसेका मूल्य सदा ही मैंने अपनी प्रतिष्ठाके मूल्यकी अपेक्षा कम माना है। मैं टाँगा पहुँचा। वहाँ तीन या चार दिन रहा। भगवान्‌के मन्दिरमें रोज भाषण होता था। वहाँके हिन्दुसमाजमें कुछ वैमनस्य था। वह झगड़ा भी मेरे पास आया था। एक रातको तो हम कई लोग बैठ

कर झगड़ा मिटाना चाहे थे परन्तु रातके १ बजेका समय हो गया था, झगड़ेका अन्त नहीं आया। वहाँसे एक दिन हम लोग एक पर्वत, जङ्गल, जङ्गलका दृश्य देखने बहुत दूर गये थे। वह शीत पर्वत था। बहुत ही सुन्दर था। वहाँ जङ्गलमें एक गिरिजाघरमें हम गये। वहाँ कुछ अंग्रेज अनाथ बच्चे भी पाले जाते थे। उन्हें शिक्षण भी दिया जाता था। वहाँकी मदरने बहुत प्रेमसे हमें सब कुछ दिखाया। जब वह चर्च (गिरिजाघर) के अन्दर हमें ले गयीं उस समय हमें बहुत बड़ा उपदेश मिला। हमारे मन्दिरोंमें हो हल्ला बहुत रहता है। शान्ति किसी भी मन्दिरमें नहीं होती। वहाँ वह बातें करतीं, हमें वहाँके चित्रोंको समझाती परन्तु इतना धीरेसे कि जो बहुत एकाग्रता न हो तो हम कुछ समझ ही न सकें, सुन ही न सकें। वैसी ही शान्ति, वैसी ही नीरवता यदि हिन्दु मन्दिरोंमें होती तो भगवान्‌का आशीर्वाद अवश्य ही हम लोगोंके ऊपर उतरता।

टाँगासे हमें दारेस्सलाम जाना था। वहाँ भी भाई श्रीकृष्ण-दासजी तथा श्रीकनुभाई शुक्ल पुराने परिचित रहते हैं। उनका भी आमन्त्रण था। मार्गमें जंजीबार आता है। वहाँ एक लक्ष्मी-पात्र सद्‌गृहस्थ रहते थे। वे लोग मेरे अपरिचित थे। परन्तु सन्तोक बहिनने उनसे मेरी प्रशंसा की होगी अतः वहाँकी एक बहिन अ० सौ० श्रीकान्ता बहिनने मेरे वहाँ जानेका भाड़ा पहलेसे ही दे रखा था। वहाँ भी जाना आवश्यक था। हम वहाँ गये। जंजीबार पुराना शहर है। काली मिर्चके लिये वह प्रसिद्ध है। वह रमणीय भी है। समुद्रतटपर ही बसा हुआ है। वहाँ पास ही एक टापू है। पहले जब गुलामोंका व्यापार उस देशमें भी चलता था तब गुलामोंको लाते या ले जाते समय उसी टापूमें रखते थे। बहुत सुन्दर जगह वहाँ बनी है। उसे भी हम लोग देखने गये

थे। वहाँ हमने ३, ४ ऐसे कछुए देखे, जैसे कभी भी नहीं देखे थे। हम उसकी पीठपर चढ़े। चढ़नेके लिये एक पत्थरके छोटेसे चट्टानपर चढ़ना पड़ा था। कछुए बहुत ही ऊँचे थे। उनका आकार भी बहुत बड़ा था। जंजीबारमें हम बहुत दिन रहे। वहाँ रोज सायङ्काल थोड़ा सा प्रवचन होता। गृहपति और गृहस्वामीनी बड़े सज्जन, दयालु और उदार हैं। उनके पास रहनेमें मुझे कभी भी थकावट या ग्लानि नहीं हुई। प्रेम और श्रद्धाकी पूर्ति, मोम्बासामें जिन श्रीनर्मदा बहिनकी मैं बात कर आया हूं, उन्हींकी यह भतीजी हैं। जैसे श्रीनर्मदा बहिन जप, तप, नियम, व्रतसे अपने जीवनको पवित्र रखती हैं, ठीक उसी पद्धतिसे जंजीबारमें श्रीकान्ता बहिन भी रहती हैं। अन्तर इतना ही है कि श्रीनर्मदा बहिन बहुत कठिन तपस्या करती हैं और श्रीकान्ता बहिन थोड़े तपसे ही सन्तुष्ट रहती हैं। श्रीकान्ता बहिनके पतिदेव सेठ श्रीछगनलालजी बहुत सज्जन हैं।

वहाँसे लगभग २० मील दूर समुद्रके तटपर उनका एक छोटा सा खूबसूरत बङ्गला है। एक दिन हम लोग वहाँ भी गये थे। वह तो इतना रमणीय स्थान था कि छोड़नेका जी नहीं चाहता था। जंजी-बारमें कुछ दिन बिताकर, वहाँकी देखनेकी चीजोंको देखकर हम दारेस्सलाम गये। सिर्फ समुद्र ही पार करना पड़ता है। १५, २० मिन्टोंमें ही वायुयान हमें दारेस्सलाममें ले गया।

दारेस्सलाममें जैसे श्रीकृष्णदास भाई परिचित हैं वैसे ही श्रीकनुभाई शुक्ल भी परिचित हैं। वहाँके थियोसोफिकल सोसा-इटीके सभापतिके घरपर हमारा निवास था। बहुत शान्तिसे हम वहाँ रहे। वहाँ कितने ही भाषण हुए। वहाँका लक्ष्मीनारायण मन्दिर बहुत विशाल है। वहाँ एक पण्डित सीतारामशास्त्रीजी कथा किया करते थे। उन्होंने मेरे लिये अपनी कथा बन्द रखी थी।

वह अहमदाबादसे ही मेरे परिचित थे। वहाँके हाई स्कूलमें भी एक भाषणके लिये मुझे आमन्त्रण मिला था। मैं गया था। वहाँ पंजाबी बालक बालिकाएँ अधिक संख्यामें मुझे प्रतीत हुईं। हेडमास्टरने कहा कि आप संस्कृतमें भाषण दें तो अच्छा। मैंने कहा, समझेगा कौन ? उत्तर मिला, कोई नहीं। मैंने पूछा, इस भाषणसे लाभ ? उन्होंने उत्तर दिया कि ये हिन्दू बालक इतना तो जान सकेंगे कि संस्कृतमें भी भाषण दिया जा सकता है। मैंने वैसा ही किया। परन्तु पीछेसे मैंने उस भाषणका सार उन्हें हिन्दी भाषामें समझा दिया। जिनके घरपर मैं ठहरा हुआ था वह श्रीदेव-शङ्कर आचार्य बहुत सभ्य और सज्जन थे। मेरी शान्ति रक्षाका भार उनके ही ऊपर था। मेरे रूममें कोई भी जा नहीं सकता था। उनको मुझपर बहुत श्रद्धा थी। उस श्रद्धाका परिचय तो मुझे तब मिला जब मैं बम्बईमें, दूसरी बार अफ्रिका जाते समय बीमार हो गया था।

मैंने ईस्ट अफ्रिकाके जो तीन प्रदेश अंग्रजोंके हाथमें हैं उनमें-से केन्या और टाँगानिका देख लिया था परन्तु युगाण्डा बाक़ी था। नील नदीका भी दर्शन करना था। वहाँका जलप्रपात भी देखना था। वहाँके जिन्ज़ा और कम्पाला ये दो शहर भी देखने थे। मैं वहाँ अकेला ही गया। सन्तोक बहिन तो वहाँ शिक्षिका थीं। उन्हें जिन्ज़ा चलनेके लिये अवकाश नहीं मिला। जिन्ज़ामें श्रीमान् जे० जे० भट्ट साहब बहुत सज्जन और विद्वदनुरागी हैं। वह बैरिस्टर हैं। मुझे लेनेके लिये वह लगभग ५० मील आगे आये थे। हम मोटरसे शीघ्र जिन्ज़ा पहुँचते थे। गाड़ी २॥ घण्टे देरसे पहुँचती थी। उनकी धर्मपत्नी श्रीमती निर्मला बहिन भी ग्रेजुयेट हैं। स्वभावसे बहुत ही मधुर हैं। उनके यहाँ तीन दिनों तक मैं रहा। मुझे याद नहीं है, शायद वहाँ दो ही भाषण हुए

थे। वे भाषण भी अभी तक अमुद्रित ही हैं। नैरोबी और जिन्जा-के भाषण अब प्रकाशित करनेकी योजना बना ली गयी है। वहाँसे लौटकर मैं पुनः मोम्बासा आ गया।

मोम्बासा एक श्री० पी० डी० मास्टर थे। विद्याव्यासङ्गमें वह अद्वितीय थे। उनका पुस्तकालय बहुत ही समृद्ध था। अपनी आयका बहुत बड़ा हिस्सा वह पुस्तकोंमें खर्च करते थे। उनके पास भारतपारिजात मेरे वहाँ जानेसे पूर्व ही पहुँच चुका था। उन्होंने उसे पढ़ा भी था। मैं लण्डन जानेकी योजनाओंमें पड़ा था। श्री० पी० डी० मास्टर अपनी योजनामें पड़े थे। वह देख रहे थे कि भारतपरिजात अधूरा है। महात्मा श्रीगाँधीजीके वह बहुत बड़े भक्त थे। उनकी इच्छा थी कि भारतपारिजातके दूसरे भाग भी लिख और प्रकाशित किये जायँ। प्रकाशन करनेके लिये धन कहांसे लिया जाय, वह इस विचारमें पड़े थे। एक दिन वह सेठ श्रीकानजी भाई मेघजी भाईके पास जा पहुँचे। श्रीकानजी भाई मेरे पास आते जाते रहते थे। उनकी माताजी तो नित्य ही मेरे पास दूध लेकर आती थीं। प्रवचनमें भी हमेशा आती थीं। उपर्युक्त मास्टर साहबको यह मालूम नहीं था। उन्होंने श्रीकानजी भाईसे कहा, यहाँ एक संन्यासी आये हुए हैं। उन्होंने महात्मागाँधीका संस्कृतमें चरित लिखा है। परन्तु वह अधूरा ही है। यदि आप धनदान करें तो वह चरित पूरा लिखा और छपाया जा सकता है। श्रीकानजी भाईने पूछा, कितना व्यय होगा? मास्टर साहबने कहा, १५ से २० हजार शिलिङ्ग। उन्होंने हाँ कर दिया। मास्टर साहब खुश खुश नाचते हुए मेरे पास आये और बोले 'स्वामीजी आप अहमदाबाद चले जायँ।' मैं तो घबड़ा गया। मुझे यह अहमदाबाद क्यों भेजते हैं, मैं इस विचारमें पड़ गया। उन्होंने सारी बातें कहीं। लण्डन और जर्मनीकी यात्रा करनेका उस समय

समय भी नहीं था। उन्होंने कहा, ग्रन्थ लिखकर, छपाकर आप फिर यहाँ ग्रन्थोंके साथ ही आवें। आपके ही हाथोंसे उसका उद्घाटन हो। पश्चात् आप लण्डन-जर्मनी, जहाँ जाना हो जावें।

मैं तैयार हो गया। गाँधी सोसाइटीकी ओरसे मुझे अभिनन्दन दिया गया। स्वागत हुआ। सारा शहर मुझे अभिनन्दन देने वहाँ समवेत हुआ था। मैं भारत आ गया।

———

पालनपुर
६-१२-५०

सादर दण्डवत् ।

आपने पत्रद्वारा समाचार पूछे, और सेवा करनेकी भावना प्रकट की इसके लिये कृतज्ञता प्रकट करता हुआ सहस्रशः धन्यवाद देता हूँ ।

मोटामन्दिर पा० पु० मेरा ही स्थान है । अत एव यहाँपर सब आपकी सद्भावनासे मेरी सेवामें तत्पर हैं ।

अत एव मेरे स्वास्थ्यमें अब पूर्णतया सौष्ठव है । दो तीन आना जो भी दोष है वह भी आपके पुण्यप्रतापसे दो तीन दिनमें ही विनष्ट हो जायगा ।

पूर्ण विश्वस्तोंके लिये पारस्परिक मनसा वचसा कर्मणा सहयोग सम्पादन नैसर्गिक होता है । एष धर्मश्चिरन्तनः ।

भवदीय
रघुवराचार्य

इस पत्रमें मुझे प्रेमका अभाव प्रतीत हुआ । यह पत्र सम्पूर्ण कृत्रिमताका नमूना मुझे ज्ञात हुआ । एक मित्रके पत्रका यह उत्तर नहीं ही हो सकता । उन्हें लिखना चाहिये था कि तुम एक बार आ जावो, हम मिल लें । यह सौहार्द होता ।

डाकोरके महान्त श्रीदेवादासजीका मुझपर अतिशय आदर-भाव था । इन्हींकी प्रेरणासे वह मेरे शत्रु बने थे । वर्षोंतक कोई पत्रव्यवहार नहीं था । हम दोनों डाकोरमें बहुत महीनोंतक साथ रहे थे । जब वह बाहर अपने साप्ताहिक पत्रके लिये धनसंग्रह करने गये थे तब उनके पत्रके सम्पादन आदिका सब भार मैंने स्वेच्छासे ले लिया था । इतना परिचय होनेपर भी शिंगड़ा महान्त-जीकी प्रेरणासे वह मेरे शत्रु बन गये थे और मेरे विरुद्ध अपने

पत्रमें प्रतिसप्ताह कुछ न कुछ लिखते और छापते थे। उन्हें अपने जीवनके अन्तमें लक़वा हो गया था। उन्होंने मुझे सूचना नहीं दी परन्तु बड़ा स्थान अयोध्याके श्रीरामप्रसादाचार्यकी गादीके वर्तमान आचार्य श्रीमान् महान्त रघुवरप्रसादजी महाराजको अपनी बीमारीका समाचार लिखा। उन्होंने मुझे सूचना दी। मुझे ऐसे हृदयोंके लिये आश्चर्य हुआ। मैंने उन्हें डाकोर पत्र लिखकर उनका समाचार पूछा। वह लिख नहीं सकते थे। अपने एकमात्र शिष्य पण्डित परमेश्वरदासजीसे मेरे पत्रका उत्तर लिखाया। उसमें यह भी लिखा था कि 'मिलनेकी इच्छा हो रही है।' मैंने उन्हें उत्तर नहीं दिया। उनका पत्र मुझे शुक्रवारको मिला था। मैं प्रतिसोमवारको मौन धारण करता हूँ। उस दिन मेरे पास कोई नहीं आता है। मैंने सोचा कि सोमवारको ही डाकोर जाऊँ, नड़ियादसे बसमें जाकर डाकोर ८ बजे पहुँचकर, उनसे मिलकर ९ बजे मौन ले लूँगा। ऐसा ही मैंने किया। श्रीदेवदासजीने मेरे उत्तर न मिलनेसे यह निश्चय कर लिया था कि पूर्वविरोधस्मृतिसे ही मैंने उनको उत्तर नहीं दिया।

मैं जब वहाँ अकस्मात् पहुँच गया, तब वह निद्रामें थे। उनके शिष्य-वर्तमान महान्त परमेश्वरदासजी उन्हें जगाने जा रहे थे, मैंने मना कर दिया। उनके सामने ही कुर्सीपर बैठ गया। उनकी आँख खुली। उन्होंने मुझे देखा। पूर्व प्रेमस्मृति उन्हें हो आयी। वह सहसा रो पड़े। मैं उनके पास बैठ गया। उनके सिरको अपनी गोदीमें ले लिया था। आश्वासन दिया। समाचार पूछा। थोड़ी देरमें उन्होंने मुझे कुछ खाने-पीनेका आग्रह किया। मैंने सोमवारकी बात की। सोमवारको मैं उपवास भी करता हूँ। उन्हें बहुत दुःख हुआ। उन्होंने कहा कि—'तब तो मैं यही समझूँगा कि अभी मेरे अपराध आपको याद हैं। आपने क्षमा नहीं की

की है।' मैंने तुरन्त ही श्रीपरमेश्वरदासजीसे कहा, जो लाना हो लावो, मैं खाऊँगा। पेड़े और दूध सामने रख दिये गये। मैंने दूध पी लिया। उन्हें शान्ति हुई। यह थी सजनता। यह था सौहार्द। लक्ष्मीनाथ शिंगड़ा महान्तजीको यह व्यवहार नहीं आया। मैंने उनके पत्रका उत्तर पालनपुरमें दे दिया था। मैंने लिखा था कि-'भाई मैं जानता हूँ कि पालनपुरका मन्दिर आपका ही मन्दिर है। परन्तु मैं यह भी जानता हूँ कि उंझामें भी आपका ही मन्दिर था, मैं यह भी जानता हूँ कि शिंगड़ामठ आपका ही मन्दिर है। मैं यह भी जानता हूँ कि सर्वत्र आपकी सेवा करनेवाले तो थे ही। तो भी आप तार देकर मुझे अपने कष्टमें साथी बनानेको बुला लेते थे। अस्तु, आप नीरोग बनें।' सम्भव है कि शब्दोंमें कुछ परिवर्तन हो, परन्तु मेरे पत्रका भाव यही था। शिंगड़ा महान्तजी-ने अपना स्वर बदलकर मुझे दूसरा पत्र लिखा। उसमें एक नम्रता थी। उसमें कितनी ही पुरानी स्मृतियाँ थीं। उस पत्रको मैं यहाँ प्रकाशित नहीं करना चाहता। प्रकाशित करनेसे उनका अपमान होगा। जब वह नहीं हैं, तब मुझे उनके विरुद्ध या जिससे उनकी मानहानि हो, मुझे कुछ भी नहीं लिखना चाहिये। रामपटलकी टीकामें मैंने सिंहावलोकन लिखा है। उसके पढ़नेवालोंको ऐसा मालूम हुआ है कि मैंने शिंगड़ा महान्तजीका अपमान करनेके लिये उसे लिखा है। वस्तुतः बात यह नहीं है। उन्होंने रामपद्धति-की भूमिकामें मुझे गिरानेका उतना प्रयत्न किया है जितना वह कर सकते थे। उसका उत्तर देना आवश्यक था। उन्होंने अपनी जीवित दशामें, मुझे वह पुस्तक नहीं दिखाया, अन्यथा उनके जीते जी, उसका खण्डन हो जाता। मरनेके बाद पण्डित त्रिभुवन-शास्त्रीजीके द्वारा मुझे वह पुस्तक प्राप्त हुआ था और उत्तर भी तभी लिखा और छपाया गया था।

जब वह अन्तिम बार बीमार पड़े, तब भी मैं सिद्धपुरमें उन्हें देखनेके लिये गया था। मण्डलेश्वर श्रीसूर्यप्रकाशजी, वैद्यराज श्रीत्रिभुवनदासजी, पण्डित श्रीरामचरित्राचार्यजी और भी कई एक सन्त मेरे साथ थे। उस समय शिंगड़ा महान्तजीकी स्थिति देखकर भवभूतिका वचन याद आता था—

'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम् ।'

वह तीन दिनसे बेभान थे, चुप थे, निश्चेष्ट थे। केवल मुखसे श्वास लेते थे। वैद्यराज त्रिभुवनदासजी शास्त्रीने उनकी नाड़ी देखी। उन्होंने कहा, इनमें जीवनतत्त्व नहीं है। वहाँ दो डाक्टर बैठे थे। उन्होंने कहा, हम इन्हें प्रातः ८ बजेतक बोलावेंगे। शास्त्रार्थका अवसर नहीं था। मैंने शास्त्री त्रिभुवनदासजीसे मौन लेनेको कहा। सुना कि पाँचवें या छठें दिन श्रीशिंगड़ा महान्तजी उसी मूक दशामें सदाके लिये चले गये। उनके बाद मैंने कभी किसीको अपना मित्र नहीं बनाया। हितैषी तो मेरे बहुत पैदा हो चुके थे और आज भी पैदा हो रहे हैं, होते रहेंगे।

———

मैं लण्डन-जर्मनी यात्रा छोड़कर भारतपारिजातकी पूर्णताके लिये भारत आया था। मैंने श्रीमहात्मा गांधीजीके जीवनकी घटनाओंका मुख्यतया तीन विभाग कर रखा था। प्रथम विभाग **नमक सत्याग्रह** । द्वितीय विभाग **भारत छोड़ो** । तीसरा विभाग **नोवाखलीकी लोकोत्तर तपस्या** । पहला विभाग लिखा जा चुका था। लगभग १५ वर्ष पूर्व वह छपकर प्रकाशित भी हो चुका था। विजयादशमी १९९३ वि० संवत्‌में वह पुस्तक तैयार हुआ था। उसका सम्पूर्ण इतिहास पाठक **'स्वामी भगवदाचार्य'** के किसी दूसरे भागमें पढ़ेंगे। उस भारतपारिजातमें मैंने २६ सर्ग और १८३२ श्लोक लिखे थे। उसकी एक टीका सहित द्वितीयावृत्ति भी हुई थी। उसमें मैंने २५ सर्ग ही प्रकाशित किये थे। अन्तिम २६वाँ सर्ग छोड़ दिया था। वह बहुत आवश्यक नहीं था। उस सर्गके पृथक् करनेमें एक विशेष कारण भी था। श्रीमान् महान्त भगवान्‌दासजी खाकी महोदय मेरे बहुत पुराने सहायकोंमेंसे हैं। उन्हें मेरी प्रवृत्ति सदा प्रिय लगी है और वह सदा मेरे साथ रहे हैं। खादी पहिनना मैंने ही उन्हें सिखाया है। वह महात्मागांधीके बहुत श्रद्धालु नहीं थे। एक दिन उनके मनमें आया और कहा कि मुझे महात्माजीके पास ले चलो। उन दिनों श्रीमहात्माजी सत्याग्रह आश्रम साबरमतीमें ही थे। एक ही दिन पूर्व मैं उनसे मिल भी आया था। मैं श्रीखाकीजीको लेकर फिर आश्रममें गया। उस समय महात्माजी छात्रालयमें ऊपर एक रूममें बैठकर छोटे

बच्चोंको पढ़ा रहे थे या यों कहिये कि उनके साथ खेल रहे थे या उन बच्चोंको अपने साथ खेला रहे थे। हम दोनों ऊपर चढ़ गये। मैं तो यदि श्रीमहात्माजीके पास जाऊँ तो वह मुझे बहुत निकम्मा समझते। वह कहते कि इस आदमीको कोई काम नहीं है, रोज़ आता है। मैंने श्रीखाकीजी महोदयको ही धक्का दिया कि आप अन्दर जायँ। मेरे धक्केसे उनको होता ही क्या? वह तो अखाड़ेके नेता। हृष्ट-पुष्ट नवयुवक शरीर। वह टससे मस नहीं हुए। न जाने क्यों, उनका साहस ही महात्माजीके पास जानेको नहीं हुआ। वहाँसे हम लौटे और सीधे खादी भण्डारमें गये। वहाँ खादी ली गयी। भाई श्रीखाकीजी खादीधारी बने। तबसे वह कांग्रेसी भी बनने लगे थे।

जिस समय भारतपारिजातको मैंने लिखा था उस समय वह कांग्रेसका कोई सक्रिय कार्य नहीं करते थे। २६वें सर्गमें मैंने उस समय जिन लोगोंने महात्माजीके कार्यमें कुछ भी भाग लिया था उनका नाम लिखा था। मेरे परिचितोंमेंसे महामहोपाध्याय पण्डित श्रीकालीप्रसादजी शास्त्री, श्रीमान् महान्त सीतारामाचार्यजी नासिकवाले, तथा ब्रह्मचारी श्रीवासुदेवाचार्यजीका नाम था। म० म० पण्डित कालीप्रसादजी मेरे बहुत ही हितचिन्तक हैं। संस्कृत भाषाकी सेवा और समृद्धि करना उनके जीवनका महानुद्देश्य है। मैंने उनके लिये निम्नलिखित श्लोक लिखा था—

श्रद्धां तस्य यतेर्विलोक्य बहुलां गीर्वाणवाणीं प्रति,
श्रद्धारत्नसमन्वितो बुधवरस्तत्प्रीतये संस्कृतम्।
सर्वत्रादितिनन्दनप्रियतमा धत्तात्परं निर्भयं,
सेत्येवाद्य मनोहरं प्रकटयन्कालीप्रसादो जयेत् ॥१२॥

"श्रीमहात्माजीकी संस्कृतभाषाके प्रति महती श्रद्धा देखकर

उनकी प्रसन्नताके लिये श्रद्धारूपरत्नसे युक्त, विद्वान् पण्डित श्रीकालीप्रसाद शास्त्री यह विचारकर कि देवताओंकी प्रिया वह देवभाषा निर्भय होकर सर्वत्र स्थान प्राप्त कर सके, आज मनोहर **'संस्कृतम्'** इस नामवाले पत्रको प्रकाशित करके विजय प्राप्त करे।"

श्रीमान् महान्त सीतारामचार्य शास्त्रीजीके लिये यह श्लोक था,

श्रीसम्प्रदायी श्रीशास्त्रिसीताराममहोदयः।
अन्त्यजाद्धारसंलग्नो बिरक्तो वैष्णवोत्तमः ॥२४॥

"श्रीसम्प्रदायानुयायी (नासिकनिवासी) विरक्त परमवैष्णव महान्त श्रीसीतारामाचार्यशास्त्रीजी अन्त्यजोद्धारकार्यमें लग गये।"

ब्रह्मचारी श्रीवासुदेवाचार्यजीके लिये यह श्लोक लिखा गया था—

ब्रह्मचारी वासुदेवस्तथान्येपि च वैष्णवाः।
अहो कारां गता देशसेवां कुर्वन्त उद्धुराम् ॥२५॥

"अयोध्याके ब्रह्मचारी वासुदेवाचार्यजी तथा अन्य भी बहुतसे वैष्णव देशसेवा करते हुए जेल गये।"

मुझे किसीसे पता लगा कि भारतपारिजातमें श्रीमान् महान्त भगवान्दासजी खाकीमहोदयका नाम नहीं है, अन्योंका है, अतः श्रीखाकीजीको खेद हुआ है। मुझे बहुत दुःख हुआ। श्रीखाकीजी तो मेरा आत्मा हैं। उन्होंने मेरा बहुत ही साथ दिया है। एक वार मुझे अण्डवृद्धि हो गयी थी। बम्बई जाकर शस्त्रक्रिया (ऑपरेशन) कराना था। मेरे पास द्रव्य नहीं, कोई साथी नहीं, अस्पतालमें मेरी सेवा कौन करेगा? इस चिन्ताको तो श्रीखाकीजीने ही दूर किया था। वह अपने द्रव्यसे मुझे बम्बई ले गये थे। मुलगांवकरके प्राइवेट अस्पतालमें मुझे उन्होंने प्रविष्ट कराया। वह स्वयं श्रीपञ्चमुखी हनुमान्जीके मन्दिर (भोलेश्वर) में रहते थे।

मेरे लिये प्रतिदिन दोनों समय भोजन अपने हाथोंसे बनाकर ले जाते थे। यह सेवा कौन करता ? मैंने उनके पास समाचार पहुँचाया कि जिस समय भारतपारिजात लिखा गया था, श्रीखाकीजी कांग्रेसकार्यकर्ता नहीं थे, यह ग्रन्थ कांग्रेसकार्यकर्ताओंके साथ ही सम्बन्ध रखता है, अतः उनका नाम नहीं आ सका। उन्हें सन्तोष हुआ या नहीं, मुझे आजतक पता नहीं है। उन्होंने कभी ऐसा व्यवहार नहीं किया जिससे मैं यह अनुमान कर सकूं कि श्रीखाकीजी मुझसे रुष्ट हैं या असन्तुष्ट हैं। परन्तु मेरे मनमें खेद बना रहा। शायद संस्कृतमें किसी पण्डितके लेखद्वारा मुझे यह भी ज्ञात हुआ कि इस श्लोकसे महामहोपाध्यायजीको प्रसन्नता नहीं हुई थी। इस सर्गमें सन् १९३२ के भारतसरकारके मिनिस्टरोंके भी नाम थे। वह अस्थायी वस्तु थी। अतः मैंने इस सर्गको ही निकाल दिया। श्लोकसंख्या भी कम हो गयी।

एक बात प्रसङ्गानुसार यहाँ कह देना चाहिये। जब मैंने भारतपारिजात लिखा तो छपनेपर मैंने देखा कि उसमें अशुद्धियाँ बहुत रह गयी थीं। श्रीमान् पण्डित दीनानाथ शास्त्री सारस्वत उन दिनों मुलतानमें रहते थे। किसी प्रकारसे मेरा उनका परिचय हो गया था। साक्षात्कार तो आजतक नहीं हो पाया है। मैंने उनको लिखा कि मुझे अवकाश भी नहीं है, और मेरा ही लिखा हुआ यह ग्रन्थ है, मेरी भूल झट मेरे हाथमें भी नहीं आवेगी, अतः यदि आप भारतपारिजातको एक बार पढ़ जावें और सुधार दें तो बहुत उपकार होगा। उन्होंने इसे स्वीकृत कर लिया और सम्पूर्ण ग्रन्थकी अशुद्ध सूची बनाकर भेज दी। दूसरी आवृत्तिमें मैंने संशोधन कर लिया था। उनके इस उपकारको मैं भूला नहीं हूं।

ऐसा ही एक प्रसङ्ग श्रीरामानन्ददिग्विजयके लिये भी आया। वह ग्रन्थ चम्पागुफा, आबूमें लिखा गया था। बहुत समय तक

वह लिखा हुआ मेरे पास ही पड़ा था। उसमें कुछ स्थल मैंने जान बूझकर अशुद्ध छोड़ दिये थे। मेरा विचार था कि छपनेके समय सुधार दूँगा। कुछ भूलें प्रमादवश भी रह गयी थीं। मैं जब आबूमें था, एक दिन वहाँ अलवर राज्यसे एक श्रीरामस्वामी आये थे और अपनी पूर्वाश्रमकी वृद्धा माताजीके साथ चम्पा-गुफामें ऊपर रामझरोखेमें ठहरे थे। मुझे पता नहीं कि उन्हें अंग्रेजी भाषा आती थी या नहीं, परन्तु वह फ़ारसीके अच्छे ज्ञाता मालूम होते थे। बड़े अच्छे अच्छे शेर फ़ारसीके वह ऊपरसे बोला करते थे। एक दिन उन्हें पता लगा कि मैंने श्रीरामानन्द-दिग्विजय लिखा है। वह मुझसे दिग्विजय माँगने आये। जब मैंने जाना कि वह संस्कृत भी अच्छा जानते हैं तो मैंने उनसे कहा कि पुस्तक तो मैं देता हूं परन्तु जहाँ जहाँ आपको अशुद्धि मिले वहाँ लाल पेन्सिलसे चिह्न करते जायँ। उन्होंने चिह्न ही नहीं किया प्रत्युत सब अशुद्धियोंका संशोधन करके मेरे पास भेज दिया। कृतज्ञतापूर्वक मैंने उस ग्रन्थको सुधार दिया।

कुछ भी लिखकर पुनः पढ़ जानेकी मेरी आदत नहीं है, इस लिये मेरे ग्रन्थोंमें अशुद्धि रह ही जाती है। अब तो मेरा मस्तिष्क निर्बल हो गया है, स्मरणशक्ति अति न्यून हो गयी है, अतः मैं बहुत भूल करने लग गया हूं। अस्तु।

भारतपारिजातका दूसरा भाग **पारिजातापहार** के नामसे मैंने लिखा और प्रकाशित करा लिया था। इसमें २६ सर्ग थे और सम्पूर्ण अनुष्टुप छन्दमें था। इसको विभिन्न छन्दोंमें परिवर्तित करना था और तीसरा भाग लिखना अवशिष्ट था। तीसरे भागके लिये मेरे पास सामग्री नहीं थी। मैंने मेरे पूर्वके छात्र और वर्त-मान समयमें सौराष्ट्रमें हरिजनप्रवृत्ति चलानेवाले श्रीपुरुषोत्तम गाँधीजीसे पूछा कि मुझे अपेक्षित साधन कहाँसे मिल सकेंगे?

उन्होंने श्रीमती मनु बहिन गाँधीका नाम लिया। मैं तुरन्त ही महुवा (सौराष्ट्र) पहुँचा। वहाँसे मुझे पुष्कल सामग्री और सूचनाएँ प्राप्त हुईं। मुझे पोरवन्दरमें सेठ श्रीनानजी भाई कालिदासका बनवाया हुआ कीर्तिमन्दिर देखना था और उसमें लगे हुए पत्थरोंमें लिखे हुए इतिहासकी नोंक लेनी थी। कीर्तिमन्दिर एक सुन्दर मन्दिर है। श्रीमहात्मागाँधीजी और श्रीमती कस्तूर बाकी वहाँ मूर्ति है। नित्ययात्रा धाम बन गया है। इस मन्दिरके साथ ही लगा हुआ श्रीमहात्माजीका वह मकान है जो उनके बापदादोंका था और जिसमें उनका जन्म हुआ था। कीर्तिमन्दिरमें सन् संवत्के साथ महात्माजीके जीवनकी घटनाएँ वहाँ विशाल प्रस्तर खण्डमें खुदी हुई हैं। वहाँसे लौटकर नवजीवन प्रेसमें गया। श्रीजीवणलाल भाईने मुझे बहुत सी सामग्री तथा साप्ताहिक, पाक्षिक पत्र दिये। श्रीमनु बहिनकी लिखी हुई महात्माजीकी दिनचर्या (डायरी) भावनगरमें छपती थी। वहाँसे वह डायरी प्राप्त की। भावनगरमें जहाँ वह डायरी छपती थी, उस प्रेसके व्यवस्थापक बन्धुने बहुत उदारतासे सब फाइलें भेज दीं। शीघ्रताके कारण मैं कीर्तिमन्दिरके घटनाओंकी तारीख सन् नहीं लिख सका था। पीछेसे, वहाँके तत्कालीन स्टेशन मास्टर श्रीवैजूभाई तथा पांजरापोलके डा० श्रीजयन्तीलाल भाईने लिखकर मेरे पास भेज दिया था।

भारतपारिजातको तीथलमें बैठकर लिखा था। तीथल समुद्रतटपर बडसाल (गुजरात) के पास एक गाँव है। पारिजातापहार और तीसरा भाग पारिजातसौरभ राजनगर सोसाइटीके, बङ्गलेमें लिखे गये हैं। बहुत श्रद्धासे ये ग्रन्थ लिखे गये। मैं प्रातः ७ बजे स्नान करके लिखने बैठ जाता। ३ बजे लिखना बन्द करता। ८ घण्टों तक लिखता रहता। लेखनकालमें मौन। ३ बजेके बाद

भोजन बनाता, खाता और ५ बजे सायङ्काल निवृत्त होकर विद्यार्थियोंको पढ़ाता। दो मासमें ही पारिजातापहारका परिवर्तन, परिवर्धन, पारिजातसौरभकी नूतन रचना, हिन्दी टीका करना, प्रेस कापी करना, यह सब काम दो मासमें ही पूरे हो गये। काशी छपानेके लिये गया। लगभग दो मासमें ये तीनों ग्रन्थ छपकर तैयार हो गये।

जिल्द बंधाने–तैयार करानेमें बहुत विलम्ब हुआ ? तीनों भागोंकी दो-दो हज़ार प्रतियाँ छपी थीं। कुल छह हज़ार पुस्तकोंका जिल्द बाँधना, पुस्तकोंकी सिलाई, बहुत समयके काम थे। पुस्तकोंको लेकर मुझे मोम्बासा वापस जाना था। पासपोर्ट तैयार ही था। इन्जेक्शन वग़ैरः लेकर बैठा था। पुस्तकोंके तैयार होते ही मैं मोम्बासा जानेके लिये बम्बई गया। साथमें श्रीत्र्यम्बक भाई थे। त्र्यम्बक भाई अपनी १५ वर्षकी उम्रसे मेरे सहवासमें हैं। जब यह छोटे थे, मुसलमानी मुहल्लेमें रहते थे। मुसलमानोंका ही संग था। टोपी भी मुसलमानी ही पहनते थे। अहमदाबादमें सन् १६३८ में मुसलमानोंने अकस्मात् हुल्लड़ मचा दिया। अहमदाबादकी हिन्दू प्रजा प्रथम व्याकुल और भीत हो गयी परन्तु पीछेसे डटकर बदमाशोंका सामना किया तो हुल्लड़ शान्त हुआ। उसी हुल्लड़के समय त्र्यम्बक भाईके माता-पिता मुसलमानी मुहल्ला जमालपुरको छोड़कर हिन्दू मुहल्ले पालडीमें आ गये। मैं भी पास ही पुष्पनाथ महादेवमें उन दिनों रहता था। रोज मेरे पास आते। मेरा कुछ काम होता तो, उसे भी कर देते। धीरे-धीरे वह मुझमें समाने लगे और लगभग समा गये। आवश्यकताके समय ऐसा हो ही नहीं सकता कि वह मेरे पास न हों। त्र्यम्बक भाई मुझे पहुँचाने और स्टीमरपर चढ़ानेके लिये बम्बई तक गये थे। पहलीबार मैं अफ्रिका वायुयानसे गया था और आया भी था

वायुयानसे ही। इस बार मुझे पुस्तकोंका बहुत बड़ा भार ले जाना था अतः स्टीमरमें जानेका निश्चय हो गया था। गुजराती भाई-बहिन गाते हैं—'न जाने जानकीनाथ, सवारे शुं थवानुं छे।' जिस दिन मुझे स्टीमरमें प्रातः १० बजे चढ़ना था उससे एक दिन पूर्व दिनमें लगभग ५ बजे Thrombosis लगभग लक़वा हो गया। उस दिन मैं बाजारमें मोम्बासाके लिये कुछ चीजें लेने गया था। मेरे साथमें त्र्यम्बक भाई और श्रीमाणिकलाल सेठके एक सम्बन्धी द्वारकादासजी थे। एक दूकानमें हम तीनों गये। हमारी मोटर बाहर खड़ी थी। मैं दूकानमें अन्दर एक ऊँचे टेबल-के सहारे खड़ा था। मेरे दोनों साथी ली जानेवाली चीजको देख और ढूँढ़ रहे थे। वह चीज तो नहीं मिली। मेरे पास जब वह लोग आये, देखा कि मैं बेहोश खड़ा हूँ। बोल नहीं सकता था, उत्तर नहीं दे सकता था। अपनी मोटर खड़ी ही थी। तुरन्त मेरे निवासस्थानपर मुझे ले आये। तीन मंजिलकी सीढ़ियाँ चढ़नेमें मैं तो सर्वथा असमर्थ ही था, मेरे साथी भी मुझे नहीं चढ़ा सकते थे। उस बिल्डिंगमें जहाँ मैं ठहरा था, दूसरी ओरसे लिफ्ट Lift था। उसीसे मैं ऊपर लाया गया। टेलिफोन किये गये। आफ़िससे सभी सेठ महानुभाव दौड़ते हुए आये। डाक्टर भी दो बुला लिये गये। डाक्टर योध बम्बईके प्रसिद्ध डाक्टरोंमेंसे एक हैं। उनके हाथमें मैं सौंप दिया गया।

मेरा मस्तिष्क, मेरी जीभ, मेरा दाहिना हाथ बेभान था। Thrombosis का असर इन्हीं तीन अवयवोंपर था। मुझे मिलने-के लिये माननीय महान्त श्रीसीतारामाचार्यजी महाराज आकर बैठे थे। वह मेरी दशासे घबराये। मैंने उन्हें बाएँ हाथसे लिख-कर प्रार्थना की कि वह मेरे लिये श्रीरामन्त्रका जप करें। उन्होंने कृपा करके जपारम्भ किया। चार घण्टोंके बाद मेरे मस्तिष्कमें

थोड़ीसी स्फूर्ति आयी। मुझे कुछ भी स्मरण नहीं होता था, अब सब स्मरण होने लग गया था। सब ग्रन्थ स्मृत होने लगे। मुझे आश्वासन मिला।

दो दिनतक मैं मल-मूत्रके लिये शौचालयमें नहीं जा सकता था। श्रीबालकृष्ण शाह (बाबूकाका) और श्रीत्र्यम्बक भाई ये ही दोनों मेरे मल-मूत्रकी सफ़ाई करते थे। बाबूकाका थोड़ेसे हँसमुख हैं। वह प्रातःकाल ही मेरे पास आये। त्र्यम्बक भाई तो मेरे पास ही रहते थे। बाबूकाका कहते, त्र्यम्बक भाई चलो, गटरकी सफाई कर लें। गटरकी सफाईका अर्थ था मुझे स्पञ्ज करना। अङ्ग-प्रत्यङ्गको भींजे रूमालसे पोंछना। उनकी बातोंसे मुझे भी हँसी आती थी। इस बीमारीमें मैं कभी भी घबराया नहीं, कभी भी एक दिनके सिवाय, आँखोंसे आँसू नहीं बहाया।

पञ्चमुखी हनुमानके महान्त श्रीनरसिंहदासजी बहुत ही सज्जन हैं। मुझपर उनका बहुत ही प्रेम और आदर है। वह भी मुझे इन दिनों देखने आये थे। उनके यहाँ कोई सन्त आते, वह भी मेरा समाचार सुनकर दुःखी होते और मेरे पास आते। एक दिन वृन्दावनसे एक सन्त आये। मेरी दशा देखकर वह रो उठे। उन्हें देखकर मुझे भी रोना आ गया। इसके सिवा कभी भी मुझे मेरे रोगपर दुःख नहीं हुआ। शरीर है। शरीरका धर्म इसके साथ है। मैं प्रारब्ध मानता नहीं। अतः पूर्वजन्मके किसी पापकी मुझे आशङ्का नहीं। इस जन्ममें जान-बूझकर मैंने कोई पाप किया नहीं। तब शोक क्यों करता। सेवा करनेवाले लक्षाधीश बन्धु थे। बड़ेसे बड़े डाक्टरकी दवा होती थी। एक डाक्टरके ४० रुपये रोज दिये जाते थे। दो डाक्टर तो नियत रूपसे रोक लिये गये थे। एक डाक्टर रक्तपरीक्षाके लिये तीसरे

या चौथे दिन आया करते थे। मेरी चिन्ता मेरे साथियोंको थी। मैं तो निश्चिन्त था।

श्रीचन्दन बहिन एक मेरी शिष्या हैं। वह मई सन् १६३६ में मुझसे दीक्षित हुई थी। उस समय मैंने उन्हें राममन्त्रका उपदेश न देकर वासुदेवमन्त्रका उपदेश दिया था। वह उस समय अज्ञान थीं। १७ या १८ वर्षकी उम्र रही होगी। आज तो बड़ी हुई हैं। राममन्त्रका उपदेश तो मैंने अभी कुछ वर्ष पूर्व दिया है। वह अब मुझसे लड़ती हैं कि पहले ही क्यों नहीं राममन्त्र दिया। मैं समझा लेता हूं, कि राममन्त्र देनेके पूर्व शिष्यकी परीक्षा करनी चाहिये। मैं परीक्षा कर रहा था। वह अहमदाबादमें गुजराती भाषाकी प्राथमिक शालाओंमें अध्यापिका हैं। गत वर्ष वह मैट्रिक परीक्षामें हिन्दी लेकर उत्तीर्ण हुई हैं। उस समय उन्हें अहमदाबादमें समाचार मिला कि मुझे लकवा हो गया है। वह कभी बम्बई आयी नहीं थीं। पहली ही बार बम्बई आयीं। मेरे पास आयीं। उनके दुःखका ठिकाना नहीं था। मैंने यह कहकर कि त्र्यम्बक भाई मेरे पास हैं, श्रीबाबूकाका भी हैं, तुम जावो। वह अहमदाबाद लौट आयीं। बम्बईसे मैं एक मासके पश्चात् आधा अच्छा होकर अहमदाबाद आया। श्रीचन्दन बहिन तब तक मेरे पास ही रहीं, जब तक कि मैं सर्वथा नीरोग नहीं हुआ। चन्दन बहिन स्वयं भी उन दिनों बीमार रहा करती थीं परन्तु मेरी सेवामें कोई त्रुटि नहीं आने दी। श्रीत्र्यम्बक भाई भी तो सहायक थे ही।

श्रीचन्दन देवी और श्रीत्र्यम्बक भाईकी परीक्षाका एक अवसर अभी आकर चला गया है। सन् १६५५ में आश्विन सुदि ६मी, २०११ को एक पागल बड़े बन्दरने मेरे दाहिने पैरमें काट लिया। इतना जोरसे काटा कि मैं तुरन्त ही बेभान होकर जमीनपर गिर गया। रक्तकी धारा बह चली। बन्दरको एक बालकने भगा

२४

दिया। प्राथमिक उपचार हुआ। श्रीमान् डा० जितेन्द्रदेसाई साहब प्रतिदिन इन्जेक्शन Injection देने आते थे। डाक्टर साहब बहुत दयालु और परोपकार वृत्तिके हैं। अजमेरके डाक्टर साहबकी अनुपस्थितिमें यहाँ अहमदाबादमें मुझे एक सहृदय डाक्टरकी आवश्यकता थी। श्रीमान् जितेन्द्रदेसाई साहब मिल गये। मेरे पैरमें शायद १४ टाँके लगे थे। टाँके तोड़े गये। परन्तु मैं तीन मास तक जमीनपर पैर नहीं रख सकता था। पहियोंवाली एक कुर्सी सेठ साहबने भेजी थी। उसीपर बैठाकर मुझे बाथरूपमें ले जाया जाता। शौचादि सभी क्रियाएँ बाथरूममें ही होतीं। श्रीचन्दन बहिन ही उसे रोज दोनों समय साफ़ करतीं। कभी कभी श्रीत्र्यम्बक भाईको भी यह काम करना पड़ता था। श्रीचन्दन बहिन जैसी पवित्र शिष्या और निर्भय तथा श्रद्धालु सेविका मिलना कठिन है। श्रीत्र्यम्बक भाई और उनकी पत्नी श्रीजयादेवी भी दो वर्ष पूर्व मुझसे ही दीक्षित हुई हैं।

आज १॥ वर्ष हो गया। मेरा पैर अभी तक अच्छा नहीं हुआ है। मैं लंगडा हूँ। उम्र तो ७७ वर्षकी हुई। सहायककी आवश्यकता रहती ही है। प्रति अनध्यायके दिन चन्दन बहिन मेरे यहाँ आती हैं, रसोई बनाकर खिलाती हैं। कपड़ा आदि प्रतिसप्ताह वही साफ करती हैं। कभी कभी श्रीजयदेवी बहिन भी इस काममें भाग लेती हैं। इनमें सेवाभाव पूर्णरूपसे है।

अच्छा होकर मैं पुनः अफ्रिका गया। वहाँ भारतपारिजातादि महाकाव्योंका उद्घाटन-महोत्सव हुआ। भारतीय प्रतिनिधि श्री-अप्पासाहबके हाथोंसे उनका उद्घाटन हुआ। उन तीनों ग्रन्थोंके छपानेमें २० हज़ारसे भी अधिक रूपये लगे थे। वे रूपये वहाँके महादानी—महोदार सेठ श्रीकानजी भाई मेघजी भाईने दिये थे, यह बात पीछे कह आया हूँ। इस महोत्सवके मुख्य यजमान श्री-कानजी भाई ही थे। एक जैनमन्दिरमें यह उत्सव मनाया गया था। भव्य सजावट, अद्भुत प्रबन्ध, स्वयंसेवकोंकी सेवा, हिन्दु भाई बहिनोंका अदम्य उत्साह, सभी कुछ उस दिन अलौकिक था। वहाँ श्रीराम भाई त्रिवेदी स्वागताध्यक्ष थे। उन्होंने गुजराती भाषामें इन ग्रन्थोंपर एक अवलोकन लिखा था। वह भी आनन्दप्रद था। वह दिन मोम्बासाका अपना उत्सवदिन था।

इस बार मैं श्रीकानजी भाईके यहाँ ही ठहरा था। उनकी माताजी सारे मोम्बासाकी बा हैं। सभी उन्हें बा कहते हैं। इतनी वृद्ध बा वहाँ कोई है ही नहीं। उनके प्रेम, आतिथ्य और उदारता-का मुग्धहृदयसे अनुभव करता रहा।

मुझे धन कमानेकी तो इच्छा थी नहीं क्योंकि उसकी मुझे तनिक भी आवश्यकता नहीं थी। इसीलिये उस देशमें मेरा मान भी सुरक्षित रहा। प्रतिष्ठा बनी रही। सबका प्रेम और सबकी श्रद्धा भी बनी रही।

श्री० एम० डी० जोषीजीका मोम्बासासे बाहर ४, ५ मील दूरी पर एक बाग़ है। वहाँ उनका एक बङ्गला है। वह जङ्गल ही है।

आबादी दूर दूर केवल अफ्रीकाके मूल निवासियोंकी ही है। मैंने उसी जङ्गलमें जाकर रहनेकी इच्छा की। श्रीसेठ कानजी भाई और उनकी माताजीकी इच्छा नहीं थी तथापि उनको मैंने मना लिया। मुझे शहरका निवास बहुत रुचिकर नहीं है। यदि अनायास ही जङ्गल मिलता हो तो शहरका मोह छोड़ देनेकी सदा मेरी इच्छा रहा करती है। मैं जाकर उस जङ्गलमें रहा। वहाँ पासमें ही रेलवे स्टेशन भी है। एक माइल दूरीपर बस स्टेशन भी है। श्री-सन्तोक बहिन मेरे यहाँ उस जङ्गलमें प्रतिदिन १ बजे आती थीं और ४ बजे चली जाती थीं। वहाँ आकर वह गीता पढ़ती थीं। उनको प्रति तीसरे मास एक मासका अवकाश मिला करता था। वह वहाँ शिक्षिका थीं। एक महीना तक वह निरन्तर मेरे साथ ही उसी जङ्गलमें रही थीं। वे दिन प्रेमके थे, श्रद्धाके थे और विश्वासके थे।

मैं पहले कह आया हूँ कि वहाँ एक बहुत धनाढ्य कुटुम्ब है। सेठ श्रीमोहन भाईकी पत्नी अ० सौ० श्रीनर्मदाबहिन बहुत ही भक्त और श्रद्धालु हैं। वह कितने ही व्रत और कितने ही उप-वास किया करती हैं। सूर्य भगवानके दर्शन किये विना वह कभी अन्नग्रहण नहीं करती हैं। मोम्बासामें कभी कभी तीन तीन दिन तक सूर्य दर्शन नहीं होता, तब वह उतने दिनों तक भूखी ही रहती हैं। आसपासके लोग सभी उन्हें जानते हैं। उनके नियमको जानते हैं। जब कभी ज़रा सा भी कहीं सूर्य दिखायी पड़ गया तो चारो ओरसे आवाज़ आने लगती है—'बहिन दर्शनकरो, बहिन दर्शन करो।' वह बहिन भी दूसरे तीसरे दिन, कभी कभी तो लगातार कई दिन मेरे पास उस जङ्गलमें आया करती थीं। उनके साथ कितनी ही अन्य बहिनें, बच्चे भी आते थे। श्रीकानजी भाई भी आते थे। श्री बा भी आती थीं। शनिवार और रविवारको तो

शहरमेंसे बहुतसे भाई आया करते थे। श्रीचन्दलाल भाई और श्री-पोपटलाल भाई ये दो वहाँके दूसरे सज्जन हैं। दोनों ही भक्त हैं। दोनों ही श्रद्धालु हैं। दोनों ही धार्मिक वृत्तिके हैं। पोपटलाल भाई सत्यके पुजारी हैं। कोई असत्य बोले तो उन्हें बहुत दुःख होता है। मैं जब मोम्बासा शहरमें रहता था तब भी वे लोग प्रति-दिन प्रातः दर्शनार्थ आया करते थे। मेरी सेवाकी आवश्यकता होती तो श्रीपोपटलाल भाई सदा तैयार रहते थे। श्रीचन्दूलाल भाईकी भी यही दशा थी।

मोम्बासामें एक श्रीबाबू भाई जमीनदार हैं। वह बहुत थोड़ा बोलनेवाले हैं। फिलोसोफी उन्हें बहुत प्रिय है। इधर उधरकी बातें उन्हें अच्छी नहीं लगतीं। बहुत ही सज्जन हैं। उनके एक बड़े पुत्र उसी देशमें नैरोबीमें वकील हैं। दो पुत्र देशमें—भारतमें ही हैं। उनकी पत्नी श्रीमहालक्ष्मी बहिन शान्त और भक्तिनिरत हैं। ये सब भाई बहिन वहाँ जङ्गलमें आते थे। श्रीमती नर्मदा बहिन-की उदारताके कारण वहाँ खाने-पीनेकी कोई कमी कभी भी नहीं रहती थी। बड़े बड़े डब्बे भर भरके वे वहाँ लड्डू या ऐसी ही कोई खाने पीनेकी चीजें रख जातीं। कितनी बार तो मैं उस जङ्गलमें घूम घूमकर हरेक झोपड़ीमें जाकर अफ्रिकनोंको लड्डू, जलेबी, आदि दे आता। सब खुश रहते। मैं उनकी स्वाहिली भाषा बहुत नहीं सीख सका। श्रम करके जैसा तैसा थोड़ा सा बोल लेता था। वह मेरी अशुद्ध भाषासे खिलखिलाकर हँसते और आनन्द करते। इस प्रकारसे मैं इस बार मोम्बासामें लगभग ८ महीनों तक रहा।

जब मैं मोम्बासामें अरण्यवासी था, वहाँ ही एक कोई राष्ट्रिय पर्व आ गया था। मुझे स्मरण नहीं है कि वह कौन सा विशिष्ट उत्सव था। या तो श्रीमहात्मागाँधीकी जन्मजयन्ती थी या

आबादी दूर दूर केवल अफ्रीकाके मूल निवासियोंकी ही है। मैंने उसी जङ्गलमें जाकर रहनेकी इच्छा की। श्रीसेठ कानजी भाई और उनकी माताजीकी इच्छा नहीं थी तथापि उनको मैंने मना लिया। मुझे शहरका निवास बहुत रुचिकर नहीं है। यदि अनायास ही जङ्गल मिलता हो तो शहरका मोह छोड़ देनेकी सदा मेरी इच्छा रहा करती है। मैं जाकर उस जङ्गलमें रहा। वहाँ पासमें ही रेलवे स्टेशन भी है। एक माइल दूरीपर बस स्टेशन भी है। श्री-सन्तोक बहिन मेरे यहाँ उस जङ्गलमें प्रतिदिन १ बजे आती थीं और ४ बजे चली जाती थीं। वहाँ आकर वह गीता पढ़ती थीं। उनको प्रति तीसरे मास एक मासका अवकाश मिला करता था। वह वहाँ शिक्षिका थीं। एक महीना तक वह निरन्तर मेरे साथ ही उसी जङ्गलमें रही थीं। वे दिन प्रेमके थे, श्रद्धाके थे और विश्वासके थे।

मैं पहले कह आया हूँ कि वहाँ एक बहुत धनाढ्य कुटुम्ब है। सेठ श्रीमोहन भाईकी पत्नी अ० सौ० श्रीनर्मदाबहिन बहुत ही भक्त और श्रद्धालु हैं। वह कितने ही व्रत और कितने ही उप-वास किया करती हैं। सूर्य भगवानके दर्शन किये विना वह कभी अन्नग्रहण नहीं करती हैं। मोम्बासामें कभी कभी तीन तीन दिन तक सूर्य दर्शन नहीं होता, तब वह उतने दिनों तक भूखी ही रहती हैं। आसपासके लोग सभी उन्हें जानते हैं। उनके नियमको जानते हैं। जब कभी ज़रा सा भी कहीं सूर्य दिखायी पड़ गया तो चारो ओरसे आवाज़ आने लगती है—'बहिन दर्शनकरो, बहिन दर्शन करो।' वह बहिन भी दूसरे तीसरे दिन, कभी कभी तो लगातार कई दिन मेरे पास उस जङ्गलमें आया करती थीं। उनके साथ कितनी ही अन्य बहिनें, बच्चे भी आते थे। श्रीकानजी भाई भी आते थे। श्री बा भी आती थीं। शनिवार और रविवारको तो

शहरमेंसे बहुतसे भाई आया करते थे। श्रीचन्दूलाल भाई और श्री-पोपटलाल भाई ये दो वहाँके दूसरे सज्जन हैं। दोनों ही भक्त हैं। दोनों ही श्रद्धालु हैं। दोनों ही धार्मिक वृत्तिके हैं। पोपटलाल भाई सत्यके पुजारी हैं। कोई असत्य बोले तो उन्हें बहुत दुःख होता है। मैं जब मोम्बासा शहरमें रहता था तब भी वे लोग प्रति-दिन प्रातः दर्शनार्थ आया करते थे। मेरी सेवाकी आवश्यकता होती तो श्रीपोपटलाल भाई सदा तैयार रहते थे। श्रीचन्दूलाल भाईकी भी यही दशा थी।

मोम्बासामें एक श्रीबाबू भाई जमीनदार हैं। वह बहुत थोड़ा बोलनेवाले हैं। फिलोसोफी उन्हें बहुत प्रिय है। इधर उधरकी बातें उन्हें अच्छी नहीं लगतीं। बहुत ही सज्जन हैं। उनके एक बड़े पुत्र उसी देशमें नैरोबीमें वकील हैं। दो पुत्र देशमें—भारतमें ही हैं। उनकी पत्नी श्रीमहालक्ष्मी बहिन शान्त और भक्तिनिरत हैं। ये सब भाई बहिन वहाँ जङ्गलमें आते थे। श्रीमती नर्मदा बहिन-की उदारताके कारण वहाँ खाने-पीनेकी कोई कमी कभी भी नहीं रहती थी। बड़े बड़े डब्बे भर भरके वे वहाँ लड्डू या ऐसी ही कोई खाने पीनेकी चीजें रख जातीं। कितनी बार तो मैं उस जङ्गलमें घूम घूमकर हरेक झोपड़ीमें जाकर अफ्रिकनोंको लड्डू, जलेबी, आदि दे आता। सब खुश रहते। मैं उनकी स्वाहिली भाषा बहुत नहीं सीख सका। श्रम करके जैसा तैसा थोड़ा सा बोल लेता था। वह मेरी अशुद्ध भाषासे खिलखिलाकर हँसते और आनन्द करते। इस प्रकारसे मैं इस बार मोम्बासामें लगभग ८ महीनों तक रहा।

जब मैं मोम्बासामें अरण्यवासी था, वहाँ ही एक कोई राष्ट्रिय पर्व आ गया था। मुझे स्मरण नहीं है कि वह कौन सा विशिष्ट उत्सव था। या तो श्रीमहात्मागाँजीकी जन्मजयन्ती थी या

आबादी दूर दूर केवल अफ्रीकाके मूल निवासियोंकी ही है। मैंने उसी जङ्गलमें जाकर रहनेकी इच्छा की। श्रीसेठ कानजी भाई और उनकी माताजीकी इच्छा नहीं थी तथापि उनको मैंने मना लिया। मुझे शहरका निवास बहुत रुचिकर नहीं है। यदि अनायास ही जङ्गल मिलता हो तो शहरका मोह छोड़ देनेकी सदा मेरी इच्छा रहा करती है। मैं जाकर उस जङ्गलमें रहा। वहाँ पासमें ही रेलवे स्टेशन भी है। एक माइल दूरीपर बस स्टेशन भी है। श्री-सन्तोक बहिन मेरे यहाँ उस जङ्गलमें प्रतिदिन १ बजे आती थीं और ४ बजे चली जाती थीं। वहाँ आकर वह गीता पढ़ती थीं। उनको प्रति तीसरे मास एक मासका अवकाश मिला करता था। वह वहाँ शिक्षिका थीं। एक महीना तक वह निरन्तर मेरे साथ ही उसी जङ्गलमें रही थीं। वे दिन प्रेमके थे, श्रद्धाके थे और विश्वासके थे।

मैं पहले कह आया हूँ कि वहाँ एक बहुत धनाढ्य कुटुम्ब है। सेठ श्रीमोहन भाईकी पत्नी अ० सौ० श्रीनर्मदाबहिन बहुत ही भक्त और श्रद्धालु हैं। वह कितने ही व्रत और कितने ही उप-वास किया करती हैं। सूर्य भगवानके दर्शन किये बिना वह कभी अन्नग्रहण नहीं करती हैं। मोम्बासामें कभी कभी तीन तीन दिन तक सूर्य दर्शन नहीं होता, तब वह उतने दिनों तक भूखी ही रहती हैं। आसपासके लोग सभी उन्हें जानते हैं। उनके नियमको जानते हैं। जब कभी ज़रा सा भी कहीं सूर्य दिखायी पड़ गया तो चारो ओरसे आवाज़ आने लगती है—'बहिन दर्शनकरो, बहिन दर्शन करो।' वह बहिन भी दूसरे तीसरे दिन, कभी कभी तो लगातार कई दिन मेरे पास उस जङ्गलमें आया करती थीं। उनके साथ कितनी ही अन्य बहिनें, बच्चे भी आते थे। श्रीकानजी भाई भी आते थे। श्री बा भी आती थीं। शनिवार और रविवारको तो

शहरमेंसे बहुतसे भाई आया करते थे। श्रीचन्दूलाल भाई और श्री-पोपटलाल भाई ये दो वहाँके दूसरे सज्जन हैं। दोनों ही भक्त हैं। दोनों ही श्रद्धालु हैं। दोनों ही धार्मिक वृत्तिके हैं। पोपटलाल भाई सत्यके पुजारी हैं। कोई असत्य बोले तो उन्हें बहुत दुःख होता है। मैं जब मोम्बासा शहरमें रहता था तब भी वे लोग प्रति-दिन प्रातः दर्शनार्थ आया करते थे। मेरी सेवाकी आवश्यकता होती तो श्रीपोपटलाल भाई सदा तैयार रहते थे। श्रीचन्दूलाल भाईकी भी यही दशा थी।

मोम्बासामें एक श्रीबाबू भाई जमीनदार हैं। वह बहुत थोड़ा बोलनेवाले हैं। फिलोसोफी उन्हें बहुत प्रिय है। इधर उधरकी बातें उन्हें अच्छी नहीं लगतीं। बहुत ही सज्जन हैं। उनके एक बड़े पुत्र उसी देशमें नैरोबीमें वकील हैं। दो पुत्र देशमें—भारतमें ही हैं। उनकी पत्नी श्रीमहालक्ष्मी बहिन शान्त और भक्तिनिरत हैं। ये सब भाई बहिन वहाँ जङ्गलमें आते थे। श्रीमती नर्मदा बहिन-की उदारताके कारण वहाँ खाने-पीनेकी कोई कमी कभी भी नहीं रहती थी। बड़े बड़े डब्बे भर भरके वे वहाँ लड्डू या ऐसी ही कोई खाने पीनेकी चीजें रख जातीं। कितनी बार तो मैं उस जङ्गलमें घूम घूमकर हरेक झोपड़ीमें जाकर अफ्रिकनोंको लड्डू, जलेबी, आदि दे आता। सब खुश रहते। मैं उनकी स्वाहिली भाषा बहुत नहीं सीख सका। श्रम करके जैसा तैसा थोड़ा सा बोल लेता था। वह मेरी अशुद्ध भाषासे खिलखिलाकर हँसते और आनन्द करते। इस प्रकारसे मैं इस बार मोम्बासामें लगभग ८ महीनों तक रहा।

जब मैं मोम्बासामें अरण्यवासी था, वहाँ ही एक कोई राष्ट्रिय पर्व आ गया था। मुझे स्मरण नहीं है कि वह कौन सा विशिष्ट उत्सव था। या तो श्रीमहात्मागाँधीकी जन्मजयन्ती थी या

और कुछ था। उसी समय मोम्बासामें पोरबन्दर कन्या गुरुकुलकी संचालिका तथा बहुत बड़े दानी सेठ श्रीनानजी भाई कालिदासकी बड़ी पुत्री श्रीमती सविता बहिन (?) उनकी छोटी पुत्री श्री.... कितनी ही गुरुकुलकी ब्रह्मचारिणियोंके साथ मेरे निवास स्थानपर आयीं। मैंने ब्रह्मचारिणियोंको थोड़ा सा उपदेश भी दिया। श्रीमती सविता बहिन (मैं समझता हूँ कि यही नाम है, भ्रम भी हो सकता है।) ने आग्रह किया कि मैं गुरुकुलकी बालिकाओंको कुछ उपनिषद् पढ़ाऊँ। मैंने कहा, यदि आप बहिनोंको यहाँ भेज दें, तो मैं अवश्य पढ़ाऊँगा। उनके कहनेसे ज्ञात हुआ कि बहिनोंको मेरे पास जङ्गलमें भेजनेमें उन्हें मोटर, तथा व्यवस्थितरूपसे उनको मेरे पास पहुँचाने आदिकी व्यवस्था करनेमें काठिन्य है। उन्होंने कहा मैं ही उनके पास जाऊँ और पढ़ाकर चला आया करूँ। कई दिनों तक मैं ऐसा ही करता रहा। पाठमें कभी वह दोनों बहिनें भी बैठतीं, कभी एक बहिन बैठतीं, परन्तु ब्रह्मचारिणियाँ तो होती ही थीं। उनको और मुझे भी प्रसन्नता हुई, सन्तोष हुआ कि थोड़ी वेदान्तविद्याका यहाँ मैं वितरण कर सका।

उसी समय जब मैं दूसरी बार टाँगा गया तो वहाँ कितने ही नये भाइयों और बहिनोंके परिचयमें आया। पुराने परिचित श्री-काशीराम भाई और श्रीजीवराम भाई आदि तो थे ही। नया परिचय तो बहुत ही हुआ परन्तु उनमेंसे श्रीयुत हरिदास भाई और श्रीहरजीवन भाई इन सोमैय्या बन्धुओंका परिचय बहुत ही पवित्र और हृदयङ्गम था। श्रीहरिदास भाई बड़े भाई थे। ये बहुत ही संस्कारी थे और इनपर बड़ोदेके श्रीनृसिंहाचार्यजीका, उनके साहित्यका, अच्छा प्रभाव था। मेरे विचारों और सिद्धान्तोंको भी श्रीहरिदास भाई बहुत शान्ति और श्रद्धासे सुनाते और मनन करते थे।

मैं टाँगासे ही जञ्जीबार दूसरी बार भी गया था। आकस्मिक घटना एक यह बनी कि मैं जिनका अतिथि बना हुआ था वह श्रीमान् सेठ छगनलाल भाई बीमार हो गये और तत्काल ही उन्हें बम्बई जाना पड़ा। वह मुझे अपने घरपर ही छोड़ गये। कह गये कि "जब तक मैं न आऊँ, आपके ऊपर ही मेरे कुटुम्बकी रक्षाका भार रहेगा।" मैं इस विश्वासको सर्वथा तो नहीं निभा सका परन्तु निर्वाह किया अवश्य। दिवालीके दिन आ गये थे। मेरी इच्छा थी, कि दिवालीका उत्सव मैं मोम्बासामें श्रीमान् सेठ कानजी भाईके साथ मनाऊँ। परन्तु श्रीछगनलालभाईकी धर्मपत्नी श्रीमती सौ० कान्ता बहिनने आग्रह किया कि दिवाली उनके यहाँ ही क्यों न मनाऊँ ? श्रीछगनलाल भाई बम्बईमें नीरोग हो चुके थे। उनकी चिन्ता नहीं थी। उनके प्रेमभरे शब्दोंकी चिन्ता थी कि— "मैं अपना घर आपको सौंपकर जाता हूँ।" परन्तु अन्तमें श्रीमती कान्ता बहिनने कहा कि दिवाली यहाँ मनावो और कार्तिक शुक्ल प्रतिपद्को (गुजराती नये वर्षको) मोम्बासामें मनावो।" मैंने ऐसा ही किया। जब तक मैं जंजीबारमें रहा, वहाँ श्रीपोपट लाल भाई चेतवाणी, श्रीछगनलाल भाईके लघुभ्राता श्रीमणिलाल भाई, उनकी धर्मपत्नी श्री० सौ० नीलम बहिन, श्रीयुत मोहनलाल मास्टर आदि पुनर्जन्मके विषयमें मेरे विचारोंको श्रद्धासे सुनते, विचार करते और नित्य नये प्रश्न ढूँढ़ लाते, उनका उत्तर मुझसे सुनते।

जब मैं बम्बईमें लकवेकी बीमारीसे बीमार था, उसी समय **विरक्त** पत्रमें मेरे साथी ब्रह्मचारी श्रीवासुदेवाचार्यजीने एक ऐसा लेख लिखा था जिससे श्रीरामानन्दसम्प्रदायके लिये मैंने जो कुछ अच्छा किया था, वह उड़ जाता था। मैं मृत्युशय्यापर पड़ा हुआ था। उस समय यह लेख मिला। वह भी मेरे ही एक प्रामाणिक साथीका लिखा हुआ। बहुत दुःख हुआ। उस समय करता ही क्या? निरुपाय था। जब मैं उस बीमारीसे थोड़ा सा अच्छा होकर अहमदाबाद आया और थोड़ा थोड़ा बोलने लगा था तब मैंने श्रीजगदीशमन्दिरमें अहमदाबादके श्रीरामानन्दीय महान्तोंको बुलाकर एक सभा की। मैं थोड़ा सा बोल सकता था। जीभ बराबर काम नहीं करती थी। मेरे डाक्टर साहबने मुझे बोलनेसे मना कर दिया था। तो भी मैं उस सभामें थोड़ा सा बोल सका। मैंने कहा था—श्रीरामानन्दसम्प्रदायमें आज एक भी पत्र-पत्रिका नहीं है। किसीका उत्तर-प्रत्युत्तर करना हो तो अपने पास कोई साधन नहीं है। मैंने विरक्त पत्रके उस लेखकी बात की। श्री-जगदीशमन्दिरके श्रीपुजारी सेवादासजी महाराज मुझपर बहुत ही प्रेम रखते हैं। वहाँके माननीय महामण्डलेश्वर श्रीमान् गो-साधु प्रतिपालक महान्त श्रीनरसिंहदासजी महाराज मुझपर अनन्त कृपा रखते हैं। सभी प्रतिष्ठित सन्त महान्त उपस्थित थे। दिल्ली चक-लाके श्रीमहान्त भगवद्दासजीने मेरे कथनका अनुमोदन किया। एक मासिक पत्र निकालनेका निश्चय हो गया।

मासिक पत्रका नाम रखा गया था **समन्वय** । उसके एक अङ्क निकलनेके पश्चात् ही मैं द्वितीय बार मोम्बासा गया था। मोम्बासासे मैंने श्रीहनुमानगढ़ी अयोध्याके श्रीगद्दीनशीनजी महाराज श्रीसीतारामदासजी महाराज, बड़ास्थान अयोध्याके श्रीमान् महान्त श्रीरघुवरप्रसादजी महाराज और श्रीमान् महान्त श्रीभगवान्दासजी खाकीको एक पत्र लिखकर विरक्तके उस लेखका प्रतिवाद करनेकी प्रार्थनाकी थी। मेरे पत्रके अनुसार वहाँ सब कुछ हुआ। लोगोंने विरक्तपत्रका और ब्रह्मचारी श्रीवासुदेवचार्यजीका भी बहिष्कार किया। यह सब मुझे अच्छा नहीं लगा। किसी साधु या किसी कार्यकर्ताका बहिष्कार तो अपनी अवनतिको आमन्त्रण देना है। मैं दूर था—विदेशमें था। यहाँ जो कुछ हुआ सुन लिया।

मैं मोम्बासामें ही था, उसी समय श्रीमान् महान्त भगवान्दासजी खाकीने मुझे सूचना दी कि हिन्दी साकेत नामका एक साप्ताहिकपत्र वहां निकलने जा रहा है और उसमें विरक्तका उत्तर हुआ करेगा। यह काम भी मुझसे पूछे बिना शुरू किया गया था। पत्र निकलनेके सब विधिविधान पूरे हो चुके थे। थोड़े दिन में हिन्दी साकेत निकला और मोम्बासामें ही मुझे मिला।

विरोधकी आग भड़क उठी। ब्रह्मचारी श्रीवासुदेवाचार्यजीको मैं अपना निजू आदमी समझता था। मुझे आश्चर्य था कि वह मेरे विरोधमें क्यों खड़े हुए थे। विरक्तपत्र उन दिनों मेरी निन्दाके अतिरिक्त कुछ लिखता ही नहीं था। ऐसा कोई अङ्क नहीं जिसमें मुझे गालियाँ न हों। पण्डित वासुदेवाचार्यजी भी बहती गङ्गामें स्नान करने चल पड़े। उन्हें आनन्दभाष्यके सम्बन्धमें मुझसे लड़ना था। उन्होंने अपने घर एक सभा बुलायी। उस सभामें मेरा बहिष्कार कराया। एक पण्डित रामप्रियादासने उसी सभामें

मेरे लिये कहा था कि उसे तो काट डालना चाहिये। उसी समय प्रयागका कुम्भ सन् १६५४ में आ गया। कुम्भपर्वपर सर्वत्र मैं बुलाया जाता हूँ। मेरा स्वागत होता है। हाथी, बाजे, निशान, सन्तसमुदाय स्वागतमें सम्मिलित होता है। हाथीपर मुझे बैठाया जाता है। छत्र-चमर मुझे प्राप्त होता है। मेरे विरोधी दलने निश्चय किया कि प्रयागमें इस वार भगवदाचार्यका स्वागत नहीं होना चाहिये। अहमदाबादसे पण्डित श्रीवैष्णवाचार्यजी भी इसी उद्देश्यसे बहुत पहले प्रयाग पहुँच गये थे। वहाँ मेरे विरुद्ध बहुत सरगर्मी थी। करपात्री स्वामी भी अपने प्लेट फार्मसे मेरे विरुद्ध बोलते थे—नास्तिक, नास्तिक, नास्तिक। मेरे विरोधी वैष्णव स्वयं तो कुछ कर नहीं पाते थे तब एकाध शैव-स्मार्तको मेरे विरुद्ध उन्होंने खड़ा कर दिया। शास्त्रार्थके चैलेञ्ज भी मुझे मिले। मैंने उनका स्वीकार भी कर लिया। शास्त्रार्थ करने कोई आया ही नहीं। करपात्रीको मैंने चैलेञ्ज दिया। अद्वैत वादमें ईश्वरका कहीं पता नहीं है। अद्वैतवादियोंका ईश्वर यदि है तो मायिक है, औपाधिक है, कल्पित है। मैंने कहा करपात्रीजी किस मुँहसे मुझे नास्तिक और अनीश्वरवादी कह सकते हैं। सब तरहसे जब मेरे विरोधी हार गये, तब असत्यका झण्डा खड़ा किया। यह बात फैलायी गयी कि मैं जैनोंके आश्रित रहता हूं। जैनोंका अन्न खाता हूँ। मेरी जैन जैसी बुद्धि है। इसमें भी विरोधी पक्ष विजयी नहीं बना। अन्तमें लोगोंने अन्तिम स्नानसे एक दिन पूर्व रात्रिमें विचारके लिये सभा बुलायी। मुझे आमन्त्रण आया। मैंने उसका स्वीकार कर लिया। समयपर सभामें पहुँच गया। पण्डित वासुदेवाचार्य-जी और पण्डित वैष्णवाचार्यजी तैयार बैठे थे। मेरे अफ्रिकाके एक भाषणसे उन्होंने मुझे रामनिन्दक सिद्ध किया। तमाशा तो यह हुआ कि उसी भाषणके प्रारम्भके भागसे मैंने अपनेको रामका

अद्वितीय समर्थक सिद्ध किया। पण्डित वासुदेवाचार्यजी बहुत टेढ़े हृदयके आदमी हैं। वह आनन्दभाष्यका चर्चा लेकर बैठे। मैंने कहा वह प्राचीन प्रति आनन्दभाष्यकी दिखावें जिसके आधार पर वर्तमान कल्पित आनन्दभाष्य अहमदाबादमें छपा है। बस टायँ टायँ फिस्।

पण्डित वासुदेवाचार्यजीकी एक बात और भी कर लूँ। उनके गुरुका नाम पण्डित मथुरामदासजी है। पण्डित मथुरादासजीके साथ उनका सदा विरोध रहता है। इसे छोड़ दें। अभी नासिक कुम्भसे लौटकर वासुदेवाचार्य पण्डित सुरत आये थे। वह जहाँ जाते हैं, पैसेके लिये ही जाते हैं। मेरी निन्दासे भी उनको पैसे मिल जाते होंगे। सुरतसे पैसे कमाकर अहमदाबाद आये। यहाँ जगदीश-मन्दिरके श्रीमहाराजजी तो लोकोत्तर उदार हैं। जो आवे, उसे कुछ न कुछ देते ही हैं। श्रीजगदीशमन्दिरमें ही वह आकर ठहरे। प्रातः मेरे बङ्गलेपर आये। इधर उधरकी बातें करते हुए उन्होंने कहा कि "सुरतमें महान्त गोपालदासजी कहते थे कि यहां स्वामी भगवदाचार्यजीको अमुक प्रसङ्गपर बुलाना था, परन्तु यहां लोग विरोधी बहुत थे अतः नहीं बुलाया गया।" वह तो बहुत असत्य-वादी हैं, मैंने उनका विश्वास नहीं किया। परन्तु मैंने सुरतमें पं० जयरामदासजीको पत्र लिखकर पण्डित वासुदेवजीकी सत्यताकी परीक्षा करनी चाही।

पण्डित जयरामदासजीका एक पत्र मुझे १०-३-१९५६ को मिला था जिसकी कुछ अविकल प्रतिलिपि यह है—

......मैंने आपको १४ तारीखको पत्र लिखा था उसका कोई जवाब नहीं आया। मेरी आपसे यह प्रार्थना है कि आप कृपा करके रविवारको सुरत पधारें। मैं जनतासे कह चुका हूँ कि हमारे सम्प्रदायके आचार्य श्री आनेवाले हैं। जनताकी भी इच्छा आपके

दर्शनोंकी है। मैंने सोमवारको आनेके लिये लिखा था, कारणवश नहीं आ सका। इस पत्रको आप तार समझिये। हम आपके बालक हैं, हमारे ऊपर अवश्य कृपा करना चाहिये।............। आप रविवारको किस गाड़ीसे आवेंगे उसकी मुझे सूचना दीजिये।

आपका चरणसेवक

जयरामदास

मुझे बुलानेके लिये यह और इसके पूर्व भी एक दो पत्र सुरतसे पण्डित श्रीजयरामदासजीके आये थे। मैंने उन्हें लिखा था कि "सुनता हूँ कि सुरतमें दो पक्ष हैं। एक पक्ष मेरा विरोध करता है। ऐसी दशामें मुझे वहाँ नहीं आना चाहिये।" पण्डितजीने उत्तर दिया था कि यहाँ आपका कोई भी विरोधी नहीं है। तब मैंने अपने तीन नियमोंके साथ वहाँ जाना स्वीकृत कर लिया था। वे तीन नियम ये थे—

१—मेरा जुलूस न निकाला जाय,

२—मुझे भेंट न दी जाय,

३—मुझे एक दिनसे अधिक न रोका जाय।

परन्तु मैंने पुनः लिखा कि मैं बदरीनारायण उन्हीं दिनोंमें जा रहा हूं। वहाँ नहीं आ सकूंगा। मैं नहीं गया।

पण्डित वासुदेवाचार्यजीकी बात सुनकर मैंने उपर्युक्त पण्डितजीसे पूछा कि प० वासुदेवाचार्यजी कहते हैं कि वहांके महान्त श्रीगोपालदासजी उनसे कहते थे कि भगवदाचार्यको यहां बुलाना था, परन्तु विरोधके कारण नहीं बुलाये गये। क्या यह सत्य है?

इसका उत्तर यह आया— सुरत

५-१०-५६

महामान्यवर श्री श्री १००८ श्रीस्वामीजी महाराजको दासानुदास प० जयरामदासका साष्टाङ्ग दण्डवत् नित्य प्रतिका स्वीकृत हो।

आपका पत्र मुझे ४ को प्राप्त हुआ। पढ़कर अत्यन्त ही दुःख हुआ। तब मैं पण्डित कन्हैयालालजीको महान्त गोपालदासजीके पास भेजा कि उस वक्त आप सब लोगोंने स्वामीजीको बुलानेके लिये सम्मति दी थी। मैंने यह भी कहा था कि यदि स्वामीजीका कोई विरोध करनेवाला हो तो नहीं ही बुलाया जावे। तब आपने कहा था कि स्वामीजीका सुरतमें कोई विरोधी नहीं हैं। तब आपने सार्वभौमजीसे क्यों कहा कि यहां बहुत विरोधी है? तब प० कन्हैयालालजीसे महान्त गोपालदासजीने कहा कि मैं भगवान्की सौगंध खाकर कहता हूं कि न मैं स्वामीजीका विरोधी हूं और न मैंने सार्वभौमजीसे ऐसा शब्द कहा। तब गौडियाके महान्तजीसे पूछा कि आप स्वामीजीके विरोधी हैं? तब उन्होंने कहा कि मैं आजीवन स्वामीजीका विरोधी नहीं हो सकता। दूसरे दो चार महान्तोंसे पूछा उन्होंने भी यही कहा कि हम लोग कोई विरोधी नहीं है।

पण्डित जयरामदासजी

आगेके इस पुस्तकके किसी भागमें ये सब पत्र और दूसरे पचीसों पत्रोंका फोटो देनेका विचार है। इससे लाभ यह होगा जगत्के विद्वान् देखें कि स्वार्थियों और प्रतिष्ठालोलुपोंने मुझे किस किस तरहसे हैरान किया है।

बहुत दिनकी बात है। आसाममें……एक सन्त पण्डित जयराम-दासजी थे। आज हैं या नहीं पता नहीं। उनके छोटे भाई श्रीपति उपाध्याय थे। श्रीपति छोटी उम्रके थे और अंग्रेज सर्कारने उन्हें कई वर्षों से नजर कैद कर रखा था। श्रीमहात्मागांधीजीकी सम्मतिसे जब वाइसरायने कालेपानीके कैदियोंको तथा अन्य कैदियोंको भी छोड़ दिया था; उसी समय श्रीपति भी छोड़ दिये गये थे। मैं उन दिनों सेवाग्राममें था। वहां ही श्रीपति मुझे बहुत वर्षोंके बाद मिले थे। मैं जिस समयकी बात करना चाहता हूं वह त्रिपुरा (आसाम) के राजकुमारजीकी राजगादीका समय था। मैं डाकोरमेंथा। प० जयरामदासजीने मुझे लिखा कि उस राजगादीके समय लाखों रुपये बांटे जायँगे। यदि आप आ जायं तो सम्प्रदायके लिये कोई विद्यालय खोला जा सकता है, इतना धन मिल सकता है। मैं तो लोभी। सम्प्रदायकी कब कितनी उन्नति कर डालूँ, मेरे इस लोभका पार नहीं। मैं बड़ोदामें महान्त श्रीरामदासजीसे मिला और प्रार्थना की कि मुझे त्रिपुरा पहुँचनेके लिये गाड़ी भाड़ा दे दें; और जब मैं वहांसे तार करूँ तो वापस आनेके लिये भी द्रव्य भेज दें। प० जयरामदासजी केवल पत्रव्यवहारसे ही परिचित थे, अन्य कोई परिचय था नहीं। यदि मुझे गाड़ी भाड़ा वहांसे न मिला तो मैं गुजरात आऊँगा कैसे? यह भय मुझे लगता था। श्रीमहान्तजीने मेरी बात मान ली। मैंने मेरे मित्र पण्डित श्रीरघुवराचार्यजीको पत्र लिखा, बुलाया, वह भी डाकोर आये। सब बातें हुईं। वह त्रिपुरा जानेके लिये तैयार नहीं हुए। मैं तो गया। कहां कहां

होता हुआ, मैं त्रिपुरा गया, मुझे आज कुछ भी स्मरण नहीं है। प० जयरामदासजी त्रिपुरामें ही मिले। सन्तोंकी भीड़ थी अन्योंकी भी। वहां पहुँचकर मैंने सर्वप्रथम राजकुमारको सूचना दी कि मैं इस शुभ प्रसङ्गपर इस आशयसे यहां आया हूं। कई दिन हो गये, मुझे कोई उत्तर नहीं मिला। मैं वहांके राजपण्डितसे मिला। वह बङ्गाली विद्वान् थे अथवा आसामी, मुझे स्मरण नहीं है। उन्होंने मुझे राजाके पास पहुँचाया। वह स्वयं मुझे लेकर गये थे। राजाने आदर किया। उन पण्डितजीने ही मेरी सब बातें राजाको अपने भाषामें कहीं। राजाने मुझसे पूछा—

आप रामानन्दसम्प्रदायके हैं ?

मैंने कहा, जी हां।

आप विद्यालय बनाना चाहते हैं ?

जी हां, मैंने कहा।

किनके लिये ? राजाने पूछा।

सन्तोंके लिये, मैंने कहा।

इन्हीं रामानन्दीय सन्तोंके लिये ? उन्होंने पूछा।

जी हां, मैंने कहा।

राजाने कहा, इन्हें विद्यासे क्या सम्बन्ध ? ये तो बहुत ही असंयमी हैं। मेरे पास दो अभियोग इन साधुओंके पड़े हैं। दोनों ही स्त्रियों और दुराचारके सम्बन्धमें हैं। इनके लिये आपका प्रयत्न निरर्थक है। मैं चुपचाप वहांसे अपने स्थानपर आया। प० जयरामदासजी तो नवयुवक थे। उनकी आशाका पार नहीं था। वह मुझे आते देखकर हर्षसे मेरे सामने दौड़े। उन्हें विश्वास था कि मैं हजारों रूपये लेकर आ रहा हूं। जब मैंने राजाकी बातें सुनायीं तो उनकी हृदय-कुसुम-कलिका मुर्झा गयी। मैंने कहा, अब मुझे यहां नहीं रहना चाहिये। कितने ही सन्तोंने,

राज्याभिषेक हो जानेपर जानेके लिये कहा। परन्तु इसे मैं मान ही नहीं सकता था। प० जयरामदासजीने मेरी बात मान ली। वह समझदार थे। मैंने पूछा, मेरे गाड़ी भाड़ाका क्या होगा? वह विवश थे। उनके पास कुछ नहीं था। उन्होंने कहा, चलिये, यहांके स्थानोंमें भ्रमण कीजिये। रूपये आपको मिल जायँगे। वह कई शहरोंमें, बङ्गालमें भी और आसाममें भी मुझे ले गये। बंगाल देखनेको मिला। गांवोंमें भी थोड़ासा घूमना पड़ा। वहांकी वनश्री भी देखनेको मिली। वहांकी नदियां देखनेको मिलीं। उस समय मैं आजके समान बुड्ढा नहीं था। उन्होंने मुझे कहां कहां भ्रमण कराया, आज तो याद नहीं है। उस समयकी डायरी-का पता नहीं है। कितने ही वृत्त साधुसर्वस्व पत्रसे प्राप्त हो सकते हैं। आज मेरे पास उनकी फाइल नहीं है। मैं वहां भी गया था जहां जयरामदासजी रहा करते थे। मैं सिलहट भी गया था जहां की शीतलपाटी बहुत प्रसिद्ध है। वहाँकी एक किसी संस्थामें मेरा संस्कृत भाषण भी हुआ था। उस समयकी एक विज्ञाप्ति मेरे संग्रहमें अवश्य होगी। आज ढूँढनेका मुझे अवकाश नहीं है। वहाँके एक स्थानमें गया जो उस प्रान्तमें सबसे अधिक सम्पन्न था। वहाँके महान्तजीका नाम शायद श्रीरामशरणदासजी था। वह मुझे एक प्रयागके कुम्भ या अर्धकुम्भपर भी प्रयागमें मिले थे। मुझे स्मरण है कि मुझे बड़े परिश्रमसे दो या ढाई सो रूपये मिले थे। सौ रूपये तो महान्त रामशरणदासजीने ही दिये थे। उस समय इतने रूपये मेरे लिये लाखोंके समान थे। बड़ोदासे श्री-महान्त रामदासजी मेरे तार या पत्रकी प्रतीक्षामें बैठे रहे। उन्हें कहीं बाहर जाना था, परन्तु नहीं गये। मेरा तार आवे, तो रूपये कौन भेजेगा? इस विचारसे बड़ोदामें ही वह रहे। मैं तो लक्ष्मीके संग्रहमें बंगाल और आसाममें भ्रमण करता था। मुझे इतना

स्मरण है कि बङ्गालका आन्तरिक प्रदेश जितना रमणिय है, भारतका कोई प्रदेश उसकी तुलनामें नहीं आ सकता। काश्मीरकी बात मैं नहीं करता हूं। एक मासके पश्चात् मैं गुजरातमें आया। आया तब मेरे हाथ खाली थे, मन शून्य था। पण्डित श्रीरघुवराचार्यजी उस समय लिम्बडीमें रहते थे। शिङ्ड़ाकी महन्ताई उन्हें नहीं मिली थी। उन्होंने भी एक परिहासपत्र मुझे लिखा था।

एक समय मैं जामनगर गया। मैं पीछे लिख आया हूं कि अमुक मास तक मैं मेहशानामें यशोविजय संस्कृतपाठशालाका मुख्याध्यापक था। वहांसे मेरी ख्याति जैनसम्प्रदायके साधुओंमें बहुत हो गयी थी। उस समयके मेरे एक जैन साधु विद्यार्थी श्री-पुष्पविजयजी पन्यास थे। और कई साधु थे। वह तपोगच्छकी शाखाके थे। वे लोग जामनगरमें चातुर्मास्य कर रहे थे। मुझे पत्र लिखा था, तार दिलाया, बुलानेके लिये। मुझे उस समय धनकी आवश्यकता तो रहती ही थी। सम्प्रदायिकोंसे तो मुझे कभी कुछ मिलता ही नहीं था। कहीं सभाओंमें जाऊँ, तो वहाँसे कुछ ले लेता था। न लेना यह मेरा स्वभाव था। मैं जामनगर पहुँचा। मैंने चार मास तक पढ़ाना स्वीकृत कर लिया। एक गली-में मुझे रहनेके लिये मकान भी मुफ्तमें मिला। वहां सब जैन-कुटुम्ब ही रहते थे। समय पूरा होनेको आया। बगसराके राज-कुमार श्रीरघुवीरदासजीको जामनगरमें मेरे निवासका किसी प्रकारसे पता लगा। उन्होंने अपने किसी प्रामाणिक आदमीको अपने पत्रके साथ जामनगर मेरे पास भेजा। मुझे बगसरा जानेका उस पत्रमें आमन्त्रण था। मैं वहां गया। कूकावाय या कोई अन्य स्टेशन है। स्टेशनसे बहुत दूर बगसरा है। मोटर स्टेशनपर आ गयी थी। मैं वहां पहुँचा। वह मेरे लेखोंसे परिचित थे। मेरे लेखके प्रतिवादमें उनके कई लेख साधुसर्वस्वमें प्रकाशित हो चुके थे। वह सभी लेख रामचरितमानससे सम्बन्ध रखते थे। मैं वहां तीन दिनों तक रहा। राज-अतिथि मैं वहाँ बना था। उसके पहले रीवानरेशका भी मैं अतिथि बन चुका था। यह प्रसङ्ग अयोध्याकाण्डमें आ गया है। वहाँसे मैं जामनगर आया। यहाँके पण्डितोंसे भी परिचय हो गया था।

———

मेरी इच्छा पूना जानेकी हुई। विशिष्टाद्वैतसम्प्रदायका एक ग्रन्थ है 'यतीन्द्रमतदीपिका'। उसपर बहुत ही सुन्दर एक संस्कृत टीका है। टीकाकार थे पूनाके श्री० अभ्यङ्कर वासुदेव शास्त्री। मैंने विचार किया था कि वह विशिष्टाद्वैतवादी पण्डित हैं। उनसे मिलकर कुछ ज्ञान प्राप्त करूँगा। इसी दृष्टिसे मैं वहां गया था। एक धर्मशालामें ठहरा हुआ था। मैं निराश हुआ जब मुझे यह विदित हुआ कि वह तो घोर अद्वैतवादी थे। मैं वहांके कई विद्वानोंसे मिला। उस समय वहाँ एक पण्डित श्रीधर शास्त्री, वहाँके कालेजके संस्कृत प्रोफेसर थे। वह स्वभावके और मनके भी बहुत सरल थे। उनसे मैं प्रायः मिला करता था। लगभग भोजन भी मैं वहां ही करता था। कभी धर्मशालामें भी भोजन बना लिया करता था। उस समय तक मैं वहाँ निरुद्देश्य ही ठहरा हुआ था। मुझे उस समय कोई कार्य भी नहीं था। श्रीरामानन्ददिग्विजय लिख चुका था और वह छप भी चुका था।

दक्षिण हैदराबादसे एक ब्राह्मण, पण्डित श्रीधरशास्त्रीजीके पास आये। हैदराबादमें लिङ्गायतसम्प्रदायके विद्वानोंके साथ एक शास्त्रार्थ करना था। घटना यह थी कि सिकन्दराबादके पास पारली ग्राममें एक ज्योतिर्लिङ्ग है। लिङ्गायत लोग उसका अभिषेक करना चाहते थे। ब्राह्मणोंने मना किया था। लिङ्गायत लोग अवैदिक माने जाते हैं। लिङ्गायत लोग धनवान् थे। उन्होंने मना करनेपर भी मण्डपादि तैयार किया। ब्राह्मणोंने रातमें उसे तोड़ ताड़कर उजाड़ दिया। कोर्टमें मुक़दमा चला। कई वर्षोंतक मुक़-

दमा चलता रहा। अन्तमें न्यायाधीशने एक कमेटी बना दी थी। वह भी एक प्रकारका कोर्ट ही था। उसमें दो निर्णायक थे। एक सनातनी ब्राह्मण और एक लिङ्गायत विद्वान्। उन्हींके समक्ष शास्त्रार्थ होनेवाला था। शास्त्रार्थका विषय था—लिङ्गायतोंको ज्योतिर्लिङ्गके अभिषेकका अधिकार है या नहीं? अधिकार नहीं है, यह सनातनियोंका पक्ष था। पण्डित श्रीधरशास्त्रीजी मुझे अच्छी तरह जान चुके थे अतः उन्होंने उस ब्राह्मणको मेरे पास धर्मशालामें भेज दिया। उसने कहा मुझे दो विद्वान् चाहिये। सेकेण्ड क्लासका गाड़ी भाड़ा दूँगा। शास्त्रार्थ जीतनेपर १००-१०० रूपये दक्षिणा दूँगा। यदि शास्त्रार्थ तीन दिनोंसे आगे बढ़ेगा तो प्रतिदिन ५ रूपये अधिक दूँगा। मैं तो तैयार ही था। वस्तुतः उस समय मुझे रूपयोंकी भूख थी। वहाँ एक पाठशाला थी, उसके एक अध्यापक भी तैयार हुए। उनका एक छात्र भी सङ्गमें था। हम हैदराबाद पहुँचे। दो जज वहाँ नियत किये गये थे। उसमेंसे एक तो पूनासे ही गये थे। वह भी संस्कृतके पण्डित थे। आज मैं नामादि सब भूल गया हूं। सनातनधर्मी जज तो आ गये थे परन्तु लिङ्गायत जज नहीं आये थे। तारीख बढ़ा दी गयी। मेरे तो हर्षका पार ही नहीं रहा। पाँच रूपये रोज़ अधिक मिलनेकी आशा थी। मेरे साथी विद्वान् भी प्रसन्न ही थे। जब मेरे जैसा त्यागी धनागमसे प्रसन्न हो सकता था तो, वह तो गृहस्थ थे। लक्ष्मीप्राप्ति स्वाभाविक ही आदनन्ददायिनी होती है। लगभग १५ दिन हम वहाँ बेकार बैठे थे, भोजन अच्छा मिलता था। आनन्द करते थे। शास्त्रार्थकी तैयारी करनेका मुझे अवसर भी मिल गया। लिङ्गायतोंके ग्रन्थ मेरे पास वही आमन्त्रक ब्राह्मण दे गये। मैंने १५, २० ग्रन्थ उनके बाँच लिये। सिद्धान्त समझ लिया। शास्त्रार्थका उत्साह बढ़ गया। शास्त्रार्थकी तिथि नियत

हुई। मैसूरसे अच्छे अच्छे विद्वान् उस पक्षसे भी आये थे। इस पक्षसे हम दो ही थे। उधरसे एक आर्यसमाजी वकील भी रखे गये थे। हमारी ओरसे कोई भी वकील नहीं था। शास्त्रार्थ लिखित हुआ था। मैंने कहा कि लिङ्गायत लोग शूद्र नहीं हैं, वर्णबाह्य हैं। अतः वह रुद्राभिषेक नहीं कर सकते। उनके वकीलने मेरे इस कथनका बहुत बड़ा विरोध किया था। अन्तमें उन्होने मुझे माफी माँगनेको कहा। भगवदाचार्य तो माफी माँगनेके लिये पैदा ही नहीं हुआ है। प्रेमसे सहस्रवार क्षमा माँग सकता हूं, परन्तु शत्रुपक्षके सामने क्षमा माँगना मेरे भाग्यमें ब्रह्माजी लिखना भूल गये। मैंने उत्तर दिया कि लिङ्गायतसम्प्रदायके अमुक अमुक ग्रन्थोंके आधारपर मैंने ऐसा लिखा है। यदि इस कोर्टमें लिङ्गायत विद्वान् घोषित करें और मुझे लिखकर दे दें कि उन ग्रन्थोंको वे नहीं मानते हैं तो मैं अपना शब्द पीछे खींच लूँगा। यदि उन ग्रन्थोंको मानना है तो मेरा कथन सर्वथा सत्य है। बहुत विवाद हुआ। मैंने कहा उन ग्रन्थोंको यहाँ ही जला दिया जाय, यदि उनके वाक्य न माने जाते हों। इसपर और भी कोलाहल हुआ। मैं तो दृढ था क्योंकि मेरे पास उनके प्रामाणिक ग्रन्थ लगभग सभी उपस्थित थे। उस कोर्टमें सिद्ध यह हुआ कि लिङ्गायत लोग रुद्राभिषेक नहीं कर सकते।

तब उनकी ओरसे एक दूसरी बात कही गयी। उन्होंने कहा कि "हमने काशीमें विश्वनाथमन्दिरमें रुद्राभिषेक किया है अतः पारलीमें भी करनेका हमें अधिकार है।" मैंने कहा, काशीमें विश्वनाथमन्दिरके देवका आपने अभिषेक किया है, इसे तो हम लोग नहीं जानते। आप कोई लिखित प्रमाण भी नहीं दे रहे हैं। अतः इसका निर्णय यह कोर्ट नहीं दे सकती है। इसके लिये एक दूसरी समिति बनानी चाहिये। जो काशी जाकर वहाँ जाँच करे

कि आप लोगोंने रुद्राभिषेक वहाँ किया है या नहीं ? किया है तो कैसे और कब ? शास्त्रार्थ पूरा हो गया ।

चलते समय उस आमन्त्रक ब्राह्मणने हम दोनों पण्डितोंको २५-२५ रूपये और सेकेण्ड क्लासका गाड़ी भाड़ा दिये । हम लोगोंके तो होश ही उड़ गये । हिसाब तो बहुत किया गया था । मनोरथ लम्बे लम्बे थे । सौ भी गये, रोज़के पाँच भी गये । पचीस ही रहे । पूछनेपर उस ब्राह्मणने कहा मेरे पास रूपये नहीं है । जो रूपये संगृहीत थे वह तो आप लोगोंके इतने दिनके भोजनमें व्ययित हो गये । अपना सा मुँह लेकर हम पूना आये ।

अभी मैं पूनामें ही था। बम्बईमें एक संघवी भाई रहते थे। वह पूनामें सनातनधर्मका प्रचार करने आये थे। शायद वह वर्णाश्रमस्वराजसंघकी ओरसे आये हों। उसी धर्मशालामें नीचेके भागमें उनका भाषण हुआ। सभापति थे—स्वर्गीय श्रीयुत मगनलाल शास्त्री। शास्त्रीजी अंग्रेजीके एम० ए० थे। वह वल्लभसम्प्रदायानुयायी थे। अतः वल्लभसम्प्रदायके सभी ग्रन्थोंके वह महान् पण्डित थे। स्वभावके सरल थे परन्तु उनकी उग्रता तब देखते ही बनती थी जब कोई उनके सम्प्रदायपर आक्रमण करता। वह परम भागवत थे। उस सभामें मैं भी बैठा था। बहुतसे गुजराती वैष्णव भी थे। संघवीने अपने भाषणमें महात्मा गाँधीजीको गालियाँ देनेका उपक्रम किया। मुझे स्मरण नहीं है, विद्यापीठके किसी पुस्तकके किसी अंशको पढ़कर महात्मागाँधीजीके विरुद्ध वहाँ बैठे लोगोंको उन्होंने भड़काया था। उनका भाषण पूरा हुआ। श्रीशास्त्रीजीने कहा, यदि कोई दूसरे भाई बोलना चाहें तो बोल सकते हैं। मैं अविलम्ब खड़ा हुआ। उस समय तक शास्त्रीजीसे मेरा कोई परिचय नहीं था। उन्होंने अपनी उदारतासे मुझे उस सभामें बोलनेका समय दिया। मैंने संघवीजीके भाषणका खण्डन कर दिया। हरिजनोंका प्रश्न वहाँ मुख्य था। मैंने वैष्णव प्रमाणोंसे ही हरिजनोंके भगवद्दर्शनका समर्थन किया। उस समय तक मैं गुजराती भाषा नहीं जानता था। हिन्दीमें ही बोल रहा था। मुझ नवागतको देखकर सबको आश्चर्य हुआ। सभा पूरी हुई। संघवीजी तो फण्ड इकट्ठा करने आये थे, परन्तु वह रातमें ही भग

गये। श्रीशास्त्रीजीने मेरा परिचय पूछा। मैंने सब बताया। मैं श्रीवैष्णव हूं, यह जानकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। वह धर्मशाला वाल्लभ वैष्णवोंकी ही थी। उसमें सिद्धपुरके कोई ब्राह्मण प्रबन्धक थे। शास्त्रीजीने वैष्णवोंसे कहा कि ब्रह्मचारीजीका सब प्रबन्ध आप लोग करें और जब तक इनकी इच्छा हो यहाँ रहें। उन दिनों मैं नैष्ठिक ब्रह्मचारी था।

वहाँ एक मोहनलाल भाई और गोपालदास भाई दो सगे भाई ताँबा पीतलके बर्तनके व्यापारी रहते थे। उन्होंने उसी समय मुझे वहाँसे उठा लिया। मैं उनके घरपर चला गया। वह घर लगभग संन्यासीके मठ जैसा ही था। श्रीगोपालदास भाई उन्हीं दिनों|परिणीत हुए थे और उनकी पत्नी दूसरे प्रातःकाल ही वृन्दावन जानेवाली थीं। मैं रात्रिमें वहाँ गया। वह प्रातःकाल उठकर चली गयीं मैं उन्हें देख भी नहीं सका। श्रीमोहन भाईकी पत्नी नहीं थीं।

बहुत दिनों तक रहा। वे दोनों भाई और मैं वहाँके एक मन्दिरमें सायं प्रातः प्रसादसेवन (भोजन) के लिये जाते और भगवत्प्रसादके प्रतापसे बुद्धिशुद्धि भी करते। मैं महात्मागाँधीके सिद्धान्तका पूर्ण समर्थक था। वे लोग चुस्त पुष्टिमार्गीय वैष्णव थे। हम मतभेद रखते थे परन्तु लड़ते नहीं थे। बहुत ही प्रेमसे हम वहाँ रहते थे। श्रीशास्त्री भगनलालजी कहा करते थे कि यदि महाप्रभुजी (श्रीवल्लभाचार्य) से कोई अन्त्यज कण्ठी तिलक और ब्रह्म सम्बन्ध माँगता तो वह कभी भी देनेसे इन्कार नहीं कर सकते। इससे मुझे पुष्टि मिलती, बल मिलता। मैं वहां बीमार पड़ा। गुजरात आ गया।

जब मैं पूनामें उस धर्मशालामें रहा करता था तब पण्डित श्रीधर शास्त्रीजीके एक पुत्र जो कॉलेजमें पढ़ते थे, मेरे पास वेदान्त सूत्रका शाङ्करभाष्य पढ़ने आते थे। मैंने उस ग्रन्थको किसी गुरुसे

नहीं पढ़ा था। परन्तु मैं उसे अच्छी तरह पढ़ा सकता था। मैं पूनेसे चला आया।

जहां तक मुझे स्मरण है, पूनासे आकर मैं पालनपुरमें बड़ा मन्दिरमें ठहरा था। वहाँ पण्डित श्रीरघुवराचार्यके बड़े भाई और बड़े गुरु भाई महान्त थे। वहाँ एक भागवतदासीजी रहती थीं। वह साधु थीं। कुछ दिन वहाँ ही रहा। वहाँसे ही अहमदाबादके राजाधिराजमन्दिरके महान्त पण्डित श्रीवंशीदासजीके साकेतवासके पश्चात् अहमदाबाद गया था। उसकी कथा लिख चुका हूं।

मैं जब राजाधिराजमें मन्दिर, अहमदाबादमें रहता था तो केवल एक वार भाई श्रीगोपालदासशाहजी मुझे वहाँ मिलने आये थे। उसके पश्चात् बहुत वर्षों तक नहीं मिले। पत्र व्यवहार भी बन्द हो गया था। उनके बड़े भाईका गोलोकवास हो चुका था।

एक वार मैं, जब अहमदाबादमें श्रीमान् सेठ माणिकलालशाहजीके आश्रित रहने लग गया था, बैंगलोर गया। बैंगलोरमें भी श्रीसेठजीकी पेढी है—व्यापार है—बङ्गला है। मैं वहाँ एक मास रहा। गुजरात आने लगा तो मैंने रेलवे टाइम टेबलमें देखा कि बम्बई आनेके लिये दो मार्ग हैं। एक पूना होकर गाड़ी आती थी। पूना याद आ गया। उस कुटुम्बका प्रेम, स्नेह, श्रद्धा, उदारताका स्मरण हो आया। उस समय वहाँ एक चन्दूलाल भाई रहते थे। उनकी श्रद्धाका भी स्मरण हुआ। परन्तु पूनामें कौन हैं, कौन नहीं हैं, इसका मुझे वर्षोंसे कोई ज्ञान नहीं था। मैंने श्रीगोपालभाईजीको लिखकर मेरी याद दिलायी। लिखा कि, यदि मुझे पहचान गये हों तो अमुक तारीखको अमुक ट्रेनके समय पूना स्टेशनपर मिलें। उन्होंने तार या पत्रद्वार मुझे सूचना दी कि पूना अवश्य उतर जाना होगा।

मैं पूना आया। स्टेशनपर श्रीगोपालदास भाई मिले। उनके

एक पुत्र भी वहाँ आये थे। वर्षोंके पश्चात् मैं पुनः उसी घरमें जाकर बैठ गया। देखा कि अब वह घर संन्यासिमठ नहीं था, बाल बच्चोंसे भरा हुआ था। ३ पुत्रियाँ और दो पुत्र थे। उनकी पत्नी अब इतने सन्तानोंकी माता थीं। आनन्द हुआ। श्रीगोपालदास भाई सुखी थे, सुखी हैं। उनका परिवार पवित्र और परम वैष्णव है। स्वयं तो वैष्णवताकी मूर्ति हैं। वह श्रीचन्दूलाल भाई भी मिले।

उनकी बड़ी लड़कीकी अवस्था बड़ी होनेसे स्कूलसे उन्होंने उठा लिया था। मैट्रिक भी पास नहीं करने दिया। मेरे कहनेसे उन्होंने उनको पुनः स्कूलमें भेज दिया। दो वर्ष पूर्व वह बी० ए० पास हो गयीं हैं। बी० टी० भी हो गयी हैं। एम० ई० का अभ्यास करती हैं। इनका नाम श्रीकुमारी गोकुलकुमारी शाह है। इनको मैंने अहमदाबादसे पत्रव्यवहारके द्वारा इतनी संस्कृतभाषा ४ महीनेमें में सिखायी थी कि उन्हें बी० ए० तक कोई कठिनता नहीं पड़ी।

उनका संस्कृत अभ्यास समृद्ध देखकर उनकी भौजाई श्रीवसुधाको भी संस्कृतभाषाके लिये श्रद्धा हुई। उन्होंने भी अभ्यास शुरू किया। दो वर्ष पहले वह काव्यतीर्थ हुई हैं। इनके पति श्रीघनश्यामदासजी बी० ए० एल० एल० बी० हैं। इनके छोटे भाई श्रीदेवकृष्ण शायद बी० एस० सी० हैं। दो छोटी बहिनें अभी पढ़ रही हैं।

———

मैं जब ब्रह्मचारी अवस्थामें पहली ही बार अयोध्या गया था तब मैं बड़ा स्थानमें ही रहता था। वहाँ ही भोजन करता था। पण्डित रघुवराचार्यजीके साथ रहता था। उन दिनों एक पण्डित मोतीरामजी पञ्जाबी वहाँ छिप छिपाकर रहते थे। श्रीमान् सद्गत पण्डित श्रीरामवल्लभाशरणजी महाराजके यहाँ भोजन करते थे और कहीं सो जाते थे।

एकजां रहते नहीं आशिके बदनाम कहीं।
दिन कहीं, रात कहीं, सुबह कहीं, शाम कहीं॥

यही उनकी दशा थी। एक ब्रिटिश टापूसे वह भगे हुए थे। वहां लाखोंकी सम्पत्ति छोड़ आये थे। बलवेमें वह भी शामिल थे। यहाँ पुलिस उन्हें ढूँढ़ रही थी। दरिद्रवेषमें जहाँ तहाँ भटकते थे। वह पढ़े लिखे पञ्जाबी स्वभावके सज्जन थे। मेरे लिये भोजनका प्रबन्ध तो बड़ास्थानमें था परन्तु अन्य व्ययके लिये कष्ट था। इसे वह जानते थे। वह बड़ास्थानमें भी आते थे। पण्डित रघुवराचार्यजीके पास भी आते थे। वहां ही वह मेरे परिचित बन गये थे। अब उन्हें थोड़ीसी मेरी चिन्ता रहने लगी। उस समय मेरे विचार तो आर्यसमाजके ही थे। अतः मैं पण्डित श्रीरघुवराचार्यजीकी अपेक्षा अधिक उदार और सभ्य था। मोतीराम भी परदेशोंमें रह चुके थे। उनको मैं अच्छा लगा। उन्हें हम लोग परमहंसजी कहा करते थे। परमहंसजी जब मुझे मिलें बातें करते करते, न जाने कब और कैसे मेरे खीसेमें—पाकेटमें दो चार रूपये डाल देते। एक बार तो उन्होंने मुझे कई पाउण्ड दिये थे, जिन्हें मैंने कानपुरके

स्टेशनपर खो दिया। मैं और श्रीरघुवराचार्यजी दोनों गुजरातसे अयोध्या जा रहे थे। कानपुर उतर पड़े थे वहांसे जब अयोध्याका टिकट लेने और गाड़ी पकड़नेके लिये स्टेशनपर आये, जरा सा असावधानीसे दो मिन्टोंमें ही मेरा एक हैण्ड बैग और पण्डितजीकी रेशमीचादर उड़ गयी। उसी हैण्डबैगमें तीन पाउण्ड रखे हुए थे। उसीमें बहुत वर्षों पूर्व मुस्तफापुर वेदरत्नविद्यालयके उद्घाटनके समय मेरा एक वाल्मीकेरादिकवित्वम् वाला लेख और वह वैयाकरणभूषण था जिसमें गुरुजीके लिखाये हुए, अनेक सुधराये हुए स्थल थे। श्रीपरमहंसजी अयोध्या छोड़कर हरिद्वार गये और मैं वहां ही था। मैं जब सम्प्रदायमें दीक्षित हो चुका था और हरद्वार चढ़ावपर गया था तो वह मुझे वहाँ ही भीढ़भाड़में मिल गये। मेरा हाथ पकड़ लिया। बहुत वर्षोंके बाद हम मिले थे। मैं भी बदल गया था वह भी बदल गये थे। मैं तिलकधारी वैष्णव बना था वह काषायवस्त्रधारी स्वामी मुक्तानन्द बन गये थे। उन्होंने उन्हीं दिनों, थोड़े ही दिन पूर्व ज्वालापुरमें एक आर्यसमाजी संन्यासीसे संन्यास ले लिया था। परिचय हुआ। हम दोनों गले मिले। उन्होंने कनखलमें गुरुकुलके पास थोड़ी जमीन ले रखी थी। वहाँ ही पासमें उनकी एक फूसकी कुटिया थी। मुझे दिखानेको ले गये, मैं गया। उन्होंने अयोध्यामें भी मुझे कहा था, तब भी कहा कि उस विदेशी टापूमें उनके मकानात और जमीन हैं, तुम चाहो तो मैं तुमारे नाम उन सबको चढ़ानेका प्रयत्न करूँ। मैंने दोनों बार अस्वीकृत कर दिया था। परमहंसजी उस समय सुखी थे। अभी गत हरिद्वार कुम्भपर वह मुझे पुनः खड़खड़ीके पास मिले थे। बहुत दीन स्थितिमें थे। क्षेत्रमेंसे रोटी माँग लाते और भिक्षा कर लेते। पैरमें जोडा फटा हुआ था। उसमेंसे एक पैरका जोड़ा एक ढंग का था, दूसरे पैरका दूसरे

ढंगका। उन्होंने कहा था कि कहीं अदल बदल हो गया था। उस समय मैं लक्ष्मणझूलाके श्रीमान् महान्त श्रीरामोदरदासजीके मौनी बाबावाले स्थानमें ठहरा था। मेरे साथ गं० स्व० श्रीहीरा बहिन, श्रीविजया बहिन और ग० स्व० श्रीरूपाली बहिन पटेल थीं। श्रीहीरा बहिनको हम सब मोटी बहिन कहते हैं। मोटी बहिन बहुत उदार और दयालु तथा सेवाभाववाली हैं। स्वामी मुक्तानन्दजीको देखकर उन्हें दया आयी। मोटी बहिनने कहा कि जब तक हम यहां हैं, आप यहां ही भिक्षा करें। उन्होंने इसे स्वीकार नहीं किया। एक दिन मेरे साथ भोजन किया। श्रीमोटी बहिनने कुछ वस्त्र उन्हें दिये थे। ऐसा मुझे स्मरण है।

अपने अन्य व्ययके लिये स्वामी मुक्तानन्दजीने एक युक्ति ढूँढ़ ली थी। रास्तेमें डोरा, धागा, सुतली, फटे कपड़े जो मिले उसे वह उठा लेते थे। उनकी रस्सियाँ बनाते थे। वे रस्सियां खाट बुनने, कुछ बांधने, कपड़े सुखाने आदिके काम आती थीं अतः लोग खरीद लेते थे। वह उसीसे अपना निर्वाह करते थे। मैं फिर एक बार हरिद्वार गया था। मेरे साथ श्री चन्दनदेवी थीं। तब भी वह मिल गये थे। दो वर्ष पूर्व मैं हिमालयकी यात्रासे लौटकर आया, उन्हें ढूँढ़ा परन्तु पता नहीं लगा। जगत्में कितने ही विद्वान् जङ्गलके उस पुष्पके समान हैं जो वहाँ हीं खिलते हैं, वहाँ ही मुर्झाकर अदृश्य हो जाते हैं। स्वामीमुक्तानन्दजी जैसे विद्वान्की यही दशा थी।

———

ऋषिकेशका भरतमन्दिर प्रख्यात है। वह बहुत पहलेसे ही महान्त श्रीपरशुरामजीके अधिकारमें है। लक्ष्मणभूलामें साधु-सेवा सदनमें महान्त श्रीरामोदारदासजी महाराजजी रहते हैं। वह भी रामानन्दसम्प्रदायके प्रसिद्ध व्यक्ति हैं। ऋषिकेशमें ही स्वामी मङ्गलनाथजी रहते थे। वह बहुत विद्वान् और नाथसम्प्रदायके महात्मा थे। भरतमन्दिर श्रीरामानन्दसम्प्रदायका ही मन्दिर है। कालक्रमसे महान्त परशुरामजीके अधिकारमें चला गया। वह अपनेको रामानुजीय मानते हैं। स्वा० मङ्गलनाथजी और महान्त श्रीरामोदारदासजीने उस मन्दिरको श्रीरामानन्द-सम्प्रदायके अधिकारमें पुनः लानेकी इच्छा की। एक कमिशन बुलानेका निश्चय हुआ। मैं समझता हूँ कि उन दिनों मैं आबूपर था। श्रीमहान्त लक्ष्मणभूला उस कमिशनमें मुझे और श्रीवेदान्ती-जी,—पण्डित श्रीरघुवराचार्यको अवश्य चाहते थे। मैंने तो एक बार अस्वीकार कर दिया तब महान्त श्रीरामोदारदासजीने कहा कि जिस कमीशनमें ब्रह्मचारीजी नहीं, वह कमीशन मुझे नहीं चाहिये। मैंने अन्तमें उसमें सम्मिलित होना स्वीकृत कर लिया है। उस कमिशनका नाम वेदान्ती कमिशन रखा गया। मुझे स्मरण नहीं है, उसमें दो तीन महानुभाव थे। कमिशन वहां गया। कई दिनों तक स्थानीय लोगोंके बयान लिये गये।

उसके कुछ महीनों बाद या कब, प्रयागका कुम्भ आया। मैं भूलता नहीं हूँ तो प्रयागकुम्भपर ही दिगम्बर अखाड़ेमें सभा हुई। भरतमन्दिरका विचार हुआ। कमिशनकी बातें भी वहाँ कही, सुनी

गयीं। महान्त श्रीरघुवीरदासजी महाराज चित्रकूटीसे प्रार्थना की गयी कि वह भरतमन्दिरको अपने अधिकारमें लें। भरतमन्दिर-की चल, अचल सभी सम्पत्तियोंका मालिक उन्हें बना दिया गया। बाबाजी लोगोंकी बातें थीं। महान्त रघुवीरदासजीने प्रतिज्ञा की कि वह भरतमन्दिरको परशुरामजीके अधिकारमेंसे अपने अधिकारमें ले लेंगे। वहाँ कुछ लिखा, पढ़ी भी हुई थी। पण्डित श्रीरघुवरा-चार्यजी, महान्त श्रीरामोदारदासजी, श्रीरामदासजी उड़िया, और मैं उस कार्यमें सलाहकार और व्यवस्थापक या क्या क्या तो बनाये गये। महान्त श्रीरामोदारदासजीने कहा था कि इस आन्दो-लनको चलानेके लिये वह अमुक हज़ार रूपये देंगे।

प्रयागसे चलकर धीरे धीरे महान्त रघुवीरदासजी अयोध्या आये। वहाँ उन्होंने अयोध्याके सन्तोंको रसोई थी—भण्डारा किया। क़ई हज़ार रूपये व्यय कर दिये गये। मैं भी वहाँ ही अपने स्थानमें था। उस समय मेरे श्रीगुरुदेवजी साकेतवासी हो चुके थे। वर्तमान महान्तजी मेरे छोटे गुरुभाई महान्त श्रीरघुवर-प्रसादजी महाराज वहाँ गादीके आचार्य थे। मुझे स्पष्ट याद नहीं है कि मैं बाबा मणिरामजीकी छावनीमें था या बड़ा स्थानमें मैं ठहरा हुआ था। मेरा जन्मनक्षत्र, पता नहीं कैसा था, मैं सदा सर्वत्र बदनाम किया गया हूँ। वहाँ सर्वत्र यह बात वायुवेगसे फैल गयी कि ब्रह्मचारी कहता है कि महान्त श्रीरघुवीरदासजीने अयोध्याके वानरोंको इतने हज़ार रूपये खिला दिये। इनमेंसे मैंने एक भी अक्षर नहीं कहा था। महान्त रघुवीरदासजी वहाँसे ही मेरे विरुद्ध हो गये। कुछ वहाँ ऐसे लोग भी अवश्य थे जो भरतमन्दिरके आन्दोलनमें मेरा हाथ नहीं चाहते थे। उन्हें वहाँ कमाना, खाना था। अयोध्यामें कितनी हो सभाएँ हुईं। मैं किसीमें भी नहीं गया था। उस समय मुझे एक विज्ञप्ति प्रकाशित करनेकी आवश्यकता

प्रतीत हुई थी क्योंकि मेरे विरुद्ध कितनी ही बातें झूठी फैलायी गयी थीं। उस विज्ञप्तिको मैं किसी अगले भागमें प्रकाशित करूँगा।

महान्त रघुवीरदासजी अयोध्यासे चले गये। मुझसे कहते गये कि वह हाथरस या कहीं अन्यत्र होते हुए अमुक तारीखको ऋषिकेश पहुँचेंगे। मैं साधु तो अवश्य ही हूं परन्तु व्यवस्थित और वचनका पालन करनेवाला हूँ। मैं कुछ पहले ही ऋषिकेशके लिये लक्ष्मणझूला पहुँच गया। उस समय महान्त श्रीरामोदारदासजी आश्रममें नहीं थे। महान्त रघुवीरदासजीका पत्र लेकर कोई साधु लक्ष्मणझूला आया और उसने कहा कि श्रीरघुवीरदासजी परसों आ रहे हैं। मैं चिन्तामें पड़ गया। वहांके लिये मैं नया आदमी था। ऋषिकेश वहाँसे दूर था। कोई व्यवस्था नहीं थी। मैंने महान्त श्रीपरशुरामजीको ऋषिकेश एक पत्र भेजा कि महान्त रघुवीरदासजी आ रहे हैं। उनके रहनेके लिये आप कोई स्थान दें। लक्ष्मणझूलामें श्रीमहान्तजीके ही एक आदमी थे। उनका नाम भीष्मदासजी था। वह पहले परशुरामजीके यहाँ भी रह चुके थे। उन्होंने मुझसे पूछा कि 'महाराजजी आप सचमुच यह पत्र भेज रहे हैं या मज़ाक़ करते हैं।' मैंने पूछा कि तुम यह प्रश्न क्यों करते हो? उन्होंने कहा, महान्त परशुरामजीके साथ ही तो आपको लड़ना है, परशुरामजी यह जानते हैं कि आप उनसे लड़नेकी तैयारी करके आये हैं, तो भी आप उन्हींसे स्थान और प्रबन्ध चाहते हैं। मैंने कहा हाँ, महात्मागाँधीजीसे मैंने यही सब सीखा है। मैं किसीको भी शत्रु नहीं मानता हूँ। तुम जावो, पत्रको म० परशुरामजीको दो। वह अवश्य व्यवस्था करेंगे। वह शामको ही वहाँसे चल दिये। परशुरामजीको मेरा पत्र दिया। रात्रिमें वह ११ बजे लौटकर लक्ष्मणझूला आये और मुझसे कहा

कि म० परशुरामजी बहुत प्रसन्न हुए हैं और प्रातः आपको बुलाया है। जो जगह आप पसन्द करेंगे, वहाँ वह सफाई आदि करा देंगे।

मैं प्रातः ८ बजे ऋषिकेश पहुँच गया। म० परशुरामजी घरसे बाहर आकर मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। वह मेरे मार्गमें ही खड़े थे। हम मिले। उन्होंने मुझे दो स्थान दिखाये, परन्तु आज मैं भूल गया हूँ, न जाने किस कारणसे किन कारणोंसे मैंने उन्हें पसन्द नहीं किया। मैंने कहा, भरतमन्दिरका अहाता मुझे दे दें। उस समय एक पण्डित धर्मदत्तजी थे। वह विहारके महान्तोंके भी पक्षमें रहा करते थे और सहस्रों रूपये उन्होंने विहारसे प्राप्त किये थे। वह ऐसे कार्योंमें रस लेते थे जिनसे उन्हें वैयक्तिक लाभ हो। म० परशुरामजीने उन्हें भी बुला रखा था। परशुरामजी मुझे जब अपने यहाँ ऊपर ले गये तब वह मिले और तभी मैं जान सका कि धर्मदत्तजी भी आ पहुँचे हैं।

धर्मदत्तजी और म० परशुरामजीने मुझसे पूछा कि आप यहाँ अहातेमें जमातको रखना चाहते हैं, परन्तु जमाती लोग कुछ उपद्रव करें तो आप उसका भार लेते हैं? मैंने हाँ किया। मुझे विश्वास था कि जमाती साधु सभ्यतासे यहाँ रहेंगे। उन लोगोंको भी विश्वास था कि गुरुपरम्पराको उलट देनेवाले इस आदमीका जमाती साधु मान रखेंगे। सब निश्चय हो गया। दूसरे दिन म० रघुवीरदासजी अपनी जमातके साथ ऋषिकेश स्टेशनपर पहुँच गये। महान्त श्रीरामोदारदासजी भी, मुझे स्मरण है कि उसी गाड़ीसे उनके साथ ही उतरे। थोड़ी देरके लिये हम तीन चार आदमी वेटिङ्ग रूममें बैठ गये। मैंने रघुवीरदासजीसे भरतमन्दिरमें ठहरनेकी बात कही। मैंने यह भी कहा कि मैंने अपने उत्तरदायित्वपर वह स्थान प्राप्त किया है। बहुत सभ्यतासे वहां रहना चाहिये। मुझे याद नहीं है कि इन शब्दोंसे अधिक मैंने क्या कहा था,

महान्तजी तो क्रुद्ध हो गये। मेरा मन्दिर है, हम चाहे जैसे वहाँ रहेंगे, उन्होंने क्रोधमें ही कहा। उनका सामान ले आनेके लिये मैंने महान्त परशुरामजीसे ही बैल गाड़ियां वगैरह प्राप्त की थीं। रघुवीरदासजीको मोटरमें लाया गया। भरतमन्दिरका कम्पाउन्ड भर गया। उसी दिनसे और उसी समयसे साधुओंने अव्यवस्थाका प्रारम्भ कर दिया। मेरी कोई कुछ सुनता ही नहीं था। म० रघुवीरदासजीने मेरी बात सुननेसे कान बन्द कर लिये। प० धर्मदत्तजी मेरा उपहास करते थे और मैं उनका साथ देता था। मैं दिन भर वहाँ रहकर रात्रिमें लक्ष्मणझूला जाया करता था। कभी दो दो तीन तीन दिनके बाद भी ऋषिकेश जाता। कभी वहाँ पत्थरबाज़ी भी होती थी तब महान्तजी अपना आदमी मेरे पास भेजते थे, तब तुरन्त वहाँ पहुँच जाता था। उन दिनों स्वामी अद्वैतानन्दजी वहाँकी म्युनिसिपालिटीके अध्यक्ष थे। अतः शान्ति स्थापनमें उनसे मुझे बहुत सहायता मिलती थी।

धीरे धीरे महान्तजीकी जमात अव्यवस्थित होती गयी और मैं धीरे धीरे उदासीन होता गया। अन्तमें मैं वहाँसे गुजरात चला आया। अशान्ति, अव्यवस्था उद्दण्डता आदिका फल और प्रतिफल भी यही सब होता है। अन्तमें महान्त रघुवीरदासजी पराजित हुए। जमात लेकर वहाँसे हट गये। परिणाम यह आया कि पहले बदरीनारायण जानेवाले साधु सन्तोंको भरतमन्दिरमें आश्रय मिलता था, भोजन भी मिलता था, सब बन्द हो गया। मैं समझता हूँ कि अभी तक बन्द ही है।

लगभग १३ या १४ वर्ष बीते हैं। राजकोटमें श्रीमान् परमहंस श्रीरणछोड़दासजी महाराजने एक श्रीराममहायज्ञका आरम्भ किया। परमहंसजी राजकोटमें, प्रायः समस्त सौराष्ट्रमें देवके समान पूजे जाते हैं। राजकोटमें उनका एक सद्गुरुसदन भी है। उस यज्ञमें हज़ारों नहीं, लाख नहीं, लाखों रूपयोंका व्यय होना था। उसका रूप, रङ्ग, आकार, प्रकार, सब उदार थे। याज्ञिकोंने श्रीपरमहंस-जीसे कहा कि श्रीराममहायज्ञ क्या होता है, हम लोग नहीं जानते। उसका विधान क्या है, यह भी हमें अवगत नहीं है। परमहंसजी घबड़ाये। मेरे पास आये। मैं उस समय भी अहमदा-बादमें ही रहता था। उन्होंने सब बात कही। मैंने उन्हें कहा, आप अब राममहायज्ञकी चिन्ता न करें। उसकी चिन्ता अब मैं करूँगा। अपने याज्ञिकोंसे कह दें कि पद्धति आ रही है। मैंने, अहमदाबादमें उस समय जितने अच्छे वैष्णव छात्र थे और पण्डित थे सबको बुलाया। पण्डित श्रीवैष्णवाचार्यजी भी उसमें थे। जगदीशमन्दिरके श्री पुजारी सेवादासजी महाराजसे मैंने प्रार्थना की कि दो दिन आप दोपहरके भोजनके लिये १०, १२ सन्तोंके लिये मालपूआ भेज दिया करें। छात्रों और पण्डितोंको मैंने लिखनेके लिये बुलाया था। वह लोग ७ बजे प्रातः मेरे बङ्गले-पर आ जाते थे। दोपहरको मालपूआ प्रसाद सेवन करते, साय-ङ्काल अपने स्थानमें जाते। मुझे बराबर स्मरण नहीं है, दो या तीन दिनोंमें बहुत बड़ा राममहायज्ञका विधिग्रन्थ मैंने तैयारकर दिया। मैं शीघ्रतासे लिखनेका अभ्यासी हूँ। मैं लिख लिखकर

सबको एक एक पृष्ठ देता जाता था। वह लोग सुपाठ्य अक्षरोंमें खुले पत्रोंमें लिखते जाते थे। पृष्ठसंख्या पीछेसे लगा दी गयी थी।

उस यज्ञमें मैं भी आमन्त्रित था। यज्ञमण्डपका उद्‌घाटन मेरे हाथोंसे होना था। यज्ञमण्डपके बृहद्‌द्वार-मुख्यद्वारका उद्‌घाटन राजकोटके ठाकुरसाहबके हाथोंसे होना था। मैंने गुजराती भाषामें अपना एक भाषण लिख और छपा लिया था। अपने नियत समयपर मैं राजकोट पहुँचा। मैंने तो पहाड़ तोड़ने जैसा कठिन काम लोगोंकी दृष्टिमें किया था। रामयज्ञपद्धति कोई है ही नहीं। अब भी तो नहीं है। मैंने तो राममहायज्ञपद्धति लिख दी थी। लोग प्रसन्न थे। प्रसन्नताका फल मुझे केवल स्वागत मिलता है। स्टेशनसे शहर होकर यज्ञमण्डपतक विशाल जुलूस निकला। अपार भीड़ थी। शिंगडाके महान्त श्रीरघुवराचार्यजी भी आ गये थे। उद्‌घाटनके दिन मैंने यज्ञमण्डपका उद्‌घाटन किया। जनता, साधु समाज, और याज्ञिक विद्वान् वहाँ उपस्थित थे। मैंने अपना मुद्रित भाषण पढ़ा। वह पद्धति तो याज्ञिकोंके पास एक दिन पहले ही पहुँच गयी थी। लोगोंने उसे पढ़ लिया था। मेरे भाषणके पश्चात् मैंने याज्ञिकोंसे पूछा कि यदि आपको अभी कुछ सन्देह रह गया हो तो मैं इसी रोगकी दवा हूं। सबकी ओरसे एक याज्ञिक विद्वान् खड़े हुए। उन्होंने मुझे धन्यवाद दिया और कहा कि "हम लोगोंको अब कोई सन्देह नहीं है। आपकी पद्धतिसे ही हम लोग इस यज्ञको करावेंगे।" वह यज्ञोत्सव तो लगभग एक मास अथवा २१ दिन चला था। परन्तु मैं तीसरे या चौथे दिन चला आया।

परमहंस श्रीरणछोड़दासजीकी दिनचर्याका मैंने वहाँ अध्ययन किया। वह प्रातःसे रात्रिके २ बजे तक यज्ञके कार्यों, व्यवस्थाओं,

साधुओंके झगड़ों, अतिथियोंके असन्तोषोंमें, पड़े रहा करते थे। रात्रिके दो बजे बाद वह गुफामें प्रविष्ट हो जाते थे। वहाँ थोड़ी सी समाधि आदि करके पुनः तीन बजे बाहर आ जाते। स्नानादि करके वह तो प्रातः ५ बजे तैयार ही बैठे मिलते। वह भी श्रीरामानन्दसम्प्रदायकी एक विभूति हैं। वहाँकी बहुत सी व्यवस्था तो ध्रांगध्राके मण्डलेश्वर श्रीरामबालकदासजी भी सम्भालते थे।

मैं जब सत्याग्रह आश्रम साबरमतीमें अध्यापक था, तब मैं आश्रमवासियों और आश्रमके सम्पर्कमें आनेवालोंमें बहुत प्रख्यात था। परिश्रमी था, श्रद्धालु था और महात्मागाँधीजीका प्रामाणिक अनुयायी था। मैंने तो आश्रमको ९ मासके पश्चात् ही छोड़ दिया था क्योंकि वहाँकी पाठशाला काकाकालेलकरके जेल जानेके बाद बन्द कर दी गयी थी।

महात्मागाँधीजीके चार भतीजे थे। श्रीयमुनादासजी सबसे छोटे थे। उन्होंने राजकोटमें एक राष्ट्रियशालाका आरम्भ किया। उसके अपने भवन थे, अपनी ज़मीन थी। उसके पास पैसे बहुत ही कम थे। यदि मैं वहाँ अध्यापक बनता तो हिन्दी, उर्दू, फारसी संस्कृत इन चार भाषाओंको पढ़ाता और अलग अलग अध्यापक रखकर खर्च न बढ़ाया जाता। श्रीयमुनादास भाईने मुझे पत्र लिखा। मैं उन दिनों भी पालनपुरमें ही था। मैंने धर्मसंकटका अनुभव किया। आश्रममें मैं अवैतनिक शिक्षक था। मैंने समझा कि राजकोटमें भी अवैतनिक ही काम करना पड़ेगा। भोजन कहाँसे लाता ? मैंने अस्वीकार किया। उनके कई पत्र आये परन्तु उनमेंसे किसीमें भी भोजनव्यवस्थाका संकेत नहीं था। श्रीमहात्माजी तो उन दिनों जेलमें थे परन्तु थोड़े ही दिन हुए थे छूटकर बम्बईमें जुहूमें स्वास्थ्यलाभ ले रहे थे। श्रीयमुनादास भाई महात्माजीसे मिलने गये होंगे। मेरी बात की होगी। महात्माजीको उसी समय मैं बम्बई मिलने गया था परन्तु भीड़ वहाँ इतनी थी कि मेरा संकोची स्वभाव उनके पास तक मुझे नहीं जाने दिया।

मैंने वापस आकर बापूजीको पत्र लिखा कि मैं द्वारतक पहुँचकर दर्शनके विना ही वापस आया। उसका जवाब उन्होंने जो दिया था, वह इसी ग्रन्थके किसी भागमें प्रकाशित होगा। तुरन्त ही श्री-यमुनादास भाईका पत्र राजकोटसे आया कि "बापूजीने कहा है कि ब्रह्मचारीजीको बुलाकर राजकोट राष्ट्रियशालामें रखो।" अब मैं लाचार था। बापूजीके नामपर तो अग्नि और जल मेरे लिये समान ही आलिङ्गनीय हैं। मैं राजकोट पहुँचा। बहुत महीनोंतक रहा। तब तक अन्त्यज = हरिजन बालक उस शालामें नहीं पढ़ते थे। अब हरिजन बालक आनेको तैयार हुए। शिक्षकोंमें मतभेद खड़ा हुआ। थोड़ा सा उसमें मैं भी बदनाम हुआ। श्रीबापूजीके पास भी मेरी शिकायत पहुँची कि मैं अन्त्यज बालकोंको शालामें आनेका विरोध करता था। अन्तमें मैंने कई महीनोंके पश्चात् राजकोट छोड़ दिया। एक वार साबरमती आश्रममें जब बापूजी थे, मैं उनसे मिलकर उनकी आशङ्काको दूर कर दिया।

बहुत दिनोंसे मैं महात्मागाँधीजीसे मिल नहीं सका था। मेरी इच्छा उनके दर्शनोंकी थी। मैंने श्रीकिशोरलाल भाई मशरू-वालासे पूछा कि यदि बापूजी बहुत भीड़में न हों तो मैं उनका दर्शन करना चाहता हूँ और कुछ दिन उनकी सन्निधिमें रहना चाहता हूं। मशरूवालाजी जब मैं साबरमती आश्रममें रहता था, वह भी बहुत पहलेसे वहाँ ही थे। जब बापूजी वर्धा आये तो वह भी वहाँ ही रहने लगे। किशोरलाल भाई वर्धामें रहते थे और बापूजी सेवाग्राममें। किशोरलाल भाईने बापूजीसे मेरे लिये पूछा। बापूजीने कहा, भले आवे, परन्तु मेरे साथ किसी विषयका शास्त्रार्थ न करे। मुझे सूचना मिली। मैंने बापूजीको पत्र लिखा कि मैं अमुक तारीखको आ रहा हूँ। उन्होंने मेरे लिये रहने और भोजन-की व्यवस्था करनेके लिये वहांके व्यवस्थापकको सूचना दे दी थी।

मैं पहुँचा। बापूजीने पूछा—'गीता आती है न?' मैंने कहा "गीता तो नहीं आती परन्तु उसके शब्दोंका उच्चारण आता है।" वह हँस पड़े। मैं समझता हूं कि मैंने उन्हें उचित उत्तर दिया था। गीता मुझे वांचने वंचाने नहीं आता, ऐसा तो वह समझ ही नहीं सकते थे। उन्होंने या तो अपने स्वभावके अनुसार हँसने हँसानेको पूछा था या तो मुझे संन्यासी देखकर, गीताका तात्पर्य आचरणमें आया है या नहीं, यह पूछा हो। उनको, मुझसे सब कुछ पूछनेका अधिकार था क्योंकि मैं उनको अपना आदर्श मानता था, मानता हूं और वह मुझे अवश्य ही अपना मानते थे। उन्होंने मुझे आज्ञा दी कि यहाँके अन्तेवासियोंको गीता सिखावो। मैंने दूसरे दिनसे ही आरम्भ किया। परन्तु चौथे दिन ही बड़ा स्थान अयोध्याके श्रीमान् महान्त रघुवरप्रसादजी महाराजका तार मिला कि "जयपुर-गलतागादीसे माँजी आयी हैं। वासुदेवाचार्यजीको लेकर शीघ्र आवो।" मैंने बहुत संकोचसे बापूजीसे अपने जानेकी बात कही। वहाँ तो पारतन्त्र्य जैसी कोई चीज़ ही नहीं थी। उन्होंने एक ही शब्द कहा—'बस?'। मैंने तार उनके सामने रख दिया। उन्होंने आज्ञा दी, मैं चल दिया। वह तार गलतागादीपर एक महान्त बैठानेके लिये था। इसीलिये माँजी आयी थीं। उनको पण्डित महान्त चाहता था। पण्डित वासुदेवाचार्यजीको महन्त बननेकी अत्यन्त तीव्र इच्छा रहा करती थी। अतः उनको वहाँ बैठा देनेकी हम लोगोंकी इच्छा थी। पण्डित वासुदेवाचार्यजी शिकारपुर थे। वहाँ यज्ञ था। मुझे भी आमन्त्रण था परन्तु मुझे तो सेवाग्राम पहुँचना था। वहाँ चला गया था। अब मुझे शिकार-पुर जाना पड़ा। यज्ञ तक रहा और वासुदेवाचार्यजीको लेकर अयोध्या पहुँचा। माँजीके पास हम लोग वासुदेवाचार्यजीको ले गये। बोर देखकर जैसे लड़के खुश होते हैं वैसे ही माँजी खुश हो

गयीं। जयपुर चलनेका प्रोग्राम बन गया। श्रीमान् महान्त भगवान्दासजी खाकी तो मेरे सब कार्योंमें साथी रहते ही हैं। मैंने उन्हें और वासुदेवाचार्यजीको पहले ही जयपुर भेज दिया। मैं सीधा गुजराई गया। एक रात्रि वहाँ रहकर जयपुर पहुँचा। अमुक कारणसे माँजीने वासुदेवाचार्यजीको नापसन्द कर दिया। वह बैरङ्ग पत्रके समान अयोध्या लौट गये। मैं आबू गया।

श्रीवासुदेवाचार्यजीने शिकारपुर वर्तमान महान्त श्रीलक्ष्मणदासजी शास्त्रीको एक पत्र लिखा कि मेरी महन्ताईके लिये प्रयत्न करनेके बदले भगवदाचार्य जयपुरमें अपने लिये प्रयत्न करता था। महान्त श्रीलक्ष्मणदासजी मेरे स्वभावसे खूब परिचित थे। उन्हें यह विश्वास हो ही नहीं सकता था कि मैं महन्ताई जैसी क्षुद्र वस्तुके लिये प्रयास करूँ। उन्होंने उनके उस पत्रको मेरे पास भेज दिया। मैंने पढ़कर उस पत्रको पुनः रजिष्ट्रीसे शिकारपुर ही भेज दिया था और कहा था कि इसे वहाँ ही सुरक्षित रखें, समयपर काम आवेगा।

वासुदेवाचार्यजीने जयपुरके क्षत्रियोंको अपनी सहायतामें लेकर सुना था कि पुनः जयपुर बालानन्दगादीके लिये प्रयत्न किया था। उनके भाग्यमें अभी कहीं भी महन्ताई लिखी नहीं है। उनके शिकारपुरवाले पत्रको पढ़कर मुझे यह श्लोक स्मृत हुआ—

"निन्दति कञ्चुकिकारं प्रायेण शुष्कस्तनी नारी।"

———

गुजरातमें बीजापुर तालुकामें लोदरा एक ग्राम है। वहाँ महामण्डलेश्वर श्रीमान् बलरामदासजी महाराज एक श्रीरामानन्दसम्प्रदायके पवित्र सन्त रहते हैं। वह बहुत अच्छे वैद्य हैं। गुरुपरम्परासे उन्हें यह वैद्यविद्या मिली है। उन्होंने अपने श्रमसे धनोपार्जन करके वहाँ ग्रामसे बाहर स्टेशनके पास ही एक बाला हनुमान्जीका भव्य मन्दिर बनाया है। बीमार भाई बहिनोंके रहनेके लिये कितनी ही कोठरियाँ बनायी गयी हैं। अपना जल है। अपनी बिजली लाइट है। सामने बहुत बड़ा सुन्दर उद्यान है। अभी उसकी सुन्दरताके साधन पूरे नहीं हुए हैं। उसी उद्यानमें महात्मागाँधीजी, स्वामी रामानन्दजी और धन्वन्तरि भगवान्की मूर्ति पधरायी जायगी। यह सब तो महान्त श्रीबलरामदासजीकी बाह्य शोभा है। वह अन्तःकरणसे भी बहुत सुशोभित हैं। उन्होंने वहाँ यज्ञादि भी किये हैं। एक सबसे बड़ा और उत्तम यज्ञ उन्होंने नेत्र यज्ञ १।। वर्ष पूर्व किया था। ३ वर्ष पूर्व एक विष्णुयाग किया था। दोनों यज्ञोंमें मैं आमन्त्रित होकर उपस्थित था। प्रतिवर्ष वहाँ चैत्रपूर्णिमाके दिन बालाहनुमान्की जयन्तीका उत्सव होता है। महान्तजी महाराज बहुत ही सात्त्विक हैं। सन् १९५५ में वह अपने सेवकोंके साथ बदरीनारायण, केदारनाथकी यात्रामें जा रहे थे। न जाने उनके मनमें क्या भाव आया, मुझसे भी साथमें चलनेका उन्होंने आग्रह किया। हिमालययात्राकी मेरी इच्छा तो बहुत समयसे थी परन्तु वह इच्छा अनेक कार्योंके जङ्गलमें भूली भटकी सी हो गयी थी। बदरीनारायणदर्शनकी तो मुझे कभी भी

इच्छा नहीं थी। मैंने ना तो बहुत किया परन्तु महामण्डलेश्वर-जीने मुझे नहीं छोड़ा। मैं तैयार हो गया। अपनी सुविधाके लिये मैंने श्रीचन्दनदेवीको भी तैयार किया। श्रीमहान्त महाराज स्वयं तो बहुत सरल और सीधे हैं—रेलगाड़ीमें थर्ड क्लासमें बैठे परन्तु मुझे फर्स्टक्लासमें ले गये। एक इंच भूमिपर भी मुझे यात्रामें पैदल नहीं चलने दिया। सर्वत्र सवारीपर ही भ्रमण कराया। आपकी उदारतासे मैंने श्रीकेदारनाथ, त्रियुगीनारायण, तुङ्गनाथ और बदरी-नारायणके दर्शन किये। हिमालयकी यह अधूरी यात्रा बहुत ही शान्ति और सुखके साथ सम्पन्न हुई।

त्रियुगीनारायणके मन्दिरमें जगमोहनमें एक धुनी है। जो यात्री आते हैं, पैसे देकर उसमें लकडी डाल देते हैं। वह धुनी सुलगती ही रहती है। लोगोंने कह रखा है और मान रखा है कि यह विष्णुमूर्ति तीन युगोंसे चली आ रही है। धुनी भी तीन युगों-से ही है। मन्दिरके सामने ही दो कुण्ड हैं। उनका अलग अलग माहात्म्य है। केदारनाथ जाते समय मार्ग बदलकर यहाँ पहुँचा जाता है। जहाँसे मार्ग बदलता है वहाँसे त्रियुगीनारायण तक मार्गमें फूलोंकी बहार देखते ही बनती है। श्री चन्दनबहिनने कहा कि यह त्रियुगीनारायणका पुष्पोद्यान है। त्रियुगीनारायणमें पण्डे, दूकानदार, पुजारी आदि तीर्थध्वाङ्क्ष जैसे प्रतीत हुए। हमारी डोली उठानेवाले भी वहाँ हमें हैरान करने लगे और हमको दो मील पैदल चलना पड़ा। मेरे पैरमें वातव्याधि था। मैं चल नहीं सकता था। पहाड़की चढ़ाई और उतराई। कठिन समस्या थी। मेरे डोलीवाले मेरे पीछे पीछे ही आ रहे थे। आधे रास्तेमें उन्होंने मुझे बैठनेको कहा, परन्तु जब मेरे सभी साथी पैदल चल रहे थे, तब मैं कैसे उसपर बैठता! मेरे लिये श्रीचन्दन बहिन को भी कष्ट उठाना पड़ा। वह भी तो डोलीमें ही चलती थीं।

पैदल चलनेकी उन्हें टेव नहीं थी। उन्हें अपनेको भी संभालना पड़ता था, मुझे भी। वह दुःखित हो गयीं। कभी डोलीवालों-पर क्रोध करें, कभी रोने लगें। मेरे कष्टसे वह दुःखित थीं। डोली-पर चढ़नेवाले हमारे साथी आगे बढ़ गये थे। उस जङ्गलमें मैं और श्रीचन्दन बहिन दो ही अकेले चले जा रहे थे। एक नदी आयी। उसका पुल आया। वहां ही हम दोनोंके डोलीवाले बैठे थे। उन्होंने कहा सब लोग अपनी अपनी डोलीमें बैठकर गये। तब हम दोनों भी बैठ गये। राम राम करके हम लोग गौरीकुण्ड पहुँचे। वहां रात्रिमें विश्राम करके प्रातः केदारनाथके लिये चले। दोपहरके बाद वहां पहुँच गये।

केदारनाथके मन्दिरका दूरसे ही दर्शन होता है। लोग वहां सवारियोंसे उतर जाते हैं। मंदिरतक पैदल ही जाते हैं। मैं तो वात-रोगसे पीड़ित था। श्रीकेदारनाथने मुझे आज्ञा दी कि गुरुभाई, तुम अपनी सवारीपर ही मेरे पास आवो। मैं डोलीपरसे नहीं उतरा। श्रीचन्दनबहिन उतर गयी थीं। केदारनाथके मन्दिरके पास हम पहुँच गये।

मन्दिरमें तो कोई शोभा है नहीं परन्तु वहांके पर्वत हिमाच्छन्न होनेसे रमणीय प्रतीत होते थे। सब पर्वत सफेद सफेद थे। इन सबका वर्णन इस ग्रन्थके किसी भागमें आवेगा। वहाँ ठंडी अतिशय थी। स्नान करना कठिन था ही परन्तु भोजनमें भी कठिनता थी। जैसे तैसे स्नान, दर्शन, भोजनसे निवृत्त होकर लगभग ४ बजे हम लोग कोठरियोंमें भर गये। कोई बाहर नहीं निकला। प्रातः हम लोग उठकर चल पड़े। थोड़े माइल चलनेपर ठंडी एकदम कम हो जाती है।

तुंगनाथके मन्दिरमें एक विशाल मूर्ति बुद्धभगवान्‌की भी रखी हुई है। शिवलिङ्ग भी है। तुङ्गका अर्थ है ऊँचा। उस पर्वत-

की चढ़ाई बहुत है इसीलिये शङ्करजीका नाम तुङ्गनाथ रखा गया होगा।

बदरीनारायणमें हमने देखा कि मन्दिरमें मुख्य मूर्ति भगवान् बुद्धकी है। वहांके एक रिटायर्ड मैनेजरने लिखा है कि वह मूर्ति किसीके मतसे बुद्ध की है और किसीके मतसे जैनमूर्ति है। जो हो, वह हिन्दूमूर्ति तो नहीं ही है। वहां परिक्रमामें एक छोटेसे कमरेमें नारायणकी मूर्ति बनाकर रखी गयी है। उसीका फोटो बाजारमें बिकता है। वही बदरीनारायण हैं। मन्दिरके देव तो भगवान् बुद्ध हैं।

जब हम अहमदाबादसे चलकर हरिद्वार स्टेशनपर उतरे तो बहुतसे सन्त महात्माओंके मुझे दर्शन हुए। वह लोग मुझे ही ढूँढ़ रहे थे। वहाँपर महामण्डलेश्वर श्रीरामचरणदासजी महाराजने एक श्रीरामानन्दाश्रम बनाया है। मैंने उस आश्रमका दर्शन कभी नहीं किया था। आश्रमसे ही वह महात्मा लोग मुझे लेने आये थे। मैं और श्रीचन्दन बहिन आश्रम पहुँचे। मेरे सदाके साथी श्री त्र्यम्बक भाई भी बदरीनारायणके लिये मेरे साथ ही थे। परन्तु वह अपनी माताजीकी सेवामें नियुक्त थे अतः वह और सकल मण्डली कनखलमें गयी।

श्रीरामानन्दाश्रमका दर्शन करके मेरा रोम रोम खिल उठा। आश्रमका आकार-प्रकार, मन्दिरके देव श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी महाराजकी मूर्तिके भव्यदर्शन, उसकी सुषमा, सब अवर्णनीय है। जितना आश्रम सुन्दर है उतना ही वहाँके पुजारी श्रीराममनोहरदासजी भी सुन्दर हैं। उनकी, श्रद्धा, भक्ति, सद्भाव, स्वामीजीकी अर्चामें प्रेम, सन्तोंमें प्रेम, सब मनोहर ही थे। उसके संस्थापक महान्त श्रीरामचरणदासजी एक प्रख्यात सन्त हैं। वह धनाढ्य हैं। धनार्जनकी उन्हें कला आती है। वह स्वयं बहुत

मिलनसार और गुणग्राही हैं। हम रात्रिमें वहाँ रहकर दूसरे दिन दोपहरके बाद आगे चले थे।

ऋषिकेशमें मनःकामनासिद्ध हनुमानजीके महान्त श्रीरामदासजी उड़ियाको श्रीचन्दन बहिन और एक दूसरी बहिन जाकर बुला लायीं। रात्रि थी, अपरिचित जगह थी। अंधेरा था। तो भी इन बहिनोंने रामदासजी उड़ियाको ढूँढ़ लिया। मैं वातरोगसे हैरान था। चल नहीं चकता था। श्रीरामदासजी मेरे बहुत स्नेही हैं—भक्त हैं, हठी भी हैं। उन्होंने हठ पकड़ा कि मंदिरमें दर्शनके लिये चलो। एक घोड़ागाड़ी ले आये। उनके अधीन हो जाना पड़ा। जाकर दर्शन किया। उनकी विभूति देखी। चला आया। श्रीचन्दन बहिन तो सर्वत्र मेरी छायाके समान साथ रहती ही थीं।

सन्तसेवाआश्रममें हम लक्ष्मणझूला पहुँचे। महान्त श्रीरामोदारदासजी महाराजको खबर थी ही कि हम आ रहे हैं। उन्होंने हमारे सभी साथियोंका प्रेमसे स्वागत किया। शर्बत पीकर हम आगे बढ़े थे।

जब यात्रासे हमारी मण्डली वापस आयी तब हम सब ही श्रीरामानन्दाश्रममें ही उतरे थे। श्रीमान् महान्त बलरामदासजी महाराजने वहाँ सन्तोंको रसोई दी थी। मुलतानवाले, मुलतानके सब भगवन्मूर्तियोंको साहस करके उठाकर ले आनेवाले, महान्त नारायणदासजी भी वहाँ ही अपना मन्दिर बना रहे थे—वह भी हम सबोंकी परिचर्यामें लगे हुए थे। महान्त श्रीबलरामदासजीने उनके मन्दिर निर्माणके लिये पहले भी कुछ सहायता की थी, उस समय भी की। मुलतानवाले महान्त श्रीनारायणदासजी मुझपर प्रेम रखते हैं। श्रद्धा भी रखते हैं। हरद्वार कुम्भके समय जब मेरा

जुलूस खड़खड़ीसे निकलकर जहाँ वैष्णव थे वहाँ तक गया था तब हाथीपर, मेरे ऊपर छत्र लगाये हुए यही महान्तजी बैठे थे। अन्तिम प्रयाग कुम्भमें भी (सन् १९५३ में) मेरे ऊपर छत्र लगा कर बैठनेवाले यही महान्तजी थे।

हम सुखसे अहमदाबाद लौट आये।

——

मिथिलामें वराही एक ग्राम है। उसमें श्रीरामानन्दसम्प्रदायका एक प्रतिष्ठित मन्दिर है। बात बहुत वर्षोंकी है। उस समय वहाँ महान्त श्रीरामसुन्दरदासजी महाराज महान्त थे। मैं उसी समय इस सम्प्रदायमें दीक्षित हुआ था। शायद एक वर्ष बीता हो या न भी बीता हो। वराहीमें एक संस्कृत पाठशाला थी। उसके मुख्याध्यापक कुछ महीनोंकी छुट्टी लेकर घर गये थे। परीक्षा निकट थी। व्याकरणका अध्यापक कोई नहीं। महान्त श्रीरामसुन्दरदासजीके यहाँ उसी समय पण्डित श्रीरघुवराचार्यजी गये थे। महान्तजीने उन्हें एक पण्डित ढूँढ़नेको कहा था। मैं तो अयोध्यामें उस समय खाली था। पण्डितजीने मुझे वराही जानेको कहा। मैं पत्र-व्यवहार करके वराही गया। उस समय मेरे सभी शास्त्रोंके ग्रन्थ नये थे, व्याकरण भी नया ही था। खूब ताजा था। वहाँ मैं पढ़ाने लगा। छात्रोंको सन्तोष रहा। मैथिल पण्डितोंका स्वभाव होता है कि वह सब विद्वानोंकी परीक्षा लेते रहते हैं। मेरे पास भी पण्डित लोग आते रहते थे। मैं एकदिन शब्देन्दुशेखर पढ़ा रहा था। वहाँ जो मुख्याध्यापक थे उन्हींके कोई सम्बन्धी पण्डित वहाँ आये। कुशलक्षेम पूछकर मैं पाठ पढ़ाता ही रहा। न जाने क्यों उन्होंने कुछ क्षोद-क्षेम नहीं किया। चुपचाप बैठे रहे। पाठ पूरा होनेपर वह मन्दिरमें गये और श्रीमहान्तजीसे मेरे पढ़ानेकी शैलीकी प्रशंसा कर गये थे।

उसी पाठशालामें एक ज्योतिषके पण्डितजी अध्यापक थे। वह अभी भी वहाँ ही है, ऐसा मैंने सुना है। उनके बड़े भाई वैयाकरण थे और मन्दिरमें ही श्रीमहान्तजीके साथ ही रहा करते थे। साथ ही कहीं आते जाते भी थे। जाड़के दिन थे। सोनपुरका प्रसिद्ध मेला चल रहा था। श्रीमहान्त रामसुन्दरदासजी भी उस मेलेमें

जानेको तैयार हुए। मैं भी तैयार हुआ। वह पण्डितजी तो तैयार थे ही। उन्होंने उस दिन उन पण्डितजीसे मेरे व्याकरण पढ़ानेकी प्रशंसा सुनी थी। उनके मनमें सुहृद्भावसे मुझसे कुछ पूछनेकी इच्छा थी ; परन्तु उनको कोई अच्छा अवसर नहीं मिलता था। यह उनको अवसर मिला। हम गाड़ीसे उतरकर जहाज़पर चढ़े और गङ्गा उस पार उतर पड़े। थोड़ा सा पैदल चलनेका अवकाश मिला। हम दोनों साथ ही थे। महान्तजी भी साथ ही थे। पण्डितजीने शब्देन्दुशेखरके संज्ञाप्रकरणके एक स्थलको मुझसे पूछ ही लिया। वहाँ एक पाठ है—

किञ्चानुबन्धानामच्प्रत्याहारे ग्रहणाभावे आचाराद्-प्रधानत्वाल्लोपश्च बलवत्तर इति भाष्योक्तस्य तृतीयहेतो-रव्यापकत्वापत्तिः।

इसपर उन्होंने प्रश्न किया कि हेतुका अव्यापक होना तो गुण माना गया है, यहाँ आपत्ति क्यों दी गयी है। मुझे शेखर खूब अभ्यस्त था। मेरे वैयाकरण गुरुजी स्वामी श्रीसरयूदासजी महाराज प्रखर वैयाकरण थे। उनका व्याकरणपाण्डित्य निस्सन्देह था। इदमित्थं कहकर वह पढ़ाते थे। मैंने तुरन्त ही पण्डितजीको उत्तर दिया कि हेतोरव्यापकत्वापत्तिका पक्षतावच्छेदकाव्यापक-त्वापत्ति अर्थ है। वह बहुत ही प्रसन्न हुए। वह पुराने पण्डित थे। उन लोगोंके यहाँ शेखरके इस स्थलपर हस्तलिखित ग्रन्थोंमें यह हस्तलिखित टिप्पणी थी। उन्हें विश्वास था कि यह अर्थ मैं नहीं जानता हूँगा। परन्तु मैं तो इसे जानता ही था। वराहीके छात्रोंकी जब परीक्षा पूरी हो गयी तब मैं अयोध्या चला आया। निम्बार्क सम्प्रदायके पण्डित भीमाचार्यजी जो अब सिद्धपुरमें महान्त हैं, वहाँ मेरे छात्र थे। वह बहुत पटु और गुरुभक्त छात्र थे।

मैं दक्षिणयात्रामें तीन बार जा चुका हूं। जब दूसरी बार दक्षिण जा रहा था, श्रीअनुसूया बहिन सारा भाई सेठ मेरे पास वेदान्त पढ़ती थीं। उन्होंने मुझे सूचना दी कि मैं दक्षिणमें श्रीरमण महर्षि और श्रीरामदासस्वामीको अवश्य मिलूं। मैं बैङ्गलोरसे रमणमहर्षिके पास गया था। उनका आश्रम पर्वतकी उपत्यकामें है अतः बहुत सुन्दर प्रतीत होता है। मैं वहां दो रात्रि और एक दिन रहा था। २४ घण्टोंकी महर्षिकी दिनचर्या मैंने देखी थी। वहां सब कुछ अच्छा था। एक ही वस्तु मुझे प्रिय नहीं थी। उनके शिष्य गणपति शर्मा थे जो उन दिनों पाण्डिचेरीमें श्रीअरविन्दबाबूके आश्रममें रहते थे। उन्होंने कुछ श्लोक महर्षिजीकी स्तुतिमें बनाये थे। उन श्लोकोंका वहां उन्हींके सामने नित्य पाठ होता था और वह प्रसन्न होते थे। यह उचित नहीं था। यदि उनके अन्तेवासी अपने अपने स्थानपर बैठकर पाठ करते तो यह अधिक सहेतुक और योग्य होता।

स्वामी माधवतीर्थके महर्षिके सम्बन्धमें एक पुस्तकमें मैंने पढ़ा था कि महर्षि अपने अन्तेवासियोंकी दुर्वृत्ति और निर्बलताओं-को अपनी दृष्टिसे दूर किया करते हैं। मैं बहुत पुराना अनीश्वर-वादी हूं। वैष्णवसम्प्रदायमें दीक्षित होनेपर भी मैं ईश्वरमें विश्वास नहीं कर सका। परन्तु मैं व्यक्तिपूजाका बहुत बड़ा समर्थक हूं। अत एव मैं श्रीराम, श्रीसीता, श्रीहनुमान् आदिका हृदयसे, भक्तिभावपूर्ण, स्तोत्र बना सका था। उन स्तोत्रोंमें मेरा आत्मा भरा हुआ है। वे स्तोत्र किसीको भी हिला सकते है, रुला सकते हैं। मैंने विचार किया कि यदि यह अनीश्वरवाद मेरे किसी दुष्कृत-का परिणाम होगा तो उनके सामने बैठनेसे दूर हो जायगा। मैं

उनके पास ही बैठता था। दृष्टि भी पड़ती थी। मैं तो वैसा ही रहा।

मैंने महर्षिजीसे पूछा—"आप योगेश्वर हैं। आपने ईश्वरका साक्षात्कार किया होगा। कितने ही लोग ईश्वर नहीं मानते। इसपर आपका क्या अभिप्राय है ?"

उन्होंने मुझसे प्रतिप्रश्न किया—'जो लोग ईश्वरका अस्तित्व नहीं मानते, वे लोग अपना अस्तित्व स्वीकृत करते हैं या नहीं ?'

इस उत्तरका रहस्य समझनेमें मुझे तनिक भी विलम्ब नहीं हुआ। यह उत्तर अद्वैतवादको सामने रखकर दिया गया था। अद्वैतवादमें ब्रह्मातिरिक्त जीव कोई वस्तु नहीं है। **जीवो ब्रह्मैव नापरः।** उनके पूछनेका तात्पर्य यह था कि यदि अपना अस्तित्व स्वीकृत हो तो ईश्वरका अस्तित्व स्वतः सिद्ध हो जाता है। जीव और ईश्वर (ब्रह्म) में कोई भेद नहीं है। यदि वह अपना अस्तित्व स्वीकार नहीं करता तो **मुखे मे जिह्वा नास्ति** के समान वदतोव्याघात होगा। यद्यपि ईश्वर और ब्रह्ममें अद्वैतवादने बहुत ही अन्तर माना है। ब्रह्म सत्य है, ईश्वर औपाधिक है। महर्षिजीने इस भेदका ध्यान रखे विना ही वैसा उत्तर कर दिया था।

मैंने उसके प्रतिप्रश्नका उत्तर दिया कि—मान लिया कि अद्वैतवादमें जीव—ईश्वरका ऐक्य हो सकता है परन्तु नैयायिकादिकोंने परमार्थतः जीव और ईश्वरका पार्थक्य स्वीकृत किया है, उनके लिये क्या उत्तर है ? कोई उत्तर नहीं मिला। वह अपनी आयी हुई डाक पढ़नेमें लग गये, मैं अपने निवासस्थानपर चला गया ?

वह बहुत शान्त थे, सरल थे। उनके पैरमें वातव्याधि था। एक ऊँची चौकीपर उनका आसन था। पासमें थोड़ेसे पुस्तक और घड़ी पड़ी रहती थी। वह बहुत कम बोलते थे। कई अँग्रेज शिष्योंको भी आश्रममें रहते मैंने देखा था।

मेरी इच्छा स्वामी श्रीरामदासके पास जानेकी बन्द हो गयी। मैं बैङ्गलोर लौट गया। मैं जब अहमदाबादसे चला था तब श्रीमान् सेठ माणिकलालजीके पुत्र श्रीरमणीकलाल शाह बी० ए० और उनके छोटे भाईके पुत्र श्रीकृष्णकान्त शाह साथमें थे। मुझे वापस आया हुआ देखकर श्रीकृष्णकान्तजीने पूछा आप दोनों जगह हो आये? मैंने कहा, मैं महर्षिजीका दर्शन तो कर आया। स्वामी रामदासके पास नहीं गया। उन्होंने पूछा, क्यों? क्या रुपये तो कम नहीं हो गये? मैंने कहा नहीं, रुपये तो बहुत हैं। मैं जब रमणमहर्षिके यहाँ जा रहा था तब श्रीरमणीक भाईने मुझे कई सौ रुपये दे दिये थे। फर्स्ट क्लासके टिकटके लिये और जहाँ इच्छा हो वहाँ, व्यय करनेके लिये वे रुपये मुझे दिये गये थे। मैंने कहा, महर्षिजीके यहाँसे मुझे कोई सन्तोष नहीं हुआ। रामदास स्वामीके पास भी ऐसा ही न हो, अतः मैंने अपने मनको समझा लिया है। श्रीकृष्णकान्त भाई बहुत सुशील परन्तु हठी बालक थे। उन्होंने कहा, नहीं आप चले जायँ, रामदासस्वामीसे मिल आवें। नहीं तो अहमदाबाद जानेपर आप कहेंगे कि उनसे मिल आया होता तो अच्छा होता।

उसी दिन रातकी गाड़ीसे जबर्दस्ती मुझे बैङ्गलोर जानेवाली गाड़ीमें बैठा दिया। मैं स्वामीजीके आश्रमके स्टेशनपर उतर गया। स्टेशनका नाम और आश्रमके ग्रामका नाम भी भूल गया हूँ। आश्रममें पहुँचा। यह आश्रम महर्षिके आश्रमसे भी सुन्दर है। पहाड़ीपर बना हुआ है। चारो ओर पर्वत और वनश्री है। वहाँ एक ही रात रह सका था। उन्हीं दिनों स्वामीजीकी जन्म-जयन्ती समाप्त हुई थी। गुजराती सेवक तो आश्रममें उस समय

भी बहुतसे रह गये थे, बहुतसे चले गये थे। रात पड़ी। एक अन्य स्वामीजी वहाँ रहते थे। शायद वह रामदास स्वामीके घरके चाचा थे या रामदास स्वामी ही उनके चाचा थे। कुछ ऐसा ही था। वह मुझे रातमें, जब उनके भक्त लोग उनकी आरती करके भोजन करने गये तब स्वामीरामदासजीके पास ले गये। वह हिसाब किताबके काममें लग गये थे। मैं वहां ही एक कोनेमें पासमें ही बैठा था, तो भी वह काममें लग गये थे। चाचा स्वामीने मुझे कह दिया था कि ये सब सेवक खाकर आ जायँगे तब तुम कुछ भी बात नहीं कर पावेगे। मैंने कहा—स्वामीजी कुछ पूछना चाहता हूं। तुरन्त ही उन्होंने कलम बन्द कर दी। मैंने वहाँ भी वही प्रश्न किया जो महर्षिके सामने किया गया था। उन्होंने कहा रामदास ईश्वरको मानता है। मैंने पूछा क्यों आप मानते हैं? माननेका कारण क्या है? उत्तर दिया कि—ईश्वर न हो तो जगत्का नियमन कौन करे? मैंने कहा 'जगत्में नियन्त्रण जैसी कोई चीज ही नहीं है। मैंने कहा जो अपराध जर्मनी और जापानका था, वही अंग्रेजों और अमेरिकनोंका था। पहले दो मर गये, पिछले दो आबाद रहे। नियन्त्रण कहाँ है? जिसकी लाठी उसकी भैंस। न्याय और नियमका यहाँ लेश भी नहीं है। मैंने यह भी कहा कि जब भारतके काँग्रेसी सभी बड़े बड़े नेता अहमदनगर किलेमें बन्द थे, तब बङ्गालके गवर्नरने बङ्गालके ३२ लाख आदमियोंको भूखे मार डाला था। ईश्वरका न्याय, नियन्त्रण, नियम सब उस समय कहां थे? उत्तर मिला—इस मरने जीनेसे ईश्वरका क्या सम्बन्ध? मैंने कहा यदि मरने जीनेसे उसका सम्बन्ध नहीं है तो वह किस मर्जकी दवा है? उनका उत्तर केवल यह था और अन्तिम उत्तर था—O Poor God, मैं प्रातःकाल चला आया।

मैं जब प्रथमवार दक्षिणयात्रामें गया था, श्रीअरविन्द बाबूके आश्रमको देखनेके लिये पाण्डिचेरीभी गया था। हंसराजप्रागजीके सम्बन्धवाली, बम्बईकी श्रीमती सुन्दर बाई आबूमें चम्पागुफामें मुझे मिली थीं। बहुत सम्बन्ध हो गया था। उनसे मैंने विहारी-छात्रको एक वर्षतक छात्रवृत्ति भी दिलायी थी। सुरतकी एक बहिनको भी दो वर्षोंतक छात्रवृत्ति दिलायी थी। उन्होंने मुझे पाण्डिचेरी आश्रमका अनेक प्रकारोंसे वर्णन सुनाया था। देखनेकी तीव्र इच्छा थी। मैं वहाँ गया। एक धर्मशालामें ठहरा। आश्रमको बाहरसे देख सका। उसके पास बहुतसे मकान थे, सम्पत्तियाँ थीं। गुजराती पत्रोंसे मैं जान सका था कि उस आश्रममें कितने ही सेठोंके लड़के भी और कोई कोई तो अपने भागकी सम्पत्ति लेकर वहाँ रहते हैं। आश्रमके कितने ही अभ्यासियोंसे थोड़ा सा वार्तालाप हुआ। अरविन्दबाबू और माताजीकी आज्ञा विना मैं आश्रम नहीं देख सकता, ऐसा मुझे कहा गया। आश्रम देखनेकी रुचिका अन्त हो गया। मैं किसीकी आज्ञाका वशवर्ती नहीं होना चाहता। वह कोई प्रदर्शिनी नहीं थी कि मुझे टिकट लेना पड़े। एक बार मैं द्वारका गया था। वहाँ कुण्डमें और अमुक सीमातक समुद्रमें नहाने का कर (टैक्स) था। मैं नहाये विना ही चला आया। बेट-द्वारकामें भी टैक्स दिये विना, मन्दिरमें नहीं जाया जा सकता था। मैं वहाँ भी मन्दिरमें नहीं गया। परन्तु जब वहाँके गोसाईं बालकों (!) को पता लगा कि एक विद्वान् त्यागी दर्शन विना वापस जा रहा है तो मैं आमन्त्रित हुआ। अन्दर गया। भग-

वान्का दर्शन किया। प्रसादसेवन किया, दक्षिणा भी ली। एक रेशमी चादर भी ली। चला आया। इस कथाको उस समय वहाँके छात्र, पण्डित रामेश्वरदासजी, जो अब काशीमें रहते हैं, अच्छी तरहसे जानते हैं।

मैं अरविन्दबाबूके आश्रमको देखे विना ही वापस आया। जहाँ तक मुझे स्मरण है, इस सम्बन्धमें मैंने वेङ्कटेश्वर समाचार साप्ताहिक पत्रमें कुछ लिखा था।

सन्तोक बहिनके सम्बन्धमें पीछे थोड़ा सा लिख चुका हूँ। यह बहिन अपनी नौकरीके दिन पूरा करके, भारतमें नियत निवास करनेके लिये सन् १६५३ में अहमदाबाद आ गयीं। मेरे पास ही इसी बङ्गलेमें रहने लगीं। बिना कामके मैं किसी स्त्रीको अपने पास नहीं रहने देना चाहता। श्रीचन्दन बहिन भी मेरी बीमारीमें ही मेरे पास रहती थीं, सदा नहीं। मैंने सन्तोक बहिनको कहा था कि उनके लिये मैं अलग मकान ले लूँ, वहाँ रहें, परन्तु उनकी रुचि मुझसे अलग होनेको नहीं हुई। अपने सारे सामानके साथ यहाँ ही रहती थीं। उनको एक कमरा दे दिया था। उनको अकेला रहनेमें उदासी न प्रतीत हो अतः मैंने श्रीचन्दन बहिनको भी उनके साथ रहनेको कहा। वह अपने घरसे उनके साथ रहने लगीं। उन्होंने बहुत पहलेसे शिंगड़ा जानेका विचार कर रखा था, परन्तु मुझसे इस विचारको छिपा रखा था। एक दिन उनके गुरु भाई महान्त श्रीरामप्रपन्नजी मेरे पास आये। मैं नीचे पुस्तकालयमें था। सन्तोक बहिन ऊपर अपने कमरेमें थीं। मैंने उन्हें बुलाया। वह नीचे आयीं।

महान्त रामप्रपन्नजी उनको शिंगड़ा ले जानेके लिये आये थे। वह जाना नहीं चाहती थीं। मैंने हठात् उन्हें भेजा। अच्छा न लगे तो तुरन्त पीछे लौट आनेको भी कहा। वह यहाँसे रोती हुई गयीं। इनको यहाँ रहते अधिक दिन हो गये थे, परिचित हो गयी थीं अतः श्रीचन्दन बहिन अपने घर चली गयी थीं। सन्तोक बहिन यहाँसे जाते समय यहाँसे ही मेरे पतेका मुहरवाला पोस्ट-

कार्ड सादा लेती गयी थीं। प्रोग्राम भी आनेका बना गयी थीं। पत्र लिखनेमें विलम्ब न हो अतः कार्ड ले गयी थीं। वह गयीं। समय बीत गया। उनका पत्र नहीं आया। मुझे चिन्ता हुई। वह कहाँ होंगी, यह भी पता नहीं। मुझसे कह गयी थीं कि शिंगड़ा एक या दो दिन रहकर, बावरा जायंगी। वहाँसे अहमदाबाद आवेंगी। मैं पत्र कहीं भी लिखनेकी स्थितिमें नहीं था। ता० १२-४-५४ का लिखा हुआ, वही मेरा मुहरवाला कार्ड, मुझे मिला। जीमें जी आया। उनके कार्डकी अविकल लिपि यह है—

शिंगड़ा १२-४-५४

परमपूजनीय बापूजीकी पवित्र सेवामें लि० संतोषना सप्रेम वन्दन स्वीकारशो जी। वि० हूं अहीं छूं। आपश्रीनी तबीअत सारी हशे। अेम इच्छुं छुं। श्रीचन्दन बहिननी तबीअत सारी हशे। मने अहीं गमे छे। अहींनां हवा पाणी मने माफक आवे छे। सवारमां थोड़ी ठंडी पडे छे। बपोरे ताप अने सांजना तो ठंडी हवा ने शान्ति त्यांना जेवीज छे। वली, विद्यार्थियो साथे रहेवुं मने गमे छे। कपडां तो बे त्रणज लीधां छे। म्हारे थोडा दिवस मां पाछुं आववुं ज हतुं तेथी काईं लीधां नथी। पण आवतीकाले म्हारा गुणीया भाई अमदाबाद आवशे। त्यां थी महेशाणा जवाना छे। तेथी तेओनी साथे म्हारी काली पेटी जे म्हारा रूममां छे ते, अने एक सफेद पेटी जे चामडानी बेगनी नीचे छे, ते बे मोकलशो। सुवाना रूममां जे म्हारी ओढवानी ब्लैङ्केट छे ते अने एक काली ब्लैङ्केट वधारानी छे ते, अेम बे ब्लैङ्केट ने बे ओछाड़ ने एक ओशिकुं मोकलशो। सेफमांथी छ कासका छ माला एक पेन अेटलुं आपशो। म्हारी जुनी ब्लैङ्केट श्रीनर्मदा बहिनवाली काली पेटीमां छे। चोरस जे हूँ पहेलां नाखती हती ते मच्छरदानी चोरस मोटी छे ते पण मोकलशो। मने लागे छे के श्रीचम्पक-

जमा करा दिये थे। यह बात तो इस पत्रकी तारीख़ और बैंककी तारीख़से ही स्पष्ट हो सकती है। उन्होंने जो जो चीजें मँगायी थी, मैंने सब भेज दीं। एक बार उनकी लम्बी सूची आयी थी, उसके अनुसार तथा उसमें जो चीजें नहीं लिखी थीं उन्हें भी ढूँढ ढूँढकर मैंने उनके पास भेज दीं। वह वहाँ रहने लगीं। वहाँ ही उनका स्थायी निवास हुआ। मैंने एक दिन लिखा, बहिन तुम्हारी सब चीजें, सब पैसे तुमको मेरे यहाँसे मिल गये। मेरे पास और कुछ तुम्हारा निकलता हो तो मैं अपना लोहू बेंचकर भी दूँगा। उनका फौरन् पत्र आया कि पचीस हज़ार रुपये मेरे तुम्हारे पास निकलते हैं। मैंने समझा था कि वह हँसी कर रही हैं। परन्तु वह तो सचमुच गले पड़ गयीं। उनको न जाने क्या हो गया, यहाँ, मोम्बासा, सर्वत्र उन्होंने मेरे परिचितोंके पास बहुत ही गन्दे शब्दोंमें पत्र लिखना शुरू कर दिया। मेरे आचारके विरुद्ध भी उन्होंने सर्वत्र पत्र लिखा। श्रीमान् सेठ माणिकलाल शाहको भी लिखा। गं० स्व० श्रीहीरा बहिन मेहताको भी लिखा। मोम्बासामें सर्वत्र लिखा। मोम्बासामें एक श्रीपोपटलाल भाई हैं। उन्होंने मुझे लिखा कि सन्तोक बहिनका गन्दा पत्र मिला है। आपके भयसे ही मैंने उनको शिंगड़ा पत्र नहीं लिखा है। इत्यादि। मैंने सबको निषेध किया। किसीको भी उन्हें कटु शब्द नहीं लिखने दिया तथापि उनके भाई श्रीजोषीजी और श्रीपोपटलाल भाईने तो पत्र लिख ही दिया। तब वह शान्त हुईं। कभी-कभी उनके मनमें आता है तो गालियाँ लिखकर मेरे पास भेज देती हैं। मैं उनके प्रेमका स्वागत करता था अतः गालियोंका भी स्वागत करना ही चाहिये। मैंने उनके किसी भी गन्दे पत्रका उत्तर नहीं दिया है। परन्तु उनके लिये जो अभिप्राय मोम्बासासे मेरे पास आया है, सुरक्षित रखा है। सन्तोक बहिनका वह पत्र

भी मेरे पास है जिसको उन्होंने श्रीहीरा बहिन मेहताको लिखा था। उनके प्रेमके पत्र मेरे पास ५२ पड़े हुए हैं—सुरक्षित हैं। मैं उनके किसी भी पत्रसे उनका कभी भी अहित नहीं करूँगा। उन्हें कभी भी अपनी भूलका भान होगा ही। तब वह पश्चात्ताप करेंगी ही। मेरे बहुतसे साथियोंने ऐसी भूलें की हैं और पश्चात्ताप भी किया है। भगवान्से प्रार्थना है कि उनको सन्मति प्राप्त हो। मैं अपने पूर्वपरिचित एक ऐसे बहिनके लिये जिसने परदेशमें मेरे साथ सैकड़ों रात्रियाँ प्रेम, श्रद्धा, शान्ति, उल्लास और सद्भावनासे बितायी हों, इससे अधिक क्या चाह सकता हूं? क्या कह सकता हूं? वह दूसरी बात है कि मेरे जीवनमेंसे संतोक बहिन अदृश्य हो चुकी हैं और उनके जीवनमेंसे मैं सदाके लिये निकल चुका हूं।

बहुत वर्ष पूर्व, मैं सिन्ध कई बार जाता रहता था और जैकोबाद ज़िलेके ठुल ग्राममें श्रीमान् ठाकुर साहिब ईश्वरलाल नेभनलालके पास रहा करता था। एक समय हम वहाँसे ही क्वेटा गये। क्वेटा बलूचिस्तानका सबसे बड़ा शहर है। क्वेटासे ही चमन वगैरः शहरोंमें जाया जाता है। हम लोग ६ या ७ आदमी थे। जैकोबाबाद और क्वेटाके बीचमें **सीबी** एक शहर आता है। वहाँ ही स्टेशन पर मुझे पुलिसने उतार लिया। सेकेण्ड क्लास या थर्ड क्लासका स्मरण नहीं—मेरा टिकट था। मुझे उतार लेनेका कारण पूछनेपर पुलिसने कहा कि क्वेटाके कप्तान साहबकी इजाज़तके बिना मैं सीबीसे एक इञ्च भी आगे नहीं बढ़ सकता। ठाकुरसाहब वगैरः भी उतरने लगे, परन्तु मैंने निषेध किया और कहा कि क्वेटा जाकर आप प्रयास करें। यदि मुझे आज्ञा मिल सके तो यहाँ खबर भेजिये। आज्ञा नहीं मिल सके तो मैं वापस चला जाऊँगा। ठाकुरसाहबको बहुत दुःख हुआ। लाचार होकर वे लोग क्वेटा गये। मैंने पुलिससे पूछा कि यहाँ मुझे क्यों उतारा गया? जवाब मिला कि यह प्रदेश सीमा प्रदेश है। चमनमें ही अन्तिम सीमा है। इधर अंग्रेज़ हैं और उधर काबुल है। यहाँ एक बार साधुओं और फ़क़ीरोंने ब्रिटिश गवर्नमेंटके विरुद्ध आन्दोलन मचा दिया था। बहुत कठिनतासे शान्ति स्थापित की जा सकी थी। तबसे साधुओं और फ़क़ीरोंको कप्तान साहबकी आज्ञाके बिना क्वेटामें और उसके आगे किसी दिशामें भी जाने नहीं दिया जाता। मेरा टिकट पुलिसके पास था। मैं एक अपरिचित गृहस्थ-

के यहाँ ठहरा। सीबीमें प्राय: सभी पंजाबी हिन्दू हैं। गुरुनानक-देवने पंजाबमें हिन्दुओंके हृदयमें साधु सन्तोंके लिये बड़ी भारी श्रद्धाका बीज बोया है। लोग साधुको देखकर ही अपनेको कृतार्थ मानने लग जाते हैं।

मैं वहाँ ठहर गया और क्वेटासे आर्डर आनेकी प्रतीक्षा करने लगा। परन्तु वहाँ यमराजके आर्डरकी भी मुझे प्रतीक्षा करनी पड़ी थी। सीबी बहुत ही उष्ण प्रदेश—स्थान है। मुलतान-से भी अधिक गर्मी सीबीमें पड़ती है। प्रातः ७, ८ बजे तो मालूम होता था कि मध्याह्न हो गया है और सूर्य अपनी सम्पूर्ण कलासे प्रकाशित है। मध्याह्नमें तो वहाँ आग बरसती थी। सायंकाल और रात्रिकी हवा असह्य उष्णतापूर्ण थी। वहांके अधिकांश लोग सारे दिन वहांकी एक छोटीसी नहरमें पड़े रहा करते थे। मैं भी जाकर उसी नहरमें पड़ जाता। मुझे जलमें तैरने आज भी नहीं आता। वह नहर छोटी और छिछली थी। अतः तैरनेकी कला न जाननेवाला भी मेरे जैसा उसमें पड़ सकता था और डूबनेका कोई भय नहीं था। जैसे तैसे दो दिन बिताये। तीसरे दिन तो मैं व्याकुल हो गया। वहाँ मैं थोड़ासा उपदेश भी प्रतिदिन कर दिया करता था। तीसरे दिन मैंने लोगोंसे कहा कि यहाँकी गर्मी मेरे लिये असह्य है। क्वेटासे आर्डर आया नहीं। शायद आवे भी नहीं। अतः मैं वापस जाऊँगा। एक बूढ़े सज्जनने कहा, महाराजजी मेरी अर्ज़ सुनिये। क्वेटा एक चीज़ और देखनेकी चीज़ है। आप घबड़ावें नहीं। आर्डर ज़रूर आवेगा और आप क्वेटा ज़रूर देखेंगे। मैं रुक गया। उसी दिन, सारे जीवनमें मुझे पहली ही बार करेलेका रसदार शाक खिलाया गया। मैं समझता था कि करेलेमें पानी डालनेसे वह कड़ुवा हो जाता है। परन्तु यहां अनु-भव हुआ कि जल डालनेसे वह अधिक स्वादिष्ट बना। शामको

मेरे पास पुलिस आयी। मेरे हाथोंमें क्वेटाके कप्तानका आज्ञापत्र रख दिया। मैंने उसे पढ़ा। प्रसन्न हुआ। उसी दिन शामको जानेवाली गाड़ीसे क्वेटा पहुँचा। मेरे साथी मिले। उनके हर्षका पार नहीं था मेरे सन्तोषकी सीमा नहीं थी।

क्वेटाके शहतूतके बाग़, फल, फूलसे लदे हुए वृक्ष, जगह जगह पानीके ठण्डे झरने, ठंडी हवा कभी कभी पतलीधारसे बर्फकी वर्षा, यात्रीके मनको मुग्ध करनेके लिये पर्याप्त साधन थे। मैं क्वेटामें प्रसन्न तो था, परन्तु एक प्रकारका नजरबन्द कैदी था। जिस धर्मशालामें हम ठहरे थे, उसमें बेचारी पुलिसको दिनभरमें कितने ही चक्कर लगाने पड़ते थे। मैं कहीं जरा भी बाहर गया और पुलिसने आकर मुझे गैरहाजिर पाया तो पुलिसपर आफतका पहाड़ टूट पड़ता था। चारों ओर ढूँढ़नेके लिये सायकिल-सवार सीपाही गश्त लगाने लगते। हमारे साथियोंमेंसे एक श्रीलेखराम-जी बहुत भक्त, सज्जन और समझदार आदमी थे। एक दिन मैं और ठाकुर साहेब केवल दो आदमी चुपकेसे, क्वेटासे शायद २० माइल दूर एक जमींदारी गांवको देखने चले गये थे। श्री लेखरामजी वगैरः भी धर्मशालासे बाहर कहीं शहरमें ही घूमने चले गये थे। पुलिस आयी और बेहोश हो गयी। पुलिसको तो ऐसा लगा मानों उसके हाथका शिकार भग गया। लेखरामजी वगैरः देर तक बाहर रहे है। हम दोनों शामसे पहले आ ही नहीं सकते थे। पुलिस आफिसमें खलबली मच गयी, मैं कहां गया। शामको पुनः पुलिस आयी। मैं और ठाकुर साहेब, हमारे अन्य सभी साथी वहां बैठे थे। पुलिसके जीमें जी आया। सवाल-जबाब-के बाद वह चली गयी परन्तु हमने एक भूल की थी। उस गांवमें जानेके लिये क्वेटासे ही चिट्ठी—सर्कारी ऑर्डर लेना पड़ता था, हमने उसे नहीं लिया था। उस आफिसमें पता लगानेपर पुलिसको

मालूम हुआ कि मेरे और ठाकुर साहेबके नामकी कोई भी चिट्ठी नहीं फाड़ी गयी थी। ठाकुर साहेब पुलिस आफिसमें बुलाये गये। 'चिट्ठी लेना जरूरी है, यह हम नहीं जानते थे' इतना कहकर हाकिमोंको संतुष्ट करके श्रीठाकुर साहेब धर्मशालामें आये।

एक दिन वहांके किसी सज्जनने कहा कि क्वेटाका आना तभी पूर्णतया सफल माना जा सकता है, जब हम ज़ियारतको देख सकें। ज़ियारत नामकी वहां एक बहुत ही सुन्दर जगह है। पहाड़ हैं, जङ्गल हैं, पहाड़ोंमें गुफाएँ हैं। गुफाओंमें ऊपरसे पानी फौव्वारेके समान पड़ा करता है, ठंडक है, रईसोंके रहनेके बङ्गले हैं। मैं और ठाकुर साहेब एक दिन चुपकेसे उठे और ज़ियारत जानेवाली मोटरमें (बसमें) बैठ गये। पुलिस धर्मशाला-में गयी। वहां मुझे न पाकर मोटर स्टेण्डपर गयी। वहां हम दोनों ही मोटरमें बैठे हुए ही मिले। उसने मुझसे पूछा, आप कहाँ तशरीफ ले जा रहे हैं? मैंने कहा, **ज़ियारत**। फिर क्या था, पुलिस साइकिलपर दौड़कर पुलिस-दफ्तरमें गयी। मैं ज़ियारत जा रहा हूँ, यह खबर पाते ही दो इन्स्पेक्टर दौड़ आये। कहा, आपको कप्तान साहेब बुला रहे हैं। मैं और ठाकुर साहेब मोटरसे नीचे उतरे। पुलिस आफिसमें गये। जिन सज्जनने मेरी जमानत दी थी क्वेटामें दाखिल होनेके लिये, उन्हें भी पुलिसने पहलेसे ही बुला रखा था। हमारी नाजायज्ज हरकतसे उन्हें कप्तानके सामने शर्मिन्दा होना पड़ा। "ये लोग नये हैं, इन्हें मालूम नहीं था कि जियारत नहीं जाया जा सकता" कहकर मेरे प्रतिभू (जमा-नत देनेवाले) सज्जन बाहर आये और ठाकुर साहेबसे कहा कि अब कहीं भी बाहर जाना हो तो परवाना लेकर ही जायें।

अब तो मेरे मनमें ज़ियारत जियारत और ज़ियारतकी ही

रट लग गयी। उसे देखे बिना चैन नहीं। कैसे देखूँ, इसकी चिन्तामें सारा दिन बिताया।

सायङ्काल हम लोग वहाँके एक हाईस्कूलके कम्पाउण्डमें घूमनेके लिये गये। वहाँ एक मास्टर साहबने जियारत देखनेकी एक तदबीर बतायी। उन्होंने कहा, जियारत आप रह नहीं सकते, ठहर नहीं सकते, वहाँका टिकट भी नहीं मिल सकता। टिकट लीजिये **लोड़ा लाई** का। लोड़ा लाई एक छोटा सा परन्तु सुन्दर पर्वतीय ग्राम है जहाँ जियारत जानेवाली मोटरसे ही जाया जाता है। उन्होंने कहा कि आप मोटरवालेको थोड़ेसे पैसे देंगे, और वह अपनी मोटरको कुछ देरके लिये रोक रखेगा और बहाना करेगा कि मोटर बिगड़ गयी है। वह जब तक ठोंक ठांक करे तब तक आप इधर उधर घूम आइयेगा। मेरी खुशीका पार नहीं। अपने सब साथियोंसे दूसरे दिन मैं अलग हो गया। जियारतकी मोटरसे लोड़ालाइका टिकट लेकर रवाना हुआ। कई घण्टों चलकर मोटर जियारत पहुँची। पहाड़ोंपर छोटे छोटे बङ्गले देखकर आबू पहाड़का दृश्य स्मृत हुआ। में वहां उतरा। हाथमें कमण्डलु लिया, एक तरफ़ चल दिया। मोटरसे १०, १५ डग ही चला होगा कि एक इन्स्पेक्टर सामने आया। पूछा, महाराज साहब कहां जा रहे हैं? हाज़िर जवाबीकी तो कोई कसर थी ही नहीं, मैंने उत्तर दिया —'जल लेनेके लिये।' 'पुलिस, यहां आवो, महाराज साहबको जल लाकर दो' इन्स्पेक्टरने पुलिससे कहा और मुझसे कहा कि आप मोटरमें बैठ जाइये, पानी आता है।' मैं मोटरके पास आया। अन्दर बैठने जा रहा था, इतनेमें ही एक पंजाबी दूकानदारने कहा महाराजजी, आप इधर कहां? मैंने कहा मुझे जियारत देखनी थी परन्तु यहां तो मुझे उतरने भी नहीं दिया जाता है। उसने कहा, आप दो दिन यहां रहें तो हम ४, ५ दूकानदार हैं, हमको

कुछ उपदेश सुनने, समझनेको मिल जाय। मैंने कहा, आप लोग मुझे यहाँ ठहरनेकी इजाजत दिला दें तो मैं जरूर दो दिन या अधिक दिन यहाँ ठहर सकता हूँ। उन्होंने कहा—'देखिये, वह बड़े हाकिम खड़े हैं। उनके पास जाइये। उनसे कहिये। वह बहुत अच्छे हैं, आपको आज्ञा दे देंगे। मैं उनकी ओर चला। वही इन्स्पेक्टर साहब फिर मेरे सामने आये और पूछने लगे, 'महाराज साहब अब किधर ? मैंने कहा, 'मैं आपके आफ़िसमें जा रहा हूँ। बड़े साहबसे मिलना है।' उन्होंने पुलिसको मेरे साथ लगा दिया। मैं आफ़िसमें घुस गया। बड़े साहब उठ खड़े हुए। मैंने समझा, यह बहुत ही सज्जन प्रतीत होते हैं। मुझे आज्ञा जरूर दे देंगे। जब मैंने उनसे वहां रुकनेकी आज्ञा प्राप्त करनेकी बात की, तो उन्होंने बहुत ही थोड़ेमें सब कुछ पूरा करते हुए कहा—यदि आपको लोड़ा लाई जाना है तो जाइये नहीं तो मैं दूसरी मोटरसे आपको क्वेटा लौटा दूँगा। मैं अपना सा मुँह लेकर वापस आया और मोटरमें बैठ गया। मोटर ड्राइवर तो बेचारा मोटरमें कुछ खटखट करता ही था, मानो, कुछ बिगड़ गया हो। उसने मुझसे कुछ भी पैसे नहीं लिये, आगे चला।

शायद ४ बजे शामको मैं लोडालाई पहुँचा। लोड़ालाई एक छोटा सा बलूचियोंका गाँव है। अत्यन्त रमणीय। पर्वतमालाओंसे घिरा हुआ और जलराशि परिवेष्टित वह गाँव रम्य ही है। झरने पहाड़ोंसे निकलकर गाँवमें आते हैं। गाँववालोंने जलमार्ग बना लिये हैं। अतः सारा पानी गाँवमें चक्कर लगाता है। सब घरोंके सामने होकर वह पानी बहता है। मैंने देखा कि वहाँ किसीको पानीका कष्ट था ही नहीं। वहाँ एक छोटी सी हिन्दुओंकी भी आबादी थी। एक ब्राह्मण कुछ थोड़ा सा संस्कृत पढ़े लिखे थे। वह सनातन धर्मसभाके उपदेशक थे। उन्होंने वहाँकी छोटी

सी धर्मशालामें मुझे निवास दिया। यदि मैं भूलता नहीं हूं तो वह भी उसी धर्मशालामें ही रहते थे।

क्वेटामें रहे हुए साथियोंके साथ व्यवस्था यह की गयी थी कि अमुक तारीखको वह क्वेटासे निकलकर अमुक स्टेशनपर पहुँचे और उसी तारीखको मैं बलूचिस्तानके कुछ भागोंका भ्रमण करके वहाँ पहुँचूँ। वहाँसे सभी साथ होकर सिन्ध ठुल पहुँच जायँ। ऐसा ही हमने किया था।

जब मैं क्वेटामें था, पुलिसका आज्ञापत्र लेकर चमन देखने गया। चमन ब्रिटिश राज्यकी अन्तिम सीमा थी। वहाँ स्टेशनपर पैर रखते ही पुलिस इन्स्पेक्टर मिले। मेरा आज्ञापत्र देखा। जहाँ ठहरना था, मैंने उस जगहका नाम अपनी डायरीमेंसे देखकर बता दिया। उन्हें भय था कि वहाँ कोई व्याख्यानादि दूंगा। उन्होंने पूछ ही लिया कि 'आप यहां कोई लेक्चर भी देंगे। मैंने उत्तर दिया कि मेरी इच्छा तो नहीं है, परन्तु यदि लेक्चर देना होगा तो मैं आपको उस सभाका सभापति बनाऊँगा। वह हँस पड़े। चल गये। मैं किसी धर्मशालामें गया। थोड़ी ही देरमें एक पुलिस सिपाही मेरे पास आया और कहा इन्स्पेक्टर साहब बुलाते हैं। मैं दौड़ता हुआ गया। क्वेटा जितना ठण्डा है, चमन उतना ही गर्म है। बाहर निकलनेकी इच्छा नहीं होती थी, तथापि किसी बलामें न फँस जाऊँ, अतः फौरन् पुलिस आफिसमें पहुँचा। बात कुछ भी नहीं थी। उन्हें मुझसे कुछ बातें करनी थीं। मैं कहाँसे आया हूं, क्या करता हूँ, इन सब मामूली बातोंका उन्होंने नोट किया। पश्चात् तो मजहबी बातोंमें वह उतर पड़े। एक मालाकी ओर इशारा करके कहा, मैं भी मजहबको इन्सानियतका विरोधी नहीं मानता हूं। आदमी चाहे जिस मजहबका हो, आखिर तो वह इन्सान ही है और इन्सानसे प्रेम करना इसलाम भी सिखाता

है। मैंने भी ऐसा ही कुछ हिन्दु धर्मके लिये कहा। मैंने कहा, हिन्दु धर्ममें तो किसीको दुश्मन मानना ही गुनाह बताया गया है। मगर इन्सान अपनी कमजोरीकी वजहसे किसीको दुश्मन मान भी ले तो भी दिलमें मलाल न रखे। दुश्मनीसे दूर रहनेकी कोशिश करता रहे। मैंने कहा हमारे यहाँ तो हमारे ऋषियों और मुनियोंने कहा है कि—

सर्वे हि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखमाप्नुयात्॥

इसका और **मा विद्विषावहै** इस उपनिषद्-वाक्यखण्डका अर्थ मैंने जब उन्हें सुनाया तब उन्होंने आसमानकी ओर उँगली उठाकर कहा, "अल्ला ताला एक है। हम सब चाहे कोई हिन्दु हों, या यहूदी हों सब उसीके बनाये हुए हैं। आप यहाँ जब तक रहना चाहें मजेसे रह सकते हैं। कोई तकलीफ हो तो आप मुझे कहेंगे।" मैंने कहा यहाँ गर्मी सख्त है। मैं चमन और इसके आसपासके कुछ प्रदेश देखकर, यहाँके रस्मो रवाजको भी थोड़ासा देखकर चला जाऊँगा। उन्होंने अपना एक आदमी दिया था जिसने मुझे जरूरतक वक्तपर लड़ाईका मैदान दिखाया। बहुत बड़ा मैदान था। बहुत बड़ा पानीका इन्तिजाम था। थोड़ी थोड़ी दूरपर पानीके हौज बने हुए थे। पानीकी बड़ी बड़ी टङ्कियाँ कितनी ही बनी हुई थीं। बातकी बातमें वे सब हौज़ पानीसे भरे जा सकते थे। सरहदपर कितना सावधान किसी भी सरकारको रहना पड़ता है, इसका मुझे उसी दिन वहाँपर ही ध्यान हुआ।

मैंने वहाँकी मण्डी देखी। सारी मण्डियाँ किशमिशसे भरी हुई थीं। बलूची लोग ऊँटपर भर भरकर किशमिश अफ़गानिस्तानसे ले आते और वहां खलिहानमें उलट देते। किशमिश

गीली चीज है। उसके ढेफे बन जाते थे। बलूची लोग जूता पहिने हुए उसपर चलते और जूतेसे ठुकराते हुए उसे विखेर देते। उन्हें थूकनेकी मर्जी होती तो उसीपर वह थूक भी देते। यह सब मैंने देखा। तबसे कभी भी किशमिशको धोये विना खानेका अवसर नहीं आने दिया।

क्वेटा और चमनके बीचके स्टेशनोंमेंसे एक स्टेशन बोस्तां भी आया था। मैंने गुलिश्तां, बोस्तांको फ़ारसी पढ़नेके समय पढ़ा था। यहां गांवोंका नाम देखा। मैं समझता हूँ कि इन गांवोंके नामसे ही वह किताबें लिखी गयी हों तो कोई तअज्जुब नहीं।

दूसरे ही वर्ष क्वेटामें जलज़ला—भूकम्प हुआ और साराका सारा क्वेटा नष्ट हो गया। हजारों मनुष्य कालके गालमें चले गये। उस समय मुझे सीबीके उस वृद्ध बन्धुकी बात याद आयी "क्वेटा देखनेकी चीज है। इसे आप न देखेंगे तो पछतायेंगे।" क्वेटा अपनी समस्त सुन्दरता और इतिहासके साथ धराशायी हो गया था। अब उसकी क्या दशा है, मैं नहीं जानता।

———

मैं अहमदाबादमें १९४२ ई० से स्थायी रहने लग गया था। मैं पहले ही लिख आया हूँ कि एक समय आत्मघात करनेकी मेरी इच्छा हो गयी थी। मेरे पास कोई सम्पत्ति न तो तब थी और न अब है। विरक्त जीवनमें सम्पत्तिका होना उसके पापका ही फल है और उसके दुःखोंका कारण है। मेरे पास मेरा एक सुन्दर पुस्तकालय है। मुझे उसकी ही चिन्ता रहा करती है। मैं जब ईस्ट अफ्रिका गया था तब सेठ श्रीमाणिकलाल शाह और श्रीत्र्यम्बक भाई तथा बहिन श्रीचन्दन देवीके नाम विल कर गया था कि—यदि मेरा शरीर न हो तो यह मेरा पुस्तकालय अमुक पुस्तकालयको सौंप दिया जाय। उस समय भी मुझे उसकी चिन्ता थी। मैंने नागरी प्रचारिणी सभा काशीको पत्र लिखा कि यदि सभा मेरे पुस्तकालयको रख ले तो मेरी चिन्ता दूर हो। उस समय मुझे श्री० पण्डित रामनारायणमिश्रजीकी ओरसे उत्तर मिला था मैं अपने पुस्तकालयके ग्रन्थोंके नाम लिखकर भेज दूँ। मैंने ऐसा ही किया। पण्डित श्रीरामनारायण मिश्रजीने मुझे लिखा कि ये ग्रन्थ बहुत ही उत्कृष्ट और उपादेय हैं परन्तु दुःख है कि सभाके पास आलमारियाँ इन्हें रखनेके लिये नहीं हैं। यदि आप कहें तो कीन्स कालेजके सरस्वतीभवनमें इन्हें रखनेका प्रबन्ध कर दूँ। मैंने उत्तर दिया कि—मैं काँग्रेसी हूं, सत्याग्रही हूँ, कीन्स कालेज सरकारी है अर्थात् ब्रिटिश गवर्नमेंटकी सम्पत्ति है। मैं उसे अपना पुस्तकालय नहीं दूँगा। यह बात तो यहाँ ही पूरी हो गयी। परन्तु मैं श्री पण्डित रामनारायणजी मिश्रजीकी स्मृतिमें बना रहा। उसी समय हरद्वारका कुम्भ पर्व आया था। श्रीमिश्रजीने मुझे लिखा कि आपका

गुजरातमें परिचय होगा। आप कुम्भ मेलेमें हिन्दी प्रचारकी सहायताके लिये ना० प्र० सभा काशीको पांच सौ रुपये दिला सकें तो अत्युत्तम। मैंने लिखा था कि मैं प्रतिज्ञा तो नहीं कर सकता परन्तु प्रयास करूँगा। मुझे दुःख है कि मैं पण्डितजीकी आज्ञाका पालन आजतक नहीं कर सका हूँ। मैं समझता हूँ कि मेरे सिरपर सभाके लिये पण्डितजीका एक ऋण है, और इस ऋणको मुझे मेरे जीवनमें ही अदा कर देना चाहिये।

एक वार उन्होंने मुझसे मेरा परिचय माँगा था और मैंने अपने वेदभाष्यादि सभी मुद्रित ग्रन्थ उनके पास भेज दिये थे। भारतपारिजात, पारिजातापहार और पारिजातसौरभ भी भेज दिये थे। इन्हें पढ़कर उन्हें बहुत ही प्रसन्नता हुई थी। मुझे उन्होंने लिखा था कि आप उच्चकोटिके विद्वान् प्रतीत होते हैं। इन पुस्तकोंको पढ़कर मेरे ना० प्र० सभा काशीके पुस्तकालयमें दे दूँगा। पण्डितजी उसके संस्थापकोंमेंसे एक थे अतः सभाके प्रति ममताका होना स्वाभाविक और अनिवार्य था।

पण्डितजीके उदात्त हृदयका एक उदाहरण। मैं ईस्ट अफ्रिकामें था। श्रीपण्डितजीने नागरीप्रचारिणीसभामें मुझे निःशुल्क सदस्य बनानेका एक प्रस्ताव किया और वह स्वीकृत हो गया। मुझे इस बातकी सूचना सभाके कार्यालयसे प्राप्त हुई, याद नहीं है कि भारतमें या अफ्रिकामें। तबसे ही मैं ना० प्र० सभा काशीका सदस्य हूं। सभाकी मुझपर उदार दृष्टि बनी रहती है और सभाकी सभी काररवाइयोंसे मैं अवगत रहा करता हूँ। मेरी तीव्र इच्छा है कि मैं श्रीपण्डित रामनारायण मिश्रजीकी उस इच्छाको पूर्ण करनेके लिये सभाको ५००) दूँ; परन्तु उसके लिये समय अपेक्षित है।

जिस साल श्रीरामानन्दविद्यालयकी काशीमें मैंने स्थापना की उसी सालकी बात है। मैं सामवेदके पूर्वार्चिकका सामसंस्कार-भाष्य छपाने काशी गया था। पञ्चगङ्गाघाटपर श्रीमठमें ही शायद दो मास या अधिक समयतक रहा था। चौमासा आ गया। वर्षा पड़ने लग गयी थी। गङ्गाजीमें बाढ़ आने लग गयी थी। श्रीमठके नीचे लगभग ४० सीढ़ियां या अधिक हैं ऊपर भी ४० या ५० सीढ़ियां हैं। मध्यमें श्रीमठ है। माधवरावके धरहरेकी सीढ़ियोंसे गङ्गामें जाना होता है। वर्षामें श्रीमठका निचला भाग पानीमें ही डूबा रहता है। निचले भागमें स्वामी रामानन्दजी महाराजकी चरणपादुका तथा श्रीकबीरजीकी पाषाणमूर्ति है। वह सब ३-४ महीने तक पानीमें ही रहती हैं। छतसे पानी सदा टक्कर खाता रहता है। मैं वहाँ ही था। जब इतना पानी आ जाता तो मैं ऊपरसे ही एक दूसरी सीढ़ीसे उतरकर बाहर शहरमें जाता। एक दिनकी बात है। गंगाजीका उत्साह बढ़ा। उनकी इच्छा क्या थी, मुझे पता नहीं। पानी बहुत बढ़ गया। ऊपरकी १०-५ सीढ़ियाँ ही खाली थीं, अवशिष्ट सभी पानीमें। मेरे जानेका कोई मार्ग नहीं। घाटिया लोग सब सीढ़ियोंसे ऊपर, सर्वथा ऊपर चले गये थे। वहाँ कोई भी आदमी नहीं रह गया था। रह गया था अकेला मैं। वेणीमाधवमन्दिरके श्रीमहान्तजीके हाथमें मेरी सब व्यवस्था थी। जब मैं वराही (मिथिला) में अध्यापक था तब वह भी मेरे छात्र थे। उसी सम्बन्धको उन्होंने अन्ततक निभाया था। उस समय वही सब प्रबन्ध मेरा करते थे। उन्होंने बहुत ही अनुनयसे

कहा कि आप इस श्रीमठसे निकल जायँ। मैंने इसे नहीं माना। दोपहरके समय तो पानी ऊपर आ गया। मेरे बैठनेकी एक छोटीसी चौकी थी वह तो पानीमें डूब ही गयी। एक भीतमें लम्बा सा चबूतरा जैसा था, उसपर मैं जलघट रखा करता था। कोयलोंका थैला भी मैंने उसपर ही रख दिया। भोजन बनाना था। उसी चबूतरेपर ही सिगड़ी रखकर भोजन जैसा तैसा बना लिया। उस चबूतरेपर मेरे बैठनेकी कोई जगह नहीं थी। घुटना-भर पानीमें खड़ा रहकर ही मैंने भोजन बनाया था। गङ्गाका प्रवाह-वेग खूब बढ़ चुका था। सामनेकी ओर पानीके सिवाय और कुछ भी दृष्टिगत नहीं होता था। वह मठ तो लगभग ५०० वर्षका पुराना है। मुझे भय था कि यदि यह टूट गया तो मैं जलमय हो जाऊँगा। परन्तु मुझे मृत्युका भय सदा ही बहुत ही कम रहा है। अब भी मैं भयसे भीत नहीं हूं परन्तु उसका स्मरण अब अत्यधिक होता है। बाल्यावस्था और युवावस्थामें मृत्युकी सदा अवगणना ही होती रहती है। परन्तु वृद्धावस्था तो मृत्युकी ही अत्यल्प सम्पत्ति है। उस अवस्थापर केवल मृत्युका अधिकार और आधिपत्य होता है। उस समय मुझे मरनेका भय नहीं था। पण्डे लोग—घाटिया लोग चिल्ला चिल्लाकर कहें—"स्वामीजी साथवाले मकानकी खिड़कीमेंसे भागकर ऊपर आ जाइये।" परन्तु स्वामीजीको तो यह भय था कि लोग मुझे भी कायर कहेंगे—भीरु कहेंगे। गृहस्थ और विरक्तके जीवनमें पार्थक्य करनेवाली कोई वस्तु रह ही नहीं जायगी। गृहस्थ भी डरकर भाग गये—विरक्त भी भाग जाय और उसे भी मृत्यु विह्वल बना दे तो गृहस्थ-विरक्तकी समताको नष्ट करनेवाला कोई वस्तु रह ही नहीं जाता। मैं तो वहां ही रहा। मृत्युके क्षणकी प्रतीक्षा करता रहा। मुझे आनन्द था कि यदि मैं बच जाऊँगा तो मेरी विरक्तता

खिल उठेगी, मेरा साहस विश्वासपात्र बनेगा। यदि गङ्गामैया मुझे अपनी गोदमें छिपा लेगी तो मेरा कल्याण हो जायगा। जिस श्रीमठमें रामानन्द जैसे महापुरुषका निवास था, जिस मठमें कबीर और रविदास जैसे भक्तोंका आविर्भाव हुआ था, जिस मठमें गाङ्गरौन गढ़नरेश श्रीपीपाने आत्म-कल्याणका उपदेश ग्रहण किया था, जिस मठमें असंख्य मनुष्योंने मोक्षमार्गका पाठ सीखा था, उसी मठमेंसे मेरे इस नश्वर शरीरको गङ्गाने यदि बलात्कारसे उठा लिया तो श्रीमठकी मर्यादामें अवश्य वृद्धि होगी। रामानन्दकी प्रभुताको प्रख्यात करनेमें मेरे जीवनका एक एक क्षण व्यतीत हुआ है। उस मठसे मैं बाहर कैसे जा सकता था! मेरे गुरुदेवके ये शब्द मेरे कानोंमें उस समय भी गूँज रहे थे—"संसारके भयसे तो मैं भगवान्‌की शरणमें आया हूं, और अब गोवधके आन्दोलनमें पकड़े जानेके भयसे कहाँ जाऊँ?" श्रीमठ मेरी दृष्टिमें अभयपद है। वहाँसे मैं प्राण बचानेके लिये बाहर जानेकी बात सोच भी नहीं सकता था। गङ्गाने कृपा की, अथवा मेरी परीक्षाकी समाप्ति की अथवा उन्होंने अपनी शक्तिकी ही परीक्षा की हो, जो कुछ हो, दो घण्टेके बाद ऊपर चढ़ा हुआ जल सहसा नीचे उतर गया। सीढ़ियाँ पानीसे खाली हुईं। मेरे यहां आनेका मार्ग निर्बाध हुआ। लोगोंके मुखोंने मेरी प्रशंसाकी झड़ी लगा दी। मैंने सबसे नम्रतासे कहा कि यह मेरा प्रताप नहीं है, यह तो इस मठ और इस भूमिका प्रताप है। मैंने यह भी कहा कि दो घण्टों तक मेरी जीभने राममन्त्रका उच्चारण करनेमें जरा भी शिथिलता नहीं की थी। एक भयमेंसे मैं मुक्त हुआ।

बहुत दिनोंकी बात है। शायद मैं १९१८ ई० में दीक्षित हुआ था। उससे भी पूर्वकी बात है। काञ्चीके प्रतिवादिभयङ्करमठके आचार्य स्वामी अनन्ताचार्यजी उत्तरीय भारतमें भ्रमणके लिये आये थे। वह काशी भी आये थे। एक माससे भी अधिक उन्हें वहाँ रुकना पड़ा था। साम्प्रदायिक लोग अपने सिद्धान्त और रूढ़िमें दृढ रहना सीखते हैं—सीखे हुए होते हैं। इसके बिना सम्प्रदाय टिक नही सकता है—सम्प्रदायका कोई महत्त्व भी नहीं रहता है। स्वामी अनन्ताचार्यजीने काशीसे निकलनेके पूर्व काशीके विद्वानोंको आमन्त्रित करके शाल-दुशाले आदिसे सम्मानित किया था। पण्डितोंकी सभा हुई थी। सभाविसर्जनके पश्चात् एक रुद्रभट्ट विद्यार्थी आये। उन्होंने भी बिदायी मांगी। स्वामीजीके व्यवस्थापकने कहा, वह तो आमन्त्रितोंकी सभा थी। विदाई भी उन्हींके लिये थी। सभा पूरी हो गयी। विदाईका कार्य भी पूरा हो गया। अब किसीको कुछ नहीं मिलेगा। रुद्रभट्टजी रुद्रावतार बने। उन्होंने एक विज्ञप्ति छपायी और विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तपर आक्षेप किये। स्वामीजी चलनेको तैयार ही थे। परन्तु अब वह कैसे जा सकते थे? सिद्धांतपर आक्षेप था। जीवन-मरणका प्रश्न था। वह रुक गये। विज्ञप्तिका उत्तर विज्ञप्तिसे दिया गया। बात बढ़ गयी। बात बिगड़ भी गयी। धीरे धीरे रुद्रभट्टके सहायक बढ़ने लगे। रुद्रभट्ट अद्वैतवेदान्तके विद्यार्थी थे। अब पण्डितोंने भी उनका साथ दिया। अब विज्ञप्तियोंसे काम नहीं चल सकता था। पुस्तक निकलने लगे। दोनों ओरसे आक्षेप और समाधान होते थे।

श्रीभाष्यपर मुख्यतया आक्षेप हो रहे थे। अब बात और आगे बढ़ी। शास्त्रार्थका अवसर उपस्थित हुआ। विशिष्टाद्वैत और अद्वैतका शास्त्रार्थ होना था। दोनों पक्षोंसे विद्वानोंको आमन्त्रित किया गया। दाक्षिणात्य विशिष्टाद्वैतवादी विद्वान् आ पहुँचे। अयोध्यासे श्रीमान् स्वामी माधवाचार्यजी पधारे। अद्वैतवादियोंमें हलचल था। उस समयतक श्रीमान् पण्डित लक्ष्मणशास्त्री द्रविडके अतिरिक्त कोई ऐसा विद्वान् काशीमें नहीं था जो अद्वैत और विशिष्टाद्वैत दोनोंके सिद्धान्तोंसे सुपरिचित हो। शास्त्रीजी कलकत्ता संस्कृत कॉलेजमें थे। अपकाश मिले तब आ सकें, ऐसी परिस्थिति थी। श्रीमान् पण्डित शिवकुमार शास्त्रीजी उन दिनों जीवित थे। लकवासे पीड़ित थे। उनके छात्रोंमें बड़े बड़े विद्वान् अवश्य थे परन्तु विशिष्टाद्वैतवादको समझनेवाला कोई नहीं। पण्डित श्री जयदेव मिश्रजीने कहा, हम लोग शास्त्रार्थ अवश्य ही करेंगे। भले न वेदान्तका विषय हो; परन्तु हम लोग व्याकरणमें ही खींच लावेंगे और वहां ही पछाड़ देंगे। शास्त्रार्थका दिन नियत हुआ। बाँसके फाटकके पास नाटकगृहमें शास्त्रार्थका होना निश्चित हुआ। औदीच्य विशिष्टाद्वैतवादी भी काशीमें उपस्थित हुए। उन दिनों मैं अयोध्यामें ब्रह्मचारीकी स्थितिमें था। बड़ास्थानमें ही रहता था। बड़ास्थानसे मेरे श्रीगुरुदेव, उनके साथ पण्डित रघुवराचार्यजी और मैं, पण्डित माधवदासजी इत्यादि काशी पहुँचे। पण्डित श्रीसरयूदासजी गोलाघाटवाले भी हम लोगोंके ही साथ थे। गढ़ीमें भी एक महान्त सरयूदासजी किसी पट्टीके महान्त थे। वह भी पहुँचे। काशी पहुँचनेवाले सभी महान्त सधन थे और धन ले लेकर ही वहां गये थे। स्वामी अनन्ताचार्यजीको सबने धनार्पण किया, साष्टाङ्ग प्रणाम भी किये। उस समय मैं सम्प्रदायमें दीक्षित नहीं था। साम्प्रदायिक रहस्य भी नहीं जानता

था। परन्तु इतना ही आंखों देखा कि सभी विरक्तरामानन्दीय गृहस्थश्रीअनन्ताचार्यजीको साष्टाङ्ग कर रहे थे। शास्त्रार्थमें बहुत कोलाहल हुआ। स्वामी अनन्ताचार्यजी बहुत समर्थ विद्वान् भी थे और समर्थ व्यवस्थापक भी थे। उन्होंने काशीके पण्डितोंकी ओरसे उतने और उन पण्डितोंकी नामावलि मांगी जो शास्त्रार्थमें भाग लेनेवाले थे अथवा उपस्थित होने वाले थे। उन्हें नामावलि मिल गयी। उसीके अनुसार उन्होंने थियेटर हालमें गद्दियाँ लगवायीं। पण्डित आ गये। स्व-स्व-आसनपर बैठ गये। ऊर्ध्व-पुण्ड्रधारी विद्वान् भी अपने अपने नियत स्थानपर बैठ गये। स्वामी अनन्ताचार्यजीने संस्कृतमें एक छोटासा पहले भाषण किया। उन्होंने कहा था कि "हमें गङ्गाद्रोही और शिवद्रोही कहा गया है क्योंकि हमने शङ्करका दर्शन नहीं किया। परन्तु हम इतनेसे ही शङ्करद्रोही नहीं कहे जा सकते। हम यहांके कलक्टरसे नहीं मिले है एतावता हमें कोई कलक्टरका द्रोही नहीं कह सकता। हम वैष्णव हैं। हमारा देव विष्णु है। हमें जो कुछ लेना है, मांगना है विष्णुसे ही, अन्य देवसे नहीं। इस दृष्टिसे हम विश्वनाथमन्दिरमें नहीं गये तो हमने कोई अनुचित नहीं किया। अच्छा अब शास्त्रार्थ का आरम्भ होगा।"

उन दिनों कीन्सकालेजके अध्यक्ष यदि मैं भूलता नहीं हूं, तो थीबो साहब अंग्रेज थे। वही इस शास्त्रार्थके मध्यस्त थे। समयकी बात है। जिसे वेदान्त श्रवणका अधिकार नहीं, उसे वेदान्तके शास्त्रार्थमें मध्यस्थ बनाया गया। शास्त्रार्थकी बात चली, इतनेमें ही—**आगतोहं रुद्रदत्तभट्ट** ऐसा कहते हुए रुद्रदत्तजी आ गये। परन्तु उनके लिये कोई गद्दी नहीं थी। एक कटघरा बनाया गया था। वहाँ ही खड़े खड़े उन्होंने पूर्वपक्ष किया। पूर्वपक्षमें कुछ बल नहीं था

क्योंकि विशिष्टाद्वैत वेदान्तका उन्हें ज्ञान नहीं था। स्वामी अनन्ताचार्यजीने रुद्रभट्टके पूर्व पक्षका अनुवाद करके उसे व्यवस्थित किया और पूछा कि यही तो आपका आशय है? रुद्रभट्टजीने कहा हाँ। एक दाक्षिणात्य विद्वान् उत्तर कर रहे थे, इतनेमें ही बड़ा हल्ला गुल्ला हुआ। गैलरीमें भी पण्डित और विद्यार्थी कुछ न कुछ बोलते, पूछते और शोर गुल मचाते। इतनेमें बाहर हल्ला हुआ। कुछ पण्डित अन्दर आना चाहते थे। परन्तु नामावलीमें उनका नाम न होनेसे वह द्वारपर ही बाहर रोके गये। इसको उन्होंने अपना अपमान समझा। इसी हो हल्लामें शास्त्रार्थ पूरा हो गया। दूसरे दिन काशीके पण्डितोंने टाउनहॉलके मैदानमें सभा की। श्री० पण्डित शिवकुमार शास्त्रीजीको सभापति बनाया था। वह चल नहीं सकते थे। पालकीपर वह ले जाये गये थे। भीड़ बहुत इकट्ठी थी। शिवकुमार शास्त्रीजीने क्या कहा, किसीने सुना नहीं, क्योंकि वह लकवा-पीड़ित थे। कविचक्रवर्ती **दुखभञ्जन कविके तनय कवि देवी परसादजीने** खड़े होकर घोषणाकी कि शास्त्रीजी कह रहे हैं कि विशिष्टाद्वैत अवैदिक है अवैदिक है। बस काशी विजयिनी हो गयी। थियेटर हॉलमें जो पूर्व पक्ष हुआ था और उसका उत्तर पक्ष हो रहा था, उनके लिखनेके लिये काशीके पण्डितोंकी ओरसे श्रीमान् पण्डित लक्ष्मण शास्त्री द्रविड़के पुत्र श्रीमान् पण्डित राजेश्वर शास्त्री नियुक्त थे और विशिष्टाद्वैतवादियोंकी ओरसे मैं नियुक्त था। हम दोनोंने जितना शास्त्रार्थका पूर्व उत्तरपक्ष था, लिख लिया था। स्वामी अनन्ताचार्यजी चले गये। अयोध्याके बड़ास्थानके श्रीमहान्तजी महाराजको **वैष्णवभूषण**, जन्मस्थानके महान्त श्रीरामकिशोरदासजीको **वैष्णवरत्न** और पण्डित श्रीसरयूदासजीको **वैष्णवधर्म प्ररोचक** उपाधि देते गये।

श्रीनर्मदाशङ्कर भाई एक पोस्टमास्टर थे। वह मुझे पहले बड़ोदेमें मिले थे। पश्चात् वह खेड़ामें पोस्टमास्टर थे। मैं एक समय खेड़ा गया था। उन्होंने मुझे खेड़ाके पास ही विट्ठलपुर ग्रामकी बात की। विट्ठलपुर एक छोटा सा गाँव है। सरदार श्री-वल्लभ भाईके बड़े भ्राता श्रीविट्ठल भाईके नामसे वह गाँव नया बसाया गया था। वहांके कूपका जल उन दिनों इतना मधुर और पथ्य था कि राजयक्ष्माके रोगी भी अच्छे होते थे। धर्मशाला ग्रामसे बाहर बहुत बड़ी बनी हुई है और वह कॉंग्रेसकी धर्मशाला उस समय थी। अब शायद ग्रामको सौंप दी गयी है। धर्मशालाके चारो ओर आम्र और निम्बके वृक्ष हैं। गाँवकी आबादीमें पाटी-दार और ठाकोर भाइयोंका सम भाग है। एक घर लोहाणा सज्जनका है। वही वहाँ धनाढ्य हैं, सेवाभावी हैं। श्रीमङ्गलदास भाई बहुत सादे और धार्मिक भावके सज्जन हैं। उनकी धर्मपत्नी अभी कुछ वर्ष पूर्व स्वर्गवास कर गयी हैं। उनके प्रेमने, गाँवके, सौन्दर्यने, एकान्त और शान्तिने मुझे वहाँ आकृष्ट किया। मैं आबूसे कभी बड़ोदा और कभी विट्ठलपुर जाकर रहता। यह मेरा क्रम ही बन गया था। जहाँ रहना, उस स्थानको सर्वाङ्गीण सुन्दर बनानेका मुझे मोह है। धर्मशाला बहुत बड़ी है। उसकी स्वच्छता-की ओर मेरा ध्यान गया। मैं सफाईमें लग गया, अतः उस गाँवके दूसरे छोटे छोटे बच्चे बालक और बालिकाएँ मेरी सहायतामें दौड़ आयीं। श्रीमङ्गलदास भाईके चार पुत्र थे। एक बाहर, शायद बड़ोदा पढ़ते थे और बड़े श्रीउत्सव लाल, इन्दुकुमार भाई,

सोमाभाई विट्ठलपुरमें थे। छोटे दोनों भाई मेरे ही पास अधिक रहते और मेरी सहायतामें लगे रहते। सभीने मिलकर धर्मशालाको सुन्दर और साफ बना दिया। रात्रिमें मैं वहां प्रार्थना करता, करवाता। श्रीमङ्गलदास भाईका कुटुम्ब तो ईश्वर प्रार्थना बिना कभी रहता ही नहीं था अतः उस प्रार्थनामें उनका सम्मिलित होना तो स्वाभाविक था परन्तु गांवके अन्य भाई बहिन भी प्रार्थनामें आने लगे। उस गांवमें निरक्षरता उस समय विहार करती थी। पढ़े लिखे बहुत थोड़े लोग। छोटे छोटे बच्चोंके लिये एक प्रारम्भिक पाठशाला तो वहां लोकल बोर्डकी ओरसे थी और उसी धर्मशाला-में ही थी परन्तु पढ़नेवाले अत्यल्प। वह पाठशाला कभी बन्द रहती, कभी चल पड़ती। मेरी प्रार्थनामें गीताके द्वितीयाध्यायके **स्थितप्रज्ञस्य का भाषा** से अन्त तकके श्लोक बोले जाते थे। छोटी छोटी बहिनोंको रस आने लगा। एक लड़कीने तो प्रयास करके कई श्लोक कण्ठस्थ कर लिये। कण्ठस्थ करानेवाला मैं ही था। वह सब पढ़ी लिखी नहीं थी। तोता और सुग्गाके समान मैं उनको रटाता था। चार पांच लड़कियाँ तैयार हो गयीं और बहुत स्पष्ट बोलने लग गयीं। वह खेतोंमें भैंस चरातीं और गीता श्लोक बोला करतीं। खेड़ा जानेके मार्गपर ही वह धर्मशाला थी। कितने ही यात्री वहां रोज आकर विश्राम लेते थे। जिसे अन्न चाहिये था उसे श्री मङ्गलदास भाई अन्नदान भी देते थे। एक दिन एक बङ्गाली सज्जन सड़कपर जा रहे थे और वह बालिकाएँ स्वरसे गीताके श्लोक बोलती थीं। उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ कि ये भैंसोंको चरानेवाली लड़कियां इतना शुद्ध गीताके श्लोक कैसे बोल लेती हैं। सायंकाल हो चला था। वह सज्जन धर्मशालामें आकर ठहर गये। आनेवाले यात्री पीछेके भागमें ठहरते थे। सायंकाल प्रार्थनाका आरम्भ हुआ। गीतासे श्लोक बोले जाने

लगे तब वह बङ्गाली सज्जन पीछेसे आकर प्रार्थनामें शामिल हो गये। तब उन्हें इस रहस्यका समाधान हुआ। प्रार्थनाके अन्तमें उन्होंने ही अपने आश्चर्य और समाधानकी कथा सुनायी थी।

विट्ठलपुरमें मैंने अपने सुखके दिन भी और दुःखके दिन भी शांतिसे व्यतीत किये हैं। बड़ोदाके महान्त श्रीरामदासजी महाराजके अपने शिष्य (वर्तमान महान्त) श्रीनारायणदासजीके लिये लिखे हुए मृत्युपत्रपर जब मैंने हस्ताक्षर नहीं किया था, तब जैसा कि मैं पीछे कहीं लिख आया हूं कि वह अलकापुरीसे मन्दिरमें आकर मेरे सामने साष्टाङ्ग पड़े, रोये और रोते रोते मेरी गोदीमें सिर रखकर कहा था कि—महाराजजी मैं प्रार्थना करता हूं कि आप मेरे स्थानसे चले जायं। मैं बड़ोदाके समस्त सुखसाधन और प्रतिष्ठित जीवनको तिलाञ्जलि देकर, हो सका, उतना शीघ्र वहाँसे चला आया था। मुझे मनुष्यसे भय लगने लगा। मानव जातिसे मुझे ग्लानि हो गयी। उन दिनों विट्ठलपुर धर्मशालामें भी मैं शान्त, उदास चुपचाप पड़ा रहता था। प्रार्थनाका कार्यक्रम भी बन्द रखा था। उस प्रार्थनासे मुझे कोई भी कुछ भी शान्ति नहीं मिल सकती थी। मुझे मानवजीवनके अध्ययनका एक अवसर मिला था। मेरे सामने दशरथ, कैकेयी, राम आदिके इतिहासके पन्ने खुल गये थे। पाण्डवों और कौरवोंकी कथा मेरे कान सुनने लगे। मुझे अपने जीवनपर उस समय तनिक भी ग्लानि नहीं हुई थी। मुझे उस समय जीवनको तुच्छ समझकर इसे समाप्त कर देनेकी तनिक भी इच्छा नहीं हुई थी। मैं जगत्का अध्ययन करने लगा। ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये, मुझे शान्ति मिलती गयी परन्तु मनुष्यको देखकर मुझे भय और ग्लानिका भाव उत्पन्न हो ही जाता था।

मुझे जब अहमदाबादमें श्रीराजाधिराजमन्दिरसे अलग

जाकर रहनेकी इच्छा हुई थी तब भी मुझे एक धक्का लगा था। तब तो मैं बहुत पुराना समाजसेवक नहीं था। थोड़े ही वर्ष बीते थे। किसी भी मन्दिरमें रहना मुझे इष्ट नहीं था। उस मन्दिरको छोड़कर मुझे किस प्रकारसे और कहां रहना पड़ा था, इसके साक्षी केवल महान्त श्रीरामदासजी, (रणछोड़ मन्दिर, कडुवापोल अहमदाबाद) हैं। उन्होंने बहुत ही कुशलताके साथ मेरे उस क्षुब्ध जीवनको संभाल लिया था। वह दुःख कल्पित था, क्षणिक था, अज्ञानका एक विलास था तथापि भयङ्कर था। उस दुःखकथाको मैं अपनी चिताके साथ ही समाप्त करूँगा। उसमेंसे एक भी अक्षर लिखने और बोलनेकी इच्छा नहीं होती है। किसीको उससे लाभ भी नहीं है। महान्त श्रीरामरत्नदासजी भी बहुत गम्भीर हैं। मैं समझता हूं कि उन्होंने उस घटनाका कभी भी कहीं भी स्फोट नहीं किया है। मेरी आज्ञाके विना वह वैसा कर भी नहीं सकते, ऐसी मुझे आशा है।

तत्त्वदर्शी मासिक पत्र बड़ोदासे ही निकलता था। श्रीमहान्त श्रीरामदासजीकी सहायतासे ही वह निकलता था। मैंने उसे बन्द कर देनेका निश्चय कर लिया। उस समय उसका विशेषाङ्क तैयार हो रहा था। कितने ही अंश छप चुके थे। अवशिष्ट भागको मैंने विट्ठलपुरसे ही लिखकर, छपाकर पूरा किया। वह विशेषाङ्क ही तत्त्वदर्शी पत्रका अन्तिम अङ्क बन गया। आठ वर्षोंसे चलता हुआ एक क्रान्तिकारिणी मासिक पत्रिकाको मुझे समाप्त कर देना पड़ा।

महान्त श्रीरामदासजीने एकबार सिद्धपुरकी एक सभामें मेरा भाषण सुनकर, बड़ोदा पहुँचकर मुझे कहा था कि एक ऐसी संस्थाका आरम्भ करना चाहिये, जो साम्प्रदायिक ग्रन्थोंका प्रकाशन और प्रचार करे। उन्होंने ही शायद नामकरण किया था—श्रीरामानन्द

साहित्यप्रचारकमण्डल नामकी संस्थाका जन्म हुआ। उस संस्था-ने बहुत बड़े-बड़े काम किये। मेरे सभी आवश्यक ग्रन्थ उसी संस्थाने प्रकाशित किये थे। श्रीमहान्तजीके अतिरिक्त उस संस्था-में कोई धनदाता नहीं था। अपने जीवनभर उन्होंने उसे निभाया।

अन्तिम दिनोंमें जब वह बहुत अस्वस्थ होने लग गये थे, तब उनकी ही इच्छासे उस संस्थाको अलवर भेज देना पड़ा। आज वह संस्था अलवरके श्रीमहान्त श्रीकृष्णदासजी महाराजकी संरक्षकतामें जीवित है, बढ़ रही है, खिल रही है। महान्त श्रीकृष्ण-दासजी महाराज उन सन्तोंमेंसे हैं जिन्हें मैंने सम्प्रदायकी पवित्र विभूतियोंमें गिन रखा है और जिनकी संख्या अत्यल्प है। अलवरमें आनेके पश्चात् पण्डित श्रीरामरत्नदासजी 'तरुण' और पण्डित श्रीरामचरणशरणजी शास्त्रीकी इच्छा और सम्मतिके अनुसार वह संस्था श्रीरामानन्द साहित्यमन्दिरके नामसे चल रही है।

महान्त श्रीरामदासजीके शिष्य वर्तमान महान्त श्रीनारायण-दासजी भी अतिशय सज्जन हैं। परन्तु उनकी बाल्यावस्थाको मैं आगेके लिये उज्ज्वल और तेजस्वी नहीं बना सका। इसका मुझे दुःख है। सच बात तो यह थी कि महान्त श्रीरामदासजी अपने ही पूर्वाश्रमके किसी कुटुम्बीको विरक्त शिष्य बनानेमें अनुत्साही थे। कितनी ही बार वह मेरे कहनेपर भी श्रीनारायणदासजीको विरक्त बनानेमें सहमत नहीं होते थे। मुझे आशा थी कि नारा-यणदासजी मन्दिरमें रहकर, पढ़, लिखकर घर चले जायँगे। यदि मैं समझता कि उस स्थानपर उन्हींका आदेश होगा तो मैं उनके जीवनको सम्प्रदायके हितके लिये और तरहसे गढ़ सकता। वह अब गृहस्थाश्रमी हैं। महान्त रामदासजीकी भी इसमें सम्मति थी। वह मृत्युपत्र भी इसी ढङ्गसे लिखा गया था। उन्होंने मुझे

अहमदाबादमें एक दो बार कहा भी था कि आजके नवयुवक महान्त स्थानकी मर्यादा निभा नहीं सकेंगे अतः मन्दिरके पीछेके भागमें मैं कुछ मकान बना रहा हूँ। मेरा उत्तराधिकारी यदि चाहेगा तो विवाहित होकर उसी नये विभागमें रह सकेगा।

श्रीमहान्तजी भगवान्‌के बहुत श्रद्धालु थे। सेवा, पूजा, उत्सव आदिमें वह सदा ही उत्साही रहे हैं। मुझे सन्तोष है कि महान्त नारायणदासजी भी भगवान्‌की सेवा पूजाका क्रम वैसा ही आज-तक निभा रहे हैं। परन्तु वह अभीतक भी बालकस्वभावके ही हैं। बालविचार अभी उनमेंसे गया नहीं है। अतः उन्होंने भगवान्‌के मन्दिरमें एक ऐसी चरणपादुका रखी है जो असाम्प्रदायिक है और कभी भी उसे इष्ट नहीं कहा जा सकता। तथापि वह अच्छे हैं, सुशील हैं, और कभी-कभी सम्प्रदायकी रेक-टेक पालने-की भी बात कर लेते हैं।

नारदपञ्चरात्रने ईश्वरके पाँच प्रकारोंका वर्णन किया है। उसे श्रीवैष्णवसम्प्रदाय तथा अन्य वैष्णवसम्प्रदायोंने स्वीकृत कर लिया है। इसे माने बिना वैष्णवोंका कार्य भी नहीं चल सकता। ईश्वर वैदिक सिद्धान्तमें निराकार है। निराकारकी उपासनामें वस्तुतः बड़ा झंझट है। झंझट क्या है पाषण्ड है। आर्यसमाजने निराकार ब्रह्मका ही स्वीकार किया है। उसके मतसे ब्रह्मको-ईश्वरको साकार माननेपर वह अनित्य और नश्वर बन जायगा। यद्यपि यह बात है नहीं। जन्य साकार अनित्य और नश्वर हो सकता है, अजन्य साकार तो नित्य ही और अविनश्वर ही रह सकता है। साकार ईश्वर जन्य नहीं, अजन्य है। परन्तु इस विवादको छोड़ दें। ईश्वर निराकार ही है, इसी पत्तको स्वीकार कर लें। तब उपासनामें विघ्न आता है। अतः ईश्वरको पांच प्रकारोंमें विभक्त कर दिया गया। वे पांच प्रकार ये हैं—पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी, अर्चावतार। ये सब कल्पनाएँ अवैदिक हैं। विभवमें राम-कृष्ण आदि अवतारोंकी गणना की गयी है। अर्चावतारमें राम-कृष्ण आदिकी मूर्तियोंका समावेश किया गया है।

१६, १७ वर्ष पूर्व मैं इन प्रकारोंका मनन कर रहा था क्योंकि मुझे भी तो इनका समर्थन करना ही पड़ता है। किसीको वाग्-जालसे पराजित करना, एक वस्तु है, किसीके हृदयको सन्तुष्ट कर देना दूसरी वस्तु है। युक्तियोंसे किसीकी जीभको बन्द किया जा सकता है परन्तु हृदयको नहीं दबाया जा सकता। मेरे विचारमें अवतारोंकी पूजा—केवल व्यक्तिपूजा है। राम और कृष्ण ईश्वर

नहीं हैं—अवतार हैं—ईश्वरावतार हैं। अत एव वह पर नहीं है, विभव हैं। अवतार कभी भी अवतारी नहीं बन सकता। चीनी या मिश्री कभी भी इक्षुदण्ड नहीं बन सकती यद्यपि वे दोनों ही ईखमेंसे ही पैदा हुई हैं। ऐसे ही मान लें कि राम और कृष्ण ईश्वरके ही अवतार हैं तथापि वह ईश्वर नहीं हैं—ईश्वरावतार हैं। चीनी इक्षु नहीं है, इक्षुका अवतार है। मिश्री इक्षु नहीं है, इक्षुका अवतार है। मैंने विकार न कहकर यहांपर चीनी और मिश्री-को इक्षुका अवतार कहा है। यदि मैं चाहूं तो विकारशब्दका भी प्रयोग कर सकता हूँ परन्तु तब अवतार शब्दके बदले भी मैं विकार शब्दका प्रयोग कर सकता हूं। ईश्वर दशरथका पुत्र राम बनकर आया तो वह क्षत्रिय तो बना ही। क्षत्रिधर्म उसमें आये ही। अज्ञानता अथवा ज्ञानसंकोच उसमें आया ही। दुःख-सुखका अनुभवी उसे भी बनना ही पड़ा। यह सब लीला है, ऐसा कहनेसे मूर्खको सन्तुष्ट किया जा सकता है परन्तु विवेचकको नहीं। एक समय मैं इसी प्रकारसे अवतारका विचार कर रहा था। मुझे प्रतीत हुआ कि हिन्दुसमाजपर व्यक्तिपूजाका ऐसा प्रभाव पड़ा हुआ है कि वह तात्त्विक विचार कर ही नहीं सकता। ब्राह्मण क्षत्रियकुमार राम और कृष्णका चरण धोकर जलपान करे, उच्छिष्ट भोजन करे, उसकी पूजा करे, उससे मोक्ष मांगे, इसमें मुझे ब्राह्मणताका पतन दीख पड़ा।

यह बात बहुत वर्षोंकी है। १७ या १८ वर्ष तो अवश्य ही हो चुके होंगे। अयोध्यासे निकलनेवाले संस्कृतम् पत्रके सम्पादक महामहोपाध्याय पण्डित श्रीकालीप्रसाद शास्त्रीजी मेरे चिरपरि-चित हैं। मैत्रीका व्यवहार है। मैं समझता हूँ, हृदयकी एकता भी है। मैंने उन्हें एक पत्र हिन्दीमें लिखा कि अब ब्राह्मणोंको अपने स्वरूपका परिचय करना चाहिये और क्षत्रियपूजासे विरक्त बन

जाना चाहिये। श्रीशास्त्रीजीने मुझसे पूछे बिना ही मेरे उस पत्रका संस्कृत अनुवाद संस्कृतम्में प्रकाशित कर दिया। मेरे पत्रको मुझसे पूछे बिना उन्होंने प्रकाशित किया, यही सिद्ध करता है कि वह और मैं एक हैं। अब क्या था! बाण वर्षा होने लगी। पण्डित लोग हिल गये। खण्डन, मण्डन शुरू हो गया। अन्तमें पण्डितोंने अपना भूतपूर्व स्वरूप धारण किया और कटुशब्दोंसे संस्कृतम्का कलेवर भरा जाने लगा। शास्त्रीजीने मुझे लिखा कि तुम जो कुछ लिखोगे, संस्कृतमें प्रकाशित होता रहेगा। कई मासतक शायद मैं उत्तर करता रहा। पण्डित लोग जुटे थे। मेरे हृदयको शान्त नहीं कर सके थे। वस्तुतः वह तो वैष्णवधर्मका तत्त्व है। उसे तो उन लोगोंकी अपेक्षा मैं ही अधिक समझता हूं। परन्तु वे लोग मुझे समझानेके लिये अथवा अपनेको समझानेके लिये, अथवा बुद्धिकौशल्य दिखानेके लिये कई महीनों तक लिखते रहें। वाल्मीकिरामायणके प्रामाण्यका प्रकरण आया। मैंने उस रामायणमें राशियोंका वर्णन न होनेसे राशियोंके आगमनके पश्चात्का ग्रन्थ उसे लिखा तो एक पण्डितजीने सूर्यसिद्धान्तसे राशियोंका निरूपण किया और सूर्यसिद्धान्तको शायद सत्‌युगका ग्रन्थ सिद्ध किया। मैंने सूर्यसिद्धान्तके एक ग्रन्थकी भूमिकामेंसे स्व० पण्डित सुधाकर द्विवेदीजीके कुछ वाक्य लेकर जब यह सिद्ध किया कि वर्तमान सूर्यसिद्धान्त अर्वाचीन ग्रन्थ हैं तब सुधाकर द्विवेदीजीको नास्तिक आदि कहकर तिरस्कृत किया गया। मैंने मौनावलम्बन किया। किसीको नास्तिक कहना, यह न कोई तर्क है, न स्वपक्षसमर्थनका अभ्युपाय है। नास्तिक जो कुछ कहे वह असत्य ही होता है यदि ऐसा आस्तिक कहें तो, यदि नास्तिक भी यही कहने लगें कि आस्तिक झूठे होते हैं तब क्या उत्तर होगा? क्योंकि आस्तिक झूठे होते हैं इस कथनसे तो वेद, पुराण,

आस्तिक दर्शन सभी झूठे बन जाते हैं। उस समय मैं चुप रहा। तात्त्विक विचार नहीं हो रहा था।

आजसे ४ वर्ष पूर्व मेरे कितने ही भाषणोंमेंसे कुछ अंश लेकर मेरे सम्प्रदायी बन्धुओंने पुनः इस गड़े मुर्देको उखाड़ लिया। मेरे कुछ मित्र भी इसमें सम्मिलित हुए। नये शत्रु भी पैदा हुए। परन्तु मैं न तो हिल सकता हूं और न हिलाया जा सकता हूं। पण्डित वासुदेवाचार्यजीने अपने घरमें एक सभा बुलायी, अट्, कवर्ग, पवर्ग सब इकट्ठे हुए। एक अट्ने झट कह दिया कि भगवदाचार्य जैसे आदमीको काट डालना चाहिये। हिन्दुशास्त्रों-में 'चाहिये' का कुछ अर्थ नहीं है। **"अहरहः सन्ध्यामुपासीत"** प्रतिदिन संन्ध्यासमयमें उपासना करनी चाहिये, वेदने यह कहा, परन्तु कोई करता नहीं है। थोड़ेसे लोग करते हों तो उतनेसे ही वेद कृतार्थ नहीं बन सकते। **"स्वर्गकामो यजेत"** स्वर्गकी इच्छावालोंको यज्ञ करना चाहिये, वेदने कहा, परन्तु कोई करता नहीं है। हिन्दुशास्त्रोंका 'चाहिये' निरर्थक है तो हिन्दुओंका 'चाहिये' भी निरर्थक ही होगा। सब निरर्थक गया। कुछ मनचले तो प्रयागके गतकुम्भपर एक मास पहले ही इस उद्देश्यसे पहुँच गये कि भगवदाचार्यका वहां स्वागत न होने पावे—जुलूस न निकलने पावे। मेरे शत्रु रात-दिन देवपूजा करने लगे, भूतप्रेत-का मन्त्र जपने लगे, सिद्ध और सिद्धेश्वरोंकी कोटिमें पहुँच जानेका दावा भी करने लगे। मेरे एक परम आत्मीय जन ब्रह्म-चारी श्रीवासुदेवाचार्यजीका उन लोगोंको बल मिल रहा था, अतः वे सब उछल-कूद मचा रहे थे। उन दिनों रामानन्दसम्प्रदाय-में सबसे अज्ञ मैं ही था और सबसे बड़े विज्ञ सभी रामानन्दीय थे। मैं तमाशा देखता था, विभिन्न स्वरोंको सुनता था।

नासिकके महान्त स्वामी श्रीसीतारामाचार्यशास्त्रीजी अतिशय सज्जन, सरल तथा अत्यन्त वृद्ध होते हुए भी नवयुवक प्रकृतिके सन्त हैं। वह मुझपर सदासे ही महती कृपा रखते हैं। मेरे परम हितैषी हैं। मैंने उन्हें सूचना दी कि "प्रयाग कुम्भपर तुमुल युद्ध करनेका अवसर आ रहा है। मेरी इच्छा है कि प्रयाग जाऊँ ही नहीं।" उन्होंने उत्तर दिया कि "ऐसा नहीं करना चाहिये। प्रयाग अवश्य चलना चाहिये। शत्रुओंके प्रयत्नको विफल बनाकर सदाकी भांति जुलूसके साथ स्वागत प्राप्त करके फिर किसी कुम्भ मेलेमें न जानेका संकल्प कर लेना चाहिये।" मुझे उनकी यह सम्मति उचित और प्रिय लगी। श्रीशास्त्रीजी भी वहाँ—प्रयाग पहुँच गये थे। मैंने वहाँ देखा कि मेरे साथ शत्रुता रखनेवालोंका साम्प्रदायिकोंपर कोई प्रभाव नहीं था। प्रत्येक कुम्भपर जैसा जुलूस मेरा निकलता था, उससे भी अच्छा जुलूस निकला। हाथी भी बहुत थे। सन्त-महात्मा भी बहुत थे। एक बात और थी। प्रयागमें कुम्भके समय मेरे दो जुलूस निकल चुके थे। दोनों ही दारागंजसे—निकटस्थानसे निकलते थे। उस वर्ष दूरसे—अलोपी बागसे जुलूस निकला। मेरे सिरपर छत्र लगानेवाले शायद मुलतानके महान्त श्रीनारायणदासजी महानुभाव थे। चमर चलानेवाले सन्त भी प्रतिष्ठित ही थे। एक साल एक जुलूसमें श्रीशास्त्रीजीने मेरे सिरपर छत्र लगा रखा था। कितना अधिक वात्सल्य !

प्रयागमें मैंने देखा कि हमारे विरोधियोंका पता ही नहीं था। लक्ष्मणझूलाके माननीय महान्त श्रीरामोदारदासजी महाराजने मेरे लिये बहुत सुन्दर कैम्प बना रखा था। प्रातः ७ बजेसे रात्रिके ११, १२ बजे तक वह कैम्प ठसाठस लोगोंसे भरा रहता था। पण्डित, स्वामी, सेठ, रामायणी सभीको वहां आना—मेरे पास आना

अनिवार्य हो गया था। मेरे सहधर्मी शत्रुओंको जब मुझे पराजित करनेका कोई भी उपाय नहीं सूझा तो एक ब्राह्मणसे मुझे शास्त्रार्थ-का चैलैंज दिला दिया। वह करपात्रीजके कैम्पमें रहते थे। करपात्रीजी भी मेरे विरुद्ध थे ही। मेरे कितने ही साथियोंने—नकोदर (पञ्जाब) के मण्डलेश्वर श्रीरामचरणदासजीने, लक्ष्मण-झूलेके महान्त श्रीरामोदारदासजीने भी करपात्रीजीसे पत्र लिखकर पूछा कि अमुक व्यक्तिने शास्त्रार्थके लिये स्वामी भगवदाचार्यको आपके कैम्पसे शास्त्रार्थका चैलैंज दिया है। क्या आप उस शास्त्रार्थ या व्यक्तिका उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेते हैं? उन्होंने अस्वीकार कर दिया। मनुष्य बहुत दुष्ट प्राणी है। साक्षर तो अधिक दुष्ट होते हैं। सीधे रहे तो रहे नहीं तो वह राक्षस बन जाते हैं। रामानन्दसम्प्रदायके साक्षर बहुत ही क्रूर हैं। लोगोंने पुनः एक विज्ञप्ति प्रकाशित करायी। उसमें लिखाया कि भगवदा-चार्य जैनोंकी रोटी खाता है, जैनोंका अन्न खाता है, अतः वह नास्तिक हो गया है। इस असत्यसे भी उनका काम न चला। तब स्नानकी अन्तिम रात्रिमें एक सभा लोगोंने बुलायी। मैं भी आमन्त्रित होकर गया। पण्डित वासुदेवाचार्यने मुझपर आरोप किया कि "यह आनन्दभाष्य नहीं मानते हैं।" मैंने उत्तर दिया कि जिस प्रतिके आधारपर आनन्दभाष्यको छापा गया है, वह प्रति मुझे दिखा दें, मैं मान लूंगा। अन्य भी कितनी नीतिकी बातें मैंने कहीं। वह चुप हो गये। पण्डित वैष्णवाचार्यजीने कहा कि "यह रामको ईश्वर नहीं मानते हैं।" मैंने कहा, हां, मैं दाश-रथिरामको ईश्वर नहीं मानता हूँ, परन्तु ईश्वरावतार मानता हूं। उनके पास भी कोई उत्तर नहीं था। तेरी चुप तो मेरी भी चुप। सभा पूरी होनेसे पूर्व एक नोट लिखा गया उसमें मेरे और पण्डित वासुदेवाचार्यजीके हस्ताक्षर हुए। उसमें लिखा था कि

कलहात्मक लेख किसी पक्षसे न लिखे जायं। बेचारे वासुदेवाचार्य तो कभी कुछ डरके मारे लिखते ही नहीं तो भी उन्हें भी प्रतिज्ञा करनी पड़ी कि 'मैं भी कुछ कलहात्मक लेख नहीं लिखूँगा।' सन (शण) को उद्देश्य करके ठीक ही कहा गया है कि—

"आपन खाल कढाइ कै, परको बन्धन देइ।"

दूसरे दिन प्रातः अन्तिम स्नान था। मैं हाथीपर सवार था, मेरे विरोधियोंका सिर नीचा था। पाठ सीखना चाहिये कि किसीके साथ विरोध करनेकी अपेक्षा अपनेको उन्नत, उदार और सदाचारी बनाना अधिक श्रेयस्कर है।

———

जब मैं गुजरातमें रहने लग गया था, झीथडा—गादीके स्वामी श्रीरामचरणदासजी महाराजने पण्डित श्रीरघुवराचार्यजीको लिखा कि वह उनके साथ धर्मप्रचार करनेके लिये मारवाडमें भ्रमण करें। पण्डितजी सुखी सन्त थे। प्रचारकार्य तो बहुत कष्टसाध्य है। उन्होंने झीथडा स्वामीजीको पत्र लिखा कि वह मुझे इस कार्यके लिये आमन्त्रित करें। उस समय मैं कहांपर रहता था, मुझे स्मरण नहीं है, स्वामीजीका पत्र आया और मैं झीथडा पहुँचा। मैं उस समय पहले ही पहल मारवाड गया था। जाड़ेका मौसम था। झीथडा जानेके लिये पाली मारवाड जंकशनपर उतरना होता है। वहां उतरते ही उस ठंडीने मेरे दाँत खट्टे कर दिये। मैं झीथडासे स्वामी श्रीरामचरणदासजी महाराजके साथ बहुतसे स्थानोंमें धर्मप्रचारार्थ गया। आज तो उन गांवोंमेंसे एकका भी नाम याद नहीं कर सकता हूँ। सब भूल गये। मैं लगभग डेढ़ मास तक स्वामीजी महाराजके साथ रहा, परन्तु उनके प्रेम, विवेक और मेरी देखरेख रखनेमें कभी कोई न्यूनता नहीं आयी। कभी कभी ऐसा देखा जाता है कि **अतिपरिचयादवज्ञा**—अतिपरिचय के पश्चात् तिरस्कारकी भावना अथवा उदासीनता उत्पन्न हो जाती है। परन्तु स्वामीजी इतने उदार और सुशील थे कि हम दोनोंका सम्बन्ध बहुत गाढ़ बनता गया। वह एक गादी—श्रीकूबाजी महाराजकी गादीके आचार्य थे और मैं निर्धन त्यागी था। परन्तु उनकी दृष्टि ऐसी विषमताकी ओर जाती ही नहीं थी। उनका प्रेम और मुझपर विश्वास और उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया।

उसके पश्चात् स्वामीजी महाराज मुझे कितनी ही बार वहाँ आनेके लिये आमन्त्रित करते और मैं जाता। एक समय वह आबू पहाड़पर दो मासके लिये उष्णऋतुमें आये थे। श्रीरघुनाथ-मन्दिरमें ठहरे थे। वे मेरे लिये ही आये थे। श्रीरघुनाथमन्दिरके श्रीमहान्तजी—श्रीपरमहंसजी महाराज बहुत उदार और दयालु थे। मेरे पास आनेवाले सभी लोगोंको मैं मन्दिरमें रखनेके लिये श्रीपरमहंसजी महाराजसे प्रार्थना करता और वह उसे मान लेते थे। झीथडा स्वामीजी भोजन तो मन्दिरमें करते थे, बाकी समय मेरे साथ मेरी गुफामें बिताते थे। जहाँ हृदयकी सादगी होती है वहाँ हृदय खोलकर बात करनेमें संकोच नहीं होता। स्वामीजी बहुत ही सादे थे, अतः मैं अपने सुख-दुःखकी बातें उनसे कर लेता। एक दिन मैंने उनसे कहा कि महाराजजी. यदि मुझे एक सहस्र रुपये मिल जायं ता मेरा समस्त जीवन शान्तिसे व्यतीत हो जाय। मेरा हिसाब यह था—रहनेके लिये आबूकी चम्पागुफा। उसके लिये भाड़ा देना नहीं था। भोजनके लिये रोटी और शाक। पहिननेके लिये दो चार खादीके टुकड़े। कभी कहीं पत्र लिखना हो तो दो चार आने महीनेका यह व्यय। जिस समयकी मैं बात करता हूँ वह सन् १९२५ या १९२६ रहा होगा। तब वस्तु सस्ते थे। शरीर मेरा युवा और सशक्त था। रोगकी चिन्ता नहीं थी या यों कहना चाहिये कि उसका कोई विचार ही नहीं था। मुझे दूध पीनेको मिल सकेगा, ऐसी कभी मेरी कल्पना ही नहीं थी। मैं अपनेको उन लोगोंमेंसे एक समझता था जो अपनेको हतभाग्य मानकर जीवनसे निराश रहा करते हैं। मुझे भी यह चिन्ता रहा करती थी कि शरीरनिर्वाह कैसे होगा। धन नहीं, कोई अन्य साधन नहीं। कहीं वेतन लेकर लिखाऊँ पढ़ाऊँ तो साधु लोग निन्दा करें। किसीके घर जाकर ट्यूशनके दिन लद चुके थे।

अतः मैं निरुपाय था। मैंने अपने जीवनकी—आयुकी मर्यादा उस समय अधिकसे अधिक दस वर्षकी मान रखी थी। मेरा मासिक व्यय छः रुपयोंसे अधिक उस समयकी दृष्टिसे किसी प्रकार हो ही नहीं सकता था। वर्षके सौ रुपये मेरे लिये पर्याप्त थे। १० वर्ष जीनेके लिये १०० × १०=१००० रुपये बहुत थे। श्रीस्वामीजीको मेरे कथनसे आश्चर्य तो हुआ, परन्तु कुछ बोले नहीं। दूसरी बातें होने लगीं। वह इस बातको भूले नहीं थे।

बहुत वर्षोंके बाद वह बीमार हो गये। हृदयरोग उन्हें हो गया था। जीवनसे निराश होकर वह बड़ोदा मुझे मिलनेके लिये आये। उनके साथ श्रीविष्णुदासजी भी थे जो आज उस गादीके आचार्य हैं। श्रीस्वामीजीने कितनी ही बातें एकान्तमें कीं और कितनी ही श्रीविष्णुदासजीके सामने। जो एकान्तकी बातें थीं उनमें उन एक हजार रुपयोंकी भी बात थी। उन्होंने मुझे पाँच सौ रुपये तो वहाँ दिये थे और कहा था कि यदि मेरे साथ झीथड़े चलो तो पाँच सौ रुपये मैं और भी दे दूँ। अन्यथा, झीथडा स्थानके भण्डारके ऊपर अमुक जगहको तोड़नेसे ५०० रुपये निकल आवेंगे। उन्हें तुम ले लेना। कुछ बातें ईश्वरदासजीके सम्बन्धमें थीं। वह आज व्यर्थ हैं। जो बातें श्रीविष्णुदासजीके सामने हुई थीं उनमेंसे झीथडा गादीकी महन्ताईकी बात भी थी। स्वामीजीने कहा कि झीथडाकी गादीका महान्त ईश्वरदासको बना देना। वह पढ़े लिखे आदमी अच्छे हैं। ईश्वरदासजी अब ईश्वराचार्यजी हैं। मैंने पूछा विनतिदासजीका क्या होगा? विनतिदासजी ही अब श्रीविष्णु-दासजी हैं और झीथडा गादीके महान्त हैं। स्वामीजीने कहा कि 'विष्णुदासका मैं प्रबन्ध कर चुका हूँ।' मैंने श्रीविष्णुदासजीसे पूछा, आपको श्रीस्वामीजीकी आज्ञा स्वीकृत है या नहीं? उन्होंने कहा, स्वीकृत है। मेरा प्रबन्ध हो चुका है।

स्वामीजी महाराज बहुत ही अशक्त थे। रोग बढ़ता जा रहा था। उनकी इच्छा थी कि मैं उनके साथ झीथडा तक जाऊँ। वह इच्छा तो केवल उन अवशिष्ट पाँच सौ रुपयोंको देनेके लिये ही थी। मैंने जाना अच्छा नहीं समझा। उसमें धनकी लोलुपता थी। इधर मैंने महात्मागाँधीके जीवनचरितको संस्कृत काव्यमें लिखनेका निश्चय कर लिया था। सामग्री भी संचित हो चुकी थी। भरूचमें श्रीजयन्तीलालजी एन० ध्यानीजी एक सज्जन हैं। वह मेरे पूर्वसे परिचित थे। एक चातुर्मास्य मैंने भरूचके भृगुकुल ब्रह्मचर्याश्रममें किया था। वह आश्रम बहुत ही रमणीय और श्रीनर्मदाके तटपर था। वहाँ ही उस समय श्रीध्यानीजी गुजरातीके अध्यापक थे। मैं श्रीआश्रमके ब्रह्मचारियोंको कुछ पढ़ा देता था। श्री ध्यानीजीको न जाने क्यों मुझसे गाढ़ प्रेम हो गया। वह प्रेम भक्तिके रूपमें परिणत हो गया। उन्होंने ही बहुत श्रम करके महात्माजीके जीवनचरितके लिये पुष्कल सामग्री मुझे सौंप दी थी। श्रीध्यानीजी आज भी सर्वप्रकारसे सुखी हैं। विद्यया वपुषा वाचा सर्वथा सम्पन्न हैं। कितने ही पुत्र-पुत्रियोंके पिता हैं और सबको शिक्षित बनाकर शनैः शनैः पितृधर्मसे निवृत्त होते जा रहे हैं। मुझे यह संस्कृत जीवनचरित काव्यमय लिखना है। प्रकृतिकी सहायताकी अपेक्षा थी। मैं तिथल चला गया। तिथलके एक समुद्र तटपर बसे हुए छोटेसे ग्रामका नाम है। बम्बईके मार्गमें आनेवाले वलसाड स्टेशनसे उतरकर दो माइल दूर जाना पड़ता है। झीथडास्वामीजी महाराजके साथ मैं बड़ोदासे अहमदाबादतक गया। गाड़ीमें बैठाकर बहुत दुःखित हृदयसे वापस आया। वह अत्यन्त रुग्ण थे। उस अवस्थामें मैं उन्हें छोड़ आया था, अतः मेरे दुःखका पार नहीं था। वह मेरी आर्थिक सहायता भी तो कुछ न कुछ करते रहते थे। कुछ वर्षों तक वह

मुझे सौ रूपये वार्षिक भेंट देते थे। मैं वहां जाता तो उसे ले आता। नहीं जा सकता था तो वे रूपये मनीआर्डरसे मेरे पास आ जाते थे। मैं तीथल चला गया।

तिथलका प्राकृतिक सौन्दर्य मेरे अनुकूल था। ताड़के वृक्षोंकी घटामें मैं एक आसन बिछाकर उस पवित्र ग्रन्थको लिखता था। रहनेके लिये एक मकान भाड़ेपर रखा गया था। यह सब व्यय बड़ोदेके श्रीमान् महान्त रामदासकीकी ओरसे होता था। वह तो बहुत ही उदार थे, उत्साही थे और विद्या तथा विद्वानोंके सच्चे प्रेमी थे। वह ग्रन्थ आधा भी नहीं लिखा जा सका था, इतनेमें ही झीथड़ेसे तार आया कि स्वामी श्रीरामचरणदासजी महाराजके शरीरका अवसान हो गया। मैं सब कुछ छोड़कर, झीथड़े दौड़ गया। झीथड़ेका वातावरण कलुषित था। वहाँ एक सन्त प्राणदासजी बूढ़े थे और एक पुराने पुजारी अयोध्यादासजी थे। ये ये दोनों सद्गत स्वामीजी महाराजके सच्चे उत्तराधिकारियोंको महन्ताई नहीं देना चाहते थे। अयोध्यादासजीको महान्त बनानेका लगभग निश्चय उन दोनोंने कर लिया था। इसीलिये किसीने मुझे शीघ्र तार भी नहीं दिया। श्रीविष्णुदासजीको भी कहा गया था कि कहीं तार देनेकी आवश्यकता नहीं है। तथापि श्रीविष्णुदासजी उन दोनोंके आशयको समझ गये थे। उन्होंने मुझे तार दिया था और मैं झीथड़ा समयपर पहुँच गया था। रात्रिमें मैंने सबको एकत्र किया। महन्ताईके विषयमें बातें की। प्राणदासजी और अयोध्यादासजीने कहा आप आ गये हैं, जैसा कहेंगे वैसा ही होगा। मैंने वे सब बातें सुना दीं जो श्रीसद्गत स्वामीजी महाराजने मुझे बडोदेमें कही थीं। उन दोनोंका एक ही उत्तर था कि हम ईश्वरदासजीको तो किसी प्रकारसे भी महान्त नहीं बनाने देंगे। परन्तु विनतिदासको महान्त आप बनाना चाहें तो हममेंसे

कोई भी उसका विरोध नहीं करेगा। इधर यह बातें चल रही थीं, उधर गादीके चोपड़े, वहियां और श्रीस्वामी रामचरणदासजी महाराजके प्राइवेट डायरी आदि भी रोज देखे जा रहे थे। एक बहुत ही तात्त्विक लेख एक वहीमें दृष्टिगत हुआ। सद्गत स्वामीजीने अपने हाथोंसे उसे उसी वहीमें लिखा था। उस लेखका आशय यह था—

१—"इस स्थानपर मैं ट्रस्टी नियत करता हूँ। एक ……। और दूसरे ………। तीसरे ट्रस्टी स्वामी भगवदाचार्यजी रहेंगे। वही इस ट्रस्टके सभापति होंगे। उनकी आज्ञाके विरुद्ध कोई भी ट्रस्टी कुछ भी नहीं कर सकेगा।'

२—मुझे पूरा स्मरण तो नहीं है, परन्तु थोड़ी सी स्मृति है और यदि वह सत्य है तो ईश्वरदासजीको महान्त बनानेकी भी बात उसमें थी।

३—तीसरी बात यह थी—स्वामी भगवदाचार्यजीने हमारे सम्प्रदायकी सेवा की है। अतः मैं उन्हें कुछ वर्षोंसे ५० रुपये वार्षिक भेंट देता हूँ। वह किसी भी रूपमें रहें, जबतक वह जीवित रहें ये रुपये उन्हें नियमपूर्वक मिलते रहने चाहिये।

संख्या १के लेखने मेरे हाथको बलिष्ठ बनाया। इसका सबने ही अनुभव किया। महान्त बनानेकी सत्ता मेरे हाथमें आयी। मैंने श्रीईश्वरदासजीको कई बार पूछा, उन्होंने महान्त बननेसे इनकार कर दिया। कई बार मैंने एकान्तमें बुलाकर समझाया, तो भी उन्होंने इनकार कर दिया। उन्होंने क्यों ऐसा किया, इसके वास्तविक कारणको ढूंढना व्यर्थ है। माल्रूम होता है कि उनके स्वभावसे वहाँके लोग सन्तुष्ट नहीं थे, उन्हें भय था कि लोग मेरा विरोध करेंगे, इसी भयसे उन्होंने महन्ताई नहीं ली। श्रीविष्णु-

दासजीको महान्त बना दिया गया। सब चल, अचल सम्पत्ति, सब कागज़ात श्रीविष्णुदासजीको सौंप दिये गये। उस दिनसे वह स्वामी श्रीविष्णुदासजी महाराज बने। झीथड़ा गादीके सेवक कितने ही राजपूत और ठाकुर लोग हैं। वह सभी उस उत्सवपर वहाँ उपस्थित थे और उनके समक्ष ही महन्ताईका यह कार्य समाप्त हुआ था।

रहस्यकी बात। श्रीस्वामी रामचरणदासजी महाराज मेरे लिये वहाँ रसोड़ेके ऊपर पाँच सौ रुपये कहीं रख गये थे। मैंने स्वामी श्रीविष्णुदासजीसे यह बात कह दी। उन्होंने कहा कि मैं तोड़-फोड़कर ढूँढूँगा। यदि रुपये मिल गये तो तुम्हें पहुँचा दूँगा। अन्तमें मुझे कहा कि वे रुपये वहाँ नहीं मिले। श्रीस्वामी रामचरणदासजी महाराज कभी भी असत्य नहीं बोलते थे। मेरे साथ तो असत्य वह बोल ही नहीं सकते थे। रुपये तो वहाँ अवश्य होंगे ही, वह जगह नहीं मिली हो, इतना ही हो सकता है।

स्वामी श्रीविष्णुदासजीने कहा कि 'आपको स्वामीजी ५०) रुपये देते थे उसमें मेरी ओरसे वार्षिक ५० रुपयेकी मैं वृद्धि करना चाहता हूँ। मैंने उन्हें ऐसा करनेसे रोका था। लोग कहेंगे कि मैंने उन्हें महान्त बनाया था, उसीका नज़राना मुझे दिया जाता है। परन्तु उस समय तो उन्होंने मेरी बात नहीं मानी। कुछ वर्षों तक वे १००) रुपये मुझे वार्षिक मिलते रहे। मैं उन्हें लेता रहा। जब श्रीरामानन्दविद्यालयकी श्रीकाशीमें मैंने स्थापना की तो उनसे मैंने पाँच सहस्र रुपये माँगे थे। उन्होंने अस्वीकार कर दिया। तबसे स्वामी विष्णुदासजी महाराजने मेरे साथका सम्बन्ध लगभग तोड़ दिया है। न तो वे रुपये मिलते हैं और न पत्रव्यवहार ही है। अब तो मैं अहमदाबादके सेठ श्रीमान् माणिकलाल शाह-

जीकी उदारतासे ऐसी स्थितिमें हूँ कि मुझे झीथड़ेकी वार्षिक भेट-की आवश्यकता भी नहीं रही। वस्तुतः वे रुपये आवश्यकताके लिये नहीं थे, सम्मानके लिये थे। वह सम्मान समाप्त हो गया है।

मैं झीथड़ासे पुनः तीथल गया और प्रारब्ध ग्रन्थ को समाप्त करनेमें लग गया।

पंजाबमें पिण्डरीधाम प्रसिद्ध स्थान है। वह भी श्रीरामानन्द सम्प्रदायकी प्रतिष्ठित द्वारागादियोंमेंसे एक गादी है। उसके आचार्य श्रीमान् स्वामी रामदासजी महाराज वैष्णवाचार्य हैं। बहुत दिनों—बहुत वर्षोंकी बात है। मैं अमृतसरमें रहता था। शायद १६१३, या १६१४ ई० की बात है। लाहौरमें एक भाईने लाला……ने धारासभामें विरक्तों और विरक्तोंकी सम्पत्तियोंके लिये एक बिल उपस्थित किया था। मुझे स्पष्ट स्मरण है कि उन दिनों उर्दू पत्रोंमें स्वामी रामदासजी महाराजके प्रतिवाद, लेख आदि छपा करते थे। वह भ्रमण करके इधर-उधर जाकर इस बिलके विरोधमें सभाएँ भी करते और भाषण भी देते थे। सब समाचार मैं उर्दू पत्रोंमें पढ़ा करता था। तबसे ही मैं उन्हें जानता हूँ, उनकी कर्मठताको भी जानता हूं। परन्तु उस समय तो मैं आर्य-समाजके प्रभावमें था। कोई विशेष गौरव उनके प्रति मेरे हृदयमें नहीं उत्पन्न हो सका। जब मैं श्रीवैष्णव सम्प्रदायमें दीक्षित हुआ तब शनैः शनैः उनका परिचय भी होता गया। एक समय मैं पिण्डदादनखामें था और श्रीनागाजी महाराजके उपद्वारेमें वहाँके आचार्य श्रीमान् सरस्वतीदासजी महाराजका अतिथि था। पिण्डोरी-धामके श्रीस्वामीजी महाराजको मेरे वहाँ रहनेका समाचार मिला। उन्होंने मुझे पिण्डोरीधाम पहुँचनेका प्रेममय आमन्त्रण दिया था। परन्तु कितने ही आवश्यक कार्योंसे मैं गुजरात चला आया। श्रीस्वामीजी महाराजका आजतक मैंने दर्शन नहीं किया है। पत्रव्यवहारसे ही परिचय है।

जब मैंने श्रीरामानन्दविद्यालय काशीके लिये उनसे सहायताकी प्रार्थना की तो वह सहर्ष उद्यत हो गये। अमुक समयमें सहायता भेजनेकी उन्होंने प्रतिज्ञा की थी, परन्तु उससे पहले ही मैंने अपनी ओरसे श्रीरामानन्द विद्यालयको तोड़ दिया था। श्रीस्वामी रामदासजी महाराज कई वर्षोंसे मुझे श्रीरामानन्द-जयन्तीके अवसरपर बिना भूले हुए १५) रुपये भेंटमें भेज रहे हैं। उनकी कृपाका मैं ऋणी हूँ।

इन दो द्वारागादीके आचार्य महानुभावोंके अतिरिक्त मुझे अहमदाबादके गो-साधुप्रतिपालक परमोदार महामण्डलेश्वर स्वामी नरसिंहदासजी महाराजकी ओरसे भी भेंट मिला करती है। श्रीमान् पुजारी सेवादासजी महाराजकी पूर्ण प्रेरणा भी इसमें कार्य कर रही है। मैं कभी किसी स्थानमें किसी मन्दिरमें कार्य बिना जाता ही नहीं हूँ। श्रीजगदीशमन्दिरमें भी मैं प्रतिदिन नहीं जाता। महीने दो महीनेमें जगदीश भगवान्के दर्शनोंकी इच्छा होती है तब वहां चला जाता हूँ। वह मन्दिर मेरे बंगलेके पास ही है। जब मन्दिरमें जाता हूं तो श्रीपुजारीजी महाराज मुझे श्रीमहान्तजी महाराजके पास भी ले जाते हैं। और तब श्रीमहाराजजी चुपचाप मुझे सौ रुपयोंका एक नोट, कभी दो नोट दे दिया करते हैं। कभी कभी तो ऐसा भी हुआ है कि मैं भ्रमण करने बाहर गया हूं, और श्रीमहाराजजी वहाँसे मोटरमें आ रहे हों और मुझपर उनकी दृष्टि पड़ गयी तो वहाँ ही मोटर रोककर, मुझे सौ रुपये उन्होंने दे दिये हैं। कभी-कभी ऐसा भी हुआ है कि मैं बहुत महीनोंतक मन्दिरमें नहीं गया और श्रीमहान्तजी महाराजके दर्शन भी नहीं किये तो, उन्होंने मेरे बंगलेपर रुपये भेज दिये हैं। श्रीपुजारीजी महाराजकी पूर्ण कृपाका ही यह फल है, ऐसा मैं मानता हूं। श्रीमहान्तजी महाराज तो बहुत उदार हैं ही, वह मुझपर कृपा

रखते ही हैं, मुझे सदा याद करते ही हैं, परन्तु कभी वह कार्य-वश मुझे भूल भी जायँ तो श्रीपुजारी सेवादासजी महाराज उन्हें मेरा स्मरण करा दिया करते हैं।

यह प्रसङ्ग मैं इसलिये लिख रहा हूं कि इस सम्प्रदायमें ऐसे महात्मा भी मुझे मिले हैं जो मेरी स्थितिका ध्यान रखते हैं या रखते रहे हैं और मुझे चिन्तासे थोड़ीसी मुक्ति मिलती रही है। यह भी मुझे बता ही देना चाहिये कि इन रुपयोंका उपयोग मैं किस तरहसे करता हूँ। कभी गृहस्थ छात्रोंको, कभी विरक्त छात्रों-को कभी किसी निराधार कुटुम्बको, कभी किसी विद्वान्को सहा-यता पहुँचाने और उनके जीवनकी कठोरताको कम करनेकी इच्छा से ही मैं इन रुपयोंका उपयोग करता हूं। कभी कभी मुझे ग्रन्थ छपवाने होते हैं तो भी मैं इन रुपयोंमेंसे बचे हुए अंशमेंसे उस कार्य-में उपयोग करता हूँ। मैंने ऐसे धनका कभी भी कोई दुरुपयोग नहीं किया। दुरुपयोगके लिये मेरे पास कोई अवसर ही नहीं होता। मैं नाटक-सिनेमा देखता नहीं, कोई और खेल तमाशा देखता नहीं, भोजन और निवास की चिन्तासे मैं आज मुक्त हूं, वस्त्रका ठाट बाट मुझे चाहिये ही नहीं, अतः व्यर्थ व्ययके लिये मुझे कभी कोई अवसर नहीं मिलता। साम्प्रदायिक ढंगसे सम्प्र-दायसे मुझे आज तक जितनी सहायता मिली है, या मिली रही है, उसका उल्लेख मैंने इसलिये कर दिया है कि मेरे जीवनकी स्पष्टता मेरे जीवनके बाद भी कायम रहे। कोई मुझे लोभी, लालची, धनसंग्रही न समझे। मैं अहमदाबादमें आज १६ वर्षोंसे स्थिर रहता हूँ। मेरे आचार विचारमें किसी प्रकारकी कृत्रिमता, या किसी प्रकारके दुर्गन्धका अनुभव मेरे निकटके साथियोंने भी और दूरके साथियोंने भी नहीं ही किया है। मैं यह नहीं कहना चाहता हूं कि मेरा जीवन निष्कलङ्क है परन्तु मैं यह बलपूर्वक

कहना चाहता हूं कि मैं समाजकी वञ्चना करनेसे अपनेको सदा ही पृथक् रखनेका पूर्ण प्रयत्न करता रहता हूँ। कभी मानव-सुलभ दोष या दोषों से मैं भी अपनेको अपङ्ग बनता हुआ पा सका हूँ।

इस रामानन्दसम्प्रदायमें आकर मैंने मानवताका ह्रास किया है या विकास किया है, इसे मैं स्पष्ट नहीं कह सकता। तथापि अभीतक मैंने इस प्रश्नका जो उत्तर ढूंढ रखा है वह यह है कि मेरी मानवताका तो मैंने ह्रास ही किया है और इस ह्रासने मेरे साम्प्रदायिकोंकी मानवताका विकास किया है। मुझे इस सम्प्रदायमें बहुत अपमानित होना पड़ा है। कार्य भी मुझे ऐसे ही करने पड़े जिससे सामान्य साधु अवश्य ही मेरा अपमान कर सकता है। साधुसम्प्रदायमें गुरुकी बात सबसे बड़ी है। मैंने इस सम्प्रदायमें आकर इसके विश्वासपर एक कठोर आघात किया। यह सम्प्रदाय न जाने कबसे मानता आ रहा था कि इसके परमाचार्य श्रीरामानुजस्वामी हैं। मैंने इस विश्वासको हिला ही नहीं दिया, जड़मूलसे उखाड़कर फेंक दिया। अब तो शतप्रतिशत रामानन्दीय सन्त मुझे आशीर्वाद देते हैं परन्तु प्रारम्भमें मुझे गालियोंके अतिरिक्त कुछ भी नहीं मिला था। कोई मुझे नास्तिक कहता था, कोई शूद्र कहता था, कोई आर्यसमाजी कहता था, कोई मुसलमान कहता था, कोई ईसाई कहता था, कोई अनाथ कहता और अनाथालयमें मैं पाला गया हूँ, ऐसा भी कहता और लिखता था। यह सब कुछ मैं सुनता रहा और उन्हें सहन करता रहा। मेरा इसमें कुछ भी स्वार्थ नहीं था, इस सम्प्रदायसे मैंने धन प्राप्त कभी भी नहीं किया। इस सम्प्रदायके लोगोंके आश्रित भी मैं बहुत ही कम समय तक रहा। जब तक इनके आश्रित रहा, काम ही करता रहा। १६ वर्षोंसे मैं सर्वथा इनके आश्रयकी अपेक्षा नहीं कर रहा हूं, तब भी मैं

इनका ही कार्य कर रहा हूं। इस सम्प्रदायके लोगोंके अण्ड-बण्ड कथनोंसे मुझे अत्यन्त ग्लानि होती रही है। दूसरा होता तो वह इसमेंसे निकलकर भाग जाता। श्री पण्डित सीतारामदासजी इस सम्प्रदायमेंसे इसी लिये चले गये। वह नागर ब्राह्मण थे। परन्तु विरोधियोंने उन्हें भी शूद्र कहना शुरू कर दिया था। कटावके पण्डित मथुरादासजी तो एक ही बाणके धक्केसे धरणीधरकी झाड़ी में जा बैठे। पण्डित श्रीरघुवराचार्यको भी लोगोंने शूद्र ही लिखा। वह भी मौनी बन बैठे। इस झगड़े के सम्बन्धमें उन्होंने एक भी अक्षर नहीं लिखा क्योंकि गालियां खानी पड़ती थीं। अकेला मैं धक्के खाता रहा, गालियां सुनता रहा, गालियां देनेवालोंको कभी प्रेमसे और कभी घृणासे निहारता रहा। जब जब मेरे हृदयमें अपने उन अज्ञानी भाइयोंके प्रति घृणा होती तब तब मुझे असह्य हार्दिक वेदना होती। परन्तु मैं इस सम्प्रदायसे निकल नहीं गया। मुझे सेवा करनी थी। महात्मा गांधीजीके जीवनसे मैं प्रभावित था। सारे देशकी तो मैं सेवा कर ही नहीं सकता था, तब एक समाजकी सेवासे मैं कैसे भाग जाता? पड़ा रहा। इस सम्प्रदायके अनुयायियोंके दोषों—निर्बलताओंका निरीक्षण करता रहा। इनको कहूं कि गांजा मत फूँको, तब भी ये मुझे गालियां देते। मैं कहूँ, चिलम, तमाखू मत पियो, तब भी ये मुझे गालियां देते। मैं कहूँ, भांग मत पियो, बीड़ी मत पियो, सिग्रेट मत पियो, तब भी मुझे ये गालियां देते। मैं कहूं शरीरमें विभूति (राख) लगाना वैष्णवधर्मके विरुद्ध है, तब भी ये गालियाँ देते। परन्तु मैं सेवाभावसे ही इनका साथी बना रहा। इस सम्प्रदायको रामानुज-सम्प्रदायके संगसे बहुत नीचे गिरना पड़ा था। सभी गृहस्थधर्म इनमें आ गये थे। कोई भी आचार इनका शुद्ध विरक्तधर्मानुकूल नहीं था। इनको शिखाकी तनिक भी आवश्यकता नहीं, तो भी ये शिखा-

इस सम्प्रदायके लोग अपनेको पञ्चमाश्रमी मानते थे। इस भ्रमको दूर करनेके लिये मुझे **आश्रमकण्टकोद्धार** लिखना पड़ा। साम्प्रदायिक लोग विभूति-भस्म धारण करनेमें बहुत गौरव और प्रतिष्ठा मानते हैं। इसके विरुद्ध मुझे **विभूतिधारण विचार** लिखना पड़ा। साम्प्रदायिक तत्त्वोंको जाननेके लिये **त्रिरत्नी** लिखना पड़ा। कितने ही कण्टक दूर करनेके लिये मुझे श्रीवैष्णवमताब्जभास्करका कायपरिवर्तन करना पड़ा और उसपर टीकाएँ लिखनी पड़ीं। उपनिषदोंके भाष्य, सामवेदका भाष्य, ब्रह्मसूत्रका भाष्य लिखकर मुझे इस सम्प्रदायकी साहित्यिक सम्पत्तिको बढ़ाना पड़ा।

मैं वस्तुतः सम्प्रदायवादी नहीं हूँ। सम्प्रदाय मनुष्यकी योग्यता और उदारताको नष्ट कर देता है। स्वभावमें क्रूरता और द्वेष पैदा करता है। तो भी मैं सम्प्रदायवादी बना हुआ हूँ। मैं देखता हूँ कि सैकड़ों सन्तोंपर मैं अपना प्रभाव डाल सका हूं और उन्हें आदर्श सन्त भी बना सका हूँ। तथाकथित निचले वर्गसे आये हुए सन्त अब विद्वान् बनने लग गये हैं, प्रतिष्ठित भी होने लग गये है। आचार-विचारकी पवित्रता उनमें प्रतिष्ठित हुई है। अतः मैं समझता हूँ कि मैंने अपनेको खोकर अपने साथियोंको उन्नत बनानेमें थोड़ा सा भी प्रयत्न किया है।

———

अपने पापका, पुण्यका और विचारोंका सबसे बड़ा साक्षी मनुष्य स्वयं है। मैं जानता हूं कि मैंने कभी भी भगवान् कृष्णकी उपासना नहीं की है। बालकालमें राम और हनुमान् ही इष्ट थे। मध्यकालमें मैं आर्यसमाजमें मिल गया। अन्तमें मैं आज रामोपासक श्रीवैष्णव हूँ। मैं कई बार कह आया हूँ कि मुझे ईश्वरमें विश्वास नहीं है। तो भी एक आश्चर्यपूर्ण ऐसी घटना मेरे जीवनमें होती रही है जिसका उत्तर आज भी मेरे पास नहीं है।

जबसे मैंने भगवती सीताका साक्षात्कार किया उसके कई वर्षोंके पश्चात्, जब मैं कभी उदास बनूँ, चिन्तित बनूँ, दुःखित बनूँ, और उसी दशामें सो जाऊँ, चाहे दिनकी निद्रा हो, चाहे रात्रि की, मुझे भगवान् कृष्णका एक अपूर्व मनोहर दर्शन हुआ करता था। मैं देखता था कि एक किसी शय्यापरसे भगवान सिरहानेकी ओरसे उठते हैं और पैरकी ओर अदृष्ट हो जाते हैं। उनका स्वरूप अवर्णनीय होता था। अलङ्कारोंके प्रकाशमें मैं सैकड़ों बारके दर्शनमें भी यह निर्णय नहीं कर पाया कि भगवान्का वर्ण श्याम है या शुक्ल। केवल प्रकाशमय दीख पड़ते थे। मुखाकृति अत्यन्त रमणीय। स्वरूप बाल नहीं, युवा। उस आकृतिके दर्शनमात्रसे शान्ति और प्रसन्नता हो जाती थी। मेरे सब दुःख नष्ट हो जाते थे। वह मूर्ति श्रीकृष्णकी है, यही मुझे उस समय भान होता था; परन्तु हाथमें मुरलीका दर्शन मैंने कभी नहीं किया।

जब मैं पेशावरमें था, लालजी बाबाके दरबारमें अन्तिम यह दर्शन मुझे हुआ था। फिर कभी भी मैंने उस मनोहर मूर्तिका दर्शन

नहीं किया। एक बार मैंने परमहंस श्रीरामगोपालदासजीसे इस घटनाकी चर्चा की थी और अब दर्शन नहीं होता है, यह भी कहा था। उनका समाधान तो यह था कि महात्माओंका नियम था कि अटक नदीको कभी भी पार नहीं करना। पेशावर जानेपर अटक नदी पार करनी पड़ती है। इसीलिये दर्शन बन्द हो गया। परन्तु उनके इस समाधानसे मुझे शान्ति नहीं हुई। मेरी जो मानसिक स्थिति तब थी अब भी है। परन्तु यह तो बहुत स्पष्ट मुझे मालूम होता है कि मैंने कुछ खो दिया है। पहले मैं जो कुछ कहता था, हो जाता था। किसीके ज्वरादि रोग तो मेरे स्पर्शसे ही चले जाते थे। मैंने अपने वचनको अनेक बार सत्य सिद्ध होते देखा है। अब वह बात नहीं है। एक बार मैंने एक व्यक्तिको पूरे समयका निर्देश करके उसके साथ बने हुए एक बनावका निर्देश किया था। रात्रिका समय था। जैसे कोई कानमें कह जाता हो, ऐसा मुझे भान हुआ था। स्वप्नकी नहीं जाग्रदवस्थाकी बात है। उसने मेरी बातको स्वीकार किया था। अब मेरी यह शक्ति नहीं रही। कुछ तो कमी मुझमें आयी ही है। साम्प्रदायिक कलहका भी कुछ प्रभाव होगा। राग-द्वेष और क्रोध मनुष्यके जीवनके घुण हैं। इनसे जीवन ही समाप्त हो जाता है। जो हो, मैं आज कुछ खो चुका हूँ, इसमें सन्देह नहीं है।

श्रीरामानन्दसम्प्रदायके लिये मुझे अभी बहुत कुछ करना अवशिष्ट हैं। श्रीरामानन्द विद्यालयकी काशीमें स्थापना, एक अचिन्तित कार्य था। मैंने उसकी स्थापना तो की, परन्तु सम्प्रदायमें पढ़े-लिखोंको उसमें रस नहीं आया। विद्यालयकी स्थापनाके समय मेरे मनमें भावनाएँ थीं—

१—यहाँसे सच्चे विरक्त विद्वान् निकलेंगे,
२— ,, सच्चे त्यागी निकलेंगे,
३— ,, सच्चे सम्प्रदायप्रेमी निकलेंगे,
४— ,, थोड़े समयमें बहुत बड़े विद्वान् निकलेंगे,
५— ,, निकले हुए छात्र विदेशोंमें हिन्दू संस्कृतिका उस ढङ्गसे प्रचार करेंगे जो रामानन्दस्वामीका था,
६— यहाँ सम्प्रदायके विद्वानोंका एक अद्भुत संगठन रहेगा,
७— साम्प्रदायिक विरक्त विद्वान् ही यहाँ अध्यापन करावेंगे और यह विद्यालय आदर्श बनेगा,
८— यहाँसे सर्वत्र श्रीवैष्णवधर्मका प्रचार करनेवाले विद्वान् सर्वत्र भेजे जायँगे,
९— यहाँ वर्णविग्रह और वर्गविग्रहका सर्वथा अभाव रहेगा।

परन्तु मेरी भावनाओंमेंसे एकको भी यहाँ अवकाश और अवसर नहीं मिला। इस विद्यालयमें झगड़ा पैदा हो गया। छात्र लड़ने लग गये। सहिष्णुताके लिये यहाँ स्थान नहीं था। राग था, द्वेष था, वर्गविग्रह था, असन्तोष था, सब कुछ था। मैं जब आबूमें चम्पागुफामें रहता था तब भी मेरे साथ २, ४ विरक्त छात्र रहा

करते थे। वहांके श्रीरघुनाथमन्दिरके अध्यक्ष श्रीमान् परमहंस दामोदरदासजी महाराज बहुत ही उदार थे। उन्होंने छात्रोंका अच्छा प्रबन्ध मन्दिरमें ही कर रखा था। मैं जब तत्त्वदर्शीके सम्बन्धसे बड़ोदाको अपना मुख्य केन्द्र बनाकर वहाँ रहता था, तब भी ५, ६ छात्र मेरे साथ रहते थे। झीथड़ागादीके लिये भविष्यका उत्तराधिकारी, बालकृष्णदास, रघुनाथदास, आदि कितने ही छात्र थे। मैंने देखा था कि छात्रोंमें ईर्ष्याकी वृत्ति रहा करती है। मेरे छात्रोंमें भी थी। मैं उन दिनों छात्रोंके स्वभावका अनुभव कर सका था। एक विरक्त छात्र मिथिलासे या सरयूपारसे आये थे। उनकी पढ़नेमें वृत्ति थी, बुद्धि भी थी, थोड़ी सी श्रद्धा भी थी, परन्तु वह कभी सिद्धान्त कौमुदी पढ़ते, कभी अष्टाध्यायी पढते। इस तरहकी स्थिरता उनमें नहीं थी, बहुतसे छात्रोंका नाम मैं भूल गया हूँ। रघुनाथदासजीकी वृत्ति तब भी अच्छी थी, आज भी अच्छी है। उनमें आज थोड़ा सा साधुशाही सम्प्रदायप्रेम जागरित है। वह आज अच्छे सन्त गिने जाते हैं। कितने ही उच्च कोटिके गृहस्थ उनके शिष्य हैं। स्वयम् विरक्त हैं और मस्तराम हैं। उनको धुन उठा करती है। तब उसी धुनका जप किया करते हैं। वह रामयणी भी हैं अतः उन्होंने पढ़ लिया है कि—

'खेत पड़े ते जामि हैं उलटे सीधे बीज'

अपना उलटा सीधा बीज वह डाला ही करते हैं अथवा बीज बपनकी इच्छा किया करते हैं।

एक छात्र मेरे पास श्रीयुगलकिशोरदासजी थे। उनकी इच्छा हुई कि वह राष्ट्रियसेवा करें। उनकी इच्छाके अनुसार उन्हें काषायवस्त्रधारी बनाकर मैंने सत्याग्रह आश्रम साबरमतीमें रख दिया। उस समय श्रीमहात्मागाँधीजीका सत्याग्रह संग्राम चल ही रहा था।

उसीमें वह वहीं पकड़ लिये गये और कुछ दिन कारावास कर आये। श्रीमान् काका कालेलकर (दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर) उन्हें बम्बईमें मिल गये। उन्होंने उनका काषायवस्त्र ले लिया, सफेद वस्त्र दे दिया और कहीं आयुर्वेदका विद्यार्थी बना दिया। एक वार श्रीकाकासाहेब मुझे कहीं मिल गये थे तो उन्होंने विनोदमें ही कहा था कि मैंने आपके शिष्यको गृहस्थ बना दिया है। मैंने धन्यवाद दिया। युगलकिशोरदासजी बहुत उत्साही थे। परन्तु नवयुवक स्वभावके थे। उन्होंने कहीं छपरा जिलेमें आयुर्वेद औषधालय खोल रखा था, बहुत वर्षोंसे कुछ पता नहीं है। प्रकरण में आ जाता हूं। सिद्धपुरके श्रीरामानन्दविद्यालयमें तो मुझे भी और पण्डित श्रीरघुवराचार्यजीको भी छात्रोंका बहुत कटु अनुभव हुआ था। जब पण्डितजी शिंगडाके महान्त बने और वहाँ उन्होंने एक श्रीरघुवरविद्यालयकी स्थापनाकी, तब तो उन्हें अत्यन्त कटु अनुभव हुआ था। छात्रोंको समझाने बुझानेके लिये एक वार मुझे भी शिंगडा जाना पड़ा था। इन सब कटु अनुभवोंका अनुभवी होकर भी मैंने भावनाओंके तरङ्गोंसे आन्दोलित होकर काशीमें श्रीरामानन्दविद्यालयको बहुत बड़े समारोहसे स्थापित किया था। विद्यालयके प्रारम्भिक दिनमें काशीके लगभग ६० प्रतिष्ठित संस्कृत विद्वान् आमन्त्रित थे। बाहरसे नासिक, बम्बई, पञ्जाब, गुजरात आदि दूर दूरसे महात्मा लोग उस उत्सवमें सम्मिलित हुए थे। बम्बईसे पण्डित श्रीरामरत्नदासजी 'तरुण' जीको मैंने विशेष आग्रहसे उस समय बुलाया था। मुझे उस समय छात्रोंको यह बताना था कि श्रीतरुणजीका जीवन कितना उच्च आदर्श रखता है। श्रीतरुणजी चित्रकार हैं। वह विरक्त सन्त हैं। उनको एक विचार किसी अच्छे मुहूर्तमें आया कि साधुओंका वर्तमान जीवन-क्रम छोड़ने लायक है। अतः उनका ध्यान कलासम्पादनकी ओर गया।

सबसे पहले वह मुझे मुरादाबादमें स्वर्गीय महान्त श्रीरामकिशोर-दासजीके यहां तब मिले थे, जब मैं और मेरे प्रियमित्र पण्डित श्री-रघुवराचार्यजी भरतमन्दिरके कमीशनका कार्य पूरा करके वहां गये थे। वह कुछ दिनों तक प्रयागमें दारागंजमें भी श्रीतुलसीदास-जीके स्थानमें रहे थे। अन्तमें मैंने उन्हें बम्बईमें ही उनके विद्यालयमें अध्ययन करते देखा था। भविष्यके लम्बे लम्बे दुःखों-से छूटनेके लिये उन दिनों वह छोटे छोटे दुःखोंकी पोटली लिये फिरते थे। सम्प्रदायसे उन्हें सहायता नहीं मिल रही थी। कभी कहींसे और कभी कहींसे कुछ सहायता प्राप्त करके वह अपने स्वप्न-की पूर्तिमें लगे हुए थे और अन्तमें उन्होंने सफलता प्राप्त की। वह **जी० डी० आर्ट०** बने और विरक्त भावसे ही, अपने विरक्त भावोंको पोषण देनेके लिये बम्बईमें एक मारवाडी स्कूलमें वैतनिक शिक्षक बने। अपने जीवनको स्वाश्रय बनाया और स्वाभिमानका, अपने गौरवका रक्षण किया। वस्तुतः श्रीतरुणजीके लिये मैं यह कह सकता हूँ कि—**'जस तुम कीन्हों, कोई न करे'**। मुझे रामानन्दविद्यालयके छात्रोंके सामने उन्हें आदर्श रूपमें रखना था, परन्तु मेरे दौर्भाग्यसे उस उत्सवके समय अधिक संख्या छात्रोंकी नहीं मिल सकी थी। विद्यालयकी स्थापना मैंने तीन दिनोंके पवित्र ऐच्छिक उपावासोंसे किया था। परन्तु श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीके शब्दोंमें यह कह सकता हूं कि—

रहा चढाउब तोड़ब भाई।
तिल-भर भूमि न सकेउ छोड़ाई ॥

प्रथम वर्षमें ही विद्यालयके दो सहस्र रूपये किसीने खा लिये, या पी लिये, मुझे उसका हिसाब नहीं दिया गया। उस समय श्रीपरमहंस रामगोपालदासजी शास्त्री जीवित थे। मैंने उनको ही

इच्छाके अनुसार तीन महोदयोंकी एक कमेटी उन रुपयोंका पता लगानेके लिये बनायी, कुछ भी पता नहीं लगा। मैंने इसी दुःखसे विद्यालयको अपनी ओरसे बन्द कर दिया। बन्द करनेके पूर्व अयोध्यामें मैंने सभा की थी। बड़ास्थानमें बहुतसे प्रतिष्ठित सन्त इकट्ठे हुए थे। विद्यालयकमेटीके परमहंस श्रीरामहृदयदासजी और महान्त अवधबिहारीदासजी भी सम्मिलित थे मैंने कहा, व्यवस्थाका भार अयोध्यामेंसे कोई लें और मैं इस भारसे मुक्त हो जाऊँ। कोई भी तैयार नहीं हुए। बड़ास्थानके महान्त श्रीरघुवर प्रसादजी महाराज बहुत ही योग्य और कुशल महान्त हैं। उनके हृदयमें थोड़ीसी सम्प्रदायकी रक्षा और प्रतिष्ठाकी भावना भी रहती है। उनके जीवनमें एक ऐसी घटना हुई है जिसने उन्हें यशस्विता-प्रदान किया है। जन्मभूमिवाली मस्जिदके एक झगड़ेमें उन्हें सरकारने पकड़ा था। जेलमें बन्द किया था। पैरोंमें बेड़ियां डाल दी थीं। साथमें अन्य भी तीन महान्त थे—जन्मस्थानके, लक्ष्मण-घाटके और शायद श्रीराजगोपालके। अमुक शर्तसे सर्कार उन्हें छोड़नेको तैयार थी। परन्तु महान्त श्रीरघुवरप्रसादजी महाराजने ही कहा था कि अपने पूर्वजोंकी कीर्तिको नष्ट करके छूटनेकी अपेक्षा हमें यह जेल जीवन ही पसन्द है। मुझे आशा थी कि वह इस विद्यालयको संभाल लेंगे। उन्होंने भी अस्वीकार किया। अन्तमें मैंने अपनी ओरसे उस विद्यालयको समाप्त कर दिया। हजारों रुपये विद्यालयके मेरे पास थे। मैंने सब रुपये दाताओंको लौटा दिये। मङ्गलपीठाधीश श्रीमहान्त अयोध्यादासजी शास्त्री, अहमदाबाद और महान्त श्रीरामरत्नदासजी तथा मैं, तीनोंने कमेटीके रूपमें बैठकर यह निर्णय किया कि विद्यालय एक वर्ष चला है। एक वर्षका व्यय लेकर अवशिष्ट सब रूपये दाताओंको लौटा दिये जायं। पांच हजार एक सौ एक रूपये श्रीमहान्त अयोध्यादासजी

शास्त्रीजीके भी थे। निर्णयके अनुसार एक तृतीयांश काटकर सब रूपये मैंने उसी रात्रिमें १२ बजे तक अहमदाबादमें घूम घूमकर दाताओंको जगा जगाकर वापस किये। दूरके दाताओंको मनी-आर्डरसे रूपये लौटा दिये और उनके, अन्योंके हस्ताक्षर आज भी मेरे पास रजिष्टरमें पड़े हुए हैं।

१॥ वर्ष हुआ, मेरी इच्छा श्रीरामानन्दगादीस्थापन करनेकी हुई। मैंने देखा कि आचार्यगादीके विना रामानन्दसम्प्रदायका कोई मूल्य और महत्त्व नहीं है। वह सम्प्रदाय ही क्या जिसकी आचार्यगादी न हो और जिसका कोई नियन्ता न हो। चारों सम्प्रदायोंकी गादी लगे तो रामानन्दकी गादीपर बैठनेवाला कौन? मैंने श्रीरामानन्द पत्रिकाके द्वारा घोषणा की कि यदि एक सौ श्रीरामानन्दीय सन्त एक एक हजार रुपये देनेका वचन दें तो मैं एक वर्षके भीतर ही काशीमें श्रीरामानन्दगादीकी स्थापना कर दूं। गादीके लिये मकान मुझे मिल रहे थे। श्रीमान् परमहंस राम-हृदयदासजी महाराज अपना बदरिकाश्रम अर्पित करनेको तैयार थे। अस्सी घाटपर बाबा शीतलदासजीके अखाड़ेके महान्त श्री-सीतारामदासजी उस दिव्य मन्दिर और उसके साथकी सभी सम्पत्तिका अर्पण करनेको तैयार थे। वृन्दावनके अनन्त लक्ष्मी-नाथ हिज़होलीनेस स्वामी श्रीसंकर्षणदासजी महाराजने मेरी एक प्रार्थना मानकर काशीस्थ एक मकानका दान पत्र मेरे पास अह-मदाबाद भेजा परन्तु वह दान रामानन्दविद्यालयके लिये था। १॥ वर्ष पूर्व मेरी हीरक जयन्तीका त्सव अहमदाबादमें तथा अन्यत्र भी मनाया गया था। उस अवसरके निमित्त उपर्युक्त स्वामी जीने ही काशीस्थ ही एक दूसरे मकानका भी दानपत्र मेरे पास भेजा। यह मकान रामान्दगादीके लिये है। इन दोनों ही मकानों-की रजिष्ट्री रामानन्दविद्यालयके नामसे ही हुई है। परन्तु उसमें

यह लिख दिया गया है कि यदि रामानन्दगादीकी स्थापना हो तो इन दोनोंमेंसे जो बड़ा मकान है वह गादीको मिल ही जाना चाहिये। इस रीतिसे मकानकी कमी नहीं थी। धन अपेक्षित था। केवल ६ महात्माओंने अपने नाम लिखाये, एक हज़ार देनेके लिये।

अयोध्यामें, श्रीमान् महान्त भगवान्दासजी खाकीजीने इस कार्यको आगे बढ़ानेके लिये एक सभा बुलायी। कुछ पण्डित बाबा भी इकट्ठे हुए थे। पण्डित वासुदेवाचार्यजी शास्त्रके पण्डित तो हैं परन्तु उन्हें विवेकका स्पर्श नहीं है। किसी सम्प्रदायको आगे कैसे बढ़ाना चाहिये, इसका तो उन्हें न ज्ञान है और न इच्छा ही है। उन्होंने उस सभामें कह दिया कि यदि भगवदाचार्यजी आनन्द भाष्यको नहीं मानते हैं, तो रामानन्दगादीकी क्या आवश्यकता है ? बस अयोध्यामें, कहा जाता है कि वह सभा पूरी हो गयी। गादीका कार्य वहाँ उसी दिन समाप्त हो गया। आनन्दभाष्यकी बात थोड़ी सी कर दूँ। आनन्दभाष्यके लिये वासुदेवाचार्य पण्डित-जीको कभी स्वप्नमें भी श्रम नहीं करना पड़ा है। वह श्रम कर ही नहीं सकते। श्रम यदि उनके स्वभावमें होता तो वह जिस सम्प्र-दायमें आकर पण्डित बने हैं, उसके लिये कुछ भी कर सकते। परन्तु उन्होंने कुछ भी नहीं किया। जो आदमी कुछ करता नहीं, कुछ कर भी नहीं सकता है तब उसके स्वभावमें द्वेष और द्रोह घुस जाते हैं। वह कभी निकल नहीं सकते। परिणाम यह होता है कि उसका अधःपतन हो जाता है। वह किसीको अच्छा कार्य करते देख नहीं सकता। वह किसीके उत्कर्षको सहन नहीं कर सकता। वह द्वेषका **द्वे** और द्रोहका **द्रो** इन्हीं दो अक्षरोंका संग्रही बनता है **दे दो, दे दो** यह भिक्षा माँगनेके शब्द हैं। भिखारी जीवनमें ही वह अपनेको समाप्त कर देता है। पण्डित वासुदेवजी

कुछ दिनोंसे मेरे साथ द्वेष करने लग गये हैं, द्रोह तो द्वेषका ही अनुगामी है। आनन्दभाष्यकी पूरी और सच्ची कथा मैं श्रीराम-पटलके सिंहावलोकनमें लिख चुका हूँ। वह एक समय था कि मैं बहुत दूर तकका नहीं सोच सकता था। नया त्यागी था, नया उत्साह था। मेरे प्रस्तावपर श्रीजानकीभाष्यको बिगाड़कर आनन्दभाष्य बनाया गया था। मेरी भी तो उसमें सम्मति थी। परन्तु मुझे सत्याग्रह आश्रम (साबरमती) ने सत्यका माहात्म्य सुनाया। वह मेरे गले उतर गया। मैंने विचार किया। मुझे खूब दुःख था कि मैंने असत्यके आधारपर स्वामी रामप्रसादजी महाराजकी कीर्तिपर कुठारघात किया था—कराया था। उन्हींके जानकीभाष्यको थोड़ा सा परिवर्तित करके आनन्दभाष्य नाम दिया था—दिलाया था। उसे स्वामी रामानन्दजी महाराजकी कृति मानने और मनानेके लिये मेरा आग्रह था। यह बड़ा भारी अन्याय था। जो जिससे प्रेम करता है वह उसकी कीर्तिको बढ़ाता है, उसके नामपर झूठे ग्रन्थ लिखता है। रामप्रसादजी महाराजका मेरे साथ सम्बन्ध है। लोकमर्यादाके अनुसार उनकी परम्परामेंसे हूँ। वह मेरे आचार्य हैं। मैंने उनकी कृतिको नष्ट करके उनकी कीर्तिको नष्ट करनेका प्रयास किया था। मुझे खूब दुःख था। उपाय कोई भी नहीं था। मेरे पश्चात्तापके संशोधनका मार्ग प्रकृतिने उपस्थित कर दिया। प्रायश्चित्त करनेका अवसर मिल गया। श्रीजानकी-भाष्य भी छप गया। मेरे सबसे बड़े गुरुभ्राता श्रीचिन्तामणि-दासजी महाराजने श्रीजानकीभाष्यका मुद्रण कराया। अब आनन्दभाष्यके जीवनको बहुत बड़ा धक्का लगा। इतना बड़ा धक्का लगा कि वह जीवनशून्य बन गया। जो कोई भी विद्वान् उन दोनों ग्रन्थोंको देखता है तो वह सहसा यही कह देता है कि **आनन्दभाष्य कल्पित ग्रन्थ है**। विद्वान् यह भी कह देते हैं कि

जानकीभाष्य ही आनन्दभाष्यके रूपमें आ गया है। असत्यके चरणसेवक कुछ पण्डित यह समाधान करते हैं कि ऐसा क्यों न माना जाय कि आनन्दभाष्य प्राचीन ग्रन्थ है। जानकी भाष्य अर्वाचीन ग्रन्थ है। आनन्दभाष्यके कर्ता रामानन्दस्वामी हैं, जानकीभाष्यके कर्ता रामप्रसाद स्वामी हैं। रामानन्दजी गुरु हैं। रामप्रसादजी शिष्य हैं। गुरुके ग्रन्थको बढ़ानेके लिये रामप्रसाद-जीने जानकीभाष्य लिखा। इसका उत्तर मैंने किया कि आनन्द-भाष्यकी कोई भी प्राचीन प्रति हमारे सामने आनी चाहिये। और नहीं तो, वही प्रति सामने आनी चाहिये जिसपरसे यह आनन्द-भाष्य छपा है। इसका कोई उत्तर हो ही नहीं सका। एक पण्डित वजरङ्गदासजी हैं। कहीं इधर उधर घूमा करते है। अर्थात् घुमक्कड़ हैं। साधुओंकी भाषामें रमते राम हैं। उनके पास कभी दो चार रुपये इकट्ठे हो जाते हैं तो वह विज्ञप्ति छापकर बाँटते हैं और उसमें कभी मुझे शास्त्रार्थका चैलेञ्ज देते हैं और कभी मेरा पराजित होना लिख मारते हैं। यह सब गंजेड़ियों जैसी बातें हैं। यदि रामप्रसादजीको गुरु रामानन्दके ग्रन्थको बढ़ाना होता तो वह आरम्भमें कहीं भी प्रतिज्ञा करते। वह कहीं भी लिखते कि "मैं आनन्दभाष्यके संवर्धनके लिये इस जानकीभाष्यकी रचना करता हूँ।" यदि उन्हें आनन्दभाष्यका ज्ञान होता तो कभी कहीं, वह यह भी लिखते कि "मैं आनन्दभाष्यके आधारपर इस जानकी-भाष्यका निर्माण कर रहा हूँ।" महीधरपण्डितने जब शुक्लयजु-र्वेदपर भाष्य किया तो आरम्भमें ही लिख दिया कि मैं सायणा-चार्यके भाष्यके आधारपर यह भाष्य कर रहा हूं। रामप्रसादजी महाराज भी ऐसा ही कर सकते थे। ऐसा तो नहीं ही किया। मैंने २० वर्षोंसे घोषणा कर रखी है कि आनन्दभाष्य जानकीभाष्यका ही कतर व्योंत है। इसका कभी उत्तर हो ही नहीं सकता। एक

पण्डितने यह भी कहा कि व्याकरणका प्रौढमनोरमाग्रन्थ भट्टोजिदीक्षितका है। सिद्धान्तकौमुदीपर तत्त्वबोधिनी टीकाकारने प्रौढ मनोरमाका ही आश्रय लेकर तत्त्वबोधिनी लिखी है। ऐसे ही क्यों न माना जाय कि रामप्रसादजीने आनन्दभाष्यका आधार लेकर जानकीभाष्य लिखा है? इसका उत्तर भी मैंने दिया है कि ज्ञानेन्द्रसरस्वतीके लिये इतना तो कहा जा ही रहा है कि उन्होंने प्रौढमनोरमाका अनुकरण किया है। वह अनुकर्ता बन जाते हैं। परन्तु उनके पूर्वमें प्रौढमनोरमा विद्यमान है। पठनपाठनमें प्रचलित है। यहाँ तो असत्यके पुजारी लोग आनन्दभाष्यकी प्राचीन प्रति तो दूर रही, वह प्रति भी नहीं दिखा रहे हैं जिसपरसे वर्तमान आनन्दभाष्य छपा है।

यहाँ एक बात और भी कर दूँ। आनन्दभाष्यके चतुर्थाध्यायका मैंने भाषानुवाद किया है। स्व० श्रीमती विद्वणदेवीजीने अपने व्ययसे ही उसे छपाकर प्रकाशित किया था। लोग पूछते हैं कि तुम्हारे उस अनुवादकी क्या दशा होगी? मैं उत्तर दिया करता हूँ कि जो आनन्दभाष्यकी दशा होगी वही उस मेरे अनुवादकी भी होगी। मैं यह भी विचार कर रहा हूँ कि उस आनन्दभाष्यको संक्षिप्तजानकीभाष्यके नामसे शीघ्र ही प्रकाशित कर दूँ। असत्यके लिये कोई अङ्कुर ही इस पवित्र सम्प्रदायमें न रह जाय। असत्यवादियोंके लिये एक दूसरा भी उपाय है। वह यह मान लें कि रामप्रसादजी महाराज श्रीरामानन्द स्वामीजीके ही साक्षात् अवतार थे। सम्पूर्ण अवतार थे। अतः रामप्रसादजी रामानन्दजी बन जाते हैं और रामप्रसादजीका ग्रन्थ रामानन्दजीका ग्रन्थ बन जाता है। परन्तु इसे कोई ध्यानमें नहीं ले रहा है। दूसरा यह भी एक उपाय है—

संस्कृत साकेतके सम्पादक अयोध्यानिवासी पण्डित ब्रह्मदेव

शास्त्रीजीने सर्व प्रथम मुझे **अपररामानन्द** लिखा। उसके पश्चात् पण्डित त्रिभुवनदासजी शास्त्रीने कितनी ही बार मुझे **अपररामानन्द** लिखा। ऐसे ही रामप्रसादजी महाराजको भी अपररामानन्द लिखकर उनके ग्रन्थकी चोरी की जा सकती है। अस्तु, इस जघन्य प्रकरणको यहाँ छोड़ता हूं।

मेरे कहनेका तात्पर्य यह है कि अयोध्याकी श्रीखाकीजी महाराज वाली सभामें पण्डितोंके विरोधसे ही रामानन्दगादीका कार्य मैंने बन्द कर दिया। इससे मेरी वैयक्तिक तो कुछ भी हानि नहीं हुई; परन्तु श्रीरामानन्दसम्प्रदायकी जो हानि हुई है और होगी, भविष्यकी रामानन्दीय पीढ़ी पश्चात्तापके आँसुओंके साथ सहन करेगी और इस गादीकी स्थापनाके विरोधियोंपर लाखों लानत बरसावेगी। अब तो मैं इस कार्यसे विरत हूँ।

इसी प्रकारका एक दूसरा कार्य प्रारब्ध हुआ है। इस सम्प्रदायमें सभी तो द्वेषी और द्रोही नहीं है। किसीका भी तो मैं प्रिय रह सकता हूं। मौनी श्रीरघुनाथजीको विन्ध्याचलमें एक सीतागुफा मिली है। उसपर किसी गृहस्थका अधिकार था और अब शायद नियमपूर्वक मौनीजीका अधिकार है। मौनीजीकी मुझमें अपार श्रद्धा है। कई वर्षोंसे उन्होंने उस सीतागुफाको भगवदाचार्याश्रमका नाम दे रखा है। सीतागुफा नाम तो रहा ही है। अहमदाबादमें पण्डित श्री रामकुमारदासजी अपना एक आश्रम बना रहे हैं और मेरी अगाध श्रद्धाके वशीभूत होकर उसका नाम भगवदाचार्याश्रम रखा है। अयोध्यामें भी एक ऐसा ही उपक्रम होने जा रहा है। यह तो सबको विदित ही है कि श्रीमान् महान्त श्रीभगवानदासजी खाकीजी मेरे अनन्य हितैषी और प्रेमी हैं। श्रीमान् ब्रह्मचारी वासुदेवाचार्यजीकी भी मेरे प्रति जो श्रद्धा और प्रेम है वह अवि-

दित नहीं है। मध्यकालमें वह मेरे विरुद्ध खड़े हुए थे परन्तु मैंने उन्हें अपना विरोधी कभी भी नहीं माना। इन दो मेरे माननीय साथी अयोध्यामें मेरा एक विराट् स्मारक बनानेकी तैयारी कर रहे हैं। मैंने सुना है कि मेरे गुरुभ्राता, बड़ास्थान—गादीके आचार्य श्रीमान् महान्त श्रीरघुवरप्रसादजी महाराज उपर्युक्त दो महात्माओंका उत्साह बढ़ा रहे हैं। अयोध्याके महामाननीय लब्ध-प्रतिष्ठ श्रीमान् पण्डित श्रीरामपदार्थदासजी महाराजका भी उसमें पवित्र साहाय्य और सम्मति है। वह संस्था सार्वजनिक होगी। किसी एकका उसपर न स्वत्व होगा, न अधिकार होगा। वह अयोध्याके लिये तो अत्यन्त उपयोगिनी संस्था बनेगी। परन्तु सुन रहा हूं कि उसके लिये भी बवण्डर उठनेवाला है। परन्तु ब्रह्मचारी श्रीवासुदेवाचार्यजी ऐसे सिद्धपुरुष हैं कि वह कितने ही बवण्डरोंको निमिषमात्रमें शान्त कर देते हैं। श्रीमान् महान्त श्री-भगवान्दासजी खाकीजी ऐसे समर्थ हैं कि अपने वचन और अपने संकल्पको सिद्ध करनेके लिये अनन्तलक्ष्मीका आह्वान कर सकते हैं। अहमदाबादके श्रीजगदीशमन्दिरके श्रीमान् परमोदार महा-मण्डलेश्वर महान्त श्रीनरसिंहदासजी महाराज तथा वहांके ही उत्तराधिकारी श्रीमान् पुजारीसेवादासजी महाराजका भी बल यदि श्रीखाकीजी महाराज प्राप्त कर सकें तो कोई बवण्डर कभी किसीकी आँखमें धूल भर ही नहीं सकता है।

लगभग ६ वर्ष व्यतीत हो चुके, मैं काशीमें भारतपारिजात, पारिजातापहार और पारिजातसौरभ इन तीन संस्कृत महाकाव्योंको छपानेके लिये गया था। वहांपर प्रथम ही बार मुझे श्रीमान् पण्डित गोपालशास्त्री 'दर्शनकेसरी' का परिचय प्राप्त हुआ। शास्त्रीजी सज्जन, उत्साही और उदार विचारके प्राचीन विद्वान् हैं। काशीमें एक काशीपण्डितसभा नामकी संस्था है, उसके वह सभापति थे, सम्भव है कि आज भी वही सभापति हैं। उन्होंने मेरे उपर्युक्त तीनो ग्रन्थ देखे, सामवेदपर मेरा सामसंस्कारभाष्य देखा, वेदान्त-दर्शनपर मेरा वैदिक भाष्य देखा, उनका गुणग्राही हृदय खिल उठा। उनकी इच्छा हुई कि पण्डितसभाकी ओरसे मुझे कोई उपाधि देकर मेरा सम्मान किया जाय। यह बात मेरे पास आयी और मैंने अपनी अनिच्छा प्रकट की। श्रीरामानन्दविद्यालयमें उस समय प्रिन्सपलपदपर स्वामी श्रीमाधवाचार्यजी थे। वह स्वयं विद्वान् हैं। व्याकरण, न्याय और वेदान्तके आचार्य हैं। उन्होंने बहुत आग्रह किया और मुझे श्रीशास्त्रीजीके प्रस्तावको स्वीकृत कर लेना पड़ा।

उसके दिन, तिथि, मुहूर्त, घड़ी, पल सब निश्चित हुए। काशी-में उस समय जितने विद्वान् उपस्थित थे, प्रायः सबको ही उस सभाको सुशोभित करनेके लिये आमन्त्रण दिया गया था। एक अच्छी संख्या काशीके सरस्वती-पूजक विद्वानोंकी वहां उपस्थित हुई। सभा श्रीरामानन्द विद्यालयमें ही रखी गयी थी। मेरे सब ग्रन्थ वहां एक चौकीपर सजाकर रखे गये थे। विद्वानोंको हाथ

तथा सूक्ष्मद्रष्टी आँखें उनपर फिर जाती थीं। सभामें विद्वानोंके भाषण हुए और मुझे **पण्डितराज** का उपाधि दिया गया। काशीकी प्रथाके अनुसार विद्वानोंका सत्कार किया गया। मुझे भी हर्ष हुआ। मैं अपनी बाल्यावस्थामें इसी काशीमें रहता था। इसी काशीके राजघाटकी घटनाने मुझे विरक्त बनाया था। इसी काशीमें मैं अपने पूर्वाश्रमके चाचा श्रीरामौलित्रिपाठीके साथ रहता था। इसी काशीमें मैं हनुमदुपासक था। इसी काशीमें मैं आर्यसमाजके सिद्धान्तोंकी ओर झुका था। इसी काशीमें मैं अपने चाचा और भाईके साथ धनिकजीवन व्यतीत करता था और इसी काशीमें मैं अपनी रोटीके लिये और विद्याध्यनके लिये ब्राह्मणेतर बनकर एक ब्राह्मणेतर आर्यसमाजी बन्धुके यहांसे बहुत थोड़ीसी मासिक आर्थिक सहायता प्राप्त करता था। इसी काशीमें यह सब चढ़ाई और उतराई मेरी जीवनसङ्गिनी थीं। इसी काशीमें मैं उस दिन काशीपण्डितसभाकी ओरसे **पण्डितराज** बनाया गया। मुझे अभिमान नहीं था परन्तु आत्मगौरवका दर्शन तो मैंने अवश्य किया था। मैंने आर्यसमाजमें जाकर कितने ही लाभ भी प्राप्त किये थे। आर्यसमाजने मुझे उच्च विचारोंका दान दिया था। राष्ट्रियताके भावका जन्म मेरे हृदयमें आर्यसमाजके कारण ही आया था। मैं वेदोंकी ओर बाल्यावस्थामें ही झुक गया, इसमें भी आर्यसमाज ही कारण है। परन्तु आर्यसमाजने मुझे कुछ बेढङ्गे विचारोंकी ओर भी लगा दिया। आर्यसमाजका गुण-कर्मके अनुसार वर्णव्यवस्थाका सिद्धान्त उस समय मुझे बहुत आकर्षक प्रतीत होता था और कूतूहलकारक भी। मेरे बाप दादाकी उपाधि—अवटङ्क त्रिपाठी था या त्रिवेदी, उस समय मुझे अवगत नहीं था क्योंकि बाल्यावस्थामें मैं अपने चाचाजीके साथ ही अधिक रहता था, और वह अपने नामके आगे कुछ लिखते

नहीं थे। मेरे बड़े भ्राताजी कुछ लिखते थे परन्तु उधर बहुत ध्यान मेरा नहीं था। तथापि मेरा स्मरण यदि मेरे साथ अन्याय न करता हो तो मैं समझता हूँ कि वह त्रिपाठी लिखते थे। मैं जब वेदतीर्थकी परीक्षामें उत्तीर्ण हुआ तो मैं अपने नामके आगे त्रिपाठी भी लिखा और वेदतीर्थ भी। आर्यसमाजमें शुष्क तर्क करनेवाले, शुष्क प्रश्न करनेवाले बहुत होते हैं। एक भाई-ने कहा कि आप तो एक ही वेदके अभी पण्डित हुए हैं, अपनेको त्रिपाठी = तीनों वेदोंका पढ़नेवाला, क्यों लिखते हैं? मैं भी उस समय आर्यसमाजका सिद्धान्त मानता ही था। स्वामी दयानन्दजीने गुणकर्मसे ही वर्णव्यवस्था मानी है। मैं विचारमें पड़ा। एकवेदी लिखनेकी रूढि नहीं है, एकपाठीकी भी नहीं। द्विपाठीकी भी रूढ़ि नहीं है। मैंने अपने नामके आगे द्विवेदी लिखने लगा। इसपर भी प्रश्न किया गया परन्तु मैं कह दिया करता था कि मुझे ऋग्वेद भी आता है। वस्तुतः मैंने स्वामी दयानन्दजीके ऋग्वेदभाष्यका मनन किया था। यही तो पढ़ना है। वैष्णवधर्ममें आनेके पश्चात् और जब श्रीरामानुजसम्प्रदाय और श्री-रामानन्दसम्प्रदायके विभागका प्रश्न उपस्थित हुआ और उसमें मैं अगुवा बना तो उभय सम्प्रदायके कितने ही लोग मुझसे द्वेष करने लग गये थे। गाली देनेके लिये कोई शब्द तो चाहिये ही। मैं पीछे लिख आया हूं कि मैंने बहुत ही गन्दी गन्दी गालियाँ निष्कारण ही इस रामानन्द सम्प्रदायमें सुनी हैं और उन्हें सहन किया है। जिस दिन मैं **पण्डितराज** बनाया गया, उस दिन मैंने यह मानकर प्रसन्न हुआ कि मुझसे मेरे पूर्वजोंका मेरी ही भूलसे जो अपमान हुआ था उसका आज मार्जन हुआ है। समय अपनी मर्यादामें रहकर कार्य करता रहता है। उसकी कोई नियत मर्यादा नहीं है। वह अपनी मर्यादाके स्वरूपको परिवर्तित करनेमें

स्वतन्त्र है। उस दिन मैंने देखा कि समय बदला हुआ था। इसी काशीमें स्वामी अनन्ताचार्यजी प्रतिवादिभयङ्करके साथ शास्त्रार्थके समय, वैष्णवोंका—श्रीवैष्णवोंका घोर अपमान किया गया था। विशिष्टाद्वैत अवैदिक है—की घोषणा इसी काशीमें उन दिनोंकी गयी थी। इसी काशीमें एक विशिष्टाद्वैतवादीको इसी काशीके माननीय विद्वानोंने **पण्डितराज** बनानेकी महती उदारता प्रकटकी थी।

श्रीमान् पण्डित गोपाल शास्त्रीजीके साहसको धन्यवाद।

पीछे मैं कह आया हूं कि सन् १६४२ ई० से मैं श्रीमान् सेठ श्रीमाणिकलाल शाहजीके आश्रयमें रहकर शान्तिसे अपना जीवन व्यतीत कर रहा हूँ। मेरे जीवन व्यतीत करनेका अर्थ यह है कि मेरे लिये जो मासिक दो या ढाई सौ रुपये उपर्युक्त सेठजी व्यय कर रहे हैं वह केवल विलासमय जीवन जीनेके लिये नहीं प्रत्युत मैं शान्ति और एकान्तमें बैठकर कितने ही लोगोंको, बालकोंको, बूढ़ोंको, जवानोंको, भाई-बहिनोंको पढ़ाया लिखाया करता हूँ। इस कार्यसे समय बचाकर ग्रन्थोंके प्रणयनमें लगा रहता हूँ। इस रीतिसे सेठजीका धन एक विद्यालयके लिये और एक साहित्यमन्दिरके लिये व्यय हो रहा है, इस कथनमें तनिक भी अत्युक्ति नहीं है।

मेरे जीवनक्रमकी शाखाएँ अनेक हैं अतः मैं अनेक वार अन्यकी सहायताका मार्ग भी ढूँढ़ता हूँ परन्तु इसके लिये न व्यग्र बनता हूँ और न भिक्षुक बनता हूं। अपने आप ही मेरी इच्छाओंकी पूर्ति होती रहती है। श्रीमान् माणिकलाल सेठसे सहायता लेकर मैंने कई भाई-बहिनोंको स्कूल और कॉलेजमें पढ़नेवाले ब्राह्मण छात्रोंको अनुकूलताप्रदान किया है। ग्रन्थप्रकाशन भी उनकी ओरसे हुआ है।

श्रीमान् सेठ माणिकलालजी शाहके एक चाचा हैं—श्रीमान्

सेठ प्रभुलालशाह। आपके पिताका नाम है—सेठ भीखाभाईशाह। ये लोग कुछ वर्षोंसे ही अलग हो गये हैं। पहले अविभक्त ही कुटुम्ब था। सबलोग साथ ही रहते हैं। सुख और दुःखके दिन भी इन लोगोंने साथ ही देखे हैं। आज एकमेंसे दो घर बने हैं परन्तु तात्त्विक रीतिसे कुटुम्ब तो एक ही है। दोनों दोनोंका धर्मनिर्वाह करते हैं। श्रीमाणिकलालशाह श्रीप्रभुलालशाहको अपना चाचा मानकर अपनी सभ्यताका विनयपूर्वक निर्वाह करते हैं। श्रीप्रभुलालशाह श्री-माणिकलाल शाहको अपने भाईका पुत्र मानकर, भतीजा मानकर प्रेम और वात्सल्यका निर्वाह करते हैं। दो घड़े साथ रखे गये हों तो कभी कभी उनका टकरा जाना बहुत स्वाभाविक है। कुटुम्बमें भी क्लेश कहाँ और कब नहीं हुआ है? दशरथके घरमें भी क्लेश हुआ था। उत्तानपादके घरमें भी क्लेश हुआ था। बालि और सुग्रीव दोनों भाइयोंमें वैमनस्य हुआ ही था। वेद विद्वान् रावण और भक्तराज विभीषणमें मनोमालिन्य था ही। परन्तु हम जानते हैं कि समयपर वे सब एक थे, अविभक्त थे, एक दूसरेके अनन्य प्रिय थे। सुग्रीवने अपने बड़े भाई बालिका वध कराया था परन्तु अन्तमें उसे अपनी भूल सूझी थी। रणभूमिमें बालिके पड़े हुए शरीरको देखकर सुग्रीवका हृदय टूक-टूक हो गया था। रावणको रणमें सदाके लिये गिरा हुआ देखकर विभीषणकी भी ऐसी ही दशा थी। धृतराष्ट्र अन्तमें पाण्डवोंको प्रेम और मानकी दृष्टिसे देख सका था। ध्रुव अन्तमें सबके लिये पूज्य बना था। यदि विरोध, झगड़ा संसारका ही एक फल है तो अन्तमें प्रेम और शान्ति भी संसारका ही फल है। प्रामाणिकता और प्रेमसे अलग होकर रहना बुरा नहीं है। यदि पार्थक्यके मूलमें ईर्ष्या, वैर, द्रोह, विरोध आदि कारण हों तो अवश्य ही अलग होनेमें दोष है, पाप है। इस कुटुम्बमें ऐसा नहीं हुआ है। सभी वैष्णव हैं, सभी

विवेकी हैं, सभी समझदार हैं। अपने पूर्वजोंकी प्रतिष्ठा, मान, मर्यादापर किसी ओरसे आघात हो, ऐसा इनमेंसे कोई भी नहीं कर सकते हैं। इन लोगोंको इतना भान तो अवश्य ही है कि धन बड़ी चीज नहीं है, पूर्वजोंकी प्रतिष्ठाका रक्षण सबसे बड़ी चीज है। धनको तो जगत्‌में जगत्‌के लोगोंने आते भी देखा है और जाते भी। परन्तु मानवताका भव्य स्वरूप प्रेम, सहिष्णुता, दया, वात्सल्य, उदारता और पारस्परिक मानमें है। इसका रक्षण करना अत्यावश्यक है। ये दोनों बन्धु-चाचा-भतीजा इस तत्त्वको जानते ही हैं। श्रीप्रभुलालशाहके एक छोटे भाई सेठ बालकृष्णशाह हैं। वह तो बहुत विनोदी स्वभावके हैं। विवेकी भी हैं। यदि वह विवेक छोड़ें, सहिष्णुता छोड़ें, सार्वभौम प्रेम छोड़ें, तब तो यही मानना चाहिये कि सूर्योदयकी दिशा बदल गयी है। अस्तु, मुझे इन दोनों घरोंकी सहायता प्राप्त है। समय समयपर श्रीप्रभुलाल सेठजी और श्रीबालकृष्ण सेठजी मेरी सहायता सब प्रकारसे करते हैं। सेठ माणिकलालजी मेरी सहायता-सुविधा प्रदान करते ही हैं, ऐसा समझकर मेरी ओरसे दोनों भाई कभी भी निरपेक्ष नहीं बने हैं। मैं तो सदा ही इन लोगोंको अविभक्त ही देखता हूँ और मानता हूँ। मैंने कभी भी नहीं देखा है कि श्रीमाणिकलालशाह या उनके दूसरे भाई सेठ चम्पकलालशाह और इनके तीसरे भाई सेठ मनुभाईशाहने कभी भी अपने दोनों चाचाके सम्मानरक्षणमें भूल की हो। इस कुटुम्बको देखकर कभी किसीको यह आभास भी नहीं हो सकता कि ये लोग अलग हैं। भगवान् करे, यह मानवता, यह सज्जनता, यह विवेक इस कुटुम्बमें निरन्तर बना रहे।

मैंने आजसे १० वर्ष पूर्व शायद सन् १९४७ में सामवेदके पूर्वार्चिकपर सामसंस्कारभाष्य लिखा था। उसका प्रकाशन श्रीमान् सेठ प्रभुलालशाह और श्री सेठ बालकृष्णशाहने ही स्वेच्छासे

किया था। उसमें लगभग तीन सहस्र या कुछ अधिक रूपये लगे थे। उसका उत्तरार्चिक अभी ही सामसंस्कारभाष्य सहित प्रकाशित हुआ है। उसमें लगभग पाँच सहस्र रूपयोंका व्यय इन्हीं दो बन्धुओंकी धर्मपत्नी महोदयाओंने अपनी उदारतासे किया है। वेदोंके प्रति मान और श्रद्धा तो हिन्दूमात्रके हृदयमें है ही परन्तु इतना बड़ा धनव्यय करनेमें मेरे प्रति उनकी श्रद्धा और प्रेम तथा विश्वास सबसे बड़ा कारण है।

मुझे भी पूर्ण संतोष है कि मैंने मेरे प्रति इनकी श्रद्धा और विश्वासका कभी भी दुरुपयोग नहीं किया है। इनकी दी हुई आर्थिक सहायता ग्रन्थोंके प्रकाशनमें अथवा विद्यार्थियोंकी सहायतामें अथवा दीनोंके कठोर जीवनको मृदु बनानेमें ही मैंने प्रयुक्त की है।

मुझे ईस्ट अफ्रिकासे भी कभी मोम्बासाके भाइयों, वहिनोंकी ओरसे, कभी दारेस्सलामसे, कभी जंजीवारसे, कभी टांगासे सामयिक आर्थिक सहायता मिलती रहती है। मैं उनका उपयोग भी ऐसे ही कार्योंमें करता रहता हूं। मेरा शारीरिक व्यय बहुत अल्प होता है। खाने, पीने अथवा आडम्बरपूर्णजीवनमें मुझे रस नहीं है। मैंने अपने जीवनको बहुत ही सरल बना रखा है। उसके लिये व्ययकी आवश्यकता बहुत नहीं ही पड़ती है। हाँ, शरीर लेकर बैठा हूं। इसमें रोग थोड़े वर्षोंसे घुस गये हैं। रोगोंसे शरीरको बचानेके लिये जो कुछ व्यय करना पड़ता है वह तो मैं नहीं जानता कि श्रीमाणिकलालशाह करते हैं या श्रीप्रभुलालशाह करते हैं। मुझे इसे जाननेकी आवश्यकता भी नहीं पड़ी है।

मैं जब आबूमें था, तब बीमार पड़ता तो दौड़कर अजमेर जाता और वहाँ श्रीमान् डाक्टर अम्बालालशर्माजीके हाथोंमें इस शरीरको सौंप देता। वह इसे अपने सफल उपचारोंसे रोगमुक्त

बना देते। जबसे मैंने अहमदाबाद निवासका स्वीकार किया है तबसे मेरे सद्भाग्यसे मुझे श्रीमान् डाक्टर जितेन्द्र देसाईका परिचय हो गया है। अब तो मेरा शरीर अधिक रुग्ण रहता है। वृद्धावस्था तो स्वतः ही एक रोग है, इसके अतिरिक्त भी कभी वातका आक्रमण, कभी ज्वरका आक्रमण, कभी कपीन्द्रोंका आक्रमण होता ही रहता है और इन सब दुःखद समयोंपर श्रीमान् जितेन्द्रदेसाई (अत्यन्त प्रिय और मधुर नाम श्रीजितू भाई) मेरे सामने रहा करते हैं।

ईश्वरके कायदा कानूनका तो मैं बहुत बड़ा पण्डित हूं। परन्तु सर्कारी कायदा कानूनका मैं बड़ा अज्ञ हूँ। मुझे इनकी आवश्यकता इस लिये पड़ती है कि सम्प्रदायका सम्बन्ध लेकर बैठा हूं। मेरे पास तो एक इंच भी जमीन नहीं, एक पाई भी पासमें नहीं, अतः कोई मुकदमा भी नहीं। परन्तु अन्योंके सम्बन्धोंको निभानेके लिये एक अच्छे वकील महोदयकी भी आजके जीवनमें कभी कभी मुझे भी आवश्यकता पड़ ही जाती है। इसकी पूर्तिके लिये मुझे अहमदाबादके प्रतिष्ठित वकीलोंमेंसे एक श्रीमान् भास्करराव ठाकोर मिल गये हैं। यह सब उपर्युक्त सेठ कुटुम्बके सुखप्रद सम्बन्धका ही फल है।

श्रीमान् जयसिंहभाई गांधी भी एक अच्छे वकील हैं और उनसे भी समयपर सहायता मिलती है। यह मेरे चिरपरिचित हैं और श्रद्धा-भक्तिसे परिपूर्ण हैं।

मैं कई महीनों तक वातरोगसे पीड़ित था। कितने ही उपचार किये, सफलता नहीं मिली। श्री० डाक्टर जितू भाईने इर्गापायरिन-का दर्शन कराया। उससे क्षणिक आराम अवश्य मिलता था। परन्तु रोग निर्मूल करनेकी मेरी इच्छा थी। बहुत वर्षों पूर्व जब श्री-चन्दनदेवी ट्रेनिंगकालेजमें पढ़ती थीं, उसी समय एक श्रीशारदा बहिनत्रिवेदी भी उसी कालेजमें पढ़ती थीं। श्रीशारदाबहिन मेरे पास भी कुछ पढ़नेके लिये आती थीं। तबसे ही श्रीशारदाबहिनसे परिचय। अब वह एक वैद्या हैं। उनके वैद्यगुरु स्वर्गीय प्रभाशंकरजी गढडा-वाले थे। श्रीशारदा बहिन मुझे उनके पास ले गयीं। उन्होंने हरीतकी सेवनकी सूचना की। मैं इसका सेवन तो बहुत पहलेसे ही श्री-शारदा बहिनके कहनेसे ही कर रहा था। उनको मैंने कहा, मैं हरैं लेता हूं। उन्होंने अधिक मात्रामें लेनेकी सूचना दी।

मेरे दांतोंमें अभी तक कोई रोग नहीं है। ७७ वर्षोंके ये दाँत अभी भी उज्ज्वल और दृढ हैं। परन्तु मैं इनकी रक्षामें सदा साव-धान रहता हूं। श्रीमहात्मागांधीजीने एक समय एक भाषणमें कहा था, किसी पुस्तकमें लिखा भी है कि लकड़ीके कोयलेको खूब बारीक पीसकर उसमें थोड़ा सा नमक मिलानेसे उत्तम दन्तमञ्जन बनता है। कई वर्षों तक मैं उसका सेवन करता रहा।

भरूचमें एक डाक्टर चन्दूलालजी दांतके अच्छे डाक्टर हैं। श्रीमहात्मागांधीजीके कृपापात्रोंमेंसे एक हैं। उनसे मैंने पूछा कि यह कोयलेका दन्तमञ्जन दांतोंको कभी हानिप्रद तो नहीं होगा? उन्होंने एक पत्र लिखकर उत्तर दिया कि बापूजीका यह नुसखा

अच्छा नहीं है। दांत तांबे, पीतलके बर्तन नहीं हैं कि उन्हें कोयलोंसे घंसा जाय। उन्होंने मुझे सोडा बाई कार्ब और उसका तीसरा भाग खूब महीन पिसा हुआ नमक इन दोनोंका दन्तमञ्जन बनानेको लिखा। मैंने उसका भी उपयोग बहुत दिनों तक किया। उससे मुझे कोई नुकसान नहीं हुआ। लाभ क्या हुआ, यह मैं नहीं कह सकता क्योंकि मेरे दाँतोंमें कोई रोग नहीं है। दाँतोंको नीरोग तथा दृढ रखनेके लिये कठोर अन्नोंका चाबना और खाना, मेरे अनुभवके अनुसार बहुत अच्छा है।

मैं बहुत वर्षों तक दाँतोंको ब्रशसे साफ करता रहा। परन्तु ब्रश मुझे अनुकूल नहीं पड़ा। दाँतके मसूढ़े ऊपर चढ़ जाते हैं और दाँत नंगे होने लग जाते हैं। यह मेरा अनुभव है। परन्तु डाक्टर चन्दूलालजीने लिखा था कि मुलायम ब्रशसे कभी कोई हानि नहीं होती है।

यदि मैं भूलता नहीं हूँ तो जब मैं सन् १९०४ में अमृतसरमें था, उस समय मेरी आंखोंमें कोकरे (रोहे) हो गये थे। पंजाबके प्रख्यात डाक्टर मथुरादास फावाने मेरी आँखोंमें एक सुर्मा लगा दिया, उसने जादूका काम किया। उन दिनों मैं शास्त्री-परीक्षाकी तैयारी करता था। ग्रन्थ वाँच नहीं सकता था। प्रकाशमें और प्रकाशकी ओर देख नहीं सकता था। उस सुर्मा के लगानेके तीन घण्टोंके पश्चात् मेरी आँखें पुस्तक पढ़ती थीं और प्रकाशमें देखती थीं।

आँखोंकी रक्षाके लिये नित्य प्रातःकाल उठकर साफ ठंडा जल आँखोंमें छांटना बहुत आवश्यक है। एक लोटा जल लेकर, आँखोंको खुली रखकर उसमें हाथोंसे छींटे मारने चाहिये। मैंने देखा कि इससे मुझे बहुत लाभ हुआ है। डाक्टर मथुरादास फावावाला सुर्मा बहुत लाभकारक है।

मैं बहुत वर्षोंसे हर्रै-हरीतकी सेवन कर रहा हूं। इसे कच्ची ही कूटकर, चूर्ण बनाकर शीशीमें भर लेता हूं और प्रतिदिन प्रातः आधा तोलाभर ठंडे पानीके साथ ले लेता हूं। मुझे इससे स्फूर्ति मिलती है। अहमदाबादमें एक श्रीवल्लभरामजी प्रतिष्ठित वैद्य हैं। उन्होंने मुझे एक दिन अभी ६, ७ महीने पूर्व कहा कि कच्ची हर्रैकी अपेक्षा, उसे एरण्डीके तेलमें भूनकर, चूर्ण बनाकर लेना अधिक हितावह है। उन्होंने कहा कि कच्ची हर्रै पेटसे पानी अधिक निकालती है। अधिक पानीका निकलना स्वास्थ्यप्रद नहीं है। एरण्डके तेलमें सेकी हुई हर्रैके चूर्णसे अवश्य ही पानी थोड़ा कम निकलता है। मैं अब ऐसा ही करता हूँ।

मेरे शरीरमें अन्य कोई रोग नहीं है अतः मुझे अन्य ओषधियोंका भी ज्ञान नहीं है।

जब मैं बराही (मिथिला) में अध्यापक था, उस समय सोनपुरका मेला देखनेके लिये मैं गया था। बराहीके महान्त श्रीरामसुन्दरदासजी और जिन्होंने मुझसे शब्देन्दुशेखरपर प्रश्न किया था, वह पण्डितजी भी थे। पण्डित श्रीराममनोहरदासजी भी न जाने कहांसे हमारी मण्डलीमें सम्मिलित हो गये थे। तब वह न्यायके विद्यार्थी थे। अब वह न्यायाचार्य हैं और मुजफ्फरपुरमें रहते हैं। सोनपुर पटनेके पास बिहारका प्रसिद्ध स्थान है। वही हरिहरक्षेत्र है। उतना बड़ा मेला शायद भारतमें कहीं भी नहीं होता है। सम्पूर्ण कार्तिक मासका वह मेला है और हाथियोंका जितना बड़ा व्यापार वहाँ उस समय होता है, भारतमें कहीं भी नहीं होता।

एक दिन सायङ्काल मैं और पण्डित श्रीरामनोहरदासजी मेलेमें भ्रमण करनेको निकले। सन्ध्या हो गयी। रात भी पड़ गयी। लगभग ८ बजे हम एक ऐसी सभामें पहुँच गये जो मुसलमानोंकी थी और मौलवी लोग भाषण कर रहे थे। पंजाब, विहार, उत्तरप्रदेश आर्यसमाजका बलवान् कार्यक्षेत्र है। उन दिनों आर्यसमाजके भाषणोंमें मूर्तिपूजा, श्राद्ध, कुरान ये तीन मुख्य विषय रहा करते थे। मुसलमानोंके भाषणोंमें आर्यसमाज और वेद ये दो मुख्य विषय होते थे। उस सभामें एक मौलवी साहब वेदोंका खण्डन कर रहे थे। उनके खण्डनमें उस समय मुख्य बात यह थी कि स्वामी दयानन्द कहते हैं कि वेदोंमें सब विद्याएँ भरी पड़ी हैं परन्तु वेदोंमें इतिहास नहीं है, ऐसा आर्यसमाजी ही मानते हैं। वेदोंमें गणित भी नहीं है। वेदोंमें समाज रचना नहीं है, इत्यादि।

बांकीपुर (पटना) में राजापुर एक मुहल्ला है। वहां श्रीरामानन्दसम्प्रदायका एक मन्दिर है। उसके बूढ़े महान्त श्री.......जी महाराज बहुत सज्जन-साधुपुरुष थे। श्रीरामानन्दपरम्पराकी शोधके समय वह भी मेरे एक सहायक थे। अब वह नहीं है। उस स्थानपर अब श्रीविदेहनन्दिनीशरणजी महान्त हैं। स्थानका नाम सियाविहारी कुञ्ज है। वहाँ न जाने क्या प्रसङ्ग था। एक सभा थी। मैं वहां आमन्त्रित था। पटना जिलेमें एक पालीगंज नामका कोई ग्राम है, या कसबा है, मैं यह नहीं जानता। वहांके भी बूढ़े महान्तजी महाराज मुझपर बहुत स्नेह और दया रखते थे। **'आप निभावें जनम भर, लरिकनसे कहि जायं'** वाली बात थी। उनके कई मन्दिर विभिन्न स्थानोंमें हैं। **रामडीह बागा** के मन्दिरमें तो मैं बहुत आग्रहसे बुलाया गया था परन्तु उन तारीखोंमें मुझे पहलेसे अन्य स्थानका निमन्त्रण मिल चुका था, अतः मैं वहाँ नहीं पहुँच सका। पालीगंजमें तब महान्त थे—श्रीमान् पण्डित द्वारकादासजी विभाकर। श्रीविभाकरजी बहुत ही योग्य रामानन्दीय सन्त थे साक्षर थे। राजापुरकी सभामें वही स्वागताध्यक्ष थे। पण्डित श्रीरामचरणशरणशास्त्रीजीका वहाँ की व्यवस्थामें बहुत बड़ा हाथ था। गुजरातसे मुझे बुलानेमें भी शास्त्रीजीकी ही प्रेरणा थी। पण्डित श्रीरामचरणशरणजीको मैंने बहुत वर्षों पूर्व सौराष्ट्रमें द्वारकामें कहीं समुद्रके तटपर सर्वप्रथम देखा था। उन्हें मैंने पढ़नेकी प्रेरणा की थी। इतना मुझे स्मरण है।

वह पढ़े-लिखे भी। पण्डित बने। मेरे क्रान्तिकारी कार्यक्रममें उन्हें रस है। उन्होंने राजस्थानमें भी थोड़ीसी क्रांति की है। रेवासा (राजस्थान) के आचार्य श्रीअग्रदासजी महाराज श्रीरामानन्दीय-द्वारा· गादीके आचार्य थे। वह बहुत प्राचीन गादी है और गलता गादीसे उसका सम्बन्ध भी है। उसके आचार्य उस समय तुलसी कण्ठी पहिनना छोड़कर श्रीरामानुज सम्प्रदायमें सम्मिलित हो गये थे। उस समय मेरा काम था बिछुड़ों हुओंको वापस ले आना। श्रीरामचरणशरणजीने उस समय वहांके एक श्रीनिम्बार्क महान्तजी-की सहायतासे उन आचार्यजीको तुलसीकण्ठी-धारण करनेके लिये विवश किया था। वह सफल हुए थे। समय समयपर मैं उनसे कितने ही काम लेता रहा हूँ और वह श्रद्धासे मेरी आज्ञाका पालन करते रहे हैं। आज भी उनकी श्रद्धा मुझपर वैसी ही है। राजापुरकी उस सभामें स्वागताध्यक्ष महान्त पण्डित श्रीद्वारका-दासजी विभाकरका स्वागत—भाषण हुआ था। उस समय मैं सम्प्रदायकी अव्यवस्थाके कारण थोड़ा सा उदासीन बन गया था। उस भाषणमें श्रीविभाकरजीने पढ़ा था—"मैं रूठे हुए अपने नेताको कैसे मनाऊँ ?" श्रीविभाकरजीका मेरे साथ बहुत ही मधुर सम्बन्ध था। परन्तु वह पीछेसे विरक्तमहामण्डलके पक्षपाती बन गये थे। महान्तोंमें सुधारकी क्रांतिके पक्षमें थे। सुधार तो मैं भी चाहता हूं परन्तु देश, काल आदिकी सीमामें रहकर। मैं समाजके दोषोंको दूर करनेका बहुत बड़ा पक्षपाती हूं, मैं सम्प्रदायके किसी भी व्यक्तिमें दोष नहीं रहने देना चाहता हूं। परन्तु मैं यह चाहता रहता हूं कि किसीके दोषोंकी ढोल न पीटी जाय। दोष सबमें थोड़े या बहुत होते ही हैं। समाज अङ्गी है। हम सब उसके अङ्ग हैं। हम शनैः शनैः अङ्गका सुधार करें, तो अच्छा है। साधुओं और महान्तोंके दोषोंका नग्नचित्र साधुसमाजको ही

दूषित बना देता है। यही मेरा विरक्तमहामण्डलसे मतभेद है। विरक्तमहामण्डलके संस्थापक वस्तुतः तो ब्रह्मचारी श्रीवासुदेवाचार्यजी हैं। वह मेरे अन्तरङ्ग पार्षद हैं। मैंने समय समयपर मेरे भावोंको उन्हें समझाया भी है, सुनाया भी है। उसका कुछ क्षणिक प्रभाव भी पड़ा था। श्रीविभाकरजी यद्यपि अन्त समयतक विरक्तमहामण्डलके विहार प्रान्तके विशिष्ट कार्यकर्ता थे तथापि उनके हृदयमें मेरे लिये कभी भी विरोधका भाव उत्पन्न हुआ हो, मैं नहीं कह सकता। जिन दिनों ब्रह्मचारी श्रीवासुदेवाचार्यजीकी लेखनी मेरी भर्त्सना कर रही थी, तब भी श्रीविभाकरजी इस विषयमें तटस्थ थे। उनकी तटस्थताका सूचक तत्कालीन पत्र मेरे पास उपस्थित है।

हां, जब राजापुरमें स्वागताध्यक्षजीका भाषण पूरा हो गया तब, यदि मैं भूलता नहीं हूं तो उस सभामें मेरा परिचय देनेके लिये पण्डित श्रीरामचरणशरणजी शास्त्री खड़े हुए थे। उनके मुँहसे निकल गया कि महापण्डित श्रीराहुल सांकृत्यायनजी स्वामीजीके छात्र थे। बात तो सच ही थी। उन्होंने मेरे पास अयोध्यामें कई ग्रन्थोंका कई विषयोंका अध्ययन किया था। श्रीराहुलजीने कभी अभक्ष्य मांसकी बात भी विहारमें की होगी। जिससे साक्षर विहारी सज्जन उनसे चिढ़ते थे। कई लोगोंने उनके सिद्धान्तोंके सम्बन्धमें मुझसे उसी सभामें ही प्रश्न भी किये थे, उत्तर भी मैंने किया था। श्रीराहुलजी आज लब्धप्रतिष्ठ महाविद्वानोंमेंसे एक हैं। वह बहुत कर्मठ हैं। वह विनोदी स्वभावके बौद्ध हैं। उनके विचार हिन्दू धर्मके लिये खरबचड़े हैं, इतना ही उनमें दोष है। मैंने शङ्काशील भाइयोंको उस समय क्या कहा था, मुझे स्मरण नहीं है।

वहाँ मैं शायद तीन दिन रहा था। उस सभामें मुझे एक

मानपत्र दिया गया था। उसे लेकर मैं गुजरात चला आया था।

श्रीमहान्त विदेहनन्दिनीशरणजी श्रीरामानन्दविद्यालयकी स्थापनाके समय उसकी सहायताके लिये भी सन्नद्ध थे। वह अपने श्रीगुरुदेवके समान ही सम्प्रदायनिष्ठ हैं, ऐसा मैं समझता हूँ।

सरगोधा पञ्जाबका एक शहर है। वहाँ बहुत वर्षों पूर्व एक नवयुवक श्रीरामानन्दीय विरक्त पण्डित रहते थे। सरगोधा से कुछ माइल दूर एक श्रीरामानन्दीय मन्दिर था। न जाने क्यों दो साधु उस मन्दिरके लिये परस्पर लड़ते थे और कोर्टमें भी गये थे। कोर्टमें एकका विजय हुआ था। विजयी साधुने उन नवयुवक पण्डितसे मुझे बुलानेकी प्रार्थना की थी और उस मन्दिरमें विजयोत्सवपर मेरे भाषण करानेकी इच्छा प्रकट की थी। पण्डित-जीने हमें बहुत ही आग्रह से बुलाया था। मैं उनकी नियत तिथि-पर सरगोधा पहुँच गया। पहली ही बार मैंने पंजाबकी प्रथम यात्रामें श्यामदिगम्बर अखाड़ेके श्रीमहान्त श्रीभरतदासजीको अपने साथ अपनी सुविधाके लिये लिया था। हमारे पहुँचनेके दो दिन बाद विजयी महान्तजी कुछ आमन्त्रित साधुओंके साथ उस मन्दिरपर विजयोत्सव मनानेके लिये चले। मैं तो साथमें था ही। जहाँ तक मुझे स्मरण है ताँगेपर ही मैं ले जाया गया था। हम कुछ ही माइल पार किये होंगे कि; उधरसे कुछ साधु दौड़ते हुए वहाँ आये और विजयी महान्तजीसे कहा कि उस मन्दिरपर अधिकार नहीं हो सका है और मार-पीट हो गयी है। अब स्थिति बदल गयी थी। **करत विचार करौं का भाई**। पीछे लौटना ही श्रेयस्कर माना गया।

मैं तो आगे कदम बढ़ाकर कारणविशेषके बिना पीछे हटना जानता नहीं हूं। परन्तु वहाँ कारणविशेष था ही। मैं नहीं जानता था कि वह मन्दिर न्यायानुसार जीता गया था या अन्यायसे।

न्याय, अन्यायकी बात छोड़ दें तो, जब तक विजयी महान्त उस मन्दिरका सर्वाधिकार प्राप्त न कर ले और पराजित महान्त वहाँ अधिकारी बनकर बैठा रहे तब तक वहाँ विजयोत्सव नहीं ही मनाया जा सकता है, इस सामान्य विवेकने मुझे वापस आनेके लिये विवश किया। हम सरगोधा आये। अब मेरा वहाँ कोई कार्य था ही नहीं परन्तु जब मैं वहाँ पहुँच गया था तो स्थानीय लोग मेरा उपयोग न करें, ऐसा होना कठिन था। मुझे स्मरण नहीं है कि सरगोधाके किसी धर्मशालामें, या किसी हाईस्कूलमें मेरा भाषण अवश्य कराया गया था। मैं समझता हूँ कि वहाँ दो भाषण हमने दिये थे। इतनेमें ही पिण्डदादनखांके महान्तजी स्वामी श्रीसरस्वतीदासजी महाराज भी वहाँ पहुँच गये। मैं समझता हूँ कि वह भी आमन्त्रित ही होकर आये थे, परन्तु वह ठीक समयपर=विजयोत्सवकी नियत तिथिपर वहाँ पहुँच गये थे। श्रीस्वामीजीका वहाँपर प्रथम ही दर्शन था और प्रथम ही परिचय हुआ। स्वामीजी सज्जनताकी मूर्ति और परम वैष्णव हैं। विजयोत्सवके स्थगित होनेके समाचारसे उन्हें दुःख हुआ। अधिक दुःख तो इस लिये हुआ कि उस अनिश्चित दशामें लोगोंने मुझे क्यों बुलाया था।

अब मेरे वापस गुजरात लौटनेकी बात थी। कैसे लौटा जाय। विजयी महान्त तो लौटकर सरगोधा आये ही नहीं। कहाँ गये; पता नहीं। मेरा रेलगाड़ीका व्यय कौन दे; यह प्रश्न था। मैं सदा सर्वत्र अकेला ही आमन्त्रित होकर जाया करता था परन्तु उस समय मेरे साथ श्रीमहान्त श्रीभरतदासजी थे। उनका भी आने-जानेका व्यय प्राप्त करना था। बुलानेवाले नवयुवक पण्डितजी बहुत विवेकी थे। उनका नाम मैं आज भूल गया हूँ। वह साक्षर थे। कथा-वार्ता किया करते थे। इसके परिणाममें उनके

पास कुछ धनसंग्रह हो गया था। परन्तु वह द्रव्य बैंकमें था। बीचमें रविवार था या ऐसा ही कुछ विघ्न था, देरमें मुझे मार्ग-व्ययके रूपये मिले। उन पण्डितजीसे रूपये लेनेमें मुझे बहुत ही संकोच हो रहा था परन्तु दूसरा कोई उपाय ही नहीं था। दुःखित हृदयसे मैंने उन रूपयोंका स्वीकार किया।

पिण्डदादनख़ाँके स्वामीजी महाराज बहुत दिनोंसे मेरा नाम सुनते थे। आज अकस्मात् ही सम्मेलन हुआ। वह मुझे कैसे छोड़ देते ? उन्होंने पिण्डदादनखां चलनेके लिये मुझसे आग्रह किया। मैं उनके साथ पिण्डदादनखां आया। पहले मुझे वहाँ स्टेशनपर किसी स्थानमें रोक दिया। स्वयं शहरमें गये। स्वागत-की तैयारी थोड़े ही समयमें कर ली। अपनी इच्छाके अनुसार बाजा-गाजाके साथ मुझे अपनी गादी—अपने मन्दिरमें ले आये। मैंने भगवान्‌का दर्शन किया। अनूठी मूर्ति देखकर मैं तो चकित हो गया। भगवान् वहाँ कैसे पधारे, इसे सुनकर मेरे आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहा। कश्मीरकी किसी नदीमें वह विशाल मूर्ति पड़ी हुई थी। तत्कालीन कश्मीरके महाराजको भगवान्‌ने स्वप्नमें अपनेको वहाँसे उठाकर पिण्डदादनख़ामें मन्दिर बनाकर पधरानेकी आज्ञा उन कश्मीराधिपतिको दी। वह राजा उस मूर्तिको पिण्ड-दादनख़ामें ले आये। मन्दिर बनवाकर उसमें भगवान्‌को प्रतिष्ठित किया। बहुत वर्षों तक भगवान्‌की सेवा, तथा मन्दिरकी मरम्मतके लिये सब व्यय कश्मीरमहाराज ही भेजा करते थे। दूसरी पीढीमें वह सब दान-मान बन्द हो गया था। स्वामी श्रीसरस्वतीदासजी महाराज स्वतपोबलसे ही मन्दिरकी मर्यादा निभा रहे थे। मैं कई दिनोंतक वहाँ रहा था, ऐसा मुझे स्मरण है। साथमें श्रीभरतदास-जी तो थे ही। मन्दिर शहरसे बाहर था। सामने शायद झेलम नदी थी। नदीके प्रवाहने मन्दिरकी बहुत सी जमीन अपने नीचे

दबा ली थी जिससे मन्दिरकी व्यवस्था निभानेमें अनेक असुविधाएँ भी उपस्थित थीं। जो था, वह था, परन्तु स्थान बहुत ही रमणीय था। भगवान कोटिन काम लजावन हारे थे। कई दिन रहकर मैं वहाँसे विदा हुआ। विदा होनेवाले दिन मन्दिरके सामनेकी खुली भूमिमें एक छोटी सी सज्जनोंकी सभा हुई। मुझे वहाँ एक मानपत्र दिया गया। हम अहमदाबाद आये और फिर आबूका मार्ग मैंने पकड़ा।

मैं समझता हूं कि मेरी यह यात्रा सन् १९३५ में हुई होगी। तत्त्वदर्शीकी फाइल पढ़ जानेका मुझे समय नहीं है। परन्तु उसके ५वें वर्षके चतुर्थ अङ्कमें (मार्गशीर्ष कृष्ण ७ वि० १९९१) पृष्ठ ९ पर छपी हुई कुछ पङ्क्तियोंसे पता लगा है कि यह घटना १९३५ ई० की ही है। इस ग्रन्थमें सन् संवत् तो प्रायः सब अनिश्चित ही हैं, केवल घटनाएँ निश्चित और सत्य हैं, इसे मैं आरम्भमें ही कह चुका हूँ।

सभी सम्प्रदायोंमें ऐसे लोग तो रहते ही हैं जो दूसरोंकी कीर्तिको नष्ट करनेका प्रयास करते रहते हैं। श्रीरामानन्द सम्प्रदायमें भी ऐसे लोगोंकी कमी नहीं है। ऐसे लोग दुष्टप्रकृतिके नर कहे जाते हैं। जब मैं अफ्रिकामें था, वहाँसे महागुजरात श्रीरामानन्दीय श्रीवैष्णव परिषद्के मासिकपत्र समन्वयमें एक लेख लिखकर कहा था कि केवल रामनाम रटनेसे न पाप नष्ट होता है, न पुण्य होता है न मोक्ष मिलता है। मिश्री-मिश्री कहनेसे मुँह मीठा कभी नहीं होता। पानी-पानी कहनेसे प्यास कभी नहीं मिटती। किनाइन-क्विनाइन कहनेसे ज्वर कभी नहीं जाता। पवित्र अन्तःकरणसे, सरलभावसे, अनन्य भक्तिसे, अनन्य निष्ठासे यदि रामनामका जप किया जाय तभी श्रेयःसिद्धि होती है। मेरे इन लेखोंपर बड़ा कोलाहल मचा। रामानन्द सम्प्रदायके कुछ आचारविचारहीन पण्डितोंने तो बढ़ा ही गुल-गपाड़ा मचाया। एक पण्डित वासुदेवदास हैं जो मेरे अनुशासनको मानकर वासुदेवाचार्य बने हैं। उन्होंने अपना एक घर रखा है जिसका नाम दार्शनिक आश्रम है। उन्होंने झूठा ही विरक्तपत्रमें छपवाया कि अयोध्यामें रायपुरके दूधाधारी मठके साहाय्यसे बोधायन विद्यालय या बोधायन महाविद्यालय खुला है। उसमें अनेक छात्र लाभ ले रहे हैं। यह सब झूठ ही है। वहाँ न तो कोई बोधायनविद्यालय है, न वहाँ कोई छात्र है और न कोई पण्डित है। उन्हीं वासुदेवाचार्यजीने ५ वर्ष पूर्व अपने घरमें कोई सभा बुलायी होगी। उसमें कुछ मनचले लोग इकट्ठे हुए होंगे। उसमें जयपुरसे कोई

रामप्रियादास नामका साधु भी गया होगा। उस सभाका उद्घाटन पण्डित वासुदेवदासजीने ही किया था। उसमें इन्होंने उसी रामप्रियादाससे भाषणमें कहलाया था कि भगवदाचार्यको काट डालना चाहिये। वासुदेवदासजी या वासुदेवाचार्यजी त्रिपाद्-विभूतिके जीव हैं। वह परम बद्ध जीव हैं। वह लोभ से बद्ध हैं, द्रोहसे बद्ध हैं, असत्यतासे बद्ध हैं, अपनी कलुषित कीर्तिसे बद्ध हैं, अतः वह परम बद्ध जीव हैं। उनकी अपने गुरु पण्डित श्रीमथुरादासजीसे भी नहीं बनती है अतः गुरुद्रोही भी हैं। अतः परम बद्ध ही वह जीव है। वह लिङ्ग थापि, विधिवत् पूजा करने वाले है। वह बालकों पर बड़ी कृपा रखते हैं, उन्हें बहुत प्यार करते हैं परन्तु न जाने क्या कारण है कि सभी लड़के उनसे डरते हैं और उनसे दूर भागते हैं। यह है वासुदेवदास पण्डितका चल-चित्र। इन्हें महन्ताई भी बहुत प्रिय है। परन्तु वह भी इनसे डरती है। यह जयपुर गलतागादीके महान्त होने गये थे। परन्तु इनके दुर्भाग्यने इन्हें धोखा दिया। गलतागादीके लिये वह अनुपयुक्त सिद्ध होकर लौट आये। वह जयपुरमें ही श्रीबालानन्दजी की गादीके लिये भी भटकते रहे, सरदारोंके बङ्गलोंकी धूर छानते और फाँकते रहे परन्तु वह भी महन्ताई हज़रतको न मिली। इससे पूर्व यह अमृतसरमें रामबाग़में भी महन्ताईकी उम्मेदवारी कर चुके थे। वहाँसे भी हटा दिये गये। इनका जन्मनक्षत्र इतना बुरा है कि उसे फाँसी दे देना चाहिये था जिससे वह कभी किसीका जन्मनक्षत्र न बन सकता। वह विचारे पढ़े लिखे तो बहुत हैं परन्तु उनकी दुर्बुद्धिने सरस्वतीको रुष्ट कर दिया। इनकी विद्या वन्ध्या स्त्रीके समान है। फूले फले न बेंतके समान है। और अभागियोंकी विद्याके समान है।

हज़रत वासुदेवाचार्यजीने एक साथी ढूँढ़ा। सब लोग अपने

अपने स्वभाव-धर्म-आचार-विचारके अनुकूल ही साथी ढूँढ़ते हैं। इन्होंने ढूँढ़ा और मिल गये पण्डित वैष्णवदासजी, जो अब मेरे ही अनुशासनके अनुसार कुछ वर्षोंसे वैष्णवाचार्य बन गये हैं। वासुदेवाचार्यजी भी तीन जगह महन्थाई ढूँढ़ने गये थे। वैष्णवाचार्यजी भी तीन महन्थाई ढूँढ़ सके थे। एक महन्थाई तो अपने गुरुकी ही गादी पर होनी थी। वह नहीं मिली। दूसरी महन्थाई मङ्गलपीठाधीश महामण्डलेश्वर श्रीअयोध्यादासजी शास्त्रीके स्थानमें ढूँढ़ी गयी। चेला भी बन गये। सम्पत्ति सब इनके नाम लिख भी दी गयी। पक्की रजिष्ट्री भी हो गयी। परन्तु वह महन्थाई भी उनके भाग्यमेंसे खसक गयी। अब तीसरी जगह तीन ड्योढीके स्थानमें ढूँढ़ी गयी है। वहाँ भी आप चेला बन गये हैं। वहाँ भी सम्पत्ति इनके नाम पर लिख दी गयी है। देखना है चला-चञ्चला लक्ष्मी इनके भाग्यमें रहती है या उठ जाती है। इन दोनों समानधर्मी नरभटोंने सम्वत् के प्रयागके कुम्भ मेलेमें जाकर छावनी डाल दी। छावनी डाल दी, इस कहनेसे यह न समझा जाय कि वे लोग बहुत प्रतिष्ठित रूपसे वहाँ रहते थे। किसीके यहाँ खा लिया, किसी जगह सो गये, मेरे विरुद्ध इधर उधर कहते फिर आये, थक गये खाना मिला तो खा लिया नहीं तो सो गये। यही इनकी छावनी थी।

इस छावनीके इस भटद्वयीको वहाँ करना क्या था? कुछ नहीं। निरुद्देश्य दोनों भटक रहे थे। इनको करना इतना ही था कि अपररामानन्द पण्डितराज स्वामी भगवदाचार्यजी महाराजका इस वर्ष प्रयागमें वैष्णववेषमें आदर न हो, स्वागत न हो और प्रति कुम्भपर्वके समान शानदार जुलूस न निकलने पावे। परन्तु मेरे माता पिताने तो मुझे सर्वजित् बनाया था। मेरा जन्म-नक्षत्र बहुत प्रबल है। मैं किसी विपक्षीको तृणसमान भी नहीं समझता

हूँ, कारण इतना ही है कि मैं जो कुछ लिखता हूँ, जो कुछ बोलता हूं, सत्य ही होता है। लिखने और बोलनेसे पूर्व खूब सोचता हूं, विचारता हूँ। आवश्यकता हुई तो रात-रात विचार ही करता रह जाता हूं। अतः मेरा क़िला-मेरा दुर्ग दुर्गम है। **नेदं दुर्गं दुर्बलैर्भेद्यमस्ति**। आचारविचारहीन धनदास लोग मेरे जैसे त्यागी और सत्यनिष्ठका मुक़ाबिला कर ही नहीं सकते। पण्डित वासुदेवाचार्यको श्रीमान् महान्त भगवान्दासजी खाकीजीने चैलेंज दिया है कि यदि स्वामी भगवदाचार्यजीसे शास्त्रार्थ करनेकी आपको खुजली उठी हो तो शास्त्रार्थ कर लें। स्वामीजी तैयार हैं। इस चैलेञ्जको आज एक मास (२ जुलाई १९५७ ई०) पूरा हो गया परन्तु पण्डित महाशयजीकी न हूं है और न हाँ है। वह करें तो क्या करें? उस शैतान नक्षत्रसे परेशान हैं जो उनके जन्मके समय खगोल-भूगोलमें भ्रमण कर रहा था।

अच्छा, यहाँकी बातें यहाँ ही रह गयीं, अब आगेका सुनो हवाल। प्रयागमें जाजम बिछायी गयी। अखाड़ों और खालसोंके श्रीमहान्त इकट्ठे हुए। कुछ सभ्य लोग भी आ बैठे, कुछ असभ्य भी। प्रस्ताव हुआ कि स्वामी भगवदाचार्यजीको यहाँ कुम्भमेले पर बुलाया जाय और सदाके समान ही उनका स्वागत किया जाय, जुलूस निकाला जाय। श्रीवैष्णवाचार्यजीने कहा कि भले उनको बुलाया जाय परन्तु जुलूस न निकाला जाय, स्वागत भी न किया जाय। वह कहते हैं कि रामनामजपसे मोक्ष नहीं होता। पहले वह शास्त्रार्थ करें। यदि वह विजयी हों तो स्वागत भी किया जाय और जुलूस भी निकाला जाय।

वहाँ पर नकोदरके मण्डलेश्वरजी श्रीरामचरणदासजी महाराज तथा श्रीमान् महान्त भगवान्दासजी खाकीजी महाराज भी थे।

नकोदरके श्रीमण्डलेश्वरजीने वैष्णवाचार्यजीको कहा, तुमको यहाँ किसने बुलाया ? चले जावो। वह तो चुपचाप चले गये। प्रस्ताव पास हुआ। भेखकी ओरसे मुझे तार दिया गया। मैं प्रयाग पहुँचा। मेरे साथ अध्यापिका श्रीचन्दन बहिन और अफ्रीका वाली श्रीसन्तोक बहिन जोषी थीं। बहुत उत्साहके साथ मेरा स्वागत हुआ। विपक्षी छिप गये—जिमि लवा लुकाने।

नकोदरके श्रीमण्डलेश्वरजीके प्रबन्धमें श्रीरामानन्द स्वामीजी-की शोभायात्रा ता० को निकाली गयी। शोभा-यात्रा भरद्वाजाश्रम तक गयी थी। इस शोभायात्रामें दो विशेष-ताएँ थीं। श्रीस्वामीजी महाराजका चित्रपट पालकीमें पधराया गया था और उसे श्रीवैष्णवोंके अतिरिक्त कोई उठाता नहीं था। मैंने बहुत ही प्रसन्नता और मान तथा गर्वके साथ देखा कि पाते-पुर (मिथिला) के श्रीमान् महान्त श्रीरामचन्द्रदासजी महाराज भी उस आचार्य-पालकीको कन्धेसे उठाये चल रहे थे। खालसोंके कितने ही महान्त महानुभावोंने भी ऐसा ही किया था। दूसरी विशेषता मशालकी थी। स्वामीजी महाराजके आगे आगे मशाल जलता हुआ चल रहा था और उसमें घृत डाला जाता था। इस आचार्यपरिचर्यासे मेरा रोम-रोम खिल रहा था। यही सद्भावना, यही आचार्यनिष्ठा मुझे अभिप्रेत थी। मैंने उस दिन वहाँ उसका दर्शन किया।

जब शोभायात्रा वापस आने लगी तो बांधके पासमें ही वह रुक गयी। ब्रह्मचारी नन्दकुमारशरणजी निम्बार्क उसका फोटो ले रहे थे। उन्होंने मेरी शोभायात्राके भी फोटो लिये थे। जब श्रीस्वामी-जीकी शोभायात्राका फोटो लिया जा रहा था, सब वहाँ खड़े हो गये। मैं भी एक किनारे खड़ा हो गया। मेरे पास ही एक रामानन्दीय रामायणी बाबा खड़े थे। वह रामायणके व्यापारसे

थोड़ा-सा धनिक हो गये हैं। उन्होंने मुझे सुनाकर एक मेरे स्नेही-से कहा कि "अब मैं भी अयोध्यामें कुछ गिना जाता हूं। मैं भी सभामें स्वामीजीसे प्रश्न करूँगा" मैंने अपने साथीसे उन्हें सुनाकर कहा कि "बड़े बड़े बह गये, गधा कहे कितना पानी ?" प्रयागमें ऐसे कितने ही क्षुद्र विरोधी तो उपस्थित थे ही। मैंने देखा कि—

सबने अपने गाल फुलाये, सबने सबके गाल बजाये।

शोभायात्रा हरिद्वारवाले मण्डलेश्वर श्रीरामचरणदासजी महाराजके व्याख्यानमण्डपमें पहुँचकर सभाके रूपमें बदल गयी। सब सन्त, महान्त, विद्वान्, पण्डित, रामायणी, भक्तमाली, दार्शनिक सार्वभौम, पैसोपासक सार्वभौम वहाँ इकट्ठे हो गये। डाकोरके श्रीमान् श्रीमहान्त रामनारायणदासजी महाराज मङ्गलपीठाधीश उस सभाके अध्यक्ष बनाये गये। कइयोंके भाषण हुए। नकोदर-के श्रीमहान्त रामचरणदासजी महाराजने घोषणा की कि पण्डित वासुदेवाचार्यजी दार्शनिक सार्वभौम वेदमन्त्रोंसे भगवान् रामकी सिद्धि करेंगे। वासुदेवाचार्यजी खड़े हो गये। मुख निस्तेज था और व्यग्रताकी नदीमें डूबते और उतराते थे। अधर सूख मुँह लाटी लागी। शपथ खानेके लिये भी उनके मुँहसे न राम निकला और न वेदका एक शब्द निकला। एक भाईने धीरेसे कह दिया—

तिष्ठ तिष्ठ गृहेशूर लज्जस्व न विषीद न।
यस्मिन् कुले त्वमुत्पन्नस्तत्र शास्त्रं न चिन्त्यते ॥

वह तो दो-चार मिन्टोंतक एं एं एं करके बैठ ही गये।

अब तो मेरी ही बारी थी। वैष्णवाचार्यजीने पहलेसे ही श्री-महान्त श्रीरामनारायणदासजीको मेरे विरुद्ध भड़का रखा था। कुछ और भी वहां प्लेटफार्मपर उपसर्ग महाशय बैठे थे। मैंने एक श्लोक पढ़ा—

सीतानाथसमारम्भां रामानन्दार्यमध्यमाम् ।
अस्मदाचार्यपर्यन्तां वन्दे गुरुपरम्पराम् ॥

सब श्रोता शान्त थे ।

दूसरा श्लोक पढ़ा—

श्रृण्वन्तु मद्वचो गूढमिह मेधावितल्लजाः ।
पलायन्तामितो भीता येषां हृद्या न सन्मतिः ॥

भगदड़ मच गयी । प्लेटफार्म खाली हो गया । श्रोतृवर्ग तो ज्योंके त्यों शान्तिसे बैठे ही रह गये । उन्हें मुझे सुनना था । मुझे सुनाना था । मैंने एक तीसरा श्लोक पढ़ा—

श्रीमद्भगवदाचार्यो न सीदति न कम्पते ।
दुर्जनानां मनो नूनं न्यूनं सन्तनुते सदा ॥

मेरा भाषण हो ही रहा था, अवतार और अवतारीका भेद समझा रहा था, देखा कि पुनः प्लेटफार्मपर सभापतिजी भी आकर विराजमान थे । वह मेरा विजयपत्र था, विजयचिह्न था, विजय-वरमाला थी । श्रीमान् श्रीमहान्त रामनारायणदासजी महाराजका भ्रम भी भाग गया था और उन्हें भ्रममें डालनेवाले भी भाग गये थे । शान्तिसे वह सभा पूर्ण हुई । सभी लोग गवने निज-निज गेह ।

अब तो रात ही अवशिष्ट थी । प्रातःकाल वहांका अन्तिम स्नान था । स्नानके पश्चात् ही मेला बिखर जाने वाला था । तब वहाँ न तो मिलनेवाला था कोई वक्ता और न दीख पड़नेवाला था कोई श्रोता । विपक्षियोंका ज्ञानतन्तु शिथिल हो गया था । उन्हें कुछ सूझ नहीं पड़ती थी । मरता क्या न करता ? पण्डित वासुदेवाचार्यजी और पण्डित वैष्णवाचार्यजीमें न तो कोई सत्त्व है और न तत्त्व है । वह कूदते थे ब्रह्मचारी श्रीवासुदेवाचार्यजीके बलपर ।

ब्रह्मचारी वासुदेवाचार्यजी भी उस समय मेरे विरुद्ध ही थे। उन्हींके जगाये विरोधसे स्वार्थी लोग मेरे विरोधी बन गये थे। बहती गङ्गामें ये निस्तत्त्व नर स्नान करने चले थे। ब्रह्मचारी वासुदेवाचार्यजीने एक कागजपर लिखा—

"मैंने अपने ग्रन्थोंमें जो कुछ लिखा है उससे रामानन्दसम्प्रदायका अपमान हुआ है। अतः मैं सम्प्रदायसे क्षमा माँगता हूं तथा इन ग्रन्थों को अमान्य स्वीकृत करता हूं।"

शब्द शायद ये ही न रहे हों, परन्तु भाव यही था। यह कागज पहुँचा दिया गया १३ भाई त्यागी खालसेके श्रीमहान्त श्रीअर्जुनदासजी महाराजके पास। उनसे कहा गया था कि वह मुझसे उस कागजपर हस्ताक्षर करा लें। श्रीमहान्तजीने मेरे पास एक सन्तको भेजा। सन्तजीने कहा श्रीमहान्तजी आपको याद कर रहे हैं। मैंने कहा, मैं ५ बजे सायङ्काल मिलूँगा। इतनेमें ही नकोदरके श्रीमहान्तजी महाराज मेरे कैम्पमें आये। मेरा कैम्प लक्ष्मणझूलाके श्रीमान् महान्त रामोदारदासजी महाराजके प्रबन्धमें था। मैंने नकोदर महाराजजीको श्रीमहान्तजीका सन्देश सुनाया। उन्होंने कहा, ५ बजे क्यों, अभी चलिये। मेरा कैम्प सदा प्रातः ६॥ बजेसे रात्रिके १२ बजे तक सन्तों, गृहस्थों, विवेचकों, विद्वानों लक्ष्मीपुत्रोंसे भरा रहा करता था। मैं सबके बीचमेंसे चल दिया। त्यागीखालसेमें पहुँचा। श्रीमहान्त अर्जुनदासजी महाराज उठकर खड़े हुए। मुझे अपनी चौकीपर बैठा लिया। सबको वहांसे हटा दिया। दूर-दूर साधु खड़े कर दिये ताकि वहां कोई आ न सके। वह स्थान निर्मक्षिक बन गया। केवल एक हजूरिया रह गये थे। मैं उनका नाम नहीं जान सका। विशिष्टाद्वैतके तीन तत्त्व हैं— हम तीन ही वहाँ रह गये। नकोदरके श्रीमण्डलेश्वरजी भी वहाँ नहीं

रहे। अपने आसनपर चले गये। उनका आसन वहां ही सन्निकट-में ही था।

श्रीमहान्तजीने मेरे सामने ब्रह्मचारी वासुदेवाचार्यके हस्ताक्षर वाले उस कागजको मेरे सामने रख दिया और कहा 'इसपर आप हस्ताक्षर कर दें।' मैंने उसे पढ़ा। समझनेमें देर तो लग ही नहीं सकती थी। समझानेमें देर लगी। मैंने कई बार कहा कि महाराजजी, आपको तटस्थ रहकर सबका सुनना चाहिये। एक ही पक्षकी बात सुनकर आपको निर्णय नहीं करना चाहिये। परन्तु उनकी तो एक हीं बात थी—हस्ताक्षर कर दें। वह जो हजूरिया सन्त थे, उनके हृदयमें रामका निवास था। वह बोल उठे महाराज-जी आप जबर्दस्तीसे क्यों हस्ताक्षर कराते हैं? स्वामीजीकी बात भी तो सुनिये। वह मेरी बात सुननेको बैठ गये।

मैंने कहा महाराजजी देखिये, आपके सम्प्रदायसे मैं न तो अन्न लेता हूँ, न वस्त्र लेता हूं और न धन लेता हूँ। प्रेमसे श्रद्धासे अपनी इच्छासे आपके सम्प्रदायमें पड़ा हुआ हूँ। मैं किसीका दबाव सहन नहीं कर सकता। मैं स्वतन्त्र सन्यासी हूँ। इतने दिनों तक मैंने इस सम्प्रदायकी सेवा की है। मैं इससे बाहर जानेका कभी विचार भी नहीं करता हूँ। मेरे शरीरका अन्त इसी सम्प्रदायमें होगा। यदि आप इस कागजपर हस्ताक्षर करानेका आग्रह करेंगे तो मैं हस्ताक्षर तो अवश्य कर दूँगा परन्तु तब इस अन्यायी और अविवेकी समाजमें रहने और जीनेकी मुझे तनिक भी इच्छा न होगी और सीधा गङ्गामें जाकर देहत्याग कर दूँगा। मेरे इस कथनसे श्रीमहान्तजी काँप उठे। उन्होंने मेरे देहको अपने देहसे चिपका लिया। उन्होंने कहा मुझे हस्ताक्षर नहीं कराना है। उस कागजको वह फाड़ने लगे। मैंने ऐसा करनेसे रोक दिया।

मैंने कहा आप लोगोंकी सान्त्वनाके लिये मैं थोड़ेसे शब्द लिख सकता हूँ। कागज वहाँ पड़ा था, कलम मेरे पास था। मैंने लिख दिया—यदि मेरे लेख या किसी पुस्तकसे सम्प्रदायको दुःख या क्षोभ हुआ है तो मैं उसके लिये दुःख प्रकट करता हूं। सम्भव है कि ये ही शब्द न रहे हों, परन्तु भाव यही था। यह मेरा लेख नकोदरके श्रीमहान्तजी महाराजके पास आज भी पड़ा हुआ है। मैंने उपर्युक्त लेख लिखकर श्रीमहान्त अर्जुनदासजीको दे दिया, परन्तु मुझे मेरे सहायक महारथ नकोदरके श्रीमहान्तजीका स्मरण हो आया। मैंने श्रीमहान्तजीसे कहा कि नकोदरके श्रीमान् महान्तजीको बुलाया जाय। वह आये। उन्होंने वह सब कथा सुनी। मेरा लिखा हुआ लेख मैंने उनके हाथमें दिया। भये विकल जिमि फणि मणिहीना। उस समय उनकी मुखाकृति देखते ही बनती थी। एक वीरकी आँखें सावन, भादों बन गयीं। आसुओंके साथ उन्होंने श्रीमहान्तजीसे स्पष्ट कह दिया कि—'महाराजजी आपने मुझे धोखा दिया, यह अच्छा नहीं हुआ।' श्रीमहान्तजी तो उनकी दशा देखकर और उनके शब्द सुनकर सन्न हो गये। नकोदर महाराज अपने आसन पर चले गये। मुझे मेरे कैम्पमें पहुँचा दिया गया। उस दिनसे मैं नकोदरके मण्डलेश्वर श्रीरामचरणदासजीका सदाके लिये उपकृत और ऋणी बना। मेरे साथ किये जाने वाले अन्यायपर आँसू बहाने वाला, मैंने एक ही नरवर, एक ही नरवीर इस पृथिवीपर देखा।

मुझे एक सूचना लिखकर दी गयी कि "आज रात्रिमें ८ बजे महान्त श्रीरामचरणदासजी बङ्गाली (अब हरिद्वारवासी) के कैम्पमें एक सभा होगी जिसमें सब श्रीमहान्त और पण्डित वासुदेवाचार्यजी आवेंगे। आप भी आइयेगा।" मैंने पत्रवाहकसे कह दिया, रात्रिमें जब सब इकट्ठे हो जांय, मुझे सूचना करना। रात्रिमें

ठीक समयपर मुझे सूचना दी गयी और मैं ठीक समयपर पहुँच गया। वहाँ देखा तो केवल श्रीमहान्त ही नहीं थे, अन्य श्रोताओंसे भी वह विशाल तम्बू भर गया था। बैठनेकी वहाँ अव्यवस्था थी। कुछ भूमि ऊँची थी कुछ नीची थी। ऊँचे भागमें कुछ महान्त, कुछ श्रीमहान्त, पण्डित वासुदेवाचार्यजी, पण्डित वैष्णवाचार्यजी बैठे थे। नीचेके भागमें श्रीमहान्त अर्जुनदासजी, कुछ अन्य प्रतिष्ठित सन्त महान्त और अखाड़ोंके महान्त, श्रीमहान्त बैठे थे। मैंने जिस मार्गसे उस तम्बूमें प्रवेश किया उससे अन्दर जाते ही श्रीमहान्त अर्जुनदासजी नीचेके भागमें बैठे थे। वहाँ ही श्रीमान् महान्त भगवान्दासजी खाकी और श्रीमहान्त रामखेलावनदासजी निर्वाणी और कितने ही विवेकी, विचारशील, तर्कनिपुण सन्त बैठे थे। मैं भी श्रीमहान्त अर्जुनदासजीके साथ बैठ गया। किसीने कहा, आप भी उधर जाकर ऊँचे भागमें बैठें। मैंने कहा ऊँट बहुत ऊँचा होता है परन्तु वह केवल भारवाही है। सब हँस पड़े। में बैठ गया।

एक दूसरेका मुँह देखा जा रहा था। मैंने श्रीमहान्तजीसे कहा, महाराजजी शुरू कराइये। उन्होंने तुरन्त ही कहा, किसे क्या पूछना है, पूछिये। पण्डित वासुदेवाचार्यजी घसककर आगे आये। दो तीन बार खोंखार किया। दो तीन बार एँ एँ एँ किया और फिर बोल चले—स्वामी भगवदाचार्य आनन्द भाष्यको नहीं मानते, अतः इनका बहिष्कार किया गया है। देखिये (हाथमें लेकर) यह पवहारीजीका लेख है। उन्होंने भी बहिष्कार किया है।

मैं—पण्डितजी यदि मेरा बहिष्कार ही किया गया है तो मेरे साथ आपको शास्त्रविचारकी क्यों आवश्यकता पड़ी? बहिष्कृतके साथ विचार ही कैसे किया जा सकता है?

वासुदेवजी—अँ अँ अँ, अँ अँ अँ, अँ अँ अँ।

मैं—अच्छा अँ अँ अँ छोड़ दीजिये। यह बताइये उस सभामें कितने पण्डित इकट्ठे थे।

वासुदेवजी—बहुत।

मैं—बहुत कितने? हज़ार, पाँच सौ, दो सौ, एक सौ, दो चार कितने?

वासुदेवजी—मुझे क्या पता था कि आप गिनती पूछेगें।

मैं—अच्छा, १०, २० नाम तो गिनाइये।

वासुदेवजी—पण्डित अखिलेश्वरदासजी, छावनीके व्यासजी, ब्रह्मचारी वासुदेवाचार्यजी, जयपुर गलतागादीके रामप्रियादासजी एँ एँ एँ।

मैं—ये तो १० नाम भी पूरे नहीं हुए। तब इस सभाके निर्णयका क्या मूल्य है? आप भी तो उस निर्णयका कुछ मूल्य नहीं कर रहे हैं अत एव तो बहिष्कृतके साथ शास्त्रार्थ करने बैठे हैं।

श्रीखाकीजी—वासुदेवाचार्यजीने जो प्रश्न रखा है और जो उत्तर प्रत्युत्तर हो रहा है, उसके सम्बन्धमें मैं सब पञ्चोंसे पूछ रहा हूं कि आप लोग अपील सुननेके लिये बैठे हैं या शुरूसे सब मुकदमा सुनना चाहते हैं?

पञ्चकी ओरसे श्रीमहान्त अर्जुनदासजीने कहा कि हम सब कुछ आरम्भसे सुनना चाहते हैं।

श्रीखाकीजी—तब तो प० वासुदेवाचार्यकी सभा और उस सभाका निर्णय सब खतम् हो जाता है।

श्रीमहान्तजी—भले न खत्म हो जाय। हम शुरूसे सुनना चाहते हैं। अच्छा पण्डितजी, आप बताइये कि यह आनन्द भाष्य कब छपा है।

वासुदेवजी—अँ अँ अँ २०, २२ वर्ष हुए होंगे।

श्रीमहान्तजी—उस भाष्यमें क्या है ?

श्रीवासुदेवजी—जीव, ईश्वर, प्रकृतिकी विवेचना है।

श्रीमहान्तजी—२०, २२ वर्षसे पहले हमारे पूर्वज जीव, ईश्वर, प्रकृतिके सम्बन्धमें कुछ जानते थे या नहीं ?

वासुदेवजी—जानते थे।

श्रीमहान्तजी—तब इस ग्रन्थके झगड़ेसे क्या लाभ ?

वासुदेवजी—इसमें सब बातें विस्तारके साथ लिखी गयी हैं।

श्रीमहान्तजी—पहिलेके लोग विस्तारसे नहीं जानते थे तो उनका काम चलता था या नहीं ?

वासुदेवजी—काम तो चलता था परन्तु यह भाष्य स्वामी रामानन्दजी महाराजका लिखा हुआ है न।

मैं—स्वामीजीका लिखा हुआ है तो मैं २० वर्षोंसे माँग रहा हूँ उनकी लिखी हुई प्राचीन प्रति आप लोग क्यों नहीं दिखाते हैं ? आप वह प्रति लाइये, मैं उसे सरकारको सौंप दूँ। सरकार-से प्रार्थना करूँ कि वह एक विशेषज्ञके द्वारा निर्णय दे कि वह लेख, वह कागज़, वह स्याही कितने महीने और कितने दिनोंकी पुरानी है।

वासुदेवजी—अँ अँ अँ देखिये, आप लोग ही विचार करें, यह स्वामीजी आप लोगोंको भी नहीं मानते हैं। सरकारकी बात करते हैं।

मैं—सरकारकी बात करनेसे यह कैसे सिद्ध हुआ कि मैं इन पञ्चोंको नहीं मानता हूँ। मेरा आशय तो इतना ही है कि

ग्रन्थके कागज, स्याही, अक्षरोंके मरोड़को ये महात्मा लोग नहीं समझ सकते हैं। अतः सरकारी विशेषज्ञकी आवश्यकताका मैं अनुभव करता हूं।

श्रीमहान्तजी—स्वामीजी ठीक कहते हैं।

मैं—अच्छा तो, अब तो आनन्दभाष्य समाप्त हुआ। अब आगे चलिये।

वासुदेवजी—पण्डित वैष्णवाचार्यजी, आप कहिये, क्या कहते हैं।

वैष्णवाचार्यजी—ईस्ट अफ्रिकामें स्वामीजीने एक भाषण दिया है, उसे मैं सुनाता हूँ।

"ब्रह्मको धनुष-बाण नहीं हो सकता, शंख-चक्र भी नहीं हो सकता, त्रिशूल भी नहीं हो सकता। वह तो सर्वशक्तिमान् है। जिसको जब मारना चाहे, तब मार सकता है। राम रावणको बाण मारें और रावण रामको बाण मारे, एक बार रावण मूर्छित हो और एक बार राम मूर्छित हों, एक बार शंकर डरकर भाग जायं और एक बार दैत्य डरकर भाग जाय, एक बार शङ्कर बाण मारें और एक बार अर्जुन बाण मारे, ईश्वरकी ऐसी लीलाओंके ध्यानसे आपको कुछ मिलना नहीं है। इसमें भी अधिक चमत्कारपूर्ण युद्ध जर्मन और रशियाके बीचमें हो चुका है। जापान और ब्रिटिशका युद्ध भी पूर्ण चमत्कारी ही था। ऐसी लड़ाइयां भगवान्‌के भगवत्त्वको तथा ईश्वरके ईश्वरत्वको सिद्ध नहीं कर सकती हैं। आप राजाओंके बदले ईश्वरका ध्यान करें, चिंतन करें, गुणाधान करें। आपको पूर्वदिशामें अरुणोदय प्रतीत होने लगेगा।"

मोम्बासामें ता० २०-६-१९५० ई०को दिये हुए मेरे एक भाषण-मेंसे इतना अंश प० वैष्णवाचार्यने सुनाया। इसे सुनाते समय

वह इसपर अपनी व्याख्या भी करने लगे। मैंने रोक दिया। व्याख्यासे किसी भी मूलग्रन्थको बिगाड़ा जा सकता है। व्यासका वेदान्तसूत्रोंमें क्या आशय था, इसे शङ्कराचार्यने अपनी इच्छाके अनुसार बताया और रामानुजने अपनी इच्छाके अनुसार। व्यासका दोनों ही आशय तो कभी हो ही नहीं सकता। या तो शङ्करवर्णित आशय व्यासका रहा होगा या रामानुजवर्णित। संभव है कि इन दोनोंसे भी भिन्न आशय उनका रहा हो। मेरे शब्दोंका बोलनेवाला मैं बैठा हूँ। उनका आशय मैं जानता हूँ, मैं ही समझा सकता हूँ। उन्होंने अपनी व्याख्या बंद कर दी। उतना अंश सुनाकर वह बैठ गये। इटावेके महान्त श्रीगरुडध्वज-दासजीने दूर बैठे बैठे कहा, स्वामीजी अब आप इसका आशय समझावें। लोगोंने समझा था कि अब मैं जीत लिया गया। लोगोंने समझा था कि मेरे पास इस भाषणांशका कोई उत्तर नहीं है। मैंने श्रीमहान्त अर्जुनदासजीसे पूछा कि मैं अब बोलूँ? उन्होंने हाँ किया।

मैंने कहा, यह भाषण आपको बीचमेंसे सुनाया गया है। इसके आरम्भके भागको मैं सुनाता हूँ। धैर्यसे सुनें। "रामशब्दकी योजना इतनी उत्तम रीतिसे हुई है कि मनुष्य बहुत ही भाव और आदरके साथ इसका उच्चारण कर सकता था। दुःखी मनुष्य, बीमार मनुष्य, शोकग्रस्त मनुष्य धीरेसे रा३म् जैसे खूब लम्बाकर बोल लेता है उस तरहसे अन्य देवोंके नाम नहीं बोले जा सकते। अतः आप खूब भाव-से प्रेमसे 'रा' को लम्बाकर बोलें। उसके साथ परात्पर ब्रह्मस्वरूप, साकेतवासी, अजन्मा, अजर, अमर ऐसे रामका स्मरण करें। उनकी दयालुता, उनकी उदारता, उसका वात्सल्य अपने हृदयमें प्रतिबिम्बित करें। उस प्रतिबिम्बको वहां स्थायी बनावें। आप भी उन्हीं गुणोंसे युक्त बनेंगे। आपका कल्याण हो जायगा।

राममें र् + आ + म् + अ = इस रीतिसे ४ अक्षर हैं। र् मूर्धासे बोला जाता है। मूर्धा मुखमें ऊपरकी ओर एक स्थानका नाम है। आ और अ कण्ठसे बोले जाते हैं। म् ओष्ठकी सहायतासे बोला जाता है। हम राम नहीं बोलते हैं, राम् बोलते हैं, ओम् बोलते हैं। राम और ओम् बोलनेकी समान ही पद्धति है और समान ही लाभ है। जैसे राको खींचकर ऊपर ले जाते हैं और पश्चात् म्को बोलकर मुख बन्द कर देते हैं। वैसे ही आपके प्रभुको ऊपर मस्तिष्कमें ब्रह्मरन्ध्र तक ले जायं; इन्द्रियोंके द्वार बन्द कर दें। प्रभु आपको मिले बिना रह नहीं सकता है। वेदान्त आपको कोई नयी बात नहीं कहता है। भक्तिमार्गमें जो कुछ आपको सीखना चाहिये था, आपने नहीं सीखा। वेदान्त उसीको सिखाता है—बताता है। आप बहिर्मुखसे अन्तर्मुख बनें, इतना ही वेदान्त कहता है। अभेद तो भक्ति और ज्ञान दोनोंका ही फलितार्थ है। देवोंके धनुष-बाणसे, या शंख-चक्रसे या त्रिशूलसे आपको कुछ भी सिद्ध नहीं करना है। ब्रह्मको धनुष-बाण नहीं हो सकता, शंख-चक्र भी नहीं हो सकता, त्रिशूल भी नहीं हो सकता।'

जब मैंने अपने इस भाषणके इस पूर्ण भागको पढ़ दिया और वैष्णवाचार्यजीके पढ़े हुए भागसे मिला दिया तब एक स्वरसे सभा बोल उठी, पञ्च बोल उठे **'बहुत अच्छा, बहुत अच्छा'**।

श्रीमहान्त अर्जुनदासजीने कहा कि इस भाषणके जिस अंशको वैष्णवदासजीने पढ़कर सुनाया है उसका तो इतना ही आशय है कि **"रामको ब्रह्म मानकर पूजा-उपासना करनी चाहिये, राजा मानकर नहीं।"** मेरे शत्रु चुप हो गये। वैष्णवाचार्यजीने कहा मैं इस भाषणका खण्डन करूँगा। मैंने कहा—मैं उसकी धज्जियाँ उड़ा दूंगा। पञ्चोंमेंसे किन्हीं महानुभावने वैष्णवाचार्य-

जीको कुछ ऐसे भी शब्द कहे थे जिनसे उन्हें मौनी बाबा बन जाना पड़ा था।

मैं विजयी बना। दूसरे दिन ही अन्तिम स्नानमें मैं गजराज-के पृष्ठपर छत्र और चमरके साथ विराजमान था। विपक्षी धूल फाँकते थे।

ये सब सत्य घटनाएँ इसलिये यहाँ लिखी गयी हैं कि विचारकवर्ग समझ सके कि सम्प्रदाय कितनी भयङ्कर वस्तु है। सम्प्रदायके बाड़ेमें बन्द रहकर कभी भी न सत्य ढूँढ़ा जा सकता है और न बोला जा सकता है। इस सम्प्रदायमें मुझे सत्यद्रोहियों-ने कितना हैरान किया है, यह भी इस प्रकरणसे मुझे बताना है। इतना हैरान होकर भी, मैं इस सम्प्रदायमें केवल सत्यप्रकाश फैलानेके लिए ही पड़ा हुआ हूं। मोक्ष तो मुझे मिल ही जायगा। सत्यनिष्ठका मोक्ष अवश्यम्भावी है।

———

सामवेदके उत्तरार्चिकका भाष्य दो वर्षोंसे पूर्ण होकर मेरे पास ही पड़ा हुआ था। श्रीमान् सेठ प्रभुलालशाहजीकी पत्नी सौ० श्रीमणिबहिनशाह तथा श्रीमान् सेठ बालकृष्णशाहकी पत्नी सौ० श्रीचम्पाबहिनशाहने इसके मुद्रणार्थ धनदानका वचन दिया। ता० ४ मई १९५७ को मैं काशीके लिये अहमदाबादसे प्रस्थित हुआ। अब मुझे एकाकी दूरकी यात्रा करनेकी मेरे डाक्टर श्रीमान् जितेन्द्रदेसाईने निषेध किया है अतः अध्यापिका श्रीचन्दनदेवीको मैंने साथ लिया। ता० ६ मईको हम काशी पहुँचे। काशीमें बदरिकाश्रमके अधिपति परमहंस श्रीरामहृदयदासजीने अपने आश्रममें ही मेरे लिये सब सुविधा कर रखी थी परन्तु मैं अपने स्वभावानुसार किसीको कष्ट या भार देना अनुचित समझता हूं। यद्यपि श्रीपरमहंसजीको मेरे उनके यहाँ रहनेसे न तो कष्टका ही अनुभव होता न भारका ही। जहाँ प्रेम है, श्रद्धा है, वहाँ कष्ट कैसा और भार कैसा! तथापि मैं अपने स्वभाव और विचारसे लाचार हूँ। लागत अगम अपनि कदराई। हम रेवा-बाईकी गुजराती धर्मशालामें ठहरे। उस धर्मशालाके एक ट्रस्टी श्रीसमर्थलालजी वैद्यजीने मैं वहाँ जब तक रहूं तब तकके लिये रहनेकी अनुमति दे दी थी। ता० ७ मईको वेदभाष्यको मैंने ज्यौतिषप्रकाश प्रेसको दे दिया तथा इस पुस्तकको ललित प्रेसको सौंपा। ता० ९ मई को मुझे प्रथम प्रूफ मिला। यह पुस्तक तो हिन्दीका, अतः श्रम अल्प था, शीघ्र छप जानेकी आशा थी परन्तु सामसंस्कार भाष्य ५० फार्मका ग्रन्थ। प्रेस के स्वामी

पण्डित श्रीबालकृष्णशास्त्रीजी बहुत सज्जन और मेरे २५ वर्षोंसे भी अधिक समयसे परिचित हैं। उन्होंने कहा कि १२ जूनकी संध्या तक वेदभाष्य अवश्य छप जायगा। १३ जूनकी रात्रिमें निकलकर १४ जूनको प्रातःकाल मैं अयोध्या पहुँचकर छावनीके महान्त श्रीमान् रामशोभादासजी महाराज का दर्शन करना चाहता था। वह जल गये थे और अधिक अस्वस्थ थे। मेरे भाग्यमें उस समय उनका दर्शन नहीं था। ५ जूनको दिनमें मुझे बैंगलोरसे श्रीमान् सेठ माणिकलालशाहजीका तार मिला। उनकी धर्मपत्नी श्रीमती जयागौरी अकस्मात् बीमार हो गयी थीं। मुझे वहाँ बुलाया गया था। मैंने सब प्रोग्राम बन्द रखकर दूसरे दिन ६ तारीखको ट्रेनसे बैंगलोर जानेका निश्चय कर लिया। परमहंस श्रीरामहृदयदासजीके आश्रममें श्रीरामानन्दविद्यालयकी तीसरे दिनकी कमेटी थी। मैं वहाँसे रात्रिमें ११। बजे धर्मशालामें आया और मुझे वहाँके प्रबन्धक श्रीदिनकर भाईने एक पत्र दिया। वह पत्र काशीके ही किसी सेठने लिखा था। बैंगलोरसे उन्हें खबर दी गयी थी कि वह धर्मशालामें आकर मुझे खबर दें कि मैं विमानसे बैंगलोर पहुँचूँ। श्रीपरमहंसजीका आश्रम मेरी धर्मशालासे तीन फरलाङ्गसे अधिक दूर नहीं है। मैंने श्रीचन्दन बहिनको परमहंसजीके आश्रम-में भेजकर रामानन्दविद्यालयके महामन्त्री श्रीमान् महान्त भगवान् दासजी खाकीजीको समाचार भेजा कि मुझे प्रातः बैंगलोर जाना है। श्रीचन्दन बहिन भी कमेटीमें मेरे साथ ही थीं। साथ ही वहाँसे धर्मशालामें आयी थीं। उन्हें तुरन्त ही पुनः आश्रममें देखकर श्रीखाकीजीको बहुत आश्चर्य हुआ। समाचार सुना। उसी समय वह रिक्शा लेकर पण्डित श्री० ब्रह्मदेवशास्त्रीजीके साथ मेरे पास आये और विमान वहाँसे कब उड़ता है उसकी खबर लेने गये। विमानका आफिस रात्रिमें बन्द ही था। वह प्रातः वहाँ जाकर

मेरे और श्रीचन्दन बहिनके लिए बैङ्गलोर तकके दो टिकट ले लिये। प्रेसका काम बन्द हो गया। ६ दिनका काम बाकी रह गया। दोनों ही ग्रन्थ अपूर्ण ही छप सके। हम ता० ६ जूनको १२ बजे दोपहरको वाराणसीसे उड़े।

मेरे डाक्टर साहब श्रीमान् जितेन्द्रदेसाईजीने मुझे विमानकी यात्रा करनेका निषेध कर रखा है। तथापि मैं वहाँसे विमानसे ही उड़ा। पटना पहुँचनेसे पहिले ही मुझे वमन होने लगा। कलकत्ता ३॥ बजे वह विमान उतरा। उस समय मेरी दशा खराब थी। खूब वमन हुआ था। मैं शिथिल और बेभान था। श्रीचन्दन बहिन घबड़ा गयी थीं। कलकत्ता स्वदेश होनेपर भी परदेश तो था ही। बोली, भाषा, स्थान, सभी अपरिचित। मेरा वहाँ परिचय तो था, परन्तु मैं तो मूर्छित। मुझे शहरमें विमानके आफिसमें ले जाया गया। श्रीचन्दन बहिन बाहरसे शीघ्र ही एक डाक्टरको बुला लायीं। उपचार हुआ। वह आफिस एअर कण्डीशण्ड था अतः शान्ति मिली। मैं होशमें आया। डाक्टरबाबू बंगाली थे। बातें हुईं। उन्होंने मुझे कम से कम दो दिन वहाँ ठहर जानेके लिये आग्रह किया। परन्तु रामकाज कीन्हे बिना, मोहिं कहाँ विश्राम। माता श्री जयागौरी देवी बैङ्गलोर में मृत्युशय्यापर थीं। मुझे उनके पास पहुँचना था। श्रद्धा और प्रेमकी मूर्ति बा श्रीजयागौरीजीके पास मुझे खड़ा होना ही था। हमने विमानकी यात्रा बन्द करके ट्रेनसे जानेका निश्चय किया। परन्तु विमानके टिकट बैङ्गलोर तकके थे। कलकत्तेसे बैंगलोर तकके ४८० रुपये दिये गये थे। इन रुपयोंकी चिन्ता थी। टिकटमें लिखा हुआ था कि बिके हुए टिकट लौटाये नहीं जायँगे। ४८० रुपये व्यर्थमें जा रहे थे। श्रीचन्दन बहिन बहुत कुशल बहिन हैं। उन्होंने प्रयास किया और १५, २० मिन्टोंमें ४८० रुपये वापस लेकर मेरे पास आयीं।

वहाँ आफिसमें एक बहिन बहुत ही सुशील और दयालु-स्वभावकी थी। उन्होंने ही श्रीचन्दन बहिनको रुपयोंकी प्राप्तिमें सहायता दी थी। उन्होंने ही टाइम टेबुल देखकर हमें बैंगलोर जानेवाली गाड़ियोंकी सूचना दी। एक गाड़ी मद्रास मेल ४॥ बजे जा चुकी थी। अब रात्रिमें ६ बजे बेजवाडा जनता ऐक्सप्रेस जानेवाली थी। हम स्टेशनपर पहुँचे। जनता एक्सप्रेस अर्थात् थर्ड क्लासोंकी गाड़ी। एक तो मैं बीमार, दूसरे लगभग २५ वर्षोंसे मैंने गाड़ीमें थर्ड क्लासकी मुसाफिरी बन्द कर रखी थी। सेकेण्ड क्लास और फर्स्ट क्लासमें यात्रा करनेका अभ्यासी। लाचार। थर्ड क्लासमें हम जा बैठे। जैसे-तैसे रात बीती। दिनके कष्टोंका वर्णन व्यर्थ है। अपनी जगहसे हिलनेके लिये भी अवकाश नहीं। अपनी जगहसे उठना तो अक्षम्य अपराध था। मेरे पैरमें वात आ गया था। विमानकी यात्रा ही इस वात रोगमें कारण थी, सिर तो अभी भी घूम रहा था। मैं काशीसे उड़ते समय पण्डित श्री-बुद्धिवल्लभशास्त्री एम० ए० को बैंगलोर भेजनेके लिए तार लिख-कर उड़ा था। वहाँ तार पहुँच चुका था। मैं विमानसे आ रहा हूँ, यह समाचार बैंगलोर पहुँच गया था। श्रीसेठानीजीको आश्वासन मिला—आशा थी कि मैं उनके पास पहुँचूँगा। मैं अपनी विव-शतासे गाड़ीसे निकलकर किसी स्टेशनपर से तार नहीं कर सका कि मैं ट्रेनसे आ रहा हूँ। वहाँ यह भी खबर नहीं थी कि मेरे साथ श्रीचन्दन बहिन भी आ रही हैं। वहाँ विमानका समय चला गया। मैं नहीं उतरा। मोटर एरोड्रोमसे वापस आयी। प्रति-दिन विमानके समय मुझे लेनेके लिए मोटर विमान स्टेशनपर, तथा रेलवे स्टेशनपर भी जाने लगी। मेरा कुछ पता नहीं था। बैंगलोरमें श्रीमान् सेठ मणिकलालजीको भारी चिन्ता हुई। बापजी कहाँ और कैसे होंगे, उनकी चिन्तामें यह मेरी चिन्ता वृद्धि करने

लगी। जहाँ-तहाँ तार भी दिये गये। मेरा कोई पता नहीं। हम अनवरत रेलकी मुसाफिरी करते हुए ता० ६ जूनको दोपहरको १॥ बजे बैंगलोर पहुँचे। बंगलेपर पहुँचते ही शोकपूर्ण वातावरण देखकर मैं बहुत व्यथित हुआ। **हृदयं स्वजनस्य चाग्रतो विवृतद्वारमिवोपजायते।** श्रीरमणीक भाई दौड़कर मेरे कन्धेपर सिर रखकर रोने लगे। माताजीका ता० ८ जूनको ही सायङ्काल ४-४० बजे गोलोक वास हो चुका था।

मेरे दिलकी बात किससे कहूँ? इन्हीं माताजीने श्रीसेठमाणिकलालजीको मेरे लिये बंगला बनानेकी बातकी थी। इन्हींकी सात्त्विक प्रेरणासे श्रीसेठमाणिकलालजीके हृदयमें मुझे शान्तिसे रखनेकी इच्छा उत्पन्न हुई थी। आज १७ वर्षोंसे मैं सुख और शान्तिमें निवास कर रहा हूँ। वह चली गयीं और मैं दौड़ता-दौड़ता आया तो भी वह न मिलीं। मुझे इसका कितना खेद होगा, इसे कैसे बताऊँ? संन्यासीको भी हृदय होता है। उसके पास भी एक छोटा-सा मन होता है। उसे भी सदा नहीं तो कभी-कभी तो अवश्य ही सुख-दुःखकी अनुभूति होती है। सम्बन्ध मिथ्या है यह तो कहनेकी बात है। स्वामी शङ्कराचार्यजीको अपनी माताके अन्तिम दिनोंमें उनके पास दौड़ जाना पड़ा था। कोई सम्बन्ध मिथ्या नहीं है। उसे अस्थिर कह सकते हैं। इसी अर्थमें वस्तुतः मिथ्याशब्दका प्रयोग किया गया है। बाध ज्ञानसे जिसकी निवृत्ति हो उसे ही मिथ्या माना गया है। बाधक प्रतीतिके पश्चात् जब अध्यस्त वस्तुके त्रिकालमें न होनेका निश्चय होता है तब उसी निश्चयको बाध कहते हैं। इसी बाध ज्ञानसे जागतिक पदार्थोंकी स्थिरताका त्रैकालिकासत्त्व निश्चय होता है। जो हो स्वजनवियोग-जन्य दुःखका अनुभव जैसे सबको होता है

वैसे ही संन्यासीको भी होता है। मुझे भी दुःख हुआ। उसका कोई उपाय नहीं है।

माता जयागौरी कितने ही दिनोंसे मौन हो गयी थीं। हृदयमें रहे हुए समस्त आसक्तियोंसे वह धीरे-धीरे छूटने लग गयी थीं। ता० २७ मई उनका जन्म दिवस था। आग्रह करके वह श्री-चामुण्डादेवीके दर्शनके लिये मैसूर गयी थीं। वहाँसे ही वह बीमार होकर आयीं। मधुप्रमेहसे वह बहुत वर्षोंसे पीड़ित थीं। शरीर प्रथमसे ही निर्बल था। **कालो हि दुरतिक्रमः**। उसी दिन-से वह अधिक रुग्ण हुईं। निस्तब्धता आयी। मौन आया। ता० ८ जून १९५७ को ४७ वर्ष १० दिनकी अवस्थामें दिनके ४-४० बजे उन्होंने उस नश्वर और जर्जर शरीरका त्याग कर दिया। वह सौभाग्यवती थीं। तीन पुत्र और दो पुत्रियोंकी माता थीं। ऋद्धिसिद्धि-सम्पन्न थीं। बहुत बड़ा कुटुम्ब छोड़कर वह गयी हैं। वह वहाँ गयी हैं जहाँसे आजतक कोई भी लौटकर नहीं आया है।

"यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम"

मैं बैंगलोरमें केवल एक रात्र ही विश्राम कर सका था। दूसरे दिन तो अहमदाबाद आनेके लिये सभी लगभग २० आदमी वहाँ-से निकले। अहमदाबादसे आये हुए डाक्टर श्रीसुमन्तशाह तथा डाक्टर श्रीजितेन्द्रदेसाई तो ९ जूनको ही विमानसे अहमदाबादके लिये उड़े थे। हम लोग १० जूनको वहाँसे चले। १२ जूनको १२॥ बजे दिनमें बम्बई पहुँचे। १३ जूनको मैं और श्रीचन्दन बहिन अहमदाबाद पहुँचे। श्रीसेठजी और उनके कुटुम्बी जन पेटलाद गये।

मैं मनसे तो दुःखी था ही, शरीरसे भी दुःखी था। मेरे एक पैरमें दो वर्ष पूर्व बन्दरने काट लिया था, उसकी सनातन पीडा तो

थी ही, दूसरे बाएँ पैरमें वातरोग कलकत्तेसे शुरू हो गया था। अतः मुझे चलने-फिरनेमें बहुत कष्ट होता था। श्रीसेठमाणिकलाल-जी धर्मपत्नीके वियोगसे स्वाभाविक ही खिन्न थे तथापि मेरी चिन्ता-से भी वह मुक्त नहीं थे। बैंगलोर स्टेशनपर मोटरसे उतरते ही मेरे लिये कुर्सीका प्रबन्ध किया था। मैं कुर्सी द्वारा ही फर्स्ट क्लास में ले जाया गया। पूनामें भी यही प्रबन्ध हुआ था और बम्बईमें भी यही व्यवस्था थी। सेठ श्रीमाणिकलालके बड़े काका सेठ श्री-प्रभुलाल शाह और छोटे भाई सेठ श्रीचम्पकलाल शाह भी मेरे साथ ही थे। अतः मुझे कोई कष्ट नहीं हुआ। श्रीचन्दन बहिन तो मेरे साथ थीं ही।

अहमदाबाद आनेपर १५ दिनोंके पश्चात् मैं स्वस्थ हो सका।

सन्तोकबहिनके सम्बन्धमें पीछे मैं एक दो स्थानोंमें कुछ लिख चुका हूँ। यह ग्रन्थ मेरा जीवन चरित है। इसका लिखने वाला मैं स्वयं हूँ। अतः मेरे जीवनके सम्बन्धमें अन्तिम समय-तक जो घटनाएँ होती रहेंगी, उन्हें लिखनेके लिये भी मुझे प्रस्तुत ही रहना चाहिये।

सन्तोष बहिनका नाम मैंने ही सन्तोष बहिन रखा है। यह नाम करण मैंने सन् १९५० के पश्चात् किया होगा। सन्तोक शब्दका अर्थ है—अच्छे लड़के वाली या बहुत लड़कों वाली। उनको तो कोई लड़का ही नहीं है। अतः इस निरर्थक नामके बदले मैंने उन्हें 'सन्तोष' यह सार्थक नाम दिया। तबसे वह इसी नामका कम से कम मेरे पास भेजे गये अपने पत्रोंमें प्रयोग करती रही हैं। यद्यपि उनके गुरुबाबा महान्त श्रीरघुवराचार्यजीने तो 'परमस्नेहात्मन्' से शुरू होने वाले उनके ता० १८-८-५० के पत्रमें **सन्तोक बेन** ही नाम लिखा है। सन्तोष बहिन और सन्तोक बहिन, ये दो तत्त्व नहीं हैं, एक ही तत्त्व है, इतना बतानेके लिये ही यह विवेचना है।

श्रीसन्तोक बहिनका मुझपर कितना प्रेम था—भले वह बनावटी ही रहा होगा—उसको स्पष्ट करनेके लिए मैं परिशिष्टमें उनके कुछ पत्रोंकी प्रतिलिपि अवश्य दूँगा। वह प्रेम सन् १९५० से शुरू हुआ था और जब वह अफ्रिका छोड़कर यहाँ अहमदाबाद आयीं, मेरे पास रहीं और मेरे पाससे गयीं तब तक अवश्य ही रहा था—यद्यपि जैसा मैंने ऊपर कहा है, वह कृत्रिम प्रेम था। यह

सत्य है कि कृत्रिम प्रम, कार्य-कारणसे पैदा हुआ प्रेम बिना किसी प्रयासके अपने आप ही टूट जाता है। सन्तोक बहिनका प्रेम भी हवा हो गया। उनके प्रेमका-कृत्रिमप्रेमका थोड़ा-सा लाभ मुझे मिला ही है। अतः मैं उस प्रेमका भी स्वागत ही करता हूं—आज भी स्वागत करता हूं।

अब वह **शिंगडानिवासिनी** बनी हुई हैं। शिंगड़ाके महान्त रघुवराचार्यजी मेरे परम शत्रु थे। उनके यहाँ रहकर पत्थर, माटी, पानी, हवा, आकाश भी मेरा शत्रु बना करता था, मनुष्यकी तो बात ही क्या थी? वह मेरे ही शत्रु नहीं थे, अनेकोंके शत्रु थे। वह कितने बड़े पापी थे, उसका परिचय इस ग्रन्थमें लिखकर इसे अस्पृश्य नहीं बनाना चाहता। इस सम्बन्धमें मैं इतना ही कहूँगा कि जिन्हें मेरे कथनकी वेदतुल्य सत्यताकी परीक्षा करनी हो, वे महाशय आजके वर्तमान शिंगडामहान्त रामप्रपन्नाचार्यके उस सविनय निवेदन पत्रको पढ़े जिसे उन्होंने श्रीमान् नामदार कृपालु दीवानजी साहेब बहादुर, राज्य पोरबन्दरको ता० ६-५-१९३६ ई० के दिन लिखा था। शिष्य महाशयने गुरुमहाशयके लिये उन सब शब्दोंको लिखा है जो एक परमपापी, परमदुरात्मा, परमनीच, परमदुष्टके लिये लिखा जाता है। जो लोग उस निवेदनपत्रकी नकल लेना चाहें वे सेन्ट्रल रेकार्ड आफिस, पोरबन्दरसे सम्भव है कि आज भी प्राप्त कर सकते हैं। मेरे पास तो यह नकल मौजूद है। ता० १०-५-१९५१ ई०को यह नकल किसीको दी गयी थी। वही मेरे पास उड़ती उड़ाती आ गयी है। इतना ही नहीं, शिंगडाके प्रजाजनने भी वैशाख सुदि ८ संवत् १९९४ वि०में तथा इसके आस पासके सन् संवत्में कितनी ही ऐसी ही अर्जियाँ की हैं। वैशाख सुदि ८, शनिवार, १९९४ वि० वाली अर्जीपर तो एम. एम. शाह, सुपरिन्टेन्डेन्ट ऑफ पुलिस पोरबन्दरने ता०

११-५-१९३८ के दिन अपने हस्ताक्षरके साथ लिखा है कि महान्तश्रीके कन्डक्ट—आचारके सम्बन्धमें जो हकीकत बतायी गयी है वह बिलकुल सत्य है।

सन्तोक बहिन उन्हीं रघुवराचार्यकी उस समय चेली बनी थीं जब वह नवयुवती थीं। मुझे जब वह मेहशानामें मिली थीं तब युवती थीं। मुझे जब वह अहमदाबादमें मिली थीं तब अर्धवृद्धा थीं। आज उनके निश्चिन्त और साधिकार जीवनने उनकी वृद्धताका ह्रास करके पुनः यौवनदान उन्हें दिया है। मेरी कीर्ति, मेरे उत्कर्ष, मेरी प्रतिष्ठाको रघुवराचार्य सहन नहीं कर सकते थे। उनके चेले चट्टे बट्टे भी उन्हींके मार्गके अनुयायी हैं। सन्तोक बहिन तो उनकी परमस्नेहात्मा शिष्या हैं। मेरे साथ द्रोह करनेके लिये इतना ही कारण पर्याप्त है। वह चाहती हैं कि स्वामी भगवदाचार्यको भी बदनाम करके उनके गुरुकी बदनामीमें चार चाँद लगा दें। अफ्रिकामें वह एक निर्जन स्थानमें मेरे साथ ही एकान्तवास करती थीं। वह मुझे अपने गुरुके समान बुरा तो कह ही नहीं सकतीं। क्योंकि ऐसा करनेसे वह स्वयं बुरी सिद्ध हो जाती हैं। अतः मुझे बेईमान बनानेका प्रयत्न शुरू किया है। उनके एजेण्ट लोग जहाँ तहाँ कहा करते हैं कि स्वामी भगवदाचार्यने सन्तोक बहिनके पचीस हजार रुपये दबा लिये, दिये नहीं। एजेन्टोंके इस कथनको ऐसे लोग भी सत्य मान लेते हैं जो मेरे हितैषी बननेका दावा करते हैं और कर चुके हैं। ऐसे लोगोंके भ्रमको दूर करना मेरे लिये बहुत ही आवश्यक है। अन्यथा यह कलङ्क मेरे सिरपर लग ही जायगा। यद्यपि मेरे जीवनकी समाप्तिके पश्चात् भी इस कलङ्कको मिथ्या सिद्ध करनेके लिये पण्डित श्रीरामचरणशरणजीशास्त्री, पण्डित श्रीरामरत्नदास-जी 'तरुण', पण्डित श्रीरामचरित्राचार्यजी व्याकरणाचार्य अहमदा-

बाद, महान्त श्रीरामरत्नदासजी अहमदाबाद, श्रीमान् महान्त भगवान्दासजी खाकी, श्री० ब्रह्मचारी वासुदेवाचार्यजी, श्री० महान्त दाशरथिदासजी, दतिया, मण्डलेश्वर महान्त रामचरणदासजी नकोदर और हरद्वार इत्यादि सन्त महान्त तथा श्रीत्र्यम्बक भाई अहमदाबाद, अध्यापिका श्रीचन्दन बहिन, श्रीजयदेवी बहिन; गं० स० श्रीहीराबहिन मेहता, गं० स्व० श्रीविजयाबहिन शाह इत्यादि बहिनें तथा मेरे सम्पर्कमें आने वाले अन्य सहस्रों महात्मा, सहस्रों भाई-बहिन, प्रबल समर्थ हैं। तथापि मुझे इसका विवेचन यहाँ कर ही देना चाहिये।

सन्तोक बहिन जब भारतमें थीं तब मामूली गुजराती स्कूलमें शिक्षिका थीं। तब उनके पास पचीस हजार रुपये नहीं ही थे। यह तो बहुत स्पष्ट है। यदि थे तो सन्तोक बहिन इस बातको सिद्ध करके मुझे असत्यवादी सिद्ध कर सकती हैं। जब वह अफ्रिका गयीं तब कुछ कमाने लगीं। अपनी कमाईमेंसे वह कहती हैं कि उन्होंने अपने ....को चौदह या सत्रह हजार रुपये मकान बनानेके लिये दिये। तेरह हजार रुपये मेरे पास जमा थे जिन्हें मैंने उनके बैङ्क बुकमें जमा करा दिये तथा एक हजार और अधिक भी जमा कराये। पाँच या आठ हजार उन्होंने अफ्रिकासे आकर अहमदाबादके बैङ्कमें जमा किये। शायद इतने ही रूपये वह अफ्रिकामें—मोम्बासामें छोड़ आयी थीं। इस हिसाबके अनुसार १४+१४+५+८=४१ हजार रूपये उनके पास हुए। कुछ रूपये उन्होंने मेरे लिये भी व्यय किये हैं। उन्हें मैं अधिकसे अधिक पाँच हजार गिन लेता हूँ। तब ४१+५=४६ हजार हुए। यदि उन्होंने मुझे २५ हजार रूपये और दिये हों तो ४६+२५=७१ हजार रूपये होते हैं। इसपर मेरे दो प्रश्न हैं—१—क्या वह इतने हजारका एकाउन्ट किसी बैङ्कमें बता सकेंगी? २—

२५+१४=३९ हजार रूपये उन्होंने मुझे दिये हैं क्या, इस बातको वह अपने बैङ्कबुकसे सिद्ध कर सकेंगी? या मेरे किसी पत्र या लेखसे सिद्ध कर सकेंगी? यदि नहीं तो, यह सब असत्य है। दगा है, फरेब है, जालसाजी है, परम असत्य है। मुझे बदनाम करनेकी बातें हैं। गुरुका बदला मुझसे लिया जा रहा है।

तुष्यतु दुर्जनः इस न्यायसे यदि मान भी लिया जाय तो भी वह इस कहनेकी अधिकारिणी नहीं हैं कि मैंने उनके रूपये दबा लिये। वह जानती हैं कि मैं रूपयोंका गुलाम नहीं हूं। रूपये तो मेरे हाथोंके मैल हैं। रूपयोंके लघुत्व और महत्त्वको मैं बहुत अच्छी तरहसे जानता हूं। मैंने कभी भी धनसंग्रहकी ओर ध्यान ही नहीं दिया है। धनसंग्रह मुझे चाहिये ही नहीं। अस्तु। मैं सन्तोक बहिनका एक पत्र यहाँ उद्धृत करता हूं और परिशिष्टमें उसका फोटो छापूँगा। बुद्धिमान् विचार करें कि क्या वह मुझसे एक भी पाई माँगनेकी हकदार हैं? सन्तोक बहिनने सन् १९५०से मेरे साथके सम्बन्धका पुनरुद्धार किया है। आज १९५७ चल रहा है। सन् १९५३ में ही मुझे छोड़कर शिंगड़ा चली गयीं हैं। ३ वर्षोंमें ही उन्होंने मुझे रुपये दिये हैं। क्या वह उन पचीस हजार रुपयोंके लिये कोई भी प्रमाण देकर कह सकती हैं कि उनके रुपये मैंने दबा लिये। अस्तु, इसे जाने दीजिये। उनका ता० ४-७-१९५३, रात्रिके ९॥ बजेका लिखा हुआ यह पत्र क्या कहता है, इसे देखें—

हुं अहीं बधुंज खाऊ छुं। त्यां आपश्री पैसा संग्रह करो। ते शा माटे? मने सारुं लागतुं नथी। जीवनने माटे तो आ बधी धमाल छे। त्यां संकोच करशो तो केम काम चालशे? त्यां न वापरो तो मने न गमे। हुं पण अहीं बन्द करी दऊं। बीजु शुं करूं? वापरतां वचे ते खरा। मारुं अहीं नुं खावानुं आ हिसाबे बधुं नकामुं समजाय छे। हवे हुं पण बन्ध करीश।

जरूरियात प्रमाणे वापरवा तो जोइये। माटे वापरशो। घी, दूध, फ्रूट, ओवलटाइन बधुंज लेशो। मध पण लेशो। मारो भगवान् आपे छे। नहि आपे त्यारे नहीं खाइये। जो मने खावा देवुं होय तो आनन्द थी बधुं लेशो एम इच्छुं छुं।"

इस पत्रसे सार, स्पष्ट रूपसे यही निकलता है कि जो और जितने रूपये संतोक बहिनने मुझे दिये हैं, मेरे खानेके लिये ही, न तो बचानेके लिये और न पीछे वापस लेनेके लिये। अतः यदि उनके २५ हजार रूपये मैं खा गया होऊँ तो उन्हें मुझे उलाहना देनेका, मुझे दगाबाज बतानेका, कोई अधिकार नहीं है। परन्तु सत्य तो यह है कि २५ हजारकी बात ही शिंगड़ाके मठमेंसे पैदा की गयी है। वह भूमि ही ऐसी है जहाँ झूठ, अनाचार, दुराचार, शैतानियत पैदा होती रहती है। ऐसे लोगोंके, ऐसे लोगोंके एजेन्टोंके मिथ्या प्रचारपर जो मुग्ध हो जावें, वे अपनेको मेरा हितैषी कैसे सिद्ध कर सकते हैं? वस्तुतः बात तो यह है कि इस सम्प्रदायमें कौन मेरा हितैषी कब मेरा जानी दुश्मन बन जायगा, कहा नहीं जा सकता। मैं सशङ्क तो रहता हूँ परन्तु मैं सर्वथा निर्दोष जीवन व्यतीत करनेकी इच्छावालोंमेंसे एक हूँ अतः मुझे दम्भियों, पाखण्डियों और असत्यवादियोंका भय होता ही नहीं है।

अथर्ववेदने एक मन्त्र पढ़ा है—

मित्रादभयममित्रादभयम्...

हे परमेश्वर तूँ, मुझे मित्रकी ओरसे भी निर्भयता दे और दुश्मनकी ओरसे भी मुझे निर्भय बना। इसका भी यही तात्पर्य है कि मित्र भी हानि पहुँचा सकता है। अतः मैं इस सम्प्रदायमें बहुत थोड़ोंको अपना हितैषी मानता और समझता हूँ। उनमेंसे श्रीमहान्त भगवान्दासजी खाकी पण्डितरामचरणशरणजीशास्त्री

पण्डित रामरत्नदासजी 'तरुण' और महान्त श्रीरामरत्नदासजी अहमदाबाद ये मुख्य हैं। श्रीमान् महान्त सीतारामदासजीशास्त्री, मण्डलेश्वर महान्त श्रीरामचरणदासजी महाराज और मण्डलेश्वर श्रीमहान्त दाशरथिदासजी महाराज मेरी कीर्तिके सदा विचारशील संरक्षक हैं। मेरे जीवनके अन्तमें यदि मेरे लेखका कोई खण्डन करने चलेगा तो इनमेंसे प्रत्येक तथा श्रीरामानन्द सम्प्रदायमेंसे सहस्रोंके मुखसे एक साथ ही पण्डितराज जगन्नाथका यह श्लोक बाहर निकलेगा—

न यत्र स्थेमानं दधुरतिभयभ्रान्तनयना,
गलद्दानोद्रेकभ्रमदलिकदम्बाः करटिनः।
लुठन्मुक्ताभारे भवति परलोकं गतवतो,
हरेरद्य द्वारे शिव शिव शिवानां कलकलः॥

"सिंहके जिस द्वारपर मतवाले हाथी भी टिक नहीं सकते थे, आज उस सिंहके मर जानेके पश्चात् उसके उसी द्वारपर खेद है कि गीदड़ियोंका हुआँ हुआँ हो रहा है।"

बहुत वर्षोंकी बात है। मैं अयोध्यासे अथवा पंजाबसे आ रहा था। जब मैं दिल्लीसे दिल्ली एक्सप्रेससे आबू आ रहा था, रेवाड़ी-से आगेके किसी स्टेशनसे मुझे निद्रा आ गयी। निद्राके लिये मुझे तप करना नहीं पड़ता। जब और जहाँ चाहूँ तभी और वहाँ ही गाढ निद्रामें मैं आज भी सो जाता हूं। तब भी यही बात थी। गर्मीका ऋतु था। थर्ड क्लासमें मैं बैठा हुआ था। तब मैं उसी क्लासमें दिनकी यात्रा किया करता था परन्तु रात्रि जहाँ हो और प्रातःकाल जहाँ होता हो, इतनी दूरके लिये मैं सेकेण्ड क्लासमें रात्रिकी यात्रा किया करता था। मैं जिस समयकी बात कर रहा हूँ तब सेकेण्ड क्लासमें इतनी भीड़ होती ही नहीं थी जितनी आज होती हैं। लगभग सभी सीटें खाली होती थीं अथवा एक दो भरी रहती थीं। जब और जहाँ चाहूं वहाँसे ही टिकट मिल जाता था और बिना रिजर्वेशनके ही पूराका पूरा बर्थ मिल जाता था। दिनका समय था। मेरे सामनेकी सीट पर कुछ पंजाबी जाट बन्धु बैठे थे, कुछ अन्य लोग भी। सिग्रेट पीनेका शौक तो लग-भग सभी हिन्दुस्तानीको होता है चाहे वह पठित हो अथवा निरक्षर भट्टाचार्य। बीड़ी सिग्रेट पीनेवालोंको यह विचार कभी होता ही नहीं कि हमारे साथियोंको इस धुआँ धक्कड़से प्रसन्नता होगी अथवा व्याकुलता। किसीके सिग्रेटमेंसे एक चिनगारी उड़ी और वह मेरे ऊपर आ पड़ी। मैंने नया ही कोकटी-खादीका कुर्ता पहिन रखा था। वह चिनगारी मेरे कुर्ते पर पेटके भाग पर आ पड़ी। किसीका उस समय उधर ध्यान नहीं गया। परन्तु कुछ ही

मिनटमें मेरा कुर्ता सुलग उठा। परन्तु आश्चर्य है कि मेरी नींद नहीं खुली। इतना ही नहीं, बुझानेवालोंने उसे बुझा भी दिया और लगभग एक बित्ता (बालिश्त) मेरे पेट पर वह कुर्ता जल गया, बुझा दिया गया, परन्तु मैं गाढ़ निद्रामें सोता ही रहा। जब अलवरके पास मेरी गाड़ी पहुँचनेको हुई तब मेरी निद्रा गयी और उठ बैठा। अब भी मेरा ध्यान मेरे जले हुए कुर्तेकी ओर नहीं गया था। एक भाई मेरी ओर देखकर हँसने लगे। मैंने हँसनेका कारण पूछा तो उन्होंने कहा 'आप अपने कुर्तेको तो देखिये।' मैंने देखा, जला हुआ पाया। मुझे आश्चर्य हुआ कि मेरे पेटपर उस आगकी गर्मीका अनुभव क्यों नहीं हुआ? लोगोंने उस आगको बुझाया होगा, हाथ लगाया होगा, कुछ भी तो हो हा हुआ ही होगा, परन्तु मेरी नींदमें तनिक भी बाधा नहीं पहुँची थी। लोगोंको भी आश्चर्य था और मुझे भी आश्चर्य था कि उस समय मुझे बचानेवाला कौन?

सारी मुसाफिरीमें मैं उसी जले हुए कुर्तेको पहिन रखा था। एक बित्ताकी गोलाईमें वह जला हुआ था, किनारे काले हो रहे थे। जो देखें, सबको आश्चर्य हो। बहुतोंको तो यही हुआ था कि यह साधु महात्मा हैं, गरीब हैं, फटे हुए कुर्तेसे ही काम चला रहे हैं। कहीं-कहीं, मुझसे इसी भावसे पूछा भी गया कि महाराज-जी, आपके कोई सेवक नहीं हैं? आप फटा हुआ कुर्ता क्यों पहिने हैं? मेरे पास कोई उत्तर नहीं था। यह बात तो सत्य ही थी कि मेरा कोई सेवक नहीं था। उस समय मैं किसी गृहस्थ बन्धुसे परिचित नहीं था। साधु-महात्मा तो किसीके सेवक होते नहीं। वह तो स्वामी होते हैं। महाराज होते हैं, प्रभु होते हैं। मैं अवश्य ही उस समय निराधार स्थितिमें था। थोड़ेसे ही पैसे मेरे पास होते थे। मुझे स्मरण है कि किसी किसी यात्रामें टिकटके अति-

रिक्त मेरे पास खानेके लिये पैसे नहीं होते थे और मैं भूखा ही वहाँ पहुँचता था जहाँसे आमन्त्रित हुआ करता था।

कितनी बार तो बुलानेवाले भी विवेक नहीं कर पाते थे। बुलाते थे, प्रवचन करा लेते थे, भोजन भी करा देते थे। और आने जानेका गाड़ी भाड़ा देकर बिदा कर देते थे। एक बार मुझे रायपुर (सी० पी०) में ऐसा ही अनुभव हुआ। वहाँके दूधाधारी मठके वर्तमान महान्त वैष्णवदासजीको सन् १९४३ में या ४४ में वहाँ एक किसी संस्थाका वार्षिक अधिवेशन करना था। मुझे बुलाया गया था। मैंने अस्वीकार कर दिया था। बाहर जानेकी इच्छा नहीं होती थी। बड़ोदावाली घटना बहुत पुरानी नहीं थी। अतः मैं साधुओंके सम्पर्कमें रहना नहीं चाहता था। परन्तु वैष्णवदासजीने दो या तीन तार दिये। वह व्याकुल हो गये। सभाकी तिथि निकटतम थी और उसका कोई अध्यक्ष दूरतम था। उनकी परेशानीने मुझे हिलाया और मैंने तार किया कि मैं आ रहा हूं। उस समय मैं श्रीमाणिकलाल सेठजीके सम्बन्धमें आ चुका था, उससे पहले श्रीजगदीश मन्दिर (अहमदाबाद) के साथ मेरा सम्बन्ध हो चुका था अतः मैं दिन और रात, समस्त यात्रा सेकेण्ड क्लासमें ही करता था। मैं सेकेण्ड क्लासमें ही रायपुर गया था। चलते समय महान्तजीने मुझे गिनकर आने जानेका सेकेण्ड क्लासके टिकटके पैसे दिये थे। उनके दिमागमें यह बात आयी ही नहीं कि आखिर, इस आदमीने कुछ फल-फूल खाये होंगे या नहीं? कुलीको मजदूरी देनी पड़ी होगी या नहीं, अपने स्थानसे स्टेशन तक आनेमें गाड़ी, तांगा, मोटर कुछ भी लिया गया होगा या नहीं? जाते समय भी इन सब बातोंकी आवश्यकता पड़ेगी या नहीं? मैं चुपचाप भजन करता हुआ रायपुरसे अहमदाबाद पहुँचा। यह थी मेरी गरीबी और यह था रायपुरके वर्तमान

महान्त श्रीवैष्णवदासजीका विवेक। यदि उस समयकी उनकी वही रजिष्टर आदि देखा जाय तो अवश्य ही मेरी बात सत्य सिद्ध होगी। उस समय जो वैष्णवदासजी, चातक जैसे स्वाती नक्षत्रकी वृष्टिकी राह देखता है, वैसे ही मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे वही आज कहते हैं कि स्वामी भगवदाचार्यजीके ग्रन्थोंका संशोधन होना चाहिये। भला उनसे कोई पूछे कि संशोधन करनेवाला रामानन्द सम्प्रदायमें आज पैदा कौन हुआ है ? तो उत्तर नदारद ही रहेगा।

गुजरातमें देवगढ़ बारिया नामका एक स्टेट था जो अब सब भारतीय स्टेटों—राज्योंके समान कालकवलित हो चुका है। सुरतमें एक वैश्य कुटुम्ब रहता था। वह लोग एक बार आबू आये थे और मुझे चम्पा गुफामें मिले थे। उनमें एक श्रीकञ्चन बहिन थीं। उन्हें शायद मैट्रिककी परीक्षा देनी थी। एक वर्ष तक कुछ मासिक आर्थिक सहायता उन्हें अपेक्षित थी। बम्बईकी ग० स्व० श्रीसुन्दर बाई (हंसजी-प्रागजी वालीं) मेरी परिचित थीं। उनके पति बहुत धन छोड़ गये थे। उस धनका वह बहुत सुन्दर उपयोग भी करती हैं। पहलेसे ही नासिकमें उनका एक इण्टर मिजियट कालेज भी चलता था। अब भी वह चल ही रहा होगा। उस धनमेंसे विदेशमें जाकर उच्च शिक्षण प्राप्त करनेके लिये भारतीय छात्रोंको भी सहायता देनेकी व्यवस्था है। उसी धनमेंसे मैंने श्री ग० स्व० सुन्दरबाईजीसे श्रीकञ्चन बहिनके लिये सहायता प्राप्तकी थी। उसी धनमेंसे बिहारके एक दीन छात्रके लिये भी मैं सहायता प्राप्त कर सका था, यद्यपि अन्य प्रान्तीय छात्रोंकी सहायता देना उनके नियमसे विरुद्ध था। हाँ, उन्हीं श्रीकञ्चन बहिनके कारण उनके एक बड़े भाईका भी परोक्ष परिचय मुझे मिला था। उनका नाम है—श्रीनटवरलाल शाह बी० ए०। वह उस समय देवगढ़ बारियामें स्कूलके शायद सेकेण्ड मास्टर थे। मैं वहाँ इसलिये चला गया था कि चातुर्मास्य भी करूँगा और एकान्तलाभसे ध्यान, विद्याचिन्तनादि भी करूँगा।

मैं जब सेकेण्ड क्लासमेंसे ट्रेनसे उतरा त्यों ही गुप्तचर—

खुफिया पुलिसने मैं कहाँसे आता हूँ, कहाँ उतरूँगा, किस लिये यहाँ आया हूं, कितने दिनों तक रहूँगा—यह सब जान लेनेका प्रयत्न किया था। मैंने यथा योग्य उत्तर भी दिया था और रहनेका स्थान भी बता दिया था। दूसरे ही दिन श्रीनटवरलाल शाहके पास दीवानका कृपापत्र पहुँचा कि आपके यहाँ जो स्वामीजी ठहरे हैं, उन्हें किसी धर्मशालामें भेज दें। अपने यहाँ न रखें। पत्र पाकर श्रीनटवरलाल शाह विह्वल हो गये। आखिर तो हिन्दू। एक हिन्दू गृहस्थ एक हिन्दू संन्यासीको ऐसा कह ही कैसे सकता है कि आप मेरे यहाँसे चले जायँ। उस संन्यासीको तो कहा ही नहीं जा सकता जिसने उस कुटुम्बकी कुछ भी सेवा की हो। भारी परेशानी थी। श्रीनटवरलाल शाह बहुत व्यथित थे। पुलिसने भी उन्हें हैरान कर दिया। अन्तमें उन्होंने मुझे घटनाओंका श्रवण कराया। उन्होंने मुझे वहाँके तत्कालीन दीवानसे मिलनेको कहा। मैं यह सब मिलने जुलनेका काम करता ही नहीं हूं। अतः मैं दीवानसे नहीं मिला।

श्रीनटवरलालभाई दीवानके पास गये। दीवानने या पुलिसने, किसीने भी उनसे कहा कि—"यह देशी राज्य है। राज्योंमें साधु-सन्तोंके वेषमें बहुतसे गुप्तचर आते हैं। वे लोग राज्यके दोषोंको नोट करते हैं। सर्कारके पास राज्यकी शिकायत पहुँचाते हैं। ये स्वामीजी खादी पहिनते हैं, तो भी क्या हुआ? गुप्तचर सब कुछ कर लेते हैं। आप उन्हें अपने यहाँसे हटा दें नहीं तो आप भी हैरान होंगे।" उनके हेडमास्टरने भी ऐसा ही कुछ कहा होगा। श्रीनटवरलालभाई मुझसे कुछ भी कह नहीं सकते थे परन्तु उनकी मानसिक पीड़ाको मैं पहचान गया था। मैं स्वयम् ही वहाँसे आबू चला गया।

देवगढबारिया जानेके लिये गोधरासे जाया जाता है।

गोधरामें उस समय श्रीनर्मदाशङ्करजी पोस्टमास्टर थे। मेरा उनका पुराना सम्बन्ध था। उनके यहाँ ही भिक्षा लेकर मैं देवगढ-बारिया गया था। लौटकर पुनः मैं उनसे मिला। उन्हें बहुत दुःख भी हुआ और आश्चर्य भी। देवगढके दीवान उनके परिचित थे। उनकी इच्छा थी कि मैं उनके पत्रके साथ पुनः देवगढ जाऊँ और दीवानसे मिलूँ। परन्तु मुझे वहाँ पुनः जानेकी आवश्यकता नहीं थी। वहाँ थोड़ासा पर्वतीय सौन्दर्य तो था परन्तु जल, वायु अत्यन्त दूषित। फल-फूल, शाक-भाजी, अलभ्य, दुर्लभ और बहुमूल्य। मैं उस समय एक छोटेसे देशीराज्यमें इस रीतिसे प्रथम बार ही गया था और प्रथम बार ही मुझे यह कटु अनुभव प्राप्त हुआ था।

ईश्वर जगत्‌का एक खिलौना बना हुआ है। कोई इसे मानता है, कोई नहीं मानता है। कोई इसमें विश्वास रखता है, कोई नहीं रखता है। इसे मानने वालोंमें दो भेद हैं। एक तो उसकी सत्यताका अर्थात् वास्तविक अस्तित्वका स्वीकार करता है और दूसरा औपाधिक अस्तित्वका स्वीकार करता है। कपिल, कणाद, जैमिनि आदि प्रथम कोटिमें आते हैं। ये सब आस्तिक दर्शनकार हैं। चार्वाक आदि नास्तिक दर्शनकार हैं। शङ्कराचार्य तथा उनके अनुयायी द्वितीय कोटिमें आते हैं। ये लोग भी आस्तिक ही हैं। इन्हें नास्तिक नहीं कहा जा सकता।

आस्तिक और नास्तिक ये दोनों शब्द वस्तुतः निरर्थक ही नहीं है, उपद्रवकारी भी हैं। मनुने कहा कि **नास्तिको वेद-निन्दकः**—जो वेदकी निन्दा करे, वह नास्तिक है। पाणिनि ने कहा—**अस्तिनास्ति दिष्टं मतिः** (४।४।६०)। यह सूत्र स्पष्ट नहीं था। जिसको मति हो, वह आस्तिक और जिसको मति न हो तो वह नास्तिक कहा जाता है। महाभाष्यकारने इस सूत्रपर आपत्ति उठायी कि मति तो चोरको भी होती है तब तो वह भी आस्तिक कहा जायगा। इसपर, भाष्यकारको **'इति'** शब्द का अध्याहार करना पड़ा। **अस्ति इति यस्य मतिः स आस्तिकः, नास्ति इति यस्य मतिः स नास्तिकः**। "है" ऐसी मति जिसे हो वह आस्तिक और "नहीं है" ऐसी मति जिसे हो वह नास्तिक। महा-भाष्यकारका भी वचन स्पष्ट नहीं हुआ तब कैयटको बोलना पड़ा।

उन्होंने परलोकको उपस्थित किया है। तब यह अर्थ हुआ कि जो परलोकको मानता हो वह आस्तिक, न मानता हो वह नास्तिक। यहाँपर स्पष्ट जाना जा सकता है कि पाणिनिसे लेकर कैयटतक क्रमिक विकास हुआ। पाणिनि बुद्धिशालीको आस्तिक मानते थे। पतञ्जलि बुद्धिशाली होनेपर भी चोरको आस्तिक नहीं मानते थे। यह तो बहुत ही उत्कृष्ट आर्य संस्कार था। मैं वर्षों से कहता चला आ रहा हूँ कि चोर, डाकू, दम्भी, पाखण्डी, झूठा, लम्पट, विषय-परायण, लोभी आदि आस्तिक नहीं ही कहे जा सकते। पतञ्जलि भी आजसे लगभग दो हजार वर्ष पूर्व यही मानते थे। परन्तु पतञ्जलिने इति शब्दका अध्याहार करके जो अर्थ निकालना चाहा था, वह निकल नहीं सका। "है" ऐसी बुद्धि हो वह आस्तिक। "है" इस क्रियाका सम्बन्ध किसके साथ होगा ? यह एक प्रश्न था। घर है, ऐसी जिसकी बुद्धि हो उसे आस्तिक कहनेमें कोई विशेष सिद्ध नहीं हुआ। अतः कैयटने स्पष्ट किया कि **परो लोकोस्तीति मतिर्यस्य स आस्तिकस्तद्विपरीतो नास्तिकः**। अर्थात् परलोक है, ऐसा जो मानता हो वह आस्तिक और परलोकका न माननेवाला नास्तिक। वस्तुतः इस परिश्रमसे भी ईश्वरका न माननेवाला नास्तिक नहीं सिद्ध हुआ। संभव है कि पाणिनिके समयमें मूर्खको ही नास्तिक और विद्वान्को आस्तिक कहा जाता रहा हो। परन्तु पतञ्जलिके समयमें इन दोनों शब्दोंका अर्थ बदल गया होगा इसीलिये पतञ्जलि चोर पण्डितको आस्तिक कहनेको सहमत नहीं थे। उनके समयमें नास्तिक शब्द अवश्य ही घृणा-जनक हो चुका था अतः उन्हें कुछ प्रयास करना पड़ा। जैसे—**देवानां प्रियः** यह शब्द सम्राट् अशोकके समयमें मानवाचक, प्रतिष्ठासूचक शब्द था और पीछेसे वार्तिककार कात्यायन के समय

में यह अप्रतिष्ठित शब्द बन गया। षष्ठ्या आक्रोशे (६।३।२१) पाणिनिके इस सूत्रपर आक्रोश अर्थमें ही **देवानां प्रिय इति चोपसंख्यानम्** इस वार्तिकसे इस शब्दका अर्थ बिगाड़ा गया है। काशिकाकारके समय तक यह वार्तिक इसी रूपमें रहा। पश्चात् न जाने कब इसमें **मूर्खे** शब्द जोड़ दिया गया। वर्तमान सिद्धान्तकौमुदीमें **देवानां प्रिय इति च मूर्खे** उस वार्तिकका यह स्वरूप उपस्थित है।

इसी प्रकार नास्तिकशब्द पाणिनिके समयमें अविद्वान्‌के लिये प्रयुक्त होता था पीछेसे अनीश्वरवादीके लिये प्रयुक्त होकर निन्दाजनक हो गया। मूर्ख कहनेसे भी निन्दा ही प्रतीत होती थी परन्तु अनीश्वरवादीके अर्थमें वह निन्दाकी सीमाका अतिक्रमण करता है। अस्तु।

मुझे बहुत वर्षोंसे ईश्वरमें विश्वास नहीं है। यदि वह हो भी तो किसी जीवके लिये नितराम् अनुपयोगी है। ईश्वरशब्द ही अवैदिक है। अथर्ववेदमें यह उपलब्ध है। इसलिये यदि अवैदिक नहीं भी कहें तो ऋग्वेदके कालके बहुत पीछेका यह शब्द है, यह निर्विवाद है। सृष्टिकर्ताके रूपमें भी वह निरर्थक है। यह सृष्टि आरम्भमें तो अत्यन्त भयङ्कर थी ही, परन्तु आज भी इसकी भयङ्करता कम नहीं है। पृथिवी छोटी है। प्राणी अत्यधिक हैं। अग्नि और जलके उपद्रवसे सृष्टि व्याकुल है। रोज भूकम्प होते हैं। रोज ज्वालामुखी दीख पड़ती है। वन्य पशुओंका त्रास असह्य है। ग्राम्य पशु भी कम त्रासजनक नहीं हैं। ऐसी अभद्र सृष्टिका निर्माता ईश्वर यदि है तो यह बहुत अभद्र विचार है। ईश्वर यदि है तो कुछ करने-धरनेके लिये नहीं, केवल ध्यान और चिन्तन करनेके लिये। ईश्वरके अस्तित्व-स्वीकारका यदि कोई

भी विशिष्ट प्रयोजन हो सकता है तो इतना ही कि उसपर प्रेम रखनेके कारण या उससे भयभीत होनेके कारण यह दो पैरवाला मनुष्य सन्मार्गमें चले। परहानि और परनिन्दासे दूर रहनामात्र ही ईश्वरस्वीकारका फल होना चाहिये।

मैं स्वयम् ईश्वर नहीं मानता हूँ और यथाशक्ति सभी अपवित्र विचारों और कर्मोंसे अपनेको पृथक् रखनेका प्रयत्न करता रहता हूँ।

मुझे सन्, संवत्, तारीख, तिथि याद नहीं रहती। ढूँढनेके लिये पर्याप्त समय मेरे पास नहीं होता। अतः मैं इतना ही कहकर सन्तोष मान लेता हूं कि "बहुत वर्षों पहलेकी बात है।"

बहुत वर्षों पहलेकी बात है, हरद्वारकुम्भ आ रहा था। हरद्वार-कुम्भमें जानेवाले चारो सम्प्रदायोंके वैष्णवसन्त एक मास तक वृन्दावनमें यमुनाकी रेतीमें निवास करते हैं। लगभग कुम्भ जैसा ही वह भी एक महामेला होता है। अब चौथा कुम्भ हरद्वारका आवेगा। उस पहले कुम्भके आस-पासमें ही उज्जैनमें श्रीरामानन्द-सम्प्रदाय और श्रीरामानुजसम्प्रदाय पृथक् किये गये थे। उसके पश्चात् ही हरद्वारका कुम्भ आया। मैं भी बुलाया गया था। प्रेम और आदरसे आमन्त्रित था। उन दिनों पण्डित श्रीभरतदासजी जो अब सहारनपुरमें रहते हैं, वृन्दावनमें ही रहते थे। वह उत्साही थे। कुछ-न-कुछ साम्प्रदायिक प्रचार किया ही करते थे। उनकी इच्छा थी ब्रह्मचारीको (मुझे) वृन्दावनमें बुलाकर वंशीनादके साथ मेरा जुलूस निकाला जाय, सारे वृन्दावनमें मुझे भ्रमण कराया जाय और रामानन्दसम्प्रदायकी ख्याति बढ़ायी जाय। ऐसा ही हुआ था। बहुत बड़े जुलूसके साथ, वंशीनिनादके साथ, (बाजे-वाले केवल वंशी ही बजाते थे) मुझे सम्पूर्ण वृन्दावनमें घुमा-फिराकर यमुनाकी रेतीमें पहुँचाया गया। उस समय चित्रकूटी महान्त श्रीरघुवीरदासजी महाराजकी कीर्तिपताका फहरा रही थी। मैं उन्हींके पास ठहरा था। एक दिन मैं, पण्डित सरयूदासजी वैष्णवधर्मप्ररोचक तथा बहुतसे अन्य सन्त वृन्दावनके मुख्य और

प्रतिष्ठित मन्दिरोंमें दर्शनके लिये जा रहे थे। वैष्णवधर्मप्ररोचकजी-के मस्तकमें तिलक श्रीरामानुजीयों जैसा था। किसी साधुने यह समझकर कि यह रामनिन्दक—राममन्त्रनिन्दक कोई रामानुजीय हैं, एक डंडा सिरपर ठोंक दिया। उनका सिर फट गया। विद्युद्वेग-से यह समाचार यमुनाजीकी रेतीमें पहुँच गया। किसीने कह दिया कि पण्डितजीको किसीने लाठीसे मारा है और सिर फट गया है। उस समय मुझे भी सब लोग पण्डितजी कहते थे—ब्रह्मचारीजी भी कहते थे। सबने मुझे ही समझा—सबने यही समझा कि मेरा ही सिर तोड़ा गया है। उस समय मेरा भी प्रताप तप रहा था। चारो ओर मैं ही मैं था। रामानन्द–रामानुज दोनों सम्प्रदायोंको पृथक् करनेवाला मैं ही था। वहाँ स्वागत भी मेरा ही हुआ था। कितने ही रामानुजीय बन्धुओंको द्वेष भी मुझसे ही था। अतः सिर फूटनेकी घटना मेरे साथ ही अधिक संगत थी। उस समय भोजनका समय था। सन्त महात्मा भगवत्प्रसाद सेवन कर रहे थे। स्वर्गीय महान्त श्रीरामदासजी महाराज डाड़िया-ने शङ्खनाद करके कह दिया कि ब्रह्मचारीजीका सिर तोड़ डाला गया है। यह भी कहा कि यह घटना रङ्गजीके मन्दिरके पास घटित हुई है। महात्मा लोग जो जैसे तैसेहि उठि धाये। लकड़ी, चिपिया, डंडा, खाली हाथ, सैकड़ों सन्त शहरकी ओर मुझे ढूँढने और मेरी खबर लेने दौड़ पड़े। मुझे तो इस भयङ्करताका ज्ञान ही नहीं था। मैं तो पण्डित श्रीसरयूदासजीको लेकर सैकड़ों महात्माओंके साथ रेतीमें पहुँचा। वहाँ सुना कि महात्मा लोग मेरे लिये शहरमें दौड़ गये हैं। महात्मा लोग श्रीरङ्गजीके मन्दिरमें पहुँचे। मन्दिरवालोंने समझा कि ये महात्मा मन्दिर लूटने आये हैं। अन्दर गोली चलने लगी। गोलीकी आवाज दूर-दूरतक पहुँचती थी। पुलिस श्रीरङ्गमन्दिरमें पहुँच गयी। मैं भी प्रतिष्ठित

नागरिकोंके पास पहुँच गया। किसीको गोली लगी नहीं थी परन्तु कितने ही अच्छे निरपराध सन्त पकड़ लिये गये थे। वह जेलमें बन्द कर दिये गये थे। सब भेख, वृन्दावनकी विधि पूरी होनेपर हरिद्वार चले गये। परन्तु महान्त श्रीरघुवीरदासजीने मेरी प्रार्थना-पर हरिद्वार जाना स्थगित कर दिया। जब तक पकड़े गये साधु जेलमेंसे छोड़ न दिये जायँ तब तक हम लोग वृन्दावन न छोड़ें, यह निश्चित हुआ। साधुओंको मथुरा जेलमें रखा गया था अतः वहाँ आने-जाने और उनसे मिलनेकी सुविधाकी दृष्टिसे हम लोग मथुरा जाकर कहीं नदीके पार ठहरे हुए थे। अब मुझे उस स्थान-का नाम भूल गया है। बड़े प्रयत्नके पश्चात् सभी साधु निर्दोष छूट गये। तब मैं गुजरात चला आया और श्री महान्त रघुवीर-दासजी स्यात् हरिद्वार गये।

वृन्दावनमें उस समय होलीके समय, उससे कुछ पहिले यमुनामें स्नान होता है। अमुक मन्दिर तक निशान, बाजे गाजे जाते हैं। उस साल प्रथम ही श्रीरामानन्दस्वामीजीका जुलूस उसी मन्दिर तक गया था। सारा जुलूस उत्साहसे परिपूर्ण था। वृन्दावनमें एक श्रीरामानन्दसम्प्रदायका मन्दिर बहुत प्रतिष्ठित और धनाढ्य है। उस स्थानके अध्यक्ष हिज़ होलीनेस स्वामी संकर्षण-दासजी महाराज बहुत ही कोमल प्रकृति और कोमल शरीरके विद्वान् महात्मा हैं। मैंने देखा कि वह सारे जुलूसमें कई मीलोंतक पैदल बिना पदत्राणके ही चल रहे थे। उस आचार्यनिष्ठाका मैंने सर्वप्रथम वहाँ ही दर्शन किया और तबसे ही उन स्वामीजी के लिये मेरे मनमें बहुत आदर है।

तबके पण्डित श्रीभरतदासजी और अबके महान्त श्रीभरत-दासजी सहारनपुर, पण्डित बजरङ्गदासजी आदि कई मेरे स्नेही आज मेरे प्रतिद्वन्द्वी हैं। यह मेरी अपनी बात है। यदि मैं

प्रारब्धवादी होता तो मैं यह कहता कि यह मेरे प्रारब्धकी बात है। परन्तु प्रारब्ध जैसी कोई वस्तु मेरे दर्शनशास्त्रमें है ही नहीं। मुझे सिद्धान्त बनाना आता है, उसे स्थिर करना भी आता है और उसके लिये मरना भी आता है। यदि यह दुर्गुण या सद्गुण मुझमें न होता तो आज श्रीरामानन्दसम्प्रदायमें मेरा कोई विपक्षी ही न होता। मैं सिद्धान्तको छोड़ना नहीं चाहता। उसका छोड़ना और मानवताका छोड़ना मुझे समान ही लगता है। अयोध्यामें अन्त्यजस्पर्शके शास्त्रार्थके समय अयोध्याके महान्त श्रीरामदासजी छावियाने मुझसे तीन शर्तें लिखा ली थीं और मैंने उन्हें सहर्ष लिख दिया था। उसमें मेरे सिद्धान्तको तनिक भी धक्का नहीं लगता था। मैं विश्वासपूर्वक सुदृढभावसे मानता हूँ कि श्रीरामानन्द स्वामीजी की सम्मत वर्णव्यवस्था जन्मसे नहीं थी, और न कभी भी वह मानते थे कि अमुक कुल और वर्णमें पैदा होनेसे ही किसीको कोई धार्मिक अधिकार प्राप्त हो जाता है। मैं भी ऐसा ही मानता हूं। अतः वर्णव्यवस्थाके सम्बन्धमें मेरे सिद्धान्तकी हानि नहीं थी। अशान्ति और कलह उत्पन्न करनेका मेरा सिद्धान्त ही नहीं है। अतः मैंने उस समय लिख दिया है कि कलहोत्पादक या अशान्तिप्रद कोई लेख नहीं लिखूंगा। सत्य कहना या लिखना या बोलना न कलहोत्पादक है और न आशान्तिप्रद। कलहोत्पादक लेख वे होते हैं जो किसीकी निन्दाके लिये या किसीको अकारण नीचा दिखानेके लिये लिखे गये हैं। अतः इस लेखसे भी मेरे सिद्धान्तकी हानि नहीं थी। तीसरी प्रतिज्ञा जो मुझसे लिखायी गयी थी उससे तो मैं सर्वथा इस सम्प्रदायका आचार्य बन जाता था अतः उससे भी मेरे सिद्धान्तकी हानि नहीं थी।

एक पत्रपर शायद ता० ८-२-५४ को मुझसे हस्ताक्षर माँगा गया था, मैंने अविलम्ब हस्ताक्षर दे दिया था। हस्ताक्षर माँगनेवाले

महान्त पण्डित वासुदेवाचार्यजी थे। वह भी मेरे पास तीन नियम लिखकर ले आये थे। वे ये हैं—

१—अनादि स्वतः प्रमाण वेद तथा इतिहास पुराणादि प्रमाणोंकी तथा प्रमेयोंकी व्यवस्था बोधायनाभिमत विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तानुसार मानी जाती है।

२—औपासनिक व्यवस्था वेद, श्रीरामतापनीय उपनिषद् श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणादि सद्ग्रन्थ प्रतिपाद्य अनादि श्रीसम्प्रदायाचार्यवर्य श्रीव्यास बोधायनाभिध श्रीपुरुषोत्तमाचार्य, जगद्गुरु श्रीरामानन्दचार्यादिसे अनुष्ठित हनुमदादिदिव्यपार्षदादियुत सर्वावतारी श्रीसीतारामजीकी है।

३—वैष्णवपद्धतिसे लिखे हुए ग्रन्थोंको ही वैष्णवदृष्टिसे आदर दिया जाता है। अवैष्णव पद्धतिसे लिखे हुए ग्रन्थ अनादरणीय हैं।

इन नियमोंपर प्रथम श्रेणीमें मेरा हस्ताक्षर है और द्वितीय श्रेणीमें स्वामी वासुदेवाचार्यजी महान्तका हस्ताक्षर है। इन नियमोंसे भी मेरे सिद्धान्तकी हानि नहीं होती। इसपर मैंने हस्ताक्षर इसलिये कर दिया था कि इन नियमोंको लिखनेवाले महान्त वासुदेवाचार्यजीकी बुद्धि, नियामकशक्ति और भ्रान्तिका सबको पता लग जाय। भले भाईने तो नियम लिखे और इनपर हस्ताक्षर भी कर करा लिये परन्तु यह आजतक स्पष्ट नहीं हो सका कि ये नियम किसी सम्प्रदायको लक्षमें रखकर लिखे गये थे या सामान्य रूपसे किसीके लिये भी लिखे गये थे। वर्तमान विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त बोधायनाभिमत है, इसके लिये अभी तक कोई प्रमाण नहीं है। श्रीभाष्यकारने अवश्य लिखा है कि—

भगवद्बोधायनकृतां विस्तीर्णां ब्रह्मसूत्रवृत्तिं पूर्वाचार्याः सञ्चिक्षिपुः। तन्मतानुसारेण सूत्राक्षराणि व्याख्यास्यन्ते" अर्थात्

"भगवान् बोधायनकृत विस्तीर्ण ब्रह्मसूत्रवृत्तिको पूर्वाचार्योंने संक्षिप्त बनाया था उसीके मतानुसार अथवा बोधायनमतानुसार यहाँपर सूत्रोंका व्याख्यान किया जायगा।" इस लेखपर प्रथम प्रश्न तो यह है कि उस ब्रह्मसूत्रवृत्तिका संक्षिप्त रूप क्या था इसे कोई जानता नहीं है। उसका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हो रहा है। श्रीरामानुज स्वामीके जीवनचरित्रमें लिखा है कि श्रीकूरेशजी और स्वामी रामानुजजी कश्मीरसे उस वृत्तिको चुराकर भगे थे और मार्गमें पकड़ लिये गये। वह ग्रन्थ पुनः कश्मीरमें गया। परन्तु कूरेशने उस सम्पूर्ण ग्रन्थको कण्ठस्थ कर लिया था उसीके आधारपर श्रीभाष्य लिखा गया। दोनोंमें सत्य क्या है, पता नहीं। बोधायनकी सूत्रवृत्ति जबतक कहीं भी उपलब्ध नहीं हो तबतक उसका मत क्या था, यह अवश्य ही अनिश्चित है। यह भी एक प्रश्न है कि बोधायन स्वयं रामोपासक थे या नारायणोपासक। उनके ही मतके अनुसार यदि श्रीभाष्य लिखा गया है तो उसमें तो नारायणको ही परम-पुरुष, पुरुषोत्तम माना गया है। रामका उसमें न नाम है और न महत्त्व है। तब यह कैसे सिद्ध हो कि बोधायन ही राममन्त्राचार्य पुरुषोत्तमाचार्य थे। पुरुषोत्तमाचार्यके समयका निर्णय करनेके लिये कोई साधन नहीं है। अतः विद्वन्मण्डलमें यह कहना बहुत ही साहसका कार्य होगा कि श्रीपुरुषोत्तमाचार्य और श्रीबोधायन दोनों एक ही व्यक्ति हैं। रामानन्दसम्प्रदायके कुछ मनचले विद्वानोंमें कुछ नयी घोषणा कर देनेकी कुप्रथा तो है परन्तु उसकी सिद्धिके साधनकी उन्हें कोई चिन्ता नहीं होती। सब असत्यवादी बने हुए हैं। समस्त श्रीरामानन्दसम्प्रदायको असत्यकी ओर ले जाने का प्रयास करते रहते हैं। अस्तु, तुष्यतु दुर्जनः। यह मान भी लें कि बोधायनमुनि विशिष्टाद्वैतवादी थे तो इस माननेमें केवल श्रीभाष्यकी उपर्युक्त पंक्तिके और कुछ भी प्रामाणिक आधार

नहीं है। तब वासुदेवाचार्य महान्तजीने जो प्रथम नियम लिखा था कि प्रमाणों और प्रमेयों की व्यवस्था बोधायनाभिमत विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्तानुसार मानी जाती है, यह तो क्रीडा थी और मैंने उनको उस शालभञ्जिकासे सन्तुष्टकर दिया। उसमें एक और भी महान्त-जीने नयी बात की है। आजतकके विद्वान् वेदोंके अनुसार ही किसी सिद्धान्तकी प्रमाण-प्रमेयकी व्यवस्था करते हैं। इन्होंने बोधायनाभिमत विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तके अनुसार स्वतः प्रमाण वेदों की व्यवस्था कर डाली है। इतिहास, पुराणादिकी व्यवस्था भी इनके मतसे बोधायमतानुसार होनी चाहिये और बोधायन-सिद्धान्तका निर्णय करनेके लिये कोई साधन नहीं है। ऐसे शेखचिल्लीके लेखपर मेरा हस्ताक्षर केवल मनोरञ्जनके अतिरिक्त दूसरा कुछ भी नहीं है।

दूसरे नियमकी भाषा पढ़ जाइये, मेरे कहनेसे एक बार पुनः पढ़ जाइये तब आपको उस लेखके लेखकके दार्शनिकसार्वभौमत्वका दिग्दर्शन हो जायगा। हमारे सम्प्रदायके पण्डितोंमें एक यह भी रोग है कि सब मनमाना अपने नामके आगे पीछे चाहे जितनी भी उपाधियाँ जोड़ लेते हैं। **भक्षितेपि लशुने न शान्तो व्याधिः** के अनुसार इतना बड़ा उपहास्य पाखण्ड करनेके पश्चात् भी वह प्रतिष्ठित नहीं ही हो पाते, यह भी एक सत्य स्थिति है। अब दार्शनिक सार्वभौमकी विद्वत्ताकी परीक्षा करें। दूसरे नियममें वाक्य तो एक ही है परन्तु बातें बहुत-सी हैं। उनका पृथक्करण इस प्रकार है—

१—औपासनिक व्यवस्था सर्वावतारी श्रीसीतारामजीकी ही है।

२—औपासनिक व्यवस्था हनुमदादि दिव्य पार्षदादियुत सर्वावतारी श्रीसीतारामजीकी ही है।

३—औपासनिक व्यवस्था वेद, श्रीरामतापनीय उपनिषद्, श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणादिसद्ग्रन्थ-प्रतिपाद्य हनुमदादिदिव्यपार्षदादियुत सर्वावतारी श्रीसीतारामजीकी है।

४—औपासनिक व्यवस्था अनादि श्रीसम्प्रदायाचार्यवर्य श्रीव्यास, बोधायनाभिध श्रीपुरुषोत्तमाचार्य, जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यादिसे अनुष्ठित हनुमदादि दिव्यपार्षदादियुत सर्वावतारी श्रीसीतारामजीकी है।

महान्त वासुदेवाचार्यजीके एक वाक्यमेंसे इस प्रकारसे चार वाक्य बनाये जानेपर ही उनके दुर्बल हृदयका परिचय प्राप्त किया जा सकता है। अब इन चारों वाक्योंपर शान्त चित्तसे विचार करें।

१—'औपासनिक व्यवस्था श्रीसीतारामजीकी ही है।' जैसे कोई यह कहे कि यह व्यवस्था देवदत्तकी है इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि यह व्यवस्था देवदत्तकृत है ऐसे ही यहाँ स्पष्ट और निर्विवाद अर्थ यह है कि औपासनिक व्यवस्था श्रीसीतारामकृत है। तब यह बताना चाहिये कि श्रीसीतारामजीने औपासनिक व्यवस्था क्या की है? और उपास्य किसे माना है?

यदि षष्ठीका अर्थ सम्बन्ध ही माने तो यह अर्थ होगा कि औपासनिक व्यवस्था श्रीसीतारामजीसम्बन्धिनी है। और वह श्रीसीतारामजी सर्वावतारी हैं। अब महान्तजी बतावें कि किस वेदमें लिखा है कि श्रीसीतारामजी सर्वावतारी हैं। यह भी बतावें कि किस वेदमें लिखा है कि हनुमदादि दिव्यपार्षदादियुत सर्वावतारी श्रीराम हैं?

यह भी बताना होगा कि श्रीरामतापनी उपनिषद्में कहां लिखा है कि हनुमदादिदिव्यपार्षदादियुत सर्वावतारी श्रीसीताराम उपास्य हैं?

यह भी बताना चाहिए कि सर्वावतारी सीता और राम दोनों हैं, यह कहां लिखा है ?

यदि कहें कि दोनोंमें अभेद माननेसे दोनों ही अवतारी हो सकते हैं तो इसका क्या उत्तर होगा कि अभेद सत्य है या असत्य ? यदि सत्य है तो दो रहे ही कहां ? एक ही वस्तु रह जाती है। यदी कहें अभेद असत्य है—काल्पनिक है तो असत्य अथवा काल्पनिक वस्तुका स्वीकार योग्य है किंवा अयोग्य ? अभेद असत्य ही है तो भेद ही सत्य है, और तब बताना ही चाहिये कि सीता और राम दोनों अवतारी कैसे हैं ? इसमें शास्त्रीय प्रमाण क्या है ?

किंच यदि दोनों ही अवतारी हैं तो कौन राम और कौन सीता अवतारी हैं ? दाशरथि राम और जानकी सीता अवतारी हैं अथवा नित्य भगवद्धाममें विराजमान सीता-राम अवतारी हैं ? यदि दाशरथि राम और जानकी सीता अवतारी हैं तो रामको अवतार कैसे माना जा सकता है ? वह तो अवतारी हुआ, तब रामावतार कौन है ?

किंच सीताजीका अवतार भी राम और कृष्ण हैं या नहीं ? यदि हैं तो प्रमाण क्या है ?

यदि नहीं हैं तो उनसे किसका अवतार होता है ? **राघवत्वे भवेत्सीता रुक्मिणी कृष्णजन्मनि** क्या इस वचनके अनुमार आप सीताको रुक्मिणीका अवतारिणी मानते हैं ? यदि हां तो ब्रह्मवर्तपुराणादिमें रुक्मिणी और राधा आदिको नित्य तथा सबका कारण माना गया है, उसका क्या उत्तर होगा ? किंच उपर्युक्त वचन तो लक्ष्मीके लिये है। रामावतारमें वही लक्ष्मी सीता बनती है और कृष्णावतारमें वही लक्ष्मी रुक्मिणी बनती

है। तब तो सीता और रुक्मिणी दोनों ही लक्ष्मीके अवतार सिद्ध हुईं और लक्ष्मी अवतारिणी सिद्ध हुई।

सीता लक्ष्मीर्भवान् विष्णुर्देवः कृष्णः प्रजापतिः।

वा० उत्तर० ११७।२७

इस वचनसे तो यही सिद्ध होता है कि सीता लक्ष्मीके अवतार हैं तथा राम विष्णुके अवतार हैं। तिलकटीकाकारने भी लिखा है—'**सीता लक्ष्मीः प्रसिद्धविष्णुपत्न्यभिन्नत्वात्। यो विष्णुः स भवान् देवः प्रकाशरूपः।**

वधार्थं रावणस्येह प्रविष्टो मानुषीं तनुम्॥

उत्तर० ११७।२८

इस श्लोकसे भी यही सिद्ध होता है कि दाशरथि राम विष्णुके अवतार हैं। वाल्मीकिजीने बालकाण्डमें भी लिखा है—

एतस्मिन्नन्तरे विष्णुरुपयातो महाद्युतिः।
शङ्खचक्रगदापाणिः पीतवासा जगत्पतिः॥
तमब्रुवन् सुराः सर्वे तमभिष्टूय सन्नताः॥
त्वां नियोक्ष्यामहे विष्णो लोकानां हितकाम्यया।
राज्ञो दशरथस्य त्वमयोध्याधिपतेर्विभो!
अस्य भार्यासु तिसृषु............।
विष्णो पुत्रत्वमागच्छ कृत्वात्मानं चतुर्विधम्॥
एवं स्तुतस्तु देवेशो विष्णुस्त्रिदशपुङ्गवः।
अब्रवीत् त्रिदशान्सर्वान्............॥

यह प्रसङ्ग बता रहा है कि दाशरथि राम अवतारी नहीं है,

किन्तु विष्णु अवतारी और राम अवतार हैं। एवं सीता भी अवतारिणी नहीं हैं, लक्ष्मीके अवतार हैं।

अतः महान्त वासुदेवाचार्यजीका लेख ही बालिश-क्रीडा है।

एवम् महान्तजी पूजा और उपासनाका भेद नहीं समझ सके हैं। पूजा षोडश प्रकारकी प्रसिद्ध है। पूजाके अन्य भी अनेक प्रकार हैं। ६४, १८, १०, ५ इत्यादि। उपासनाका नाम पूजा नहीं है। पूजाका नाम उपासना नहीं है।

सर्वदर्शनसंग्रहमें जो लिखा है—

तदुपासनं च पञ्चविधम्, अभिगमनम्, उपादानम्, इज्या, स्वाध्यायः, योग इति श्रीपञ्चरात्रेभिहितम्। तत्र अभिगमनं नाम देवतास्थानमार्गस्य संमार्जनोपलेपनादि। उपादानं गन्धपुष्पादिपूजासाधनसम्पादनम्। इज्या नाम देवतापूजनम्। स्वाध्यायो नाम अर्थानुसन्धानपूर्वको मन्त्रजपो वैष्णवसूक्तस्तोत्रपाठो नामसंकीर्तनं तत्त्वप्रतिपादकशास्त्राभ्यासश्च। योगो नाम देवतानुसन्धानम्।

अर्थात् ईश्वरोपासना पाँच प्रकार की है।

१—**अभिगमन**—देवतास्थानके मार्गका लेपन अथवा संमार्जन,

२—**उपादान**—गन्ध, पुष्प आदि पूजाके साधनका सम्पादन करना,

३—**इज्या**—देवतापूजनम्,

४—**स्वाध्याय**—अर्थानुसन्धानपूर्वक मन्त्रजप, वैष्णवसूक्त, वैष्णवस्तोत्रपाठ, नामसंकीर्तन, तत्त्वप्रतिपादक शास्त्रोंका अभ्यास,

अप्रतिहत ही रहता है। अतः यह निश्चय ही है कि मैं अपने सिद्धान्तको नहीं छोड़ता।

उसी प्रयागके कुम्भपर बड़ा भारी मोर्चा संघटित किया गया था। मैं दाशरथि रामको परब्रह्म सर्वावतारी नहीं मानता हूं। उनको **विभव** मानता हूँ, अवतार मानता हूँ। प्रयागमें अन्ततक यही कहता रहा, यही लिखता रहा, विपक्षियोंने सिर झुका दिया।

मैं यह भी कहता था और कहता हूं कि केवल रामनाम जपनेसे पापक्षय नहीं होता और मुक्ति नहीं मिलती। परन्तु अर्थानुसन्धान-पूर्वक जप करता हुआ, सदाचारसम्पन्न रहकर ही पापमुक्त हो सकता है और मुक्ति प्राप्त कर सकता है। मैं नामजपपर बल नहीं देता हूं, किन्तु ईश्वरीयाज्ञाके अनुसार आचरण करनेपर भार देता हूं। अन्त तक यही कहता रह गया। विपक्षी गिर गये। मैं अपना सिद्धान्त कभी भी नहीं छोड़ता।

मैं अपने जीवनका निरीक्षण करता रहता हूँ। कभी कभी मुझे आश्चर्य होता है कि एक ही प्रकारकी घटनाएं कितनी ही बार मेरे जीवनमें हुई हैं। मेरी माताजी का देहावसान हुआ, पिताजीका देहावसान हुआ, पूर्वाश्रमके सर्वाधिक प्रिय और श्रद्धास्पद मेरे ज्येष्ठ बन्धुका अवसान हुआ, परन्तु मैं वहाँ नहीं था। मेरे श्रीगुरुदेवका वैकुण्ठवास हुआ, मैं उस समय अयोध्यामें नहीं था। मेरे विद्यागुरु श्रीमान् विद्वद्वर्य स्वामी श्रीसरयूदासजी महाराजकी इच्छा थी कि मैं उनका एक बार दर्शन करूँ, मैं जानेकी तैयारी ही करता रहा और वह साकेतवास कर गये। झीथड़ा गादीके आचार्य स्वामी श्रीरामचरणदासजी महाराज मुझसे मिलनेके लिये ही बड़ोदा आये थे, उनकी बहुत इच्छा थी कि मैं उनके साथ ही झीथड़ा चलूँ, मैं नहीं गया। वह झीथड़ा पहुँचकर तीसरे या चौथे दिन ही परमपदको चले गये, मैं वहाँ नहीं था। रामानन्दसम्प्रदायके परम अनुरागी, बड़ोदेके महान्त श्रीरामदासजी साकेतवासी बने, मैं वहाँ नहीं था। भरतपुरके अधिकारी श्रीजगन्नाथाचार्यजी बम्बईमें स्वर्गवासी बने, मैं कुछ ही दिन पूर्व मिलकर आया था, मृत्युके समय मैं उनके पास नहीं था। आबूके परमहंस श्रीदामोदरदासजीका साकेतवास हुआ, मैं वहाँ नहीं था। अहमदाबादके महान्त श्रीगोकुलदासजी परमपद गये, मैं वहाँ नहीं था। राजाधिराज मन्दिर अहमदाबादकी अध्यक्षा श्रीमती विद्दनदेवीजी स्वर्गवासिनी हुईं, उस समय मैं उनके सामने नहीं था। मेहशानामें श्रीभागीरथी व्यास परलोक गयीं, इच्छा थी तो भी मैं

वहाँ नहीं पहुँच सका। सौ० श्रीमती जयागौरीशाहको मिलनेके लिये मैं तार पाकर काशीसे विमानसे निकला, ट्रेनसे वहाँ पहुँचा, परन्तु मैं उनसे न मिल सका। अयोध्याके मणिरामजीकी छावनीके श्रीमान् महान्त श्रीरामशोभादासजी महाराजकी बीमारीके समयमें मैं काशीसे अवध जाकर उनके दर्शनके लिये, अन्तिमदर्शनके लिये कृतसंकल्प था, परन्तु न जा सका। अगत्या मुझे बैङ्गलोर जाना पड़ा। उपर्युक्त श्रीमहान्तजी महाराज अभी ही ता० २० जुलाई १६५७ को ब्रह्मीभूत हो गये। मैं दर्शन न कर सका।

मैंने जितने ऊपर नाम गिनाये हैं, सबके साथ मेरा सम्बन्ध था, प्रेम था, सब कुछ था। मैं क्यों नहीं मिल पाता हूं, यह एक समस्या ही है। मैं सदा चाहता हूं कि अपने प्रियजनों, पूज्यजनों, श्रद्धालुजनोंके समीप उनके अन्तिमक्षणमें उपस्थित रहूं, परन्तु अब तकका इतिहास स्पष्ट है कि मैं किसीके पास न पहुँच सका। ऐसा क्यों होता रहा है, मैं अभी तक इस प्रश्नका उत्तर नहीं ढूंढ सका हूं।

महान्त श्रीरामशोभादासजी महाराजकी तो मुझपर अनन्त कृपा थी। उनकी कृपाका मैं कितना और कैसे वर्णन करूं? विरक्तके ३० जुलाई १६५७ के अंकसे दो उद्धरण यहां दे देता हूं। उन्हींसे स्पष्ट हो जायगा कि मैं उनका कितना बड़ा कृपापात्र था।

श्रीमहान्त भगवान्दासजी खाकीजी लिखते हैं—

"छावनी ही वह उद्गमस्थान है जहांसे श्रीरामानन्दीयताका प्रचार और प्रसार हुआ है। पिछले ५१ वर्षोंकी महन्थीमें साकेतवासी स्वामी रामशोभादासजी महाराजका ही कार्य था जो पण्डितराज स्वामी भगवदाचार्यजीको सम्प्रदायका नेता सरगना, अगुवा बनाकर सम्प्रदायके समक्ष खड़ा कर दिया और कहने लगे कि जिसे सन्देह हो वह ब्रह्मचारी भगवद्दाससे अपनी शंका दूर कर ले। यह

काम इसीका है। जो जन-जनके हृदयमें विलुप्त रामानन्दीयत्वके अभिमानको भरेगा। श्रीरामनन्दस्वामीजीका जो चित्रपट आज हम देख रहे हैं वह इन्हीं स्वामीजीकी देन है।"

हनुमान्गढ़ी श्रीअयोध्याके पण्डित श्रीजानकीदासजीने भी विरक्तके उसी अङ्कमें लिखा है—

"साम्प्रदायिक आन्दोलनमें भी आप (श्रीमान् महान्त राम-शोभादासजी महाराज) एकमात्र कर्णधार थे जो श्रीस्वामी-रघुवराचार्यजी व स्वामी श्रीभगवदाचार्यजी आदि साम्प्रदायिक नेताओंको तैयार कर पथप्रदर्शन करते रहे।"

महान्त श्रीरामशोभादासजी महाराजके परधाम पधार जानेके बाद अयोध्या सूनी हो गयी। आज अयोध्यामें कोई ऐसा नहीं रहा जो उनके पवित्र स्थानको ले सके। वह वही थे। आज सम्प्रदायमें शून्यता सी छा गयी है। सम्प्रदायोंमें दो ही ऐसे महान्त महानुभाव गिने जाते थे जिनका पवित्र नाम और यश सर्वत्र फैला हुआ है। एक तो वही थे और चले गये। अब दूसरे परमवृद्ध, परमदानी, गो-साधुप्रतिपालक श्रीमहान्त नरसिंहदास-जी महाराज, जगदीशमन्दिर अहमदाबादमें आज वर्तमान हैं। जगदीशमन्दिरके श्रीमहान्तजी महाराज बड़े सिद्ध पुरुष हैं। उनकी उदारतामें तो उनकी समानता कोई कर ही नहीं सकता।

सम्प्रदायके महान् सन्तपुरुषके परलोक पधारनेके समय मैं अन्तिम दर्शशनसे बञ्चित रहा, यह दुःख तो रह ही गया।

मैंने सामवेदपर सामसंस्कार भाष्य लिखा। उसमें मेरा अपना स्वतन्त्र श्रम है, स्वतन्त्र विचार हैं। वेदान्तसूत्रपर वैदिक भाष्य मैंने लिखा। वह तो सर्वथा ही मौलिक भाष्य है। सभी आचार्योंने उपनिषदोंकी श्रुतियोंके आधारपर सूत्रोंकी संगति लगायी है। जिसने सर्वप्रथम वेदान्तसूत्र भाष्य किया होगा उसे ही श्रुतियों-के संग्रहका श्रम करना पड़ा होगा, पीछेके सभी भाष्यकारोंने उन्हीं श्रुतियोंको उठा लिया और अपने अनुकूल अर्थ उनके कर लिये। वेदान्तसूत्र जबसे बना है, सहस्रोंवर्षोंके पश्चात् मेरी ही लेखनीने उसपर स्वतन्त्र भाष्य लिखा और संहिताभागके आधारपर सूत्रोंकी संगति लगायी। उपनिषदोंपर भी मैंने स्वतन्त्र भाष्य किया। भगवद्गीतापर भी भाष्य किया। रामानन्ददिग्विजय, भारतपारिजात, पारिजातापहार, परिजातसौरभ ये चार संस्कृत महाकाव्य मैंने लिखे। इनके अतिरिक्त तो कितने ही स्तोत्र, कितने ही अन्य ग्रन्थ कुल लगभग ६० ग्रन्थ मैंने लिखे। गीतापर गुजराती भाषामें भी भाष्य लिखा। ८ वर्षोंतक तत्त्वदर्शीमासिकपत्र चलाता रहा। मेरे इन सब संस्कृतभाषाकी तथा अन्य भाषाओंकी सेवा देखकर तथा लोकोपकारकी मेरी भावना देखकर काशीपण्डितसभाने लगभग ६० पण्डितोंकी सभामें, मुझे पण्डितराजकी उपाधि देनेकी उदारता प्रकट की। इसपर रामानन्दसम्प्रदायके बुद्धू पण्डितोंको ईर्ष्या होने लगी। प्रथम तो ये लोग चाहे जिसके नामके आगे पण्डितराज लिखने लग गये। उनका तात्पर्य यह था कि मुझे जो उपाधि काशीके पण्डितोंने दी, उसका मूल्य कम कर

दिया जाय। परन्तु यह तो उन लोगोंने सोचा ही नहीं कि सबके सब मेरे चरणचिह्नके अनुयायी बननेका ही प्रयास करने लगे हैं। यह तो हुआ और मेरे एक ही जादूसे सबकी जीभ और कलम स्तब्ध बन गयी। मैंने पण्डितराजके साथ—काशी पण्डितसभा द्वारा प्रदत्त पण्डितराजकी उपाधिसे विभूषित—लिखने लगा तब सब अपना सा मुँह लेकर रह गये। अब इन मूर्खोंने यह कहना शुरू किया है कि काशीके पण्डितोंको पाँच सौ रुपये देकर यह उपाधि प्राप्त की गयी थी। इसमें केवल शैतानियत है। मूर्ख जब मेरी समानतामें नहीं आ सकते तो कुछ न कुछ मुझमें दोष बताने लगते हैं। इन महामूर्खों को इतना भी पता नहीं है कि मेरे इतने महाग्रन्थोंके रहते हुए मुझे घूस देकर उपाधि लेनेकी आवश्यकता ही क्या है? घूस वे मूर्ख देते हैं जिनके बापदादोंने भी और उनके सन्तानोंने भी एक अक्षर भी ग्रन्थके रूप लिखनेका सौभाग्य नहीं प्राप्त किया है। मैं तो पाषण्ड और दम्भ जानता ही नहीं हूं। यह सब करने मुझे आता ही नहीं है। काशीके विद्वानोंकी परिपाटी और विद्वत्परम्पराके अनुसार सभामें आये हुए विद्वानों-को दक्षिणा दी गयी उसे तो घूस नहीं कह सकते। परन्तु शठोंसे तो ईश्वर भी पराजित होता रहता है।

यह पण्डितराज उपाधि ऐसी नहीं है कि इसे धनसे क्रय किया जाय। महोमहोपाध्यायकी उपाधि अवश्य ही अंग्रेजों की सिफ़ारिश से ली जाती थी। उनके लिये धन भी देना पड़ता था और हकिमोंके द्वारकी धूल भी छाननी पड़ती थी। दार्शनिक सार्वभौम एक उपाधि महान्त वासुदेवाचार्यजीने अपने साथ लगा ली है। मैं भी तो पण्डितराज पहले भी लिख सकता था, मुझे कौन रोक सकता था? जब पाश्चात्यदर्शनका जरा भी ज्ञान न होनेपर जैनदर्शन और बौद्धदर्शनके समर्थनकी तनिक भी शक्ति

न होनेपर वासुदेवाचार्यजी अपनेको दार्शनिक सार्वभौम लिखनेकी धृष्टता कर सकते हैं तो मैं तो महाग्रन्थोंका निर्माता हूँ। मेरी पण्डितराजता तो स्वयंसिद्ध है। किसीने अपने नामके आगे दर्शननिधि, वेदान्तभूषण न्यायालङ्कार आदि कितनी ही उपाधियाँ लगा रखी हैं। सब कल्पित हैं। मैं ऐसा नहीं कर सकता।

मेरे जीवनमें रामानन्द सम्प्रदायके पण्डितोंने मेरे साथ कितना क्षुद्र उपद्रव किया है, इसका पता इस प्रकारसे लग सकता है।

मैं प्रथम प्रथम जब द्वारका गया तव वहां कुण्डमें और समुद्रमें अमुक सीमामें कोई मुझे स्नान ही न करने दे। बड़ोदाराज्यका वह तीर्थ था। वहां टैक्स देकर ही लोग स्नान करते थे। मैंने तो उस तीर्थमें स्नान ही नहीं किया। बेटद्वारिकामें गया तो वहां भी टिकट था। परन्तु मैंने टिकट नहीं दिया। टिकटके पैसे देकर दर्शन करनेमें मेरी कभी भी कहीं भी श्रद्धा नहीं होती है।

अब एक दूसरी बात भी कर लूँ। मैं जब इस सम्प्रदायमें आया तो कोई भी अच्छा विद्वद्योग्य स्तोत्र नहीं था। मैंने बहुतसे स्तोत्र लिखे और छपाकर प्रकाशित कराये। उन्हें देखकर पण्डित वैष्णवाचार्यजी कुछ स्तोत्र गढ़ने लगे। यह तो अच्छा ही हुआ। परन्तु उन्होंने टीलाजीके नामसे या श्रीमङ्गलदासजीके नामसे स्तोत्र लिखनेका आरम्भ किया। उनमें कितने ही श्लोक ऐसे हैं जो मेरे श्लोकोंकी ही नकल है। ऐसा करनेमें उनका तात्पर्य यह है कि भविष्यमें टीलाजीके या मङ्गलदासजीके नामसे बनाये गये स्तोत्र पुराने माने जावेंगे और मेरे बनाये स्तोत्र उन दोनों की नक़ल माने जायँगे। मैंने जो कुछ लिखा उसकी नकल पण्डित वैष्णवदासजी उर्फ वैष्णवाचार्यजीने महामुनीन्द्र मङ्गलदासजी अथवा श्रीटीलाजीके नामसे कर डाली। मैंने मारुतिस्तव लिखा

तब वैष्णवाचार्यजीने श्रीमङ्गलदासजीके नामसे प्रभञ्जनकुमाराष्टक लिखा। ऐसा लिखनेमें उनका तात्पर्य यह है कि वह सबसे यह कह सकेंगे कि मंगलदासजीने प्रभञ्जनकुमाराष्टक लिखा था उसकी नकल करके मारुतिस्तव नामसे हनुमान्‌की स्तुति स्वामी भगवदाचार्यने लिखी। मैंने एक ग्रन्थ भक्तकल्पद्रुम लिखा। उसका आरम्भ मैंने द्रुतविलम्बितछन्दसे और 'रघुपते' इस पदसे किया है तथा लगभग सभी श्लोकोंमें 'रघुपते' यह पद रखा है। वैष्णवाचार्यजीने श्रीटीलेजीके नामसे उसी छन्दमें और उसी 'रघुपते' पदसे आरम्भ करके प्रपत्तिकुसुमाञ्जलि लिख डाली। यह सब केवल इस कुबुद्धिसे ही किया गया है कि मेरे शरीर के अन्त हो जानेके पश्चात् यह कहने और अनुमान करने को रह जाय कि टीलाजी और मङ्गलदासजी बहुत पुराने सन्त हैं। उन लोगोंने जो कुछ लिखा था उसीका अनुकरण भगवदाचार्यने किया था। भगवदाचार्य का अपना कोई नूतन श्रम नहीं है। वैष्णवाचार्यजी ने मेरे साथ इतना ही अन्याय नहीं किया है प्रत्युत जबसे काशी-की पण्डितसभाने 'पण्डितराज' की उपाधि दी तबसे इन्होंने एक दूसरा खेल शुरू किया। अपने सभी साथियोंको 'पण्डितराज' लिखना शुरू कर दिया, अन्य उपायसे शुरू करा दिया। इसीका यह प्रतिफल है कि पालनपुरके महान्त कपिलदेवदासजीने अपनेको पण्डितराज लिखा। डाकोरके पण्डित माधवदासजीको वैष्णवाचार्य जीने ही पण्डितराज लिखा। इतने ही पाखण्डसे उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने किसी एक उपनिषद्‌पर शायद प्रश्नोपनिषद्‌पर एक छोटा सा भाष्य लिखा तबसे अपनेको वह उपनिषद्भाष्यकार लिखने लग गये। यह इसलिये कि मेरे नामके आगे पहलेसे ही वेदोपनि-षद्भाष्यकार लिखा जा रहा है। इन महाशयमें नकल करनेकी एक आदत सी है। एवम् किसीको गिराकर, किसीकी प्रतिष्ठाको

मिटाकर खाकमें मिला •देनेकी भी इच्छा रहा करती है। सभी जानते हैं कि श्रीटीलाजीने या श्रीमङ्गलदासजीने कभी कहीं एक भी श्लोक नहीं लिखा है। शायद एकाध हिन्दी पद्य भी उन लोगोंने नहीं लिखा है। क्योंकि वैष्णवाचार्यजीसे जब जब कहा गया है कि इन ग्रन्थोंकी प्राचीन प्रतिलिपि दिखावें तो वह नहीं दिखा सके हैं। रामानन्दसम्प्रदायमें पाषण्डको उत्तेजना देनेके लिये ही इनका यह सब प्रयास हुआ करता है। बड़ास्थान अयोध्याकी विन्दुगादी-के आचार्य स्वामी श्रीरामप्रसादजी महाराजने वेदान्तसूत्रोंपर एक विस्तृत भाष्य लिखा है जिसका नाम 'जानकीभाष्य' है। शिंगड़ा-वाले रघुवराचार्यजीने जानकीभाष्यमेंसे काट छाँटकर एक आनन्द भाष्य बना दिया। एक अन्याय तो शिंगड़ा की ओरसे हुआ। अब वैष्णवाचार्यजीने क्या किया उसे सुनिये। उन्होंने घोषणा कर दी कि आनन्दभाष्यपर श्रीटीलाजीने एक टीका लिखी है जिसका नाम है **सुरद्रुम**। श्रीमङ्गलदासजीने सुरद्रुमपर टीका लिखी है जिसका नाम है **सुरद्रुममञ्जरी**। यह सब अनर्थपरम्परा चलायी गयी है वैष्णवदासजीसे। सुरद्रुम और सुरद्रुममञ्जरीके लिये मैंने डाकोरमें श्रीमान् महान्त रामनारायणदासजी मङ्गलपीठाधीशसे पूछा कि आपके स्थानमें ये दोनों ग्रन्थ उपस्थित हैं या नहीं ? उनसे इस लिये पूछा कि मङ्गलदासजी महाराजके परिवारके भी हैं और श्रीटीलाजीके द्वारके भी हैं। उन्होंने उत्तर दिया कि ये दोनों ग्रन्थ मेरे यहाँ थे परन्तु पण्डित वैष्णवाचार्यजीको मुद्रित करानेके लिये दिये हैं। मैंने श्रीवैष्णवाचार्यजीसे दोनों ग्रन्थोंको देखनेके लिये माँगा। मैंने घोषणाकर रखी है कि ऐसे कहे जानेवाले प्रचीन ग्रन्थों-को मैं जिलाकलक्टर तथा अन्य किसी योग्य विद्वान्के समक्ष देखना चाहता हूँ। उनकी मैं परीक्षा भी कराना चाहता हूँ कि वे किस

समय में लिखे गये हैं, उनका कागज किस समयका है, उनकी स्याही किस समयकी है और अक्षर किस समयके हैं। मेरी इस घोषणासे सब पाषण्डी लेखक घबड़ाते हैं। प० वैष्णवाचार्यजीने मुझे वे ग्रन्थ नहीं ही दिखाये। दिखावें कहांसे? कोई उनका अस्तित्व हो तो न! अब इस असत्यवादका फल यह हुआ कि आनन्दभाष्य श्रीरामानन्द स्वामीका रचित है, यह सिद्‍ध नहीं हो सका। तब सुरद्रुम भी गया और सुरद्रुममञ्जरी भी गयी। वैष्णवाचार्यजीने अपने दो एक छोटे छोटे पुस्तकों में जहां तहां "यह आनन्दभाष्यमें लिखा है" ऐसा लिखा है, वह सब गपोड़ा ही सिद्‍ध हुआ। नये पुस्तकलेखकोंने अपने अपने पुस्तकोंमें आनन्दभाष्यका नाम लिया है वह भी सब निरर्थक और हास्यास्पद ही सिद्‍ध हुआ। मैंने भी कहीं कहीं ऐसा ही लिखा है, वह भी हास्यपात्र ही बना। मैं महात्मागांधीजीके उपदेशोंके आधारपर अपने असत्योंका स्वीकार करता रहता हूं और अन्य लोग असत्योंका पोषण करते रहते हैं यही उनमें और मुझमें अन्तर है। पाठकों और ऐतिहासिकोंको यह भी बता देना आवश्यक है कि मेरा **भक्तकल्पद्रुम** १९७६ विक्रमसंवत्‌में बना है और उसी संवत्‌में छपा भी है। उसकी एक विशिष्ट अवृत्ति संवत् १९९९ में हुई थी जिसे बड़ोदेके स्वर्गीय महान्त श्रीरामदासजीने प्रकाशित की थी। तथा मङ्गलदासजी और टीलाजीके नामसे कल्पित बनाये गये स्तोत्र **प्रबन्धरत्नावली** नामक पुस्तकमें विक्रमसंवत् २०१० में पहली ही बार प्रकाशित हुए हैं।

मैं रामानन्दसम्प्रदायके कुछ मिथ्याभिमानी पण्डितोंसे क्षुब्ध हूं। झूठा क्या न करता? वे सब स्वयं कुछ भी न कर सके हैं और न कर सकते हैं। अतः उनका काम यह है—दूसरोंके कार्यको

बिगाड़ना। मेरा कोई विरक्त शिष्य नहीं है। मेरा कोई अपना मठ-मन्दिर नहीं है। मेरे स्वतन्त्र ग्रन्थ ही मेरा कीर्तिस्तम्भ हैं। उनको नष्ट करनेके लिये इस सम्प्रदायके पाखण्डी लोग उद्यत हैं। अपनी कीर्तिकी रक्षाके लिये ही मुझे यह सब लिखना पड़ा है मेरे जीवनको मेरे शत्रु मेरे पश्चात् कलङ्कित करनेके प्रयासमें सफल न हो सकें, इसी लिये तो मैं अपना जीवनचरित अपने हाथोंसे लिखकर अपने जीवनकालमें ही प्रकाशित कर रहा हूं।

मेरा एक छोटा सा ग्रन्थ है **भक्तिभागीरथी**। बहुत वर्षों पूर्व अयोध्यासे एक मासिकपत्र निकलता था 'वैष्णवभूषण'। उसमें मैंने देखा कि किसी मनचले विद्यार्थीने **भक्तिभागीरथी** की प्रस्तावनामेंसे कितने ही पैराग्राफ चुरा लिये थे और अपने ही नामसे उन्हें प्रकाशित किया था।

आरामें एक प्रेसमें निम्बार्कसम्प्रदायके किसी एक साधुने एक पुस्तक छपाया और उसमें मेरे दिव्यदर्शन पुस्तककी प्रस्तावनामेंसे चोरी की। मेरे मित्र पण्डित श्रीरघुवराचार्यजीने कल्पित आनन्द-भाष्यकी प्रस्तावनामें कितने ही प्रसङ्ग मेरी श्रीरामानन्ददिग्विजयकी प्रथमावृत्ति की प्रस्तावनासे चुपचाप ले लिये और कहांसे लिये हैं, इसे लिखनेकी तनिक भी प्रामाणिकता नहीं बतायी। ऐसे तो कितने ही चोर इस सम्प्रदायमें पड़े हैं। कीतिके लोभसे मेरे ग्रन्थोंमेंसे, मेरे लेखोंमेंसे चोरी करते रहते हैं।

शायद पूर्वमें लिखा जा चुका है कि विरक्त, साप्ताहिक पत्रमें जब मेरे और सम्प्रदायके विरुद्ध प्रथम प्रथम आक्रमण हुआ था उस समय मैं बम्बईमें मरणासन्न स्थितिमें ही था। कुछ स्वस्थ होकर मैं जब अहमदाबाद आया तब कई महीनोंके बाद मुझे अनुभव हुआ कि इतने बड़े सम्प्रदायमें एक भी पत्र, मासिकपत्र, पाक्षिक पत्रका न होना दुःख और लज्जा की बात है। आजके युगमें पत्रपत्रिकाएं परमास्त्रका काम देती हैं। मेरी प्रार्थनापर अह-मदाबादके श्रीवैष्णवोंने समन्वयनामक मासिक पत्र प्रकाशित किया। पीछेसे वही समन्वय श्रीरामानन्द पत्रिकाके नामसे प्रकाशित होने लगा। पत्रिकाका जो आदर्श मैंने स्थिर किया था उसका शनैः शनैः ह्रास हाने लगा। इससे मुझे बहुत ही कष्ट हुआ। बार बार समझानेपर भी मेरे साथियों-मेंसे एक साथी मेरी भी बात नहीं मानते हैं। बहुत हठी और अभिमानी आदमी हैं। कब, क्या और कैसे लिखना चाहिये, इधर उनका ध्यान ही नहीं जाता। परन्तु वह हैं बहुत कामके आदमी। उनमें उत्साह अदम्य है

बार मैं पराजित होता रहता हूं। मैंने जब देखाकि उस बैठकमें एक भी सदस्य पत्रिकाके ऊपरसे मेरा नाम हटानेके पक्षमें नहीं हैं, इतना ही नहीं, यदि मेरा नाम वहांसे हटे तो परिषद्से ही हट जानेकी श्रीपुजारीजी महाराज, श्रीमहान्त भगवद्दासजी तथा कई अन्य महानुभावोंकी तैयारी थी। तब मैं चुप था। अपने नामको पत्रिकासे पृथक् करानेका मेरा साहस ही नहीं हुआ। किसीके प्रेमपूर्ण आग्रहको कैसे अपमानित किया जा सकता है ? सम्प्रदायमें एक ही तो पत्र प्रकाशित हो रहा है। उसे मैं यदि छोड़ दूँ तो सम्प्रदायकी स्थिति बिगड़ जायगी! अव्यवस्था फैल जायगी। उत्तम विचारोंको फैलानेके लिये तब कोई साधन ही नहीं रह जाता। अतः मैं जहाँ का तहाँ बना रहा और अपनेको कलहाग्निमेंसे बचा लिया। वैर-विरोध किसीको प्रिय लगते हैं, किसीको अप्रिय। मुझे ये दोनों ही सर्वथा अप्रिय लगते हैं। मुझे इनका रूप-रंग कभी भी पसन्द नहीं था, आज भी पसन्द नहीं है। अतः सब कुछ सहन करनेको मैं बाध्य बना।

———

उपसंहार

मैंने यह अपना जीवनचरित स्वयम् इसी लिये लिखा है कि मेरे साथ किसने किसने क्या क्या किये हैं, क्या क्या संकट मेरे ऊपर आये हैं, कितने कितने निरर्थक कार्योंमें मुझे अपने जीवनके बहुमूल्य अंशको लगाना पड़ा है, यह सब स्पष्ट हो जाय। मैं यदि इस ग्रन्थको, इस जीवनचरितको न लिखता तो इसमें लिखी गयी बहुत सी बातोंका मेरे किसी भी साथीको पताही न लगता। मेरे जैसे एक सम्प्रदायसेवककी जीवनकी समस्त घटनाओंका प्रामाणिकताके साथ मेरे प्रत्येक सम्प्रदायी बन्धुको ज्ञान होना आवश्यक है। इस लिये मुझे स्वयम् यह कार्य करना पड़ा।

मेरे कितने ही द्रोही मुझे आर्यसमाजी कहकर अपना भार हलका किया करते हैं। इस पुस्तकके पढ़नेसे किसीभी समझदारको पता लग सकता है कि मै क्या हूँ। आर्यसमाज वेदको ईश्वरीय मानता है मैं वेदको मानवीय मानता हूँ। आर्यसमाज निराकार ईश्वरको स्वीकार करता है मेरा ईश्वर न निराकार है और न साकार। वह एक व्यक्तिके रूपमें मुझे स्वीकृत है। किसीको भी ईश्वर माना जा सकता है। आर्यसमाज वैष्णवसम्प्रदायका निन्दक हैं मैं वैष्णवसम्प्रदायका सबसे बड़ा समर्थक हूं। तब यह निर्विवाद है कि मैं आर्यसमाजी नहीं हूं।

तब मैं नास्तिक भी नहीं हूँ। मनुने कहा है कि **नास्तिको वेदनिन्दकः** वेदोंकी निन्दा करनेवाला नास्तिक होता है। मैं वेदभाष्यकार हूँ और वैदिक सभ्यताका समर्थक हूं अतः नास्तिक भी नहीं हूँ। मैं पुराणोंकी कितनी कथाओंको उपादेय मानता हूं

और कितनी ही कथाओंको निरर्थक, हानिप्रद अत एव अनुपादेय मानता हूं। अतः मैं पौराणिक भी हूँ और नहीं भी हूं।

मैं अनीश्वरवादी होकर भी सदाचार और सत्यका महान् समर्थक और प्रचारक हूं अतः मैं चार्वाक मतानुयायी भी नहीं हूँ।

मैं जगत्के किसी कर्ताका अबिश्वासी हूं। अतः मैं सांख्यानुयायी हूं परन्तु सांख्यकी प्रक्रियाके अनुसार मैं जगत्को जन्य नहीं मानता हूं, महाप्रलय भी नहीं मानता हूँ, अतः मैं सांख्यवादी भी नहीं हूं।

मैं मीमांसकोंकी रीतिसे अनीश्वरवाद तो मानता हूं परन्तु उनके कर्मसिद्धान्तमें मुझे तनिक भी विश्वास नहीं है, अतः मैं मीमांसक नास्तिक भी नहीं हूँ। मैं जैन और बौद्ध धर्मोंके अहिंसक और सर्वग्राह्य आचार-विचारोंका माननेवाला तो हूँ, परन्तु उनके अन्य सिद्धान्त मुझे स्वीकृत नहीं हैं अतः मैं जैन और बौद्ध भी नहीं हूँ।

मैं दाशरथि रामको ईश्वर तो मानता हूँ परन्तु औपनिषद या वैदिक ईश्वर नहीं मानता हूँ। मैंने जिस व्यक्तिवादका स्वीकार किया है उसीके अनुसार श्रीरामको ईश्वर मानता हूं अतः मैं पोंगापन्थी श्रीरामानन्दीय नहीं हूं। मेरे मतसे मैं अवतारी रामका भी समर्थक हूं और अवतार रामका भी। अतः मैं मूर्ख पण्डितोंके मार्गका अनुगामी नहीं हूँ।

मैं बिना बुलाये कहीं भी नहीं गया हूँ। दक्षिणाके लोभसे मैं आसन बाँध बाँध नहीं फिरता अतः मैं भिखारी नहीं हूं।

मेरे पास न धन है, न जन है, न मकान है, न महन्थाई है अतः मैं धनवान् भी नहीं हूँ।

अब मूर्खों पर नहीं, रट्टू तोतों पर नहीं, निरर्थक और निकम्मे पेटुओं पर नहीं, प्रत्युत विचारशील विद्वानों पर मैं यह भार

छोड़ता हूँ कि वह निर्णय करें कि मैं अलौकिक पुरुष हूँ या नहीं।

अब इस जीवनचरितको मैं यहाँ ही समाप्त करता हूँ। कितनी ही घटनाएँ मेरी विस्मृतिके गर्भमें पड़ी होंगी, यह अत्यधिक संभव है। स्मृत होनेपर वे इसी ग्रन्थके किसी भागमें अवश्य संकलित हो जायँगी। इस ग्रन्थमें मेरा तत्त्वज्ञान नहीं है। मेरी फिलोसोफी नहीं है। मेरे जीवनकी भी पूर्ण फिलोसोफी नहीं है। मेरे तत्त्वज्ञान मेरे तर्कशास्त्र, मेरे विचार, मेरे विचारोंकी क्रान्ति, मेरे विचारोंके सौन्दर्य या शुष्कत्वको देखने, समझनेके लिये मेरे अन्य ग्रन्थ प्राप्त करने चाहिये। इस ग्रन्थके किसी भागमें भी कितने ही मेरे निर्णीत तत्त्व पढ़नेको मिल सकेंगे।

यहाँ तो मैंने अपने जीवनका दर्शन किया है। इसमें मेरे सुख और दुःखकी बातें हैं, मेरे उत्थान और पतनकी समस्याएँ हैं, शत्रु और मित्रकी कथाएँ हैं। मनुष्य मनुष्यको किस प्रकार गिराना चाहता है और गिराता है, मनुष्य सिंहसर्पादि प्राणियोंसे भी बहुत भयङ्कर प्राणी है, इसका इसमें उदाहरण है। उपकारका बदला किस प्रकारसे अपकारके द्वारा दिया जा सकता है, इसे भी इसमें प्रत्यक्षित किया जा सकता है। अतः इसमें पाठक वेदान्तके निगूढ तत्त्वोंके ढूँढने-की इच्छा करेंगे तो अवश्य निराशाका दर्शन होगा। इसमें केवल मेरे जीवनकी, कुटिल और विषमजीवनकी कहानियाँ ही मिलेंगी। उसका अध्ययन करना कालका दुर्व्यय नहीं माना जायगा। सभीके जीवनपथमें उतराई चढ़ाई तो होती ही है, सभीका जीवन सुगन्ध और दुर्गन्धसे परिपूर्ण रहता ही है। कोई छिपाता है कोई प्रकट करता है इतना ही वैषम्य है। मैंने मेरी निर्बलताओंको पाठकोंकी आखोंसे ओझल करनेके लिये तनिक भी प्रयास नहीं किया है, तनिक भी इच्छा नहीं की है। राजकीय नियमोंके कारण मेरी

अस्खलित लेखनीको कहीं कहीं अवश्य नियमित किया है। परन्तु वहाँ विवशता है, लाचारी है।

सहस्रोंकी आखोंमें मैं महान् हूँ। सहस्रोंकी आखोंमें मैं सामान्य जन हूँ। करोड़ोंकी आखोंमें मैं कुछ भी नहीं हूँ। यही सब सत्य है। यही सब जगत् है। मेरी महत्ता और मेरी लघुता, मेरे जीवनके साथ सम्बन्ध रखती है। महत्ता और लघुता स्थिर वस्तु नहीं है। इसमें ह्रास और विकास प्रतिक्षण हुआ ही करता है। इस ग्रन्थको पढ़ते पढ़ते जहाँ कोई मेरी महत्ताका दर्शन कर सकेगा, वहाँ ही थोड़ी देरमें मेरी लघुताको भी देख सकेगा। अथवा यह भी संभव होगा, परन्तु थोड़े विवेचक पाठकोंके लिये, कि वह मेरी जिस लघुताका जहाँ दर्शन करेंगे, वह मुझे पुनः उसी लघुता-में लिपटे हुए आगे नहीं देख सकेंगे। यही विकास है। यही विकासक्रम है। यही विचारका फल है। यही सत्सङ्ग प्रसूत प्रसून है। इस क्षणिक और अविश्वसनीय जीवनको उच्च भूमिकाओंमें ले जाकर, इसे महान् बनाकर, जगत्के आगे मनुष्योंको भविष्यके लिये सत्सामग्री प्रस्तुत करना ही सर्वथा इष्ट है। मर जाना है, सदाके लिये इस भूमिरेणुमें रेणु बनकर समा जाना है, ऐसी निद्रामें सो जाना है, जिसका कभी भी अन्त नहीं होगा, इन सब विचारोंसे जीवनको कलुषित बनाये रखना, मानवताका सबसे अधिक दुर्गुण है, सबसे अधिक विनिपात है। आज ही मरना हो या सौ वर्षके पश्चात् जीवनका अन्त होना हो, परन्तु उसमें सुगन्ध भरना, सौरभ जगाना, आदरणीयता और अनुकरणीयताकी भङ्गी उत्पन्न करना किसीके लिये भी अनिवार्य होना चाहिये। जीवन यद्यपि आकस्मिक है परन्तु उससे भी जगत्के मानवोंका उपकार-निर्मिति होनी ही चाहिये। मैं अपनी भाषामें यदि बोलूँ तो यह बोलूँगा कि शरीर क्षणिक-क्षणावध्वंसी है, जीवन नहीं। जीवन नित्य

है। आचार और विचारकी परंपरा ही जीवन है। वह परंपरा अवश्य नित्य है। राम गये, उनका जीवन आज भी है और उसके अनुकरण-से जगत् पवित्र हो रहा है। सीता गयीं परंतु उनका जीवन आज भी सतीमण्डलका निर्माण कर रहा है। अत्याचारियोंका शरीर अदृश्य है परन्तु उनका जीवन आज भी अनेक अत्याचारियोंको दृढ और स्थिर रहनेकी प्रेरणा दे रहा है। अतः जीवन नित्य है। दृढ जीवनका प्रवाहक्रम नित्य है। इसीलिये अनित्य शरीरसे नित्य जीवनकी रचना करनेमें ही पाण्डित्य है, दाक्षिण्य है, पाटव है और सौभाग्य है। अतः महापुरुष सर्वप्रयत्नोंसे अपने जीवनको पवित्र रखनेका प्रयास करते रहते हैं। सबके जीवनको पवित्र बनानेके लिये वह सदा जागरूक रहते हैं। मुझे विश्वास है कि मैंने अपने जीवनको पवित्र रखनेका प्रयास किया है। जब कभी मुझे अनुभव हुआ कि मैं राग-द्वेष काम-क्रोधके हाथोंमें जा रहा हूँ, अविलम्ब मैंने अपना मार्ग बदल दिया है। ऐसा करनेमें मुझे कितने ही अपने बहुमूल्य साथियोंको खो देना पड़ा है तथापि मैंने उन्हें खोकर भी सन्तोष माना है। जिन साथियोंसे मुझे उत्कर्ष मिला हो उन्हींसे यदि मुझे अपकर्षकी ओर जानेका संकेत मिलता हो तो उनसे पृथक हो जानेमें न तो कृतघ्नता है और न उपकारविस्मृति है। यह तो अत्यधिकबलकी बात है, आत्मिक विकासकी बात है। निर्बलात्मा चढ़कर गिरनेमें श्रेय समझता है। महात्मा चढ़कर गिरने से पूर्व ही जीवनको समाप्त कर देने में श्रेय समझता है। यही सब जीवन की कुंजी है।

इस ग्रन्थमें मैंने अपने माता-पिताका स्मरण किया है, अपने विरलबन्धुत्वपूर्ण बन्धुका स्मरण किया है, माता-पिताके वर्णका स्मरण किया है, यह बहुत उचित नहीं हुआ है। परन्तु यदि जीवन की सर्वाङ्गीणता सिद्ध करनी हो, जीवनके सम्पूर्ण लाभकी धारा

यदि प्रजामें प्रवाहित करनी हो तो सब कुछ कहे बिना सन्तोष नहीं हो सकता। यह स्मरण यदि किसी उत्कर्षके लिये किया गया होता तो संभव है कि मेरे विरक्तजीवनमें कहीं भी अवश्य कालिमा उत्पन्न करता। परन्तु ऐसा नहीं हुआ है। मैंने अपने माता-पिताकी ब्राह्मणताका न तो बाल्यावस्थामें कोई उपयोग किया है और न आज वृद्धावस्थामें उसका कोई उपयोग करना चाहता हूँ। मेरे जीवनसे ब्राह्मणत्व, शूद्रत्वका उत्कर्षापकर्ष निकल चुका है। महात्मा गाँधीजीके पवित्र शब्दोंने ही मेरे जीवनको संगठित किया है। स्वामीदयानन्दजीकी वर्णव्यवस्थाने भी मेरे माता-पिताके वर्णसे लाभ लेनेसे बाल्यावस्थामें ही मुझे रोक दिया था। परन्तु उससे अधिक स्पष्टता, मुझे गाँधीवादसे मिली है। गाँधीवादने वर्णका विकास नहीं किया है। मानवताका विकास किया है। वर्णधर्मका विकास और मानवताका विकास ये दोनों ही असमानरेखापर चलनेवाले तत्त्व हैं। मेरी दृष्टिमें वर्णविकास संसार है और मानवताविकास मुक्ति है—मोक्ष है। वर्णविकास मिथ्या है, मानवता विकास सत्य और अकम्प्य है। वर्णविकास पतन है, मानवता-विकास उत्थान है।

मेरे जीवनमें एक सम्प्रदायसे सम्बन्ध हो गया है अतः थोड़ा सा सम्प्रदायवाद भी आ ही गया है। परन्तु मेरा सम्प्रदायवाद यह कहने के लिये नहीं है कि मेरा ही सम्प्रदाय उत्तम है और अन्य सम्प्रदाय निकृष्ट और निकृष्टतम हैं। उत्तम, मध्यम, अधमका विचार जो सम्प्रदाय करता है वही अधम सम्प्रदाय बन जाता है। पृथिवीका कोई भी सम्प्रदाय असत्य और दुराचारके लिये न आज्ञा देता है ओर न प्रोत्साहन। अतः सभी सम्प्रदाय समान कोटिके हैं। द्वैत अद्वैत आदि वाद यह सम्प्रदाय नहीं हैं, यह तो विचार हैं। सम्प्रदायोंसे इनका सम्बन्ध हो गया है, यह तो दुःखद वार्ता

है। द्वैत, अद्वैतके झगड़ेको लेकर किसीको उत्तम, मध्यम, उत्तम नहीं कहा जा सकता। मान लीजिये कि मैं विशिष्टाद्वैतवादी हूं। यदि मैं कहूं कि अद्वैतवादी मध्यम या अधमवाद है और उसके माननेवाले सम्प्रदाय मध्यम या अधम हैं तो वे ही सम्प्रदाय यह भी तो कह सकते हैं कि विशिष्टाद्वैतवाद मध्यम या अधमवाद है और उसका माननेवाला सम्प्रदाय भी मध्यम या अधम है। तब तो मैं भी मध्यम या अधम बन ही जाता हूं। यह कैसे हो सकता है कि मैं सबको मध्यम या अधम कह दूँ और दूसरे लोग मुझे मध्यम या अधम न कहें?

अतः मैं यह समझता हूं कि मैं किसी प्रकारसे भी समस्त जगत् की तो सेवा कर ही नहीं सकता। सेवाका क्षेत्र एक और वह भी अपनी शक्तिके अनुकूल ही चुनना पड़ेगा। मैंने श्रीरामानन्दसम्प्रदायकी अपनी सेवाका क्षेत्र बनाया है। परन्तु अन्य सम्प्रदायों या साम्प्रदायिकोंके लिये मध्यम-अधमकी भावना मेरे हृदयमें नहीं है। उदासीनसम्प्रदायके प्रायः सभी विद्वान् मेरे परिचित हैं। सबके साथ आत्मीय बुद्धि है। सबसे प्रेमसम्बन्ध है। स्वामी सत्यस्वरूप शास्त्री को देखकर तो मैं कभी विचार भी नही करता हूं कि यह उदासीन हैं। मैं ऐसेही अद्वैतसन्यासिसम्प्रदायि-महात्माओंसे सदा अभिन्नरूपसे ही मिलता हूं। वे लोग भी मुझसे ऐसेही मिलते हैं। जिनमें धनाभिमान होता है, वह चाहे रामानन्दसम्प्रदायके हों या अन्य सम्प्रदायके हों, किसीसे भी नहीं मिलता।

निरीहीणामीशस्तृणमिव तिरस्कारविषयः

अभिमानी आदमी किसीके कामकी चीज है या नहीं, यह मैं नहीं जानता परन्तु वह मेरे काममें आनेवाली चीज नहीं है। मैं अभिमानियों और दम्भियोंसे बहुत दूर रहनेका सर्वदा प्रयत्न किया करता हूँ।

परिशिष्ट

लहरियासराय कोर्टमें

प्रथम दिनके प्रश्नोत्तर

लहरियासरायकी कोर्टमें मैं विरक्त रामानन्दीय श्रीवैष्णवोंकी ओरसे, मिर्जापुर (मिथिला) के महान्त श्रीआनन्ददासजीके विरुद्ध साक्षी बनकर गया था, यह बात पूर्वमें कही गयी है। जिस दिन मैंने कोर्टमें साक्ष्य दिया था उस दिन ता० २-१-१९३६ ई० थी। वहाँ कोर्टमें मैंने जो कुछ बयान दिया था वह निम्न-लिखित है। कितने ही अनावश्यक अंश छोड़ दिये हैं।

मेरा नाम ब्रह्मचारी भगवदाचार्य है। मैं स्वामी राममनोहर-प्रसादाचार्यका शिष्य हूँ। मेरी उम्र ४०* वर्ष की है। मैं विरक्त श्रीवैष्णव हूँ। अयोध्याका रहनेवाला हूं। पुलिस स्टेशन अयोध्या है और जिला फैजाबाद है। वर्तमान समयमें मैं बडोदा रहता हूँ जहाँ पर मैं एक सम्पादक हूं। मेरा सम्प्रदाय श्रीरामानन्द सम्प्रदाय है। मेरे गुरु श्री स्वामी राममनोहर प्रसादाचार्यजी महाराज बड़ास्थान अयोध्याके महान्त थे। बड़ास्थान श्रीरामानन्दसम्प्रदायका स्थान है। मैं मिर्जापुरके महान्तजीको जानता हूं। वह भी श्रीरामानन्दीय हैं। मिर्जापुर स्थानके मुख्य देवता रामजी, जानकीजी, लक्ष्मणजी और हनुमान्‌जी हैं। मिर्जापुर स्थानका महान्त केवल विरक्त श्रीरामानन्दीय वैष्णव ही हो सकता है। विरक्तिका अर्थ संन्यास है।

---

* यह भूलसे लिखा गया है। उस समय मेरी उम्र ५५ वर्षकी थी।

वैरागी अथवा विरक्तवैरागी सांसारिक व्यवहारोंके साथ सम्बन्ध नहीं रख सकता। विरक्त महान्त विवाह नहीं कर सकता। यदि वह विवाह कर ले तो गद्दीपर नहीं रह सकता। वाल्मीकि संहितासे यह जाना जा सकता है कि श्रीरामानन्दीय श्रीवैष्णव लोग श्रीरामानुजकी परम्परामेंसे नहीं है। रामानन्द रामानुजके शिष्य नहीं हो सकते क्योंकि रामानुज नारायणमन्त्रके अनुयायी थे और रामानन्द राममन्त्रके। श्रियानन्द रामानन्दके आध्यात्मिक पूर्वज थे। पूर्णानन्द श्रियानन्दके गुरु थे। यह सब बातें **परम्परापरित्राणमें** मिलेंगी, **राममन्त्रराजपरम्परा** में भी मिलेंगी। रामानुजके मुख्य देवता-इष्टदेवता नारायण थे और रामानन्दके राम। रामानुजी गुरु अपने शिष्यको राममन्त्र दे सकते हैं परन्तु""रामानुजी सबके सामने भोजन नहीं करते परंतु रामानन्द य करते हैं। रामानुजीय पूजामें शंख रखते हैं परन्तु वे चाँदीके भी शंख रखते हैं। रामानन्दीय पूजामें शंख रखते हैं। रामानन्दीय लोग भगवान्‌के स्नानका जल अर्घासे दर्शकों पर छींटते हैं, रामानुजीय ऐसा नहीं करते। रामानुजीय लोग मध्यमें रक्तश्री रखकर ऊर्ध्वपुण्ड्र करते हैं। वे तैंगल और बड़गल होते हैं। तैंगल लोग पुण्ड्रके नीचे एक चिह्न बनाते हैं (सिंहासन)। बड़गलोंका तिलक अंग्रेजीके यु (U) जैसा होता है। रामानन्दीय लोग पुण्ड्रके मध्यमें रक्तश्री, शुक्लश्री (लश्करी) बिन्दुश्री, लुप्तश्री करते हैं। लुप्तश्रीवाले मध्यमें कोई श्री नहीं करते। इनको चतुर्भुजी भी कहते हैं। रामानुजी मोक्षके लिये राममन्त्र नहीं जपते। रामानुजीय नारायणके चार हाथ मानते हैं। रामानन्दिय द्विभुज रामको मानते हैं। रामानुजीय नारायणको ब्रह्म मानते हैं और रामानन्दीय रामको। श्रीभाष्यको रामानुजने लिखा है। आनन्द भाष्यको रामानन्दने

लिखा था ।* रामानुजीय गरुडस्तम्भ रखते हैं। रामानन्दीय उसे नहीं रखते। रामानन्दीय तुलसीकण्ठी पहिनते हैं। रामानुजीय उसे नहीं पहिनते। रामानुजीयोंमें आचार्यान्त और प्रपंन्नान्त, ही नाम होते हैं परन्तु रामानन्दीयोंके आचार्य, प्रपन्न, शरण, दास आदि शब्द नामके अन्तमें होते हैं। रामानुजीय रामनवमी और जन्माष्टमीको नक्षत्रसे मानते हैं परन्तु रामानन्दीय उसे तिथिके अनुसार मानते हैं। रामानन्दीय शालग्रामको गोमतीचक्रके साथ पूजते हैं परन्तु रामानुजीय शालग्राम ही पूजते हैं। विरक्त रामानन्दीयोंके गोत्रमें परिवर्तन हो जाता है परन्तु गृहस्थ वैष्णवोंमें यह प्रथा नहीं है। वैष्णवोंके चार सम्प्रदाय हैं—श्री, विष्णु‡ रुद्र और सनक। श्रीरामानन्दसम्प्रदाय श्रीसम्प्रदाय हैं क्योंकि इसका आरम्भ श्रीसे हुआ है। वैष्णवोंके विष्णु और रामानन्दियोंके राम एक ही वस्तु है। रामानुजीयोंने एक सम्प्रदाय बना रखा है जो श्रीसम्प्रदाय कहा जाता है। वस्तुतः वह श्रीसम्प्रदाय नहीं है। भक्तमालमें गुरु-परम्परा नहीं है। मैं तत्त्वदर्शी पत्रका सम्पादक हूँ। वानप्रस्थको भी थोड़ा सा राग होता है अतः वे शुद्ध वैरागी नहीं हैं। संन्यासी शुद्ध वैरागी हैं।

---

* यह आनन्दभाष्य अब दुर्लभ है। इस नामका एक ग्रन्थ पण्डित रघुवरदासजीने अहमदाबादमें उत्कृष्ट प्रेसमें छपाया था वह कल्पित सिद्ध हो चुका है।

‡ यद्यपि मध्वसम्प्रदाय ब्रह्मसम्प्रदाय कहा जाता है, विष्णुसम्प्रदाय नहीं। परन्तु इस बयानसे कई वर्ष पूर्व जब मैं दक्षिणकी यात्रामें गया था तो एक मध्व विद्वान्ने कहा था कि हमलोग अपने सम्प्रदायको विष्णु सम्प्रदाय मानते हैं क्योंकि हमारा उपास्य विष्णु है, ब्रह्मा नहीं। उसीके अनुसार मैंने यहाँ विष्णु कहा था। देखें उसी वर्षका तत्त्वदर्शी।

मुझे समन्स नहीं मिला है। मिथिला साधु सभाके मन्त्रीजीने मुझे तारसे बुलाया है। मैं पिछले कितने ही वर्षोंसे उन्हें जानता हूँ। वह तार इस समय मेरे पास नहीं है। जबसे शुरू हुआ है तभीसे मैं इस मुकदमेके सम्बन्धमें जानता हूं। मिथिला साधु सभाके मन्त्री महान्त अवधविहारीदासजी हैं। मुझे लहरियासरायमें आये पाँच या छह दिन हुए हैं। यहाँ आनेके लिये मुझे एक पत्र भी मिला है। मैं अपने खर्चसे यहाँ आया हूँ। नरघोघीके महान्तजीको मैं १८ वर्षों से जानता हूं।

नरघोघीके महान्तजीने जिस **वैष्णवाश्रमसिद्धान्तविवेक** पुस्तकको प्रकाशित किया है, मैंने उसकी समालोचना की है। मैंने कुछ समयतक पण्डित सामश्रमीजीसे वेदाध्ययन किया था। यह सत्य नहीं है कि सामश्रमीजी मुसलमान् हो गये थे। मैं कभी आर्यसमाजी नहीं था *। मैं नहीं जानता हूं कि मेरे गुरुदेवने श्री सम्प्रदायदिक्प्रदर्शन लिखा है या नहीं, केवल उनका नाम उस पुस्तकपर दीख पड़ता है। मैंने उस पुस्तकका खण्डन किया है। मैं कितने ही विषयोंमें अपने गुरुदेवसे विरुद्धमत रखता हूँ।

---

* यहाँ पर मैंने वाक्छल किया है। मैंने किसी आर्यसमाजसे धन नहीं लिया है, किसी आर्यसमाजका मैं सदस्य नहीं था, इसी दृष्टिको सामने रखकर मैंने यह उत्तर दिया था। यदि मुझसे पूछा गया होता कि तुम आर्यसमाजके सिद्धान्तको कभी मानते थे? तो मैं अवश्य 'हाँ' कहता। वकीलों और बैरिस्टरोंने उस मुकदमेको कमजोर बनाने और बिगाड़नेके लिये ही मुझसे आर्यसमाजी होनेके सम्बन्धमें प्रश्न किया था। मैंने मुकदमेको बचाने और वैष्णवोंको विजयी बनानेके लिये ही वाक्छल किया था। छल और जातिको न्यायदर्शनकार गौतमने निःश्रेयसका साधन माना है।

रामार्चनपद्धति रामानन्दजीकी लिखी हुई हो, ऐसा मालूम नहीं होता है। मेरे पुस्तक परम्परापरित्राणका मूल श्रीराममन्त्र-परम्परा है। १९३० ई० में मिथिला सभासे जो पुस्तक प्रकाशित हुआ होगा, मैं उसे नहीं जानता। श्री शब्दका अर्थ सीता है। मैं गोपालदासको नहीं जानता। मैं रामटहलदासजीको जानता हूं। उनके मतसे रामानन्द रामानुजकी परम्परामें थे। स्वामी दयानन्द रामानन्दको रामनुजकी परम्परामें मानते थे, यह मैं नहीं जानता हूं। मेरे पुस्तकका आधार वाल्मिकिसंहिता भी है। ५० या ६० वर्ष पूर्व मैंने वाल्मिकिसंहिता नहीं छपायी थी। रघुवरदासजीने वाल्मीकिसंहिता छपायी है। नाभाजी रामानन्दके शिष्यके वंशज थे। भूकम्पके पश्चात् मैं मिर्जापुर स्थानमें गया था। मैं अकेला ही था। मैं अन्य स्थानोंमें भी गया था, भूकम्पके पश्चात्की स्थिति देखनेके लिये। मैं भूकम्पसे पहले मिर्जापुर नहीं गया था।

मुझे स्मरण नहीं है कि मैंने मिर्जापुरके किसी महान्तको देखा हो। सीतामढ़ी स्थान भी रामानन्दीय स्थान है। बालानन्दजीका स्थान रामानन्दीय स्थान है। वेङ्कटेश्वरकी मूर्ति नारायणकी मूर्ति है। मैं मिर्जापुर स्थानमें दो घण्टों तक रहा था। उस समय महान्तजी मिर्जापुरमें ही थे। मैं पहलेसे ही जानता हूं कि मिर्जापुर-स्थान श्री रामानन्दीय स्थान है। तिवारीको ही त्रिवेदी या त्रिपाठी कहा जाता है। मैं वैरागी होनेसे पूर्व ब्राह्मण था। मेरा नाम था भवदेव त्रिवेदी। वैरागी होनेके पश्चात् मैं त्रिवेद नहीं रहा। मैं त्रिवेद नहीं हूं। मैं १८ या १९ वर्ष पूर्व दीक्षित हुआ, यह भूल है। वैरागी होनेके लिये मन्त्र लेना चाहिये। परन्तु प्रायः नियम-पूर्वक इसका पालन नहीं होता है। वैरागी होनेके लिये पञ्च संस्कार आवश्यक हैं। कोई ग्रन्थ यह नहीं कहता है कि पाचों संस्कारोंमेंसे कोई संस्कार छोड़ा जा सकता है। गुरुको चाहिये

कि पांचो संस्कार करावें। गृहस्थके लिये भी पञ्च संस्कार आवश्यक हैं। दीक्षाके समय ये पांचों सर्वथा आवश्यक नहीं हैं। मैं नैष्ठिक ब्रह्मचारी हूं। नैष्ठिक ब्रह्मचारी यतिकी ही तुलनामें है। नैष्ठिक ब्रह्मचारी गृहस्थगुरुके ही आश्रममें रहता है। मैं संन्यासीके नियमोंका पालन करता हूँ। संन्यासी होनेकी विधिका भी मैं पालन करता हूं। वैष्णवसंन्यासी होनेकी विधिका भी मैं पालन करता हूँ। वैष्णव संन्यासके लिये बहुतसे ग्रन्थ हैं। वैष्णव वैरागियोंमें कोई परमहंस नहीं है। वैष्णव वैरागीको गेरुआ वस्त्र धारण करना चाहिये। केवल मन्त्र लेनेसे कोई वैरागी नहीं होता है। अच्युत गोत्रवाले मनुष्यको चाहिये कि सर्वत्र समदृष्टि रहे। मैं जानता हूँ कि मध्वाचार्य रामजानकीकी पूजा करते हैं। श्रीधर स्वामीका सम्प्रदाय अद्वैत था। विष्णुसम्प्रदाय और रुद्रसम्प्रदाय दोनों एकही नहीं हैं। विष्णुसम्प्रदाय और विष्णुस्वामी सम्प्रदाय दोनों एकही नहीं हैं। विष्णुसम्प्रदाय और मध्वाचार्य सम्प्रदाय एकही सम्प्रदाय है। विष्णुका अर्थ यहाँपर भगवान् है। विष्णु और राम दोनों एक ही वस्तु हैं। विष्णुस्वामी रुद्रसम्प्रदायके हैं। रामानन्दसम्प्रदाय श्रीसम्प्रदाय कहा जाता है। रामानुजसम्प्रदाय रामानन्दसम्प्रदायमें नहीं माना जा सकता। बलभद्रदासको मै नामसे जानता हूँ। कुछ वैरागी श्राद्ध करते हैं और कुछ नहीं। वैरागी पिण्डदान नहीं करते। बैरागीके मृतदेहको जलाते भी हैं, भूमिमें गाड़ते भी हैं और नदीमें बहा भी देते हैं।

दुःखके समयमें आत्मा ईश्वरको अर्पित कर दिया जाता है। प्रत्येक सम्प्रदायके मनुष्य गुरुकी आज्ञाका आदर करते हैं।

सही, नन्दकिशोर चौधरी
सब जज। २-१-१९३६ ई०

लहरियासराय कोर्टमें

दूसरे दिनके प्रश्नोत्तर

कुलका अर्थ है परिवार। रामानूकका अर्थ अर्थ है—रामके सम्बन्धमें कुछ स्तोत्रादि बोलनेवाला अर्थात् रामकी पूजा करनेवाला। रामानुजके बड़े भाईका नाम राम नहीं था। अनुजशब्द का अर्थ है वंश या कुटुम्ब। मैं दानापुर अनाथालयमें नहीं था। यदि पुराने सिद्धान्त मनुष्य या समाजको आगे न बढ़ा सकते हों तो उनका अनुगमन नहीं करना चाहिये। बेद मूर्तिपूजाकी आज्ञा देते हैं।

रामानन्दसम्प्रदायमें जातिविभाग—या वर्णविभाग है। कहीं यह विभाग नहीं भी है। मैं शूद्रका बनाया हुआ भोजन नहीं लेता हूं। मैं डाक्टर लक्ष्मीपतिजीको जानता हूँ। मैं उनके घरपर कुछ दिनों तक रहा हूँ। वह मुझे कोई खर्च नहीं देते थे। दानापुरमें आर्यसमाजका प्रभाव है, यह मैं नहीं जानता। मैं दानापुरमें कभी भी नहीं रहा हूँ। मैं बाँकीपुरमें दो या तीन महीने रहा हूँ। मैं बाँकीपुरमें पढ़ता था। वहाँ हरिशङ्कर पाण्डेय अध्यापक थे। मैं मुङ्गेरमें ६ या ७ महीने रहा था। मैं मुङ्गेर अनाथालयमें अध्यापक था। वह अनाथालय आर्यसमाजी और जो आर्यसमाजी नहीं हैं दोनोंका था। मैं उस समय एक दूसरे स्कूलमें भी अध्यापनकार्य करता था *। अनाथालयसे मुझे पढ़ानेके बदलेमें १५) मासिक

---

* वहां एक बंगाली बाबूका प्राइवेट हाई स्कूल था। उसका हिन्दू हाई स्कूल या ऐसा ही कुछ दूसरा नाम था। उसमें मैट्रिक क्लासके छात्रोंको संस्कृत पढ़ानेके लिये मैं शायद सप्ताहमें दो दिन या एक दिन एक घण्टेके लिये जाया करता था।

मिलते थे और उस स्कूलसे १५ या २० रुपये मासिक मिलते थे।

उस समय मैं वैष्णव नहीं बना था। उसके बाद मैं अयोध्याजी गया। मैं अयोध्यामें जन्मस्थानमें रहा था। जन्मस्थानके महान्तजीका नाम रामकिशोरदासजी था। मैं नहीं कह सकता हूँ कि वह बड़गल हैं या नहीं। वह रक्तश्री धारण करते थे। मैं गोलाघाटके लक्ष्मणशरणजीको जानता हूँ। वह सिंहासन नहीं करते क्योंकि वह रसिकसम्प्रदायके हैं। मैं नहीं कह सकता कि रामकिशोरदासजी सिंहासन करते थे या नहीं। डाक्टर लक्ष्मीपतिजीके मृत्युपर मैंने एक पुस्तक लिखा था। वह आर्यसमाजी थे। मैं अपने जन्मस्थानका नाम नहीं बता सकता क्योंकि ऐसा करना मेरे धार्मिक सिद्धान्तके विरुद्ध है। मुङ्गेरमें मैं एक सुवर्णकारके भरमें भी रहता था। वहाँ कितने ही सुनार आर्यसमाजी थे और कितने ही नहीं थे। प्रयागमें जो १९२० ई० में या इसीके आसपास जो कुम्भमेला हुआ था उसमें मैं गया था। वहाँ साधुओंमें रामानुजीयोंके सम्बन्धमें कोई शास्त्रार्थ नहीं हुआ था। वह अर्धकुम्भका समय था। उज्जैनमें एक सभा हुई थी। उसे लगभग १८वर्ष हुए होंगे। मैं उस सभामें था। मैं पिछले ६ वर्षोंसे बड़ोदामें रहता हूँ। बड़ोदा जानेसे पूर्वसे ही मैं ग्रन्थोंको लिखता रहा हूँ। मैंने परम्परापरित्राणको १९८५ संवत्में लिखा था। मैं नहीं जानता हूँ कि रामानुजजी रामावतार थे। मिथिलाके महान्तोंने **प्रस्तुतप्रसङ्ग** लिखाया था। मैंने उसके उत्तरमें **प्रस्तुतप्रसङ्गभङ्ग** लिखा था। आनन्दभाष्यको मैंने नहीं छपाया है, वह अभी थोड़े दिन ही हुए हैं, छपा है। वह प्रकाशित हुआ उससे पहले लिखित था। वैष्णवमताब्ज-

भास्करसे पूर्व ही रामानन्दने उसे लिखा था†। मैं नहीं जानता कि आनन्दभाष्यकी हस्तलिखित प्रति किसके पास थी। यह सत्य नहीं है कि सम्प्रदायके पास एक भाष्य होना ही चाहिये। मैं नहीं जानता हूं कि कोई पुराण रामानन्दके सम्बन्धमें कुछ कहते हों*। पुराणोंमें वाल्मीकिसंहिताका नाम आता है। पद्मतन्त्रमें वाल्मीकिसंहिताका नाम आया है। कोई ब्राह्मणकुमार उपनयनसे पूर्व वैरागी हो सकता है। जब वह वैरागी बनाया जायगा तब उसे उपनयन दिया जायगा। ब्राह्मणकुमार उपनयनके बिना वैरागी नहीं बनाया जाता। मैं दोदू और घोरी (ग्राम) नहीं जानता। तुस्था मेरी जन्मभूमि नहीं है। यह सत्य नहीं है कि मेरा जन्म वहाँ हुआ था। चैतन्यस्वामी निम्बार्कसम्प्रदायके नहीं थे। नित्यानन्दजी चैतन्यसम्प्रदायके थे। मैं नैष्ठिक ब्रह्मचारी हूँ और नैष्ठिक ब्रह्मचारी संन्यासीकी समानता धारण करता है। जो महान्त कभी भी विवाहित नहीं हुआ था वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी है। जो विवाहित होकर संसारका त्याग करता है वह संन्यासी है। रामपटल और रामपद्धति और दूसरे पुस्तक रामानन्द और रामानुजके लिये जुदी जुदी बात करते हैं। रामानन्दजी ने स्वयं

---

† वह एक समय था जब मैं वर्तमान आनन्दभाष्यका समर्थन करता था। परन्तु वस्तुतः यह वर्तमान मुद्रित आनन्दभाष्य रामानन्द-स्वामीका नहीं है। यह तो जानकीभाष्यको बिगाड़ कर रामानन्दभाष्य या आनन्दभाष्य बनाया गया है। अब मैं इसका विरोध करता हूं। कोई भी सत्यवादी और न्यायप्रिय विद्वान् अवश्य ही मेरे मतका समर्थन करेगा।

* मैं नहीं कह सकता कि उस समय कैसा वातावरण और कैसा प्रसङ्ग था जब मैंने यह उत्तर दिया। वस्तुतः भविष्यपुराणादिमें रामा-नन्दस्वामीजोका कुछ प्रसङ्ग अवश्य ही आया है।

रामार्चन-पद्धति लिखी, इसमें मुझे सन्देह है* । मैं बड्गल शब्द-का अर्थ नहीं जानता । रामानन्दके पश्चात् मैंने ऐसा (विरक्त) आदमी किसी पुस्तकमें नहीं देखा है जो विवाहित हुआ हो और पति-पत्नीके रूपमें रहा हो, उसे विरक्त या वैरागी कहा गया हो । मैं भूधरकिशोरदासको जानता हूँ । वह और सन्तदास रामानन्दीय नहीं हैं । सन्तदासको ईश्वरका दास बननेमें अभिमान नहीं हुआ है । सभी महान्त आग्रहपूर्वक विरक्तवैष्णवके नियमोंका पालन करते हैं, यह नहीं कहा जा सकता । कोई महान्त शादी नहीं कर सकता क्योंकि वह या तो नैष्ठिक ब्रह्मचारी होता है, या तो संन्यासी । गृहस्थ महान्त विवाह कर सकता है । नैष्ठिक ब्रह्मचारीका गोत्र बदल जाता है । गुरु ईश्वरतुल्य माना जाता है । मैं गुरुपूजा करता हूँ । संन्यासी होनेके लिये विरजा होम आवश्यक है । स्कन्दपुराण तामसपुराण है । वैष्णव संन्यासी अच्युतगोत्रिय है । अच्युतका अर्थ राम है अर्थात् परमात्मा । गोत्र अर्थात् मूल (पिता) अथवा वंश ।

नन्दकिशोर चौधुरी
सब जज ३-१-१९३६
ब्रह्मचारी भगवदाचार्य

---

* इसमें मुझे सन्देह नहीं रहा है कि रामार्चन पद्धति स्वामीरामानन्दजीने नहीं लिखी है । यह निर्भ्रम है कि रामार्चन पद्धति और वर्तमान आनन्द भाष्य रामानन्दस्वामीजीके ग्रन्थ नहीं हैं ।

गुजरातप्रान्तीय संस्कृत सम्मेलन ता० ६ सितम्बर १९५७ को प्रातः ९ बजे से होनेवाला था अत एव मैं लोद्रासे ५ सितम्बरकी रातमें ही वापस आ गया था। इस संस्कृत सम्मेलनके संयोजक थे श्रीमान् पण्डित विष्णुदेवजी एम० ए० व्याकरणतीर्थ; सभाध्यक्ष थे श्रीमन् कन्हैयालाल मुन्शीजी, जो उत्तरप्रदेशके भूतपूर्व गवर्नर थे। स्वागताध्यक्ष थे श्रीहरिसिद्ध दिवेटिया जो गुजरात युनिवर्सिटीके वाइस चान्सिलर थे। द्वारकाके शङ्कराचार्यजी आशीर्वाददाता थे। नडियादके प्रसिद्ध भागवतप्रवक्ता पण्डित हरिशंकर शास्त्री वेदान्ताचार्य मङ्गलप्रवचनकर्ता थे और मैं विशिष्ट संस्कृतप्रवचन करनेवाला था। लगभग सभी समयपर पहुँच गये थे। मुझे केवल दो मिन्टका बिलम्ब हुआ था। मुझे बुलाने और लेनेके लिये श्रीमान् राजवैद्य वल्लभरामजी मोटर लेकर आ गये। मेरी मोटर भी आकर खड़ी थी। मैं वैद्यराजजीकी मोटरमें चला गया। मेरे लिये जो मोटर सेठजीके बँगलेसे आयी थी उसमें दो मिन्ट पीछेसे श्रीचन्दनबहिन वहाँ पहुँचीं। कहीं मुझे बाहर आना जाना हो तो अब मुझे एक प्रामाणिक सहायककी आवश्यकता होती है। उन दिनों सदा मेरे साथ रहनेवाले श्रीत्र्यम्बकभाई ब्रजकी यात्रामें चले गये थे। श्रीचन्दनबहिनको रविवारका अवकाश था अतः वह मेरे पास आ गयी थीं। सोमवारको पूर्णिमा थी अतः शरत्पूर्णिमाका अवकाश होनेसे वह मेरे साथ सर्वधर्मसम्मेलनमें लोद्रा भी ७ सितम्बरको गयी थीं। श्री त्र्यम्बकभाईकी धर्मपत्नी श्रीजयदेवी बहिन भी लोद्रामें साथ गयी थीं। अस्तु, संस्कृत सम्मेलनका कार्यारम्भ हुआ। स्वामी शंकराचार्यजी छड़ी, छत्र,

चमर और राजतपादुकाके साथ आ विराजे। उनका आसन हम लोगोंसे ऊँचा था। हम लोगोंमें अहमदाबादके महामण्डलेश्वर स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी, महामण्डलेश्वर स्वामी श्रीभागवतानन्द-जी, महामण्डलेश्वर स्वामी श्रीसर्वानन्दजी थे। शंकराचार्य धार्मिक दृष्टिसे ऊँचे आसन पर बैठें, यह सह्य वेदना थी। क्योंकि वह भी हमारे जैसे ही विरक्त वेषमें थे। एक विरक्तगादीके विरक्त आचार्य थे। थोड़ी ही देरमें एक गृहस्थ वैष्णवाचार्य और एक गृहस्थ आचार्यके पुत्रदेव आये और उनके लिये भी आसन हम लोगोंसे ऊँचा था और श्री शङ्कराचार्यकी समानतामें था। इसकी सूचना हमें पहले ही मिल चुकी थी कि यहां दो गृहस्थ आचाय महानुभाव ऊपर आकर बैठनेवाले हैं। हमने भी निश्चय कर लिया था कि यदि कोई भी गृहस्थ हमसे ऊँचे आसनपर बैठेगा तो हम लोग सभा छोड़कर चले जायँगे। ऐसा ही हुआ। पण्डित श्रीहरि-शङ्कर शास्त्रीजीको भी यह बैठनेकी व्यवस्था उचित नहीं प्रतीत हुई थी। अपने संक्षिप्त भाषणमें भी उन्होंने इसका संकेत कर दिया था। मेरे सामने माइक्रो फोन रखा गया था। मैंने दो तीन मिन्ट तक संस्कृतमें कह दिया कि हम विरक्तोंकी एक मर्यादा है, एक परम्परा है, हमारा भी सम्प्रदाय है। शास्त्रोंकी दृष्टिने हम विरक्तों-को गृहस्थोंका पूज्य बनाया है। आज इस सभामें शास्त्रीय आज्ञा-का तथा हमारी मर्यादा, प्रथा और प्रतिष्ठाका भङ्ग किया गया है जो हमलोगोंके लिये असह्य है। हम भी जाते हैं। यह कहकर मैंने अपना आसन छोड़ दिया। नीचे उतर गया। सब महा-मण्डलेश्वर महानुभाव भी नीचे उतर आये और हम सब बाहर चले गये। सभामें सन्नाटा छा गया। मैंने साहसके साथ अपने मानभङ्गका बदला चुका लिया।

———

लगभग १४ वर्ष हो गये, सन् १९४३की बात है। उन दिनोंमें मेरे पास पढ़नेवाले छात्रोंकी संख्या अत्यधिक थी। महाभाष्यका भी पाठ चलता था और लघुशब्देन्दुशेखरका भी। स्थानिवत् सूत्र-का शेखर पढ़ा रहा था। आज तो मुझे स्मरण नहीं है, परन्तु एक स्थलको मैं बहुत स्पष्ट नहीं कर सका। बहुत दिनोंका पढ़ा पढ़ाया ग्रन्थ भूल ही जाता है। मैं भी भूल गया था। मैंने पढ़नेवाले छात्रसे कह दिया कि यह स्थल मैं कल विचारकर बताऊँगा! छात्र तो चले गये। मैं उसी समय वहाँ ही लेट गया और विचार करने लगा। मेरी आँख लग गयी। मैं स्वप्नावस्थामें पहुँच गया। तत्क्षण मैंने स्वप्नमें देखा कि मेरे वैयाकरण गुरु श्रीस्वामी सरयूदासजी महाराज शेखरका वही स्थल मुझे पढ़ा रहे हैं। वह गूढ़पंक्ति मेरी समझमें आ गयी। मैं उठ बैठा। देखा तो श्रीगुरुजी नहीं हैं। कलम उठा ली। उसी स्थलपर स्वप्नमें पढ़ी हुई चीजको नोट कर दिया। वह पुस्तक इस समय मेरे पास नहीं है। बड़ौदामें पड़ा हुआ है।

इस अद्भुत घटनाको मैं यहाँ उल्लेख कर रहा हूँ परन्तु यह घटना कैसे घटित हुई इसका उत्तर आज भी मेरे पास नहीं है। २० वर्ष पूर्व मैंने स्वप्नके सम्बन्धमें बहुतसे विचार किये हैं। स्वप्न क्या है और उसके कारण क्या हैं, इन दो प्रश्नोंके मन्थनके लिये मैंने बहुतसे अंग्रेजी पुस्तक भी पढ़ डाले। हमारे यहाँ संस्कृत साहित्यमें, वेदान्तादिमें जो कुछ लिखा है, उसे तो मैं जानता ही था, परन्तु मैं कुछ हृदयग्राही परिणाम नहीं निकाल सका। भगवद्गीता-

के गुजराती भाष्यमें मैं उसी समय थोड़ा सा इस विषयमें लिख सका था। परन्तु मुझे स्वतः को भी कोई सन्तोष उस लेखसे नहीं है। इतना ही सत्य है कि जो वस्तु, लिखी, पढ़ी, सोची, समझी, विचारी गयी हो उसका संस्कार मनःपटलपर अवश्य रहता है। यद्यपि वह सुषुप्त रहता है और समय पाकर, कारण या कारणोंकी उपस्थितिमें वह जागरित हो उठता है। उस समय मुझे व्यग्रता थी, उत्कण्ठा थी, चिन्ता भी थी, संस्कार तो उस ग्रन्थका था ही, साधारण नहीं, दृढतर संस्कार था क्योंकि वह शेखर मुझे बहुत अभ्यस्त था, उसमें मेरा परिश्रम था, अतः स्वप्नमें वही ग्रन्थ, वही गुरुजी, वही देश, वही काल सब कुछ उपस्थित हो गया; गुरुजीने पढ़ा दिया; मैंने पढ़ लिया, समझ लिया और दूसरे दिन उस ग्रन्थको—उस स्थलको मैंने निस्सन्दिग्धरूपसे पढ़ा दिया। वह छात्र शायद श्रीजयरामदासजी थे।

अभी गत जूनमें जब मैं श्रीचन्दनदेवी अध्यापिकाके साथ काशी गया था, मेरा एक बहुत अच्छा चन्दनका बेंटवाला चाकू खो गया। बहुत ढूंढ़नेपर भी नहीं मिला। जब मैं जूनमें अहमदाबाद आया, तब भी वह चाकू मेरी स्मृतिमें रह गया था। एक दिन मैं दिनमें ही थोड़ी देरके लिये सो गया था। स्वप्नमें मैंने अपने उस प्रिय चाकूको अपने बगलमें ही एक स्थानमें देखा। हर्षोद्रेकसे मेरी निद्रा टूट गयी। मैं उठ खड़ा हुआ। तत्क्षण उस स्थानकी ओर मैं दौड़ गया। मैंने समझा जैसे वह शेखरग्रन्थ मुझे समझमें आ गया था, यह चाकू भी मेरे हाथमें आ जायगा। परन्तु नहीं मिला। वह तो दिल्ली और बनारस छावनीके बीचमें मेरे फर्स्टक्लास वाले डब्बेमें रह गया था। इससे यह परिणाम मैं निकाल सका कि वस्तुका ज्ञान हो तभी स्वप्नमें कभी सत्यता प्रकट हो सकती है। शेखरग्रन्थके उस स्थलका मुझे ज्ञान तो था ही, विस्मृति हो

गयी थी, अतः मैं उसे समझ सका था। वह चाकू किसी जगह पर उस डब्बेमें रह गया, या उस डब्बेसे अलग भी कहीं रह गया हो, मुझे इसका कोई ज्ञान नहीं था, अतः स्वप्नमें देखा हुआ स्थल चाकूके विना ही मुझे मिला।

अहमदाबादमें महागुजरात श्रीरामानन्दीय श्रीवैष्णव-महापरिषद् नामकी एक संस्था है। इसका संस्थापक मैं ही हूं। कितने ही ऐसे कारण उपस्थित हुए जिनसे उस संस्थासे मैं उपरत हो गया। उसका वार्षिक अधिवेशन ता० ५ अक्टूबर १९५७ ई०को लोद्राग्राममें होनेवाला था। लोद्रामें ही महामण्डलेश्वर स्वामी बलरामदासजी रहते हैं। उन्हींके आश्रममें यह उत्सव होने वाला था। उस परिषद्के उस अधिवेशनका उद्‌घाटन करनेके लिये स्वामी बलरामदासजीने मुझे कहा। मेरा उनका सम्बन्ध इतना मधुर है कि अनिच्छा थी तो भी मैं अस्वीकार नहीं कर सका। अहमदाबादसे ४० मीलकी मोटरसे यात्रा करके मैं लोद्रा पहुँचा और उद्‌घाटन करके रातमें १०॥ बजे उसी दिन अहमदाबाद आ गया क्योंकि दूसरे ही दिन अहमदाबादमें टाउनहालमें होनेवाले गुजरातप्रान्तीय संस्कृतसम्मेलनमें मुझे एक संस्कृतमें विशिष्ट प्रवचन करना था।

साधुओंके बीचमें कहने के लिये मेरे पास कोई नयी वस्तु नहीं है, नये शब्द नहीं हैं, नये विषय नहीं हैं। लोद्रामें अधिवेशन-का उद्‌घाटन करनेसे पूर्व मैंने अतिविस्तृत तो नहीं परन्तु बहुत छोटा भी नहीं, एक भाषण दिया था। उसमें मेरी पुरानी बातें ही मैंने कही थीं कि जीभका राम तुमारा कल्याण नहीं कर सकेगा। कल्याणकी इच्छा हो तो रामके लिये सच्चा प्रेम जगावो। हृदयका राम ही तुम्हें सब आपत्तियों, बदनामियों और दुर्दशाओंसे बचावेगा। मैं तो वहाँसे चला ही आया था। परंतु पीछे

से जब मैं पुनः वहां तीसरे दिन ७ अक्टूबरको सर्वधर्मसम्मेलनका सभापतित्व करनेके लिए पहुँचा तब ज्ञात हुआ कि मेरे विरुद्ध आग सुलगायी गयी है। परन्तु मुझे किसीका कोई भय तो कभी होना ही नहीं है। मेरे शब्द इतने सच्चे होते हैं कि बृहस्पति भी उन्हें मिथ्या नहीं बता सकते। मनुष्यकी विद्वत्ताका तो मुझे कुछ भय ही नहीं होता। मैं वहां उस दिन सारे दिन रहा, सारी रात रहा, किसीकी इच्छा और हिम्मत नहीं हुई कि मेरे पास आकर अपने विरोध की बात करे। इतना ही नहीं, जो विरोधी बने वे भी मेरे पास आते दण्डवत्— साष्टाङ्ग दण्डवत् करते, बैठते, चले जाते थे। मुझे इतना अनुभव अवश्य हुआ कि वहांका वातावरण पवित्र नहीं था। वहां न तो प्रेमका वातावरण था, न सौहार्दका, न भक्तिका न प्रपत्तिका। वहां तो उस परिषद्की बैठकें होती थीं। उसके अधिकारियोंके नये चुनाव होते थे। कार्यसमितिके सदस्योंका भी चुनाव हो चुका था। सब अपने अपने दाव-पेंचमें लगे हुए थे। सबको बड़ा बनना था, सबको मन्त्री, उपमन्त्री आदि बनना था। अपनी योग्यताका ध्यान किसीको भी नहीं था। परिषद्के भविष्यकी भी किसीको चिन्ता नहीं थी। कोई यदि उससे अलग रहना चाहता भी था तो उसमें भी कोई न कोई स्वार्थ था, स्व-हित था। सर्वधर्मसम्मेलनके लिये अहमदाबादसे गये हुए अद्वैतवादी महामण्डलेश्वर महानुभाव सभी उसी दिन चले आये। मैं रात्रिमें रहकर प्रातः मोटरसे अहमदाबाद आ गया। मोटर अपनी ही थी —श्रीमान् सेठ माणिकलालजी शाहकी थी।

ता० २ नवम्बर १९५७ से अहमदाबादमें भारतसाधुसमाजका अधिवेशन होनेवाला था। मुझे भी उसमें सक्रिय भाग लेना था। शहरमें बहुत धूमधाम था। लॉ कालेजके मैदानमें बहुत विशाल स्वामी विद्यानन्दनगर बनाया गया था। रुपये खूब खर्च किये गये थे। सजावट भी अहमदाबादके योग्य थी। प्लेटफार्म तीन बनाये गये थे। तीनों ही एक लाइनमें थे। मध्यका मञ्च अधिवेशनके उद्घाटनकर्ता राष्ट्रपति श्रीराजेन्द्रप्रसादजीके लिये तथा विद्वानों और महामण्डलेश्वरोंके लिये था। भारतसाधुसमाजके कार्यकर्ता महोदय भी वहाँ ही बैठे हुए थे।

अधिवेशनसे कुछ दिन पूर्वसे ही विघ्नसन्तोषियोंने विघ्नका वातावरण फैला रखा था। विघ्नके लिये कोई निमित्त मिल जाय तो अच्छा। उन लोगोंको और कुछ निमित्त तो मिला नहीं। निमित्त तैयार कर लिया गया। कहा गया कि यह भारतसाधुसमाज सरकारी संस्था है। इसके कार्यकर्ता और सदस्य सब सरकारी साधु हैं। ये सब कांग्रेसी हैं। सरकार गोवधको कानूनसे नहीं बन्द कर रही है। भारतसाधुसमाज भी अत एव दोषी है। ऐसी ऐसी बातें कही गयीं, सुनायी गयीं, प्रचारित की गयीं। हाथीके गमनका प्रतिबन्ध करनेवाला शहरमें, नगरमें, ग्राममें कोई होता नहीं है। सामान्य विघ्नोंकी गणना करनेके लिये बुद्धिमान् कार्यकर्ताओंके पास अवकाश नहीं होता है। उत्सव धूमधामसे शुरू हुआ। श्रीराष्ट्रपतिजीने उद्घाटन किया। कार्यारम्भ हुआ। ३ नवम्बरको अखिलभारत-संस्कृतसाहित्यसम्मेलन भी भारतसाधु-

समाजके कार्यक्रममें था। उसका सभापति मैं निर्वाचित हुआ था। कुछ लोगोंकी सम्मति थी कि मुझे मेरा अपना भाषण हिन्दीमें लिखकर, मुद्रित कराकर, पढ़ना चाहिये। कुछ लोगोंकी सम्मति थी कि संस्कृतसम्मेलन है अतः संस्कृतभाषामें ही भाषण लिखना चाहिये। मैंने दोनों ही भाषाओंमें भाषण लिख लिये। भारतसाधुसमाजने उन्हें छपा लिये। दोनों ही भाषण स्वतन्त्र थे। कोई किसीका अनुवाद नहीं था। संस्कृत-साहित्यपरिषद्का कार्यारम्भ हुआ हिन्दीमें। महामण्डलेश्वर स्वामी श्रीभागवतानन्दजीने इसका विरोध किया। मञ्चपर जरा गर्मी आ गयी। मैं तो सभापति था। सभापतिके कुछ नियत अधिकार तो होते ही हैं। मैंने रूलिंग दिया कि चूँकि परिषद् संस्कृतभाषाकी है अतः संस्कृतमें ही भाषण होने चाहिये। सब शान्त हुए। सभामें भी शान्ति छा गयी। भय यह था कि संस्कृतमें भाषणादि होंगे तो जनता चली जायगी। परन्तु अनुभव यह था कि अपना भाषण लगभग पौनघण्टेतक पढ़कर जब मैंने सभा की ओर देखा तो आश्चर्य हुआ कि श्रोताओंकी ठठ जमी थी। संस्कृतभाषाके प्रति हिन्दूजनताका आज भी कितना प्रेम है, कितना आदर है, इसका जीवित प्रमाण उस सभामें मिला।

उदासीन सम्प्रदायके विद्वान् महामण्डलेश्वर स्वामी गङ्गेश्वरानन्दजी और म० म० स्वामी सर्वानन्दजीकी प्रेरणासे बम्बईमें एक पञ्चदेव महायज्ञ हो रहा था। उसमें मैं भी आमन्त्रित था। गीतामन्दिर अहमदाबादमें होनेवाले भागवतपारायणका ता० १–१२–५७ ई० को प्रातःकाल उद्घाटन करके रातमें गुजरातमेलसे निकलकर दूसरे दिन मैं भी बम्बई पहुँच गया।

जब मैं अहमदाबाद स्टेशनपर गुजरातमेलमें अपने अधिकृत डब्बेमें बैठ गया तब श्रीचन्दनदेवीकी आखें आँसुओंसे भर गयी थीं। उन्होंने कहा कि इस उम्रमें मैं आपको विवश होकर अकेला जाने दे रही हूं। श्रीत्र्यम्बकभाईको एक आवश्यक कार्यसे अहमदाबादमें ही अवश्य इन दिनों रहना था। श्रीचन्दनबहिनको पाठशालासे अवकाश नहीं मिल सका था। अतः मैं श्रीजलेश्वरप्रसादमिश्रको अपने साथ बम्बई ले गया था। यद्यपि मैं अकेला नहीं था, तथापि जिस प्रकारसे श्रीचन्दन बहिन मुझे संभाल लेती हैं उस तरहसे जलेश्वरप्रसादमिश्र नहीं ही संभाल सकेंगे ऐसी सबकी धारणा थी। परन्तु निश्चय ही उन्होंने योग्यताके साथ मुझे संभाल लिया था। परन्तु **स्नेहोनिष्टमाशङ्कते** इस सिद्धान्तको कोई आजतक हिला नहीं सका है।

मुझे श्रीसाधुबेला उदासीन आश्रममें ठहराया गया। साधुबेलाके श्रीमहान्त स्वामी गणेशदासजी बहुत ही सज्जन, गुणी और गुणग्राही हैं। साधुबेला महालक्ष्मीमें है। यज्ञमण्डप था धोबी तालाब पर। कई मीलका अन्तर था। समयपर मोटर मुझे

ले जाती थी और वहाँसे जब मैं साधुबेला जाना चाहता, पहुँचा जाती।

उस महायागमें सभी सम्प्रदायके प्रतिष्ठित विद्वान् सन्त आमन्त्रित थे और प्रायः सभी वहां उपस्थित थे। वैष्णव, संन्यासी, उदासी, कबीर, गरीबदासी आदि सभी वहां आये थे। काशीसे भी कुछ गृहस्थ विद्वान् आमन्त्रित थे। श्रीमान् पण्डित वामाचरणजी नैयायिक भी उपस्थित थे। उदासीन सम्प्रदायके तो, मैं समझता हूं कि, कोई भी विद्वान्, मण्डलेश्वर, महामण्डलेश्वर ऐसे नहीं थे जो वहां उन दिनों उपस्थित न हों।

ता० ३-१२-१९५७ ई० को वहां एक संस्कृतसम्मेलन हुआ। उसमें बहुतसे संस्कृतज्ञ विद्वानोंके भाषण हुए। सबके भाषणका विषय था "संस्कृतभाषाका महत्त्व"। सबने लगभग यही कहा कि संस्कृतभाषा देवभाषा है और इसके पढ़नेसे स्वर्ग मिलता है। मेरे लिये अन्तिम समय रखा गया था। मैंने अपने प्रवचनमें कहा था कि संस्कृत एक भाषा है, किसी भाषाके पढ़नेसे स्वर्ग नहीं मिला करता। यदि संस्कृत पढ़नेसे स्वर्ग ही मिलता हो तो जो स्वर्ग नहीं मानते हों उन्हें संस्कृत नहीं ही पढ़ना चाहिए। मैंने यह भी कहा कि यदि संस्कृताध्ययनसे ही स्वर्गप्राप्ति होती हो तो **स्वर्गकामो यजेत** आदि वेदविधि वाक्य निरर्थक ही होंगे। **"अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्"** सभी विद्वान् शान्त होकर मुझे सुनते रहे। किसीको कुछ दुःख नहीं मालूम हुआ। मैंने भी जब देखा कि मेरे भाषणका किसीने कुछ विरोध नहीं किया, तो एक ठंडी सांस ली। मेरे भाषणों में कुछ विघ्न होता ही है क्योंकि उसमें रूढिवाद नहीं होता, बुद्धिवाद होता है।

ता० ४-१२-१९५७ को उसी मण्डपमें भक्तिसम्मेलन हुआ।

यह सम्मेलन दो दिनोंतक होता रहा। प्रातः ८ बजे से ११।। बजे-तक और सायङ्काल ४ बजेसे ७।। बजेतक यह सम्मेलन होता था। प्रतिदिन प्रातः और सायम्‌के लिये पृथक् पृथक् सभापति बनाये जाते थे। प्रथम दिनके प्रातःकालीन भक्तिसम्मेलनके सभापति थे महामण्डलेश्वर श्रीमान् स्वामी अखण्डानन्दजी। उसी दिन सायङ्कालके सम्मेलनमें मैं सभापति था। सायङ्काल ही मेरे ही सभापतित्वमें भारतसाधुसमाजके अध्यक्ष सन्त श्रीतुकडोजी महाराज भी पहुँच गये थे और उनके भाषण तथा भजन हुए। अन्तमें मेरा भाषण अनिवार्य था।

मुझे भक्तिका साङ्गोपाङ्ग इतिहास सुनाना था। भक्तिमार्गकी भारत और भारतीय आचार्योंको क्यों आवश्यकता प्रतीत हुई, यह मुझे स्पष्टरूपसे बताना है। भक्तिके आगमनके लिये मेरी मतिमें दो ही कारण थे। एक तो देशमें ऊंच और नीचके भावसे विशृङ्खलित हिन्दुसमाजको एकभूत करना और दूसरा कारण था यज्ञोंमें पशुबलिसे होनेवाला सर्वत्र हाहाकार। मैं इन दो कारणमें-से प्रथम कारणका ही विवेचन करता था, इतनेमें ही कुछ अशान्तिका वातावरण केवल प्लेटफार्मपर मुझे अनुभूत हुआ। में कह रहा था कि वेदोंमें एक प्रश्न हुआ है कि—

"प्रजापतिके प्राणरूप देवोंने जिस पुरुषकी कल्पना की थी **उसका मुख क्या था? उसके बाहू क्या थे? उसकी जाघें क्या थीं?** और **पैर क्या कहे जाते थे अर्थात् पैर क्या थे?** यहांपर ये चार प्रश्न हैं। इनका उत्तर आगेके मन्त्रसे दिया गया कि—

"ब्राह्मण उस पुरुषके मुख थे, क्षत्रिय उसके बाहु थे,

वैश्य उसकी जांघे थीं। इतना कहकर आगे वेदने कहा कि **शूद्र पैरोंसे पैदा हुआ**। मैंने अपने भाषणमें कहा कि यह तो **आम्रान् पृष्टः कोविदारान् आचष्टे** वाली बात हुई। पूछा कुछ और उत्तर दिया कुछ। पूछा था कि **पैर क्या थे ?** उत्तर दिया कि पै से शूद्र पैदा हुआ। **शूद्र कहांसे पैदा हुआ ?** यह तो पूछा ही नहीं गया है तब पैरसे पैदा हुआ यह वेदका उत्तर हास्यास्पद है।

मैंने आगे चल कर कहा कि मान लें कि उस पुरुषके उस परमात्माके पैरसे शूद्र पैदा हुआ, तो वह नीच क्यों माना गया ? वेदमन्त्र सुननेपर उसके कानोंमें रांगा पिघलाकर डालनेकी बात शास्त्रने क्यों की ? वेदमन्त्रोच्चारण करनेपर उसकी जीभ काटनेकी बात शास्त्रने क्यों की ? वेदमन्त्र हृदयस्थ करनेपर उसकी छाती तोड़ डालनेकी बात शास्त्रोंने क्यों की ? भगवानके या किसी भी देवताके पैर ही तो पूजे जाते हैं—मुखकी पूजा कोई भी नहीं करता। तब उन पवित्र पैरोंसे पैदा हुए शूद्रको इतना बड़ा नीच क्यों माना गया ? मैंने कहा, इस नीच ऊंचकी भावनाने आर्य जातिको विच्छिन्न कर दिया था। शूद्रसे बड़ा वैश्य, वैश्यसे बड़ा क्षत्रिय, क्षत्रियसे बड़ा ब्राह्मण, यह सब लघुता और महत्ताके विचारने राष्ट्रको खोखला बना दिया था। इसी वैषम्यको दूर करनेके लिये भगवती भक्तिका आगमन हुआ। जिस आचार्यने सर्वप्रथम भक्ति भागीरथीका प्रवाह यहां बहाया होगा वह धन्य था। मैंने कहा कि कानमें रांगा डालनेकी, जीभ काटने की और छाती तोड़नेकी जंगली आज्ञाका अनुसरण श्रीशङ्कराचार्यने भी किया और श्री रामानुजने भी किया ? गौतमसूत्रपर विचार करने

और उसे मूर्खतापूर्ण माननेका साहस किसीको भी नहीं हुआ। मैं इतना कह ही रहा था कि महामण्डलेश्वर सर्वानन्दजी मेरे पास आये और बोले कि स्वामी अखण्डानन्दजी आदि कह रहे हैं कि इस मन्त्रका आप क्या अर्थ करते हैं, उसे श्रोताओंको समझा दें ताकि किसीको यह भ्रम न हो कि आप वेदोंका खण्डन कर रहे हैं। मैंने अपने आगेके वक्तव्यको बन्द कर दिया और इस मन्त्रकी व्याख्यामें अधिक समय लगा दिया। ५० सहस्रसे कम श्रोता नहीं थे। सबने आनन्दध्वनि की। समय बहुत हो चुका था। स्वामी श्री अखण्डानन्दजीने मेरे पास आकर कहा कि **हम सब खूब प्रसन्न हैं। आपने सुन्दर व्याख्या की।** जब मैंने म० म० सर्वानन्दजीसे पूछा कि आपको सन्तोष हुआ या नहीं? उत्तरमें उन्होंने मुझे एक पत्र दिखा कर कहा कि लोग असन्तुष्ट जैसे लगते हैं। उस पत्रको मैंने लेलिया। उसे यहाँ उद्धृत करना अनावश्यक है। वह पत्रलेखक भाई बम्बईमें घाटकोपरमें रहते हैं और उनका नाम है ....।

समूहोंमेंसे—५० हजारके जनसमाजमेंसे एक आदमी यदि मुझे न समझ सके, मेरे भाषणको न समझ सके, मेरे तर्क और मेरे भावोंको समझ न सके और मुझे नास्तिक कहकर तिरस्कृत करे तो वह अवश्य ही हीनबुद्धिवाला मनुष्य क्षमाका पात्र है।

मैंने अपने इसी भाषणमें यह भी कहा था कि हमारी इस विषमबुद्धिके ही कारण आज दक्षिणमें कज़गम लोग गीता जलाते हैं, रामायणको सुलगाते हैं और गांधीजी जैसे समदर्शी महात्माका अपमान करते हैं।

दूसरे दिन अर्थात् यज्ञकी पूर्णाहुति और सभाओंकी समाप्तिके दिन ता० ५-१२-५७ ई० को स्वामी श्री अखण्डानन्दजीने उसी

मञ्चपरसे एक पत्र मेरे पास संस्कृतश्लोकबद्ध भेजा जो निम्नलिखित है—

श्रीमन्तः श्रीभगवदाचार्या विश्रुतकीर्तयः ।
अङ्गीकुर्वन्तु विनयप्रणयप्रहितां नतिम् ॥ १ ॥
विज्ञो यत्केरले कश्चिज्जन कजगमाभिधाम् ।
अधिष्ठाय सभां गीतामविगीतां शमायनम् ॥ २ ॥
रामायणं, संविधानं निधानं सुखसम्पदाम् ।
विश्वात्मानं महात्मानं द्वेषि शिष्टतयोज्झितः ॥ ३ ॥
प्रदोषभाषणे तत्रभवद्भिर्यदुदीरितम् ।
तत्र सन्देहसन्दोहः सम्यग् दोलायते हृदि ॥ ४ ॥
प्रज्ञापराधोस्माकं वास्फुटं वा प्रतिपादनम् ।
श्रद्धेयास्तत्समाधातुं किञ्चिदुल्लिख्य दीयताम् ॥५॥

मैंने वहाँ ही चलती सभामें ही इस पत्रका जो उत्तर दिया था वह भी श्लोकबद्ध ही था परन्तु सब श्लोक मेरे पास नहीं हैं । कुछ हैं और वे निम्नलिखित हैं—

श्रुतं च पठितं विद्वन् वृत्तपत्रेषु सर्वथा ।
तदेवोदीरितं रात्रौ गतायामत्र तत्त्वतः ॥ १ ॥
गीतारामचरितादेर्ग्रन्थराशेः प्रदाहने ।
प्रत्यहं निरताः प्रायः सर्वं एवाद्विजाः सदा ॥ २ ॥
दाक्षिणात्येषु ये भावा उदिताः सन्ति सर्वथा ।
दुरन्ता दुःखदास्ते च सन्त्येवास्माकमप्यथ ॥ ३ ॥

संशेरते ते नितरां संस्कृतग्रन्थराशयः।
अद्विजानां हि द्रोहाय प्रवृत्ता वस्तुतस्त्विति ॥ ४ ॥
यद्यपि प्रश्रयेनैतन्मन्यते विद्वदग्रजैः।
न तत्र गांधिमहात्मा दोषं हि भजते क्वचित् ॥५॥
तथापि भ्रमतो मूर्खा मन्यन्ते तं तथाविधम्।
महात्मानं गतद्वेषं गांधिं दोषपरायणम् ॥ ६ ॥
भ्रमत एव ते सर्वेसत्कर्मनिरताः सदा।
देशहानिं स्वहानिं च प्रवृत्ताः कर्तुमेव च ॥ ७ ॥
श्रीमतां नापराद्धं सत्प्रज्ञया किमपि प्रभो।
वाचा ममैव नियतमपराद्धं न संशयः ॥ ८ ॥

मैं समझता हूँ इन श्लोकोंके आगे भी एक या दो श्लोक मैंने लिखे थे और वह स्वामी श्रीअखण्डानन्दजीके पास ही हैं। प्लेट-फार्मपर भाषण चल रहे थे, अन्य भी कितने विक्षेप थे, पास पासमें ही सब महात्मा स्थानाभावसे बैठे थे। आगे पीछे बैठे हुए महात्माओंकी दृष्टि मेरे कलमपर ही थी। ध्यान अस्तव्यस्त था। उस समय ये श्लोक लिखे गये थे। मुझे पता नहीं कि मेरा उत्तर उपर्युक्त स्वामीजीको अनुकूल पड़ा या नहीं।

मैं बम्बई दो वर्षोंके बाद गया था। मुझे वहां अधिक रुकने-की आवश्यकता थी, लोगोंका आग्रह भी था। पूना भी जाना चाहता था। पूनसे श्रीगोकुलकुमारी बी० ए० मुझे ले जानेकी दृष्टिसे बम्बईमें आयी भी थी। परन्तु परिस्थितिने मुझे ७ नवम्बर-को ही वहांसे निकलनेके लिए विवश किया। श्री पञ्चमुखी हनुमान्‌का दर्शन कर सका था। पण्डित श्रीरामरत्नदासजी 'तरुण' से भी मिल चुका था।

मैं पीछे कहीं लिख आया हूँ कि श्रीमान्‌सेठ माणिकलालशाह और श्रीमान्‌सेठ प्रभुलालशाह परस्पर बहुत प्रेमसे अपने अपने कर्तव्यको निभाते हुए सहव्यापारी हैं। परन्तु दैवने मुझे असत्यवादी बना दिया। ये दोनों काका-भतीजा अलग हो गये। दैवको मैं तो मानता नहीं हूं। परन्तु यदि लोकभाषामें कहूँ तो यही कहना युक्त होगा कि दैववशात् इन लोगोंका बहुत सुन्दर-मधुर सम्बन्ध बहुत बुरी तरहसे टूट गया। अब पाषण्डपूर्ण लौकिक व्यवहारके अतिरिक्त—अर्थात् दिखावे के व्यवहारके अतिरिक्त वास्तविक कोई व्यवहार नहीं रह गया। श्री० सेठ-प्रभुलालजीने तो दिवालीके समय ही अपना एक अलग व्यापार शुरू कर दिया था यद्यपि तबतक और अबतक भी अहमदाबाद और बम्बईके व्यापारोंके हिसाब किताब, लेने-देनेका फैसला नहीं हो पाया था—नहीं हो पाया है। बड़े-बड़े महारथ प्रामाणिक निर्णय करानेमें सयत्न थे परन्तु दैवेच्छाने उन्हें सफलता नहीं दी।

श्रीमान् सेठ माणिकलालजी भी ९ नवम्बर १९५७ को एक स्वतन्त्र व्यापारका आरम्भ करना चाहते थे। इसकी सूचना मुझे बम्बईमें ही जब मैं श्रीबालकृष्णशाहके निवासस्थानपर था, मिल

गयी थी। इससे पूर्व मुझे कोई सूचना नहीं मिली थी। इस मङ्गलमुहूर्तके दिन मुझे अहमदाबाद अवश्य पहुँचना था। अतः मैं ता० ८ नवम्बरको ही प्रातः वहाँ पहुँच गया।

समवयस्क मित्रोंके समान वर्षोंसे वर्षोंतक रहनेवाले इन दो सम्बन्धियोंका व्यापारविभाजन ही नहीं हुआ, मनोविभाजन भी हो गया, इतना ही दुःखद है। परन्तु मनुष्य जब किसी बातका निश्चय कर ही लेता है तब उसके गुण-दोषकी विवेचनामें न पड़कर, उसे कर ही डालता है। दुर्योधनके निश्चयमें परिवर्तन करनेके लिये भगवान् कृष्ण भी निष्फल हुए थे। दुर्योधनने अपने ही सगे-सम्बन्धियोंको, अन्ततो गत्वा महारानी द्रौपदीको भी अप्रतिष्ठ बनानेमें कोई उपाय छोड़ा नहीं था। **संघे शक्तिश्चतुर्युगे** इस बातको दुर्योधन भूल गया था अथवा इसकी जानबूझकर अवहेलना करता था। उसे मानवता अप्रिय लग रही थी। उसे अपने सम्बन्धियों और युधिष्ठिर तथा अर्जुन जैसे पवित्रात्माओंके साथ रहनेमें लज्जाका अनुभव होता था। आर्योंके इतिहासने इस कलङ्कपूर्ण घटनाको बहुत पुराने समयसे अपने पेटमें सुरक्षित रखा है। वैसी घटनाएं कितनी ही वार इस विशाल जगत्के प्राङ्गणमें हुई हैं और होती ही रहेंगी। मनुष्य कितनी ही वार परिस्थितियोंका दास बन जाता है और चिरसंचित मानवताकी उपेक्षामें दोषदर्शन नहीं कर पाता। अन्य परिचित लोग हमारे व्यवहारके सम्बन्धमें क्या कहेंगे, क्या सोचेंगे, क्या विचारेंगे, इसका भी उसे ध्यान नहीं रहता है।

जो हुआ अच्छा नहीं हुआ। भविष्य इस व्यवहारका किसे क्या उत्तर देगा, यह भविष्य ही जानता है।

इस ग्रन्थमें प्रसङ्गोपात्त आये हुए सज्जनोंके नामका निदर्शन पत्र

(अ) पृष्ठ

अखण्डानन्द ६०८
अखिलेश्वरदास ५२३
अनन्ताचार्य ११९, ४४३, ४९४
अनसूया बहिन ४१८
अप्पासाहेब ३४५, ३७१
अमीना १३७
अमृतलाल २२३
अम्बादत्त १४
अम्बालाल शर्मा ३४, २१५, ४९७
अयोध्यादास ४६४,
अयोध्यादासशास्त्री ३२१,४८३,५१४
अरविन्दबाबू ४१८, ४२२,
अर्जुनदास त्यागी ५२२, ५२७
अवधबिहारीदास (मिथिला) २६१
अवधबिहारीदास (काशी) ३१९
अशोक ५५१

(आ)

आनन्ददास ४, २६०, ५८७
आनन्द कौसल्यायन २५४
आर्यसमाज २, २९, ३०, ३६

(इ) पृष्ठ

इन्दुकुमार ४४७,

(ई)

ईश्वरदास ४६२, ४६५
ईश्वरलाल २४७, ४२९,

(उ)

उत्सवलाल ४४७

(ए)

एनी बेसेन्ट १९५

(क)

कञ्चन बहिन ५४७
कनु शुक्ल ३५०
कनुगांधी १३९, १६४
कन्हैयालाल ३८१
कन्हैयालालमुन्शी ५९७
कपिलदेवदास ५७३
कमलदास ११४, २७७
कमलाबहिन २२८
कलापी ३२३,
कल्पनाथ २२९
कल्याणदास ३३९
कल्याणजी २१०

काका कालेलकर ४९, १३६, १३८, ४८१
कात्यायन ५५१
कानजीभाई ३५३, ३७१, ३७२, ३७५, ४२६
कान्ता २२५
कान्ता बहिन ३५०, ३७६
कान्तिलाल १४२
कामतादासजी ९०
कालीप्रसादशास्त्री ६, ३६१, ४५४
कालीप्रसादत्रिपाठी ६
काशी बहिन २२३
काशीराम ३४९
किशोरलालभाई २६, १५८, ३४०, ४०७
कुरेशी २९७
कृष्णकान्त २५२, ४२०
कृष्णदास ३५०
कृष्णसेवक १०२
कृष्णानन्दजी ५९८
केदारनाथआर्य ५१, ५२
केशव १४३
कैयट ५५१
कैलेंडर ५१, ५२
कैवल्यानन्द १८८

(ख)

खरेजी १३८
खाकीबाबा १८५, १८९
खुदीझा ३२

(ग)

गङ्गादत्तत्रिपाठी ७
गङ्गेश्वरानन्द २८७, २८८, ४७४, ६०६
गणपतिशर्मा ४१८
गणेश १७९
गणेशदास ६०६
गणेशनारायणसिंह २०
गरुडध्वजदास ५२६,
गांधीजी ४६, ४७, ७७, १८५, २३२, २७९
गिरिजाशङ्कर ४७
गुरुदत्त १५
गुरुदेव ६८, ७५, १०५, १०८
गुलबा २९७, २९८, २९९ ३०१
गोकुलकुमारी ३९४, ६१३
गोकुलदास (सिंध) २७७
गोकुलदास (अह०) २४४, ५६७
गोपालदास ३९२
गोपालदास ३७९, ३८१
गोपालशास्त्री ४९१, ४९४
गोवर्धनदास २१९
गोविन्ददास ४१, ५२

गोविन्दाचार्य ४१
गौरीशङ्कर १८, १९

(घ)

घनश्यामदास ३९४

(च)

चतुर्भुजदास २६१
चन्दनबहिन ३५, ३६८, ४११, ४१२, ४१४, ४२५, ४२६, ४३८, ४९९, ५२९, ५३१, ५३९, ५९७, ६००, ६०६
चन्दूलाल ३७३
चन्दूलाल ३९३
चन्दूलाल ४९९
चन्द्रशेखर २४४
चम्पकलालशाह ४२६, ४९६
चम्पाबहिनशाह ५२९
चारुदत्त ३४१, ३४२
चित्रधरमिश्र ३३, ३४
चिन्तामणिदासजी १०८, ४८७
चुन्नीलालपटेल ३४५, ३४६
चेतनदास ९१

(छ)

छगनलाल ३७५
छेदीरामद्विवेदी ८१
छोटालालपटेल ३०२

(ज)

जगन्नाथदासजी (भरत०) ५३, ८३, ३००, ३२९
जगन्नाथाचार्य ५६७
जगन्नाथदासजी डाड़िया १०५, ११३, ११४, ३२६
जगन्नाथदासजी निर्मोही ११४, १२५, २०२, २०५, २७७, २९५
जगन्नारायण मिश्र १६, ३७, ५४
जनकनन्दिनी शरणजी १११, १२१
जनार्दनदासजी २७१
जयदेवदासजी ७८, २६२
जयदेवमिश्र ४४४
जयदेवी ३७०, ५३९, ५९७
जयादेवीशाह २४६, २५७, ५३४, ५६८
जयन्तीलाल (डा०) ३६५
जयन्तीलाल ध्यानी ४६३
जयरामदासजी ३७९, ३८०
जयरामदासजी (आसाम) ३८३, ३८४
जयसिंह भाई ४९८
जयेन्द्रपुरी २८९
जलेश्वर मिश्र ६०६
जवाहिरलाल नेहरू २२२, ३४८
जहांगीर २९७
जानकीदास पण्डित ५६९

जितेन्द्रदेसाई ३७०,५३०,५३४
ज्ञानेन्द्रसरस्वती ४८८

(ट)

टीलाजी ४७५

(त)

तरलिका ३३८
तरुणजी २७६
ताराबहिन २२४
तिलक ४९
तुकड़ोजी ६०८
तोताद्रिस्वामी ५०,५७,६५,७३, १०८,११४
तोतारामजी १६७
त्र्यम्बकभाई ३६६, ३६८, ३६९, ४३८, ५९७, ६०६
त्रिभुवनदास शास्त्री ३५८, ३५९

(थ)

थीबो साहेब ४४५

(द)

दयानन्द स्वामी ३०६,५९१
दर्शनानन्द ३०
दामोदरदासजी परम० ५६७
दाशरथिदास ५४२
देवकृष्ण ३९४
देवदास ४६, १४६, १४७, १९३, २८१, ३५६
देवशंकर आचार्य ३५२
देवीप्रसाद ४४६
देवेन्द्रत्रिपाठी ८
दौलतसिंह १७७
द्वारकादासजी (विभा०) ३२५,५०५
द्वारकादास ३६७

(ध)

धनलक्ष्मीबहिन २४२
धर्मदत्तजी ४०१,४०२

(न)

नगीनदास वैद्य १६०
नटवरलाल शाह ५४७
नत्थनलाल शर्मा ५३,८३,८४
नन्दकुमार शरण ५०६
नन्दलाल त्रिवेदी २२८
नरसिंहदासजी (अहम०) २२३, २४२,३७६,४८९,४९०,५६१
नरसिंहदासजी (बम्बई) २१४,३६८
नरहरिभाई परिख २५६
नर्मदा बहिन त्रिवेदी २२८
नर्मदा बहिन(अफ्रिका) ३४७,३७२
नर्मदाशङ्कर ४४७,५४९
नानजी भाई कालिदास ३७४
नारायणदास भाई २२४,२२५,२४१
नारायणदास (मुलतानी)४१४,४५७

नारायणदास (वडोदा) २०७, २१९, ४४९, ४५१
नारायणदास (त्रिकमजी) २२०
नारायणदास (हनु गढी) ८९
नारायणदास गांधी १३८, १६४
नारायणस्वामी ३५
निर्मलाबहिण ३५२
नीलमबहिण ३७५
नृसिंहाचार्य ३७४

(प)

परमेश्वर झा ३४
परमेश्वरदास ३५७
परशुरामजी ३९८, ४००
पागलमहाराज १३२
पाणिनि ५५०
पुरुषोत्तम गांधी १३८, १३९, १६४, ३६४
पुरुषोत्तदास मास्टर ३५३
पुरुषोत्तमाचार्य ५५८
पुष्पविजय १६२
पूनमचन्द २४२
पोपटलाल गुर्जर ३७३, ४२७
पोपटलाल चेतवाणी ३७५
प्रभादेवी ७
प्रभाशङ्कर ४९९
प्रभुलालशाह ४९५, ४९७
प्राणदास ४६४
प्रेमदास १२३, १६४

(फ)

फ़रामरोज़ २९७

(ब)

बजरङ्गदास ५५६
बद्रीदास ३३८, ३३९
बलभद्रदास ८५, ३२६, ५९२
बलरामाचार्य ४३, ८०
बलरामदास ४१०, ६०२
बाबूभाई जमीनदार ३७३
बालकराम विनायक ८६, ११४
बालकृष्ण मिश्र ८३
बालकृष्ण शाह ३६८, ४९६
बालकृष्णदास ४८०
बालकृष्ण शास्त्री ५३०
बालकोबा १४३
बुद्धिवल्लभ शास्त्री ५३२
बैजूभाई ३६५
बोधायन ५५८, ५५९
ब्रह्मदेव शास्त्री ५३०

(भ)

भगवदाचार्य २२९, ३७८, ४६५, ५१४, ५१५
भगवतदास ५९
भगवद्दास त्रिवेदी १९४
भगवद्दास मिश्र २००, २९०

भगवद्दास महान्त ५७८, ५७९
भगवानदास खाकी २०३, २०५, २२०, २७५, ३२२, ३६०, ३६२, ३७७, ४८५, ४८९, ५१५, ५२२, ५३०, ५३९, ५४१
भगीरथदास २०४, ३२५
भरतदासजी पण्डित १९२, ५५५, ५५६, ५५७
भरतदासजी श्यामदिगम्बर २२२, २३१, ३२५, ५०८, ५०९
भवदेव ५९
भागवतदासजी १६५
भागवतानन्द जी ५९८, ६०५
भागीरथी व्यास १६२, १६३, ५६७
भास्करराव ३४५, ४९८
भीमसेन शर्मा ५४
भीमाचार्य ४१७
भीष्मदास ४००
भूधरकिशोरदास ५९६

(म)

मगनलाल गांधी ४७, १४३, १५९
मगनलाल शास्त्री ३९१, ३९२
मङ्गलदास ४४८
मङ्गलदासजी ४७५
मङ्गलनाथ ३९८
मणिबहिन शाह ५२९
मणिलाल शाह ३२०
मणिलाल ३७५
मथुरादास फावा ५००
मथुरादास (अयोध्या) ४१, ४२, ३७९, ५१३
मथुरादास (गुज०) ८५
मथुरादास (बड़ोदा) १२६, १२७, १३०, १६५
मथुरादास टाटम्बरी १७६, १८०
मनुबहिन गांधी ३६५
मनुभाई शाह ४९६
मस्तराम २०९
महाभाष्यकार ५५०
महालक्ष्मी जमीनदार ३७३
महाबीरदास (धोलका) २०९
महीधर ४८७
महेश प्रसाद ६२
माणिकलाल काछिया २४१
माणिकलाल शाह २४६, २५०, २५७, ३३४, ३३६, ३४९, ३९३, ४३८, ४६६, ४९४, ४९५, ४९७, ५३०, ५३२, ५३३, ५४५
माधवदास ५९, ६०, ७१, १०१, १०३, ४४४
माधवदास ५७३
माधव प्रसाद १६५

माधवाचार्य ५३,५५,११५
माधवाचार्य(प्रिन्सिपल) ३२१,४९१
माधवाचार्य (अयोध्या) ४५
माराक्षीदेवी ७
मालवीयजी २७५
मावजी जोषी ३४५, ३७१
मुक्तानन्द ३९६, ३९७
मोतीरामजी ३९५
मोहनदास ३५
मोहनदास गांधी २३३
मोहनभाई (अफ्रीका) ३७२
मोहनलाल मास्टर ३७५

(य)

यमुनादास गांधी ४०६
यमुनालाल बजाज १९५
युगलकिशोरदास ४८०

(र)

रघुनाथदास ४८०, ४८९
रघुवरदास ३३, ४२, ४३, ४४, ४५, ४७, ५०, ५१
रघुवराचार्य ५२, ५७, ५८, ६४, ६५, ७१, ८२, ८५, ९९, १०४, १०६, १११, ११२ ११४, ११५, ११९, १२०, १२२, १२५, १४७, १५९, १६०, १६३, १६४, १६६, १७६, २०१, २२७, २२९, २४०, २६१, २८१, २८९, २९१, ३२३, ३२७, ३२८, ३२९, ३३०, ३३२, ३५५, ३५७, ३८२, ३९५, ३९६, ३९९, ४०४, ४१६, ४४४, ४७३, ४८१, ५३६, ५३७, ५३८, ५७६, ५९१
रघुवरप्रसादजी ३२६, ३२८,४०८, ४८३,४९०
रघुवीरदासजी २२०, २२१, २२७, २२९, ३९९, ४००, ४०१, ४०२, ५५५
रघुवीरदास राजकुमार ३८६
रणछोड़दासजी परमहंस ४०३,४०४
रत्नदासजी उदासीन २८७
रमणीकलाल शाह २५०,२५२,४२०
रमा ३४२
रमेशदास त्यागी २२७, २२९,
रामकिशोर दास(अयो०) ८९,९२, ४४६, ५९४
रामकिशोरदास (मुरादा०) ४८२
राम (ज) किशोर शाह ४०
रामकुमारदास ४८९
रामकृष्णाचार्य १३२
रामकृष्ण शास्त्री १३३
रामकृष्णानन्द जी २९१
रामखेलावनदास ५२२

रामगोपालदास ५, ६, २६९, २७१, २७४, ३१९, ४७८, ४८२
राघवदास प्रतिवादिभय० १११, ११२, ११३, १२०, १२१
राघवदास रामायणी ३२२
राघवेन्द्राचार्य ४३
राजदेवी गुप्ता २७१
राजेन्द्रप्रसाद (सावली) ३२९
राजेन्द्रप्रसाद (राष्ट्रपति) १११, २१४
राजेश्वर शास्त्री ४४६
राधा १४३
राधा मोहन दास (दिग०) ७७
राधामोहनदास (निर्वा०) ३२, ३३३
रामचन्द्र द्विवेदी ३७, ३८
रामचन्द्रदासजी (पातेपुर)
रामचन्द्र पण्ड्या २९८
रामचरणदासजी (नको०) ४५८, ५१५, ५१७, ५२१, ५३९, ५४२
रामचरणदासजी (फोथड़ा) ४६०, ४६४, ४६५, ४६६, ५६७
रामचरणदासजी (योगी) ५९, ६०, ९५, ९८
रामचरणदास (रा.को०) २२०, २७६
रामचरण शरण ४५१, ५०६, ५३८, ५४१
रामचरित्राचार्य ३५९, ५३८
रामचरित्र पण्डित ४५, १०२
रामटहलदास ८५, ८६, ८७, ८९, १४०, ५११
रामदास उड़िया ३९९, ४१४
रामदास स्वामी ४१८, ४२०, ४२१
रामदास (अयोध्या) ७४, ३२४, ३२६
रामदास वैष्णवाचार्यजी ४६८
रामदास दाड़िया १०५, ११३, १२२, ३२६, ५५५
रामदास (बड़ोदा) ८८, १९४, १९७, २०७, २१०, २१३, २१८, २६०, २९४, ३२५, ३८२, ३८४, ४४९, ४५०, ४५१, ४६४, ५६७
रामदुलारेदास जी ११४
रामदेव (आचार्य) २३
रामनारायणदास जी (पण्डित) ५८, ७६, ८५, ९६
रामनारायणदासजी (डाकोर) ५१७
रामनारायण मिश्र ४३८
रामनिवाज सिंह ८१
रामपदार्थदास जी ४९०
रामानुजाचार्य ६५, ६६, ६७, ७१, ७९
रामप्रपन्न ४२४, ५३७
रामप्रपन्न रामानुजदास ११४, ११५, ११६
रामप्रसन्नदासजी ७५, ७७
रामप्रसादाचार्य जी, १७३, ३५७, ४७५, ४८७, ४८८, ५७४

रामप्रियादास (जयपुर) ५१३
रामबालकदास जी
रामभूषणदास २६०
राममनोहर १४७
राममनोहरदास ५०२,५०३
राममनोहर प्रसादाचार्य ५०,७४,१७३
राममौलि त्रिपाठी ४९२
रामरत्नदास (चाणोद) १३०
रामरत्न १६५
रामरत्नदासजी (अयोध्या)६७,६९
रामरत्नदासजी (तरुण) ३२५, ४५१, ४८१, ५३८, ५४२, ६१३
" (अहमदा०) २४४, २४६, २४९, ३२१, ३३४, ४५०, ४८३, ५३९,
रामलक्ष्मणदासजी (काशी) ३१९
रामलखनदासजी (आबू) १६६, १७६
रामलाल तिवारी ३४०, ३४१
रामलोचनदासजी २६०, २६५
रामवल्लभाशरणजी ८६, २००
रामशरण दास (मास्टर) १०६
रामशरणदासजी १०९
रामशरणदासजी (आसाम) ३८४
रामशोभादास ८५, ८७
रामशोभादास (आबू) ८८, १७८, १८७, १८८
रामशोभादास जी (छावनी) १० ९४, १०५, १११, ५३०, ५६८
रामसिंह जी १९५
रामसुन्दरदासजी (बराही) ४१६
रामसेवकदासजी १९३
रामस्वामी २१२, ३६४
रामहृदयदासजी ५२९, ५३०
रामावतार मिश्र १६
रामावतार शर्मा १९, २३
रामेश्वरलताविद्यालय ३३
रामोदारदासजी ३९७, ३९८, ३९९, ४०१, ४१४, ४५७
राहुल सांकृत्यायन ५०६
रुक्मिणी १४३
रुद्रदत्त भट्ट ४४३, ४४५
रूपालीबहिन ३९७

(ल)

लक्ष्मणदासजी (हरद्वार) २५६, ४०९
लक्ष्मणशरणजी ५९४
लक्ष्मण शास्त्री द्रविड ४५, ४४४
लक्ष्मीदास आसर १३७
लक्ष्मीदास जी ३२१
लक्ष्मीपति ३१, ३८, ३००
लक्ष्मी बहिन १३७

लेखरामजी २४७, ४३१

(व)

वंशीदास १३३, ३९३

वल्लभभाई ४४७

वल्लभरामजी ५००, ५९७

वसुधा ३९४

वामाचरणजी ६०७

वासुदेवाचार्य ब्रह्म० २०१, २७६, ३२१, ३६१, ३६२, ३७६, ३७७, ४८९, ४९०, ५०६, ५२०, ५२३, ५३१

वासुदेवाचार्य (पण्डित) ४१, २०१, २०४, २१०, २११, २३९, २६१, २६२, ३७८, ३८०, ४०८, ४०९, ४५६, ४८५, ५१३, ५२२, ५५८

वासुदेव शास्त्री (अभ्यङ्कर) ३८७

विजया बहिन ३३६, ३९७, ५३९

विद्वण देवी २०५, २०६, २११, २१२, २९५, ४८८, ५६७, ५९७

विट्ठल भाई ४४७

विदेहनन्दिनीशरण ५०७

विनितिदास ४६२,

वियोगी हरि २७९,

विष्णुदासजी ४६२, ४६४, ४६६

विहारीदासजी २०६, ३२८

वृन्दावन व्यास १६०

वेङ्कटेश्वर दास ३२१

वैष्णवदास (रायपुर) ५४५, ५४६

वैष्णवदास (वैष्णवाचार्यजी) ४०३, ४५६, ५१४, ५१५, ५२२, ५२७, ५७२

(श)

शङ्करानन्द ब्रह्मचारी १६७

शङ्कराचार्यजी ५३३

शत्रुघ्नदासजी २७१, २७२, २७४

शत्रुघ्नदासजी (अहम०) ३२५

शत्रुघ्नदासजी ३७, ८५, २२९

शारदा बहिन त्रिवेदी ४९९

शिवकुमार शास्त्री ४४६

शिवदत्त मिश्र १६

शिवनारायणदासजी ३३०

शिवलाल मिस्त्री २३७

शीतलदासजी ४८४

शीतलप्रसाद ३९

शुकदेवदास ४१

श्यामजी शर्मा ५४

श्यामाबहिन तिवारी ३४२

श्रवणसिंह २०, १६७

श्रीधर शास्त्री ३८७

श्रीनिवासदास ११५, ११६

(स)

सङ्कर्षणदासजी (H. H.) ३२२, ४८४
सत्यदेव स्वामी १८५
सत्यस्वरूपानन्दजी २५४
सन्तोकबहिन जोषी १६१, ३३४, ३३७, ३३८, ३४३, ३४४, ३४७, ४२४, ४२५, ४२६, ५३६, ५६७
सरयूदासजी (गुरुजी) ५२, ७८, ९९, ४१७
सरजूदासजी महान्त ८२
सरजूदासजी (वै० ध० प्र०) ९३, १११, ११२, ११३, १२१ ४४६, ५५५
सरस्वतीदासजी (पिण्ड०) ४६८, ५०९
सरोजिनीदेवी १११,
सर्वजित ६, १०, १३, १५, ५९, ५१४
सर्वानन्दजी ५९८, ६०६, ६१०
सविताबहिननानजी ३७४
" पाठक ३३७
सामश्रमी जी ३१, ५९
सायणाचार्य ४८७
सियाराम पांडे १८८
सीतारामदासजी निर्वाणी २७७
सीतारामदासजी (अमृतसर) २३, ४४
सीतारामदासजी (गद्दी नशीन) ८९, ३७७
सीतारामदासजी महान्त १४७
सीतारामदासजी ४०३
सीतारामदासजी शास्त्री १३४, १४७, २७६, ३२५, ३६१, ३६२, ३६७, ४५७, ५४२
सीताराम शास्त्री ३५१
सीतारामदासजी अस्सी ४८४
सुन्दर बाई ५४७
सुमन्त शाह ५३४
सूर्यप्रकाश २४४, ३५९
सेवादासजी (पुजारीजी) २२०, २२७, २२८, २३१, २३४, २३६, २३९, २४१, २४२, ३२५, ४०३, ४६९, ४९०, ५७८, ५७९
सोमनाथ २२४
सोमाभाई २०९
सोमाभाई (विट्ठलपुर) ४४८

(ह)

हरखचन्द गांधी २५५
हरदत्तजी २४, १८५

हरिकृष्णदास जी ३२५
हरिजीवनदास सोभैया ३७४
हरिदासजी २२६,२३४,२३७,२३८,२४०
हरिदास सोभैया ३७४
हरिदासजी (भाष्यकार) ४७५
हरिनारायण मिश्र १६,३७
हरिभाऊ उपाध्याय १५८
हरिशङ्कर पाण्डेय ५९३
हरिशङ्कर शास्त्री ५९७
हरिसिद्ध दिवेटिया ५९७
हरेराम ब्रह्मर्षि २३७
हीरालाल ३५
हेमराजजी २४